इकाई 1 उपनिवेशवाद के प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 उपनिवेशवाद परिभाषित

1.3 उपनिवेशवाद के प्रभाव

1.3.1 औपनिवेशिक साम्राज्य की प्रकृति और अवस्थाएँ

1.3.2 प्रभाव : प्रथम चरण – कृषिवर्ग और उसकी दुर्दशा

1.3.3 प्रभाव : द्वितीय चरण – अनौद्योगीकरण और उसके प्रभाव

1.3.4 प्रभाव : तृतीय चरण – साम्राज्यवाद और औद्योगीकरण

1.4 सारांश

1.5 शब्दावली

1.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें व लेख

1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

स्वतंत्रता के बाद भारत के सामने आने वाली चुनौतियों को ठीक से समझने के लिए, औपनिवेशिक शासन के प्रभावों का अध्ययन करना ज़रूरी है। प्रभावों के बहुविधि और परस्पर विरोधी स्वभाव को समझना अपने आप में ही एक दिलचस्प कवायद है। परन्तु आधुनिक भारत का निर्माण उससे भी अधिक आकर्षक है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि –

- समझ सकें कि भारत में स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय वाला भारत किस प्रकार बना; तथा
- उन राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक प्रक्रियाओं का बोध कर सकें जो स्वतंत्रोत्तर भारत में हुईं।

1.1 प्रस्तावना

विश्व का सबसे बड़ा औपनिवेशिक साम्राज्य ब्रिटिशों ने भारत में स्थापित किया। लेकिन यह अधिकांश अन्यों से एक भिन्न प्रकार का उपनिवेश था। इन उपनिवेशों में से अनेक विशेषत: लैटिन अमेरिका में, डच ईस्ट इण्डीज़ (अब इण्डोनेशिया के नाम से) को छोड़कर, या तो दास अथवा करारबद्ध श्रमिकों के सहारे बनाए गए। अधिकांश भारतीय जिन्हें आज हम फिजी में (व अन्य कई जगह) पाते हैं, करारबद्ध श्रमिक के रूप में लिए गए थे। ब्रिटिशों ने भारत में अपना उपनिवेश किसानों व स्वतंत्र रूप से नियुक्त श्रमिकों के सहारे स्थापित किया। भारत में अश्वेत "उपनिवेशी जनता" भी थी, जैसे उदाहरण के लिए केन्या अथवा ज़िम्बाब्वे में, जिसने भूमि को अपने नियंत्रण में लिया और फिर औपनिवेशिक सत्ता की इमारत का रूप ले लिया। जबकि किसानों और श्रमिकों से जबरन काम करवाया जाता था, बड़े भू-स्वामियों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों से ब्रिटिश पक्ष अपनी बात मनवा ही लेता था; यदा-कदा संघर्षों के बाद फिर भी, उनमें से अधिकांश अन्ततोगत्वा ब्रिटिश पक्ष में ही हो गए। पुराने वालों को हटाकर व ज़मींदारी अथवा अन्य

भू-अधिकार उन्हें सौंपकर ब्रिटिशों ने नए समूहों का निर्माण भी सहयोग प्राप्त करने की गरज से ही किया। भारत इसीलिए 'देशजों'' के सहयोग पर आधारित एक उपनिवेश था।

राजस्व के दावों, कुछ शुल्क और मिलाकर अप्रत्यक्ष कराघातन के रूप में कृषिवर्ग पर भारी बलात् ग्रहणों के माध्यम से भारतीय अर्थव्यवस्था के आधिशेष में से सबसे बड़े हिस्से को खींचकर ब्रिटिशों ने भारत पर शासन किया; शुरू-शुरू के काल में इस प्रकार की लूटपाट होती थी पर यह बहुत जल्द ही रुक जाती थी।

यह सब कैसे किया गया? यह किन तरीकों से किया गया? वर्गों और सामाजिक स्तरों के बीच पाने वाले और खोने वाले कौन थे? भारत के लिए परिणाम क्या थे? और अन्ततः ब्रिटिशों ने इसका लाभ कैसे उठाया? इनके उत्तर हमें एक दिलचस्प कहानी सुनाएँगे। वह कहानी जो हमारा इतिहास है। वह इतिहास जो हमारे लिए अभी तक जीवित है।

ऐसा करने से पूर्व चलिए थोड़ा ठहरते हैं और समझते हैं कि उपनिवेशवाद था क्या। आज साम्राज्यवाद और नव-उपनिवेशवाद तो हैं मगर उपनिवेशवाद समाप्त हो चुका है।

1.2 उपनिवेशवाद परिभाषित

उपनिवेशवाद एक पद्धति के रूप में आधुनिक काल के आरंभ, यानी सोलहवीं शताब्दी में ही उद्गमित होना शुरू हो गया था। इसके विशिष्ट स्वरूप को समझने के लिए पूर्व कालों से इसकी भिन्नता पर ग़ौर करना होगा। उपनिवेश तो हमेशा ही रहे हैं। यूनानी ईसापूर्व काल में ही उपनिवेश स्थापित कर चुके थे। भारतीयों के भी उपनिवेश थे; उदाहरणार्थ, चोल समुद्र पार गए और इण्डोचीन व इण्डोनेशिया में उपनिवेश स्थापित किए; कम्बोडिया में प्रसिद्ध अंगकोर वाट मंदिर अथवा बाली द्वीप में रामायण की प्रस्तुति उसके प्रभाव के जीवन्त उदाहरण हैं। विदेशी शासन भी उतना पुराना है जितना कि सैन्य विजित राज्य। लेकिन हमने उस काल के लिए ''उपनिवेशवाद'' शब्द का प्रयोग कभी नहीं किया। अतः यह प्रश्न पूछे जाने की आवश्यकता है : वह क्या था जो 16वीं से 18वीं सदी के उस उपनिवेश स्थापन में नया था जिसने उपनिवेशवाद शब्द की ओर उन्मुख किया?

16वीं शताब्दी के आगे हमने जो देखा वह था संसार के एक छोटे-से हिस्से द्वारा पृथ्वी के बाकी हिस्से का समावेशन। स्पेन, पुर्तगाल, हॉलैण्ड, ब्रिटेन और फ्रांस जैसे कुछ देशों ने संसार के बाकी हिस्से पर राजनीतिक प्रभुत्व कायम कर लिया। पहले से भिन्न जब विभिन्न सत्ताओं के बीच संतुलन बनता-बिगड़ता रहता था, उपनिवेशवाद ने सम्पूर्ण विश्व पर कुछ देशों की एक चिरस्थायी शासन-पद्धति और प्रभुत्व को स्थापित किया। एक छोटी-सी समयावधि में ही इसने औपनिवेशीकृत संसार के आर्थिक एकीकरण को एक गहन अनुचित व्यापार-प्रक्रिया के माध्यम से विजेता शक्तियों की अर्थव्यवस्थाओं की आवश्यकताओं की ओर उन्मुख किया। वालर्स्टीन जैसे कुछ लोगों ने इसे एक ''विश्व व्यवस्था'' की संज्ञा दी। फिर भी, एक अन्योन्याश्रित विश्व का उदय हुआ। लेकिन इस अन्योन्याश्रितता की एक विशिष्टता है; यह अपने प्रारंभ से ही एक पराधीन अन्योन्याश्रिता थी, असमान रूप से बाकियों के विरुद्ध कुछ के पक्ष में झुकी। यह एक अभिलक्षण है अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था का जो विकासशील विश्व के अहित हेतु अभी तक काबिज़ है; उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य अमेरिका पर जर्मनी की अन्योन्याश्रिता को ही लें, दोनों में से कोई भी अलाभान्वित नहीं है। लेकिन यह बात संयुक्त राज्य अमेरिका अथवा जर्मनी पर भारत अथवा ब्राज़ील के संबंध हेतु नहीं कही जा सकती है।

इस बात पर चर्चाओं का सिलसिला शुरू करने से पहले एक आख़िरी बात स्पष्ट करना आवश्यक है। उपनिवेशवाद के उदय से पूर्व भारत या चीन जैसे अनेक देशों अथवा कुछ अरब देशों के विकास का स्तर औपनिवेशिक शक्तियों जैसा उच्च अथवा उनसे भी ऊँचा था। वास्तव में भूमध्यसागरीय अथवा हिन्दमहासागरीय व्यापार अरब ही संचालित करते थे। यूरोपीय शक्तियों को जिसने लाभ पहुँचाया वह था नाविकों के दिक्सूचक अथवा उनके जहाजों के लिए लौह पोत खोल के आविष्कार जैसा एक तकनीकी कगार जिसने उनके लिए खुले सागर में अन्य जहाजों को जीतना और अपना आधिपत्य स्थापित करना आसान कर दिया। ध्यान रहे कि "औद्योगिक क्रांति'' अभी काफी दूर थी। 1757 में सबसे पहले भारत विजित हुआ, काफी बाद में लैटिन अमेरिका। 1780 के दशक में व उसके बाद, भाप-इंजिन, कातने की मशीन, आदि के आविष्कार के साथ कुछेक दशकों के बाद ही औद्योगिक क्रांति शुरू हुई। इसलिए यह बात उपनिवेशवाद के साथ ही हुई कि भारत जैसे देशों का पतन शुरू हो गया। कुछ ही दशकों में पश्चिम ने उन देशों पर अधिकतर क्षेत्रों में परम सर्वोच्चता स्थापित कर ली जिन्हें अब हम "तीसरी दुनिया'' का कहते हैं। एन्द्रे गुंदर फ्रैंक जैसे कुछ लेखकों ने इसे "अल्प-विकास के विकास'' की प्रक्रिया के रूप में पुकारा है।

बोध प्रश्न 1

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) 16-18वीं शताब्दी के उपनिवेशवाद के लिए नया क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

2) क्या आप उपनिवेशवाद के मुख्य अभिलक्षणों को पहचान सकते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) एक उपनिवेश के रूप में भारत लैटिन अमेरिका से किस प्रकार भिन्न था?

.....

.....

1.3 उपनिवेशवाद के प्रभाव

1757 में प्लासी की लड़ाई में सिराज-उद्-दौला की हार को औपनिवेशिक शासन का आरंभ माना जा सकता है। 1765 में बक्सर की लड़ाई के बाद बंगाल की दीवानी ब्रिटिश हाथों में चली गई। (बंगाल राजस्व अंचल में तब वे आते थे जो अब पश्चिम बंगाल, बंगलादेश, बिहार व उड़ीसा हैं।) ब्रिटिश संसद के घोषणा-पत्र के तहत ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारत समेत पूर्व के साथ व्यापार का एकाधिकार दे दिया गया। इन लड़ाइयों के बाद उन्होंने विजित राज्य क्षेत्रों से भू-राजस्व एकत्रित करने की अनन्य नियंत्रण-शक्ति भी अर्जित कर ली। ब्रिटिशों ने अर्थव्यवस्था को अपने सीधे नियंत्रण में लाने के लिए अपनी राजनीतिक नियंत्रण-शक्ति का प्रयोग किया। शीघ्र ही भारतीय अर्थव्यवस्था की दिशा ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के हितों की पूर्ति हेतु बदल दी गई। तब व्यापार और राजस्व ही वे दो प्रत्यक्ष साधन थे जिनके माध्यम से वे भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण करने और आधिशेष उस ब्रिटेन को भेज देने की अपनी नियंत्रण-शक्ति का प्रयोग करते थे जो शीघ्र ही एक लम्बी औद्योगिक क्रांति के मंच पर प्रवेश करने वाला था। यह सब भारत के लिए बहुत अनर्थकारी अप्रत्यक्ष-प्रभाव वाला था।

1.3.1 औपनिवेशिक साम्राज्य की प्रकृति और अवस्थाएँ

जबकि उपनिवेशवाद का मुख्य उद्देश्य साम्राज्यिक समाज को समृद्ध करने हेतु उपनिवेश का शोषण और उसके आधिशेष का विनियोजन (उसको कब्ज़े में लेना) है, उपनिवेशवाद के स्वभाव को इन शब्दों में सबसे अच्छी तरह समझा जा सकता है कि यह किस प्रकार कार्यान्वित किया जाता है। उपनिवेश का शोषण करने के तरीके विभिन्न चरणों में पूरे हुए। ये चरण या तो सामान्य प्रवृत्ति के रूप में अथवा यंत्रवाद व करणत्वों के साथ संमिश्रित प्रवृत्ति के रूप में देखे जा सकते हैं। किसी-न-किसी रूप में उस तरीके में अनर्थकारी परिवर्तन हुए जिससे आधिशेष विनियोजित किया जाता था। इसीलिए, औपनिवेशिक शोषण कोई नियत नहीं था; यह हमेशा बदलता रहता था। दोनों तरीकों में से जो भी अपनाएँ उस पर निर्भर करते हुए हम दो थोड़े-से भिन्न प्रतिमान पाएँगे। सामान्य प्रवृत्ति पर विश्वास करते हुए बिपन चन्द्र तर्क प्रस्तुत करते हैं कि उपनिवेशवाद तीन चरणों में पूरा हुआ, प्रत्येक साम्राज्यिक अर्थव्यवस्था, समाज और राजतंत्र में परिवर्तनों के परिणामस्वरूप। प्रथम चरण वह "एकाधिकार व्यापार और राजस्व विनियोजन" के रूप में पहचानते हैं जिसका संकेत "लूटपाट के घटक और आधिशेष के प्रत्यक्ष अभिग्रहण" तथा उत्पादन के किसी भी महत्त्वपूर्ण आयात के अभाव द्वारा मिलता है। दूसरे चरण को वह "व्यापार के माध्यम से शोषण" के उस रूप में मानते हैं जिसमें उपनिवेश (औद्योगिक) वस्तुओं के लिए बाज़ार और कच्चे माल का एक आपूर्तिकर्ता बन गया – औपनिवेशिक शोषण का सर्वाधिक सुपरिचित तरीका जिसके द्वारा उपनिवेश को एक "सहयोगी व्यापार साझेदार" में बदला जाता था। तीसरे चरण को वह "उपनिवेशों के लिए विदेशी निवेशों और प्रतिस्पर्धा" का काल कहते हैं जिसके दौरान आधिशेष साम्राज्यिक पूँजी उपनिवेशों को निर्यात कर दी जाती थी ताकि वे वहाँ उद्योग लगाकर कच्चे माल का प्रत्यक्ष दोहन करें और लाभ कमाकर ले जाएँ।

उपर्युक्त वर्गीकरण में हम देख सकते हैं, शोषण का मौलिक ढंग बदलता है। पहले वाले अदृश्य नहीं होते बल्कि गौण रूप में बने रहते हैं; अर्थात् वसूली पर एकाधिकार रहता है लेकिन यह असमान व्यापार और व्यापार आधिशेष द्वारा अनुपूरित किया जाता है। यही बात अगले चरण में रहती हैं जहाँ लाभ-स्वामित्वहरण (किसी को स्वामित्व से वंचित कर देना) मूल रीति बन जाता है परन्तु असमान व्यापार एक अनुषंगी रीति बना रहता है। इन चरणों में हम किसी भी रीति को देखें, ऐसे प्रतिरूप आसानी से समझे जा सकते हैं।

राजनीतिक आधिपत्य के स्वरूप और स्रोत को शोषण के यंत्रवाद और करणत्वों से जोड़कर हम औपनिवेशिक शासन के चरणों की एक थोड़ी-सी भिन्न तस्वीर पाते हैं, जैसा कि हम अमिया बागची के साथ देखेंगे। प्रथम काल 1757 से 1858 तक, रॉबर्ट क्लाइव द्वारा बंगाल के नवाब की पराजय से शुरू होकर महा-विद्रोह यानी स्वतंत्रता के प्रथम संग्राम तक फैला है। यही वह काल था जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा राजनीतिक शक्ति का प्रयोग उस ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा प्रत्याभूत एक घोषणा-पत्र पर किया गया जिसने गवर्नर-जनरल की नियुक्ति भी की। द्वितीय काल 1858 से 1947 तक फैला है; यही है विभाजन के साथ देश की स्वतंत्रता तक ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा सत्ता का सीधा अधिग्रहण।

स्वयं प्रथम चरण को ही दो कालों में बाँटा जा सकता है। पहले साठ साल, यानी 1757-65 से 1813 तक, एक विशुद्ध व्यापारिक काल था (जिसमें व्यापारीवर्ग सुदूर व्यापार को संचालित करता प्रबल वर्ग था)। ब्रिटेन का औद्योगिक क्रांति में प्रवेश अभी होना था और इस कारण उत्पादित माल के वृहद्-स्तरीय निर्यात का कोई प्रश्न ही न था। इस काल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत और चीन समेत पूर्व के साथ व्यापार के एकाधिकार का लाभ उठाया। यहाँ शुरू होता है एक भिन्न, एक नया काल, जब 1913 में भारत के साथ (और 1934 में चीन के साथ भी) व्यापार हेतु कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हो गया। इस समय तक ब्रिटेन संसार के एक अग्रणी औद्योगिक राष्ट्र के रूप में सुव्यवस्थित हो गया था और शोषण के एक भिन्न प्रकार के यंत्र-प्रबंध की समय को आवश्यकता थी। कम्पनी की स्थिति पर कुछेक "एजेन्सी ग हों" ने अधिकार कर लिया जो आगे चलकर "प्रबंधक एजेन्सियाँ" बन गईं। ये ही सारा विदेश-व्यापार (पश्चिमी भारत में व्यापार के एक भाग के अतिरिक्त) संचालित करती थीं और थोक के अधिकांश आंतरिक व्यापार विशेषत: निर्यात-योग्य उपभोक्ता-वस्तुओं में, की साम्राज्यिक अर्थव्यवस्था को बेहद आवश्यकता थी। 1813 के बाद के काल को एक मुक्त ब्यापार के मार्फ़त शोषण की संज्ञा दी जा सकती है।

1858 ने सत्ता सीधे 'क्राउन' अथवा ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के हाथ में जाती देखी। गवर्नर-जनरल अब वायसरॉय भी हो गया। 1858 ने यद्यपि राजनीतिक नियंत्रण के स्वभाव में एक वैध परिवर्तन देखा, शोषण के तरीकों में ज्यादा बदलाव नहीं आया। 1858 से 1914-18 की अवधि ने मुक्त व्यापार पर आधारित शोषण का उत्कर्ष देखा। लेकिन इस काल ने भारतीय अर्थव्यवस्था का पूर्ण रूप से विश्व पूँजीवादी बाज़ार के लिए खुलना और विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उसका पूर्ण एकीकरण देखा। शोषण के तरीके में बिना किसी परिवर्तन के, विश्व-पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में एकीकरण ने घरेलू आधिशेष के समायोजन हेतु नाना प्रकार के उत्तोलक अथवा लीवर जुटा दिए। रेलमार्गों और परिवहन-व्यवस्था के विकास ने भी एक ऐसे एकीकृत आर्थिक नेटवर्क में विविध आंतरिक अर्थव्यवस्थाओं का घुलना-मिलना देखा, जिसका सब कुछ विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की ओर बल्कि मुख्यत: ब्रिटेन की ओर उन्मुख था। यह जारी रहा लेकिन 20वीं सदी के दूसरे दशक, प्रथम विश्वयुद्ध की ओर अग्रसर अवधि के आसपास, ने शोषण के एक नवीन चरण को देखा जो 1947 तक चलता रहा लेकिन राजनीतिक स्वतंत्रता मिलने पर उसका चलना रुका नहीं। वास्तव में, अनेक छद्म वेषों में यह आज भी चल रहा है।

हम इसे शोषण का "नव-औपनिवेशिक" तरीका कह सकते हैं। ब्रिटेन में पूँजीवाद संतृप्ति के एक सापेक्ष स्तर पर विकसित हो चुका था। निवेश के लिए पूँजी ब्रिटिश अर्थव्यवस्था व ऐसे ही अन्य विकसित पूँजीवादी देशों में जितनी संभव थी उससे कहीं ज्यादा अब थी। अन्य देशों को पूँजी निर्यात करने की एक होड़-सी लगी थी। भारत महत्त्वपूर्ण लक्ष्यों में एक था। उन्नत पूँजीवादी देशों से पूँजी बल्कि पूर्णतः ब्रिटिश पूँजी भारत के खनन व उद्योग की ओर प्रवाहित होने लगी। भारत ने कुछ क्षेत्रों में उद्योग की एक ग़ौरतलब वृद्धि देखी; कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, अहमदाबाद जैसे कुछ परिक्षेत्रों में चृहद्-स्तर पर व कई अन्य स्थानों में एक लघु स्तर पर आधुनिक उद्योग पनपे। सरलता से उपलब्ध कच्चे माल का प्रयोग करने (बजाय इसके कि इसे इंग्लैण्ड निर्यात किया जाए) और स्थानीय रूप से उपलब्ध सस्ते श्रमिकों का प्रयोग करने से तात्पर्य था भारत में ही वस्तुओं का उत्पादन करना (बजाय इसके कि उन्हें ब्रिटेन से आयात किया जाए)। जो अधिलाभ लिए जाते थे उनका सम्पत्ति हरण ब्रिटेन हेतु होता था। इस प्रकार के औद्योगीकरण को "आयात प्रतिस्थापन" के रूप में भी जाना जाता है। इस आधुनिक उद्योग के विकास के साथ-साथ कुछ और भी आया जो था भारतीय बुर्जुआ वर्ग की श्रेणियों में तेजी से विस्तार और एक व्यापारी से लेकर उद्योगपतियों तक अपनी स्थिति में बदलाव। इस प्रक्रिया का प्रथम विश्व-युद्ध के बाद तेजी से वर्धन हुआ जब भारतीयों ने ब्रिटिशों पर, अमेरिका के प्रति अवनति में, मुक्त-व्यापार को संयत करने तथा भारतीय उद्योगपतियों को रियायतें व कुछ संरक्षण देने के लिए दवाब डाला। इसके साथ भारतीय पूँजीपतियों के तहत पूँजीवाद ने महान् वृद्धि दर्ज की।

उपनिवेशवाद और उसके विभिन्न चरणों के स्वरूप का अवलोकन करते-करते एक बात स्पष्ट हो जाती है। ये उपनिवेश अथवा गृह-अर्थव्यवस्था की आवश्यकताएँ अथवा अपेक्षाएँ नहीं हैं जो औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा बनाई गई नीतियों अथवा विकल्पों को निर्धारित करती हैं। इनकी बजाए यह निर्धारण वहाँ पूँजीवाद के विकास के शब्दों में साम्राज्यिक अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं से अधिक जुड़ा होता है। ब्रिटिश पूँजीवाद की ये अपेक्षाएँ ही हैं जो निर्णयकारी प्रभाव बन जाती हैं। अतः भारत में जो कुछ भी घटता है, यदि हम "विकास" के शब्दों में कहें, सहज ही परिणामी होता है। औपनिवेशिक सत्ताओं द्वारा भारतीय समाज हेतु कुछ भी नहीं किया गया।

इस प्रकार औपनिवेशवाद के स्वभाव और उसकी अवस्थाओं पर नज़र डालने के बाद अब विस्तृत परिणामों को समझना अधिक आसान होगा। इस इकाई के शेष भाग में भारत में उपनिवेशवाद के परिणामों का उल्लेख होगा।

1.3.2 प्रभाव : प्रथम चरण—कृषिवर्ग और उसकी दुर्दशा

हम सबने सुना है कि उपनिवेशवाद ने किस प्रकार से भारतीय कृषिक अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया जो कृषिवर्ग को कंगाली (वह प्रक्रिया जिसके द्वारा किसी को ग़रीब बनाया जाता है) की ओर ले गया। अनेक लेखकों द्वारा यह भी उल्लेख किया गया है कि अंग्रेजों ने टोडरमल द्वारा समाप्त कर दी गई मुग़ल भू-राजस्व व्यवस्था के अनेक अभिलक्षणों को कायम रखा। इस इकाई में हम पहले ही देख चुके हैं कि 18वीं सदी के दौरान ब्रिटेन से उत्पादनों का निर्यात कम ही होता था, इसलिए हस्त-कलाओं को कलाकारों पर दवाब डालकर बरबाद नहीं किया जा सका। तो फिर यह कैसे हुआ? अन्य शब्दों में, कंगाली शुरू कैसे हुई? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, भारत को कंगाल बनाने की प्रक्रिया को और अधिक समझने हेतु एक मुख्य बिन्दु।

जहाँ अंग्रेजों ने मुग़ल राजस्व व्यवस्था को काफी हद तक कायम रखा, उन्होंने इसकी समस्त संरचना के भीतर कुछ विस्तृत सख़्त परिवर्तन किए। पहला, यद्यपि एक छोटा-सा, था कि उन्होंने वसूले गए राजस्व के अंश को बहुत अधिक बढ़ा दिया। यह अनुमान लगाया गया है कि ब्रिटिश शासन के प्रथम

कुछ वर्षों में ही बंगाल दीवानी से वसूला गया कुल राजस्व दुगुना हो गया जबकि पिछले 100 वर्षों में यह उतना ही रहा था। यह एक विशाल वृद्धि थी। यह याद रखना महत्त्वपूर्ण होगा कि यह भीषण अकाल की ओर ले गया, एक-तिहाई जनता कंगाल हो गई, लेकिन यह ध्यान देने योग्य बात है कि राजस्व-वसूली बढ़ती ही गई। साथ ही, यह भी याद रखना महत्त्वपूर्ण होगा कि मुग़लों के शासन में राजस्व-वसूली के एक अंश का अर्थव्यवस्था की सहायता करने में और स्थानीय उत्पाद को विकसित करने हेतु पुनर्निवेश किया जाता था, लेकिन ब्रिटिश शासन में बहुत ही थोड़ा वापस आता था।

आइए उनके द्वारा किए गए उन परिवर्तनों पर नज़र डालते हैं जिनमें उन्होंने मुग़ल राजस्व व्यवस्था को कायम रखा। एक मौलिक परिवर्तन जो उन्होंने किया वह राजस्व को वास्तव में जोती गई भूमि की बजाय जोतने के लिए तय कुल भूमि पर गणनीय बनाना। यह निर्याणक था; इसीलिए, हम एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। मुग़ल शासन में यदि किसान, उदाहरण के लिए, 100 एकड़ भूमि जोतने का हक़दार था लेकिन वास्तव में उसने 55 एकड़ ही जोती, तो राजस्व मात्र 55 एकड़ के लिए ही वसूला जाता था लेकिन ये ब्रिटिश राजस्व का निर्धारण और वसूली पूरी 100 एकड़ भूमि के लिए करते थे। अब कल्पना कीजिए उस विशाल बोझ की जो किसानों पर डाला जाता होगा क्योंकि कुछेक को छोड़कर कोई भी अपने जोत के हक़ वाली पूरी भूमि को नहीं जोतता था। अन्य शब्दों में, कहा जा सकता है कि मुग़ल शासन में निर्धारण उपज पर आधारित था न कि जोतों पर और इसी कारण उनकी व्यवस्था में एक सन्निहित सुनम्यता थी। दूसरे, कई लोगों द्वारा यह भी देखा गया है कि पूरा वास्तविक लगान हमेशा ही वसूल नहीं किया जाता था और किसानों की समस्याओं पर ध्यान दिया जाता था। तीसरे, मुग़ल शासन में राजस्व नकद रूप में आकलित किया जाता था परन्तु बहुधा यह सहृदयता से वसूला जाता था ताकि किसान को विपदग्रस्त बिक्री हेतु न जाना पड़े। अन्ततः, और बहुत महत्त्वपूर्ण रूप से, मुग़ल शासन में समय से भुगतान करने से चूकने अथवा अन्य प्रकार के कर्जों को चुकाने में असमर्थ होने पर किसानों को भूमि से हाथ नहीं धोना पड़ता था। ब्रिटिश राजस्व अथवा अन्य कर्जों को चुकाने में असफल रहने पर भूमि की नीलामी हेतु दवाब डालते थे और पहली बार उन्होंने ग़ैर-किसानों को भूमि खरीदने की स्वीकृति दी। इससे पहले भूमि दूसरे किसान को सिर्फ़ हस्तांतरित की जा सकती थी; ग़ैर-किसान कृषक-भूमि का स्वत्व-अंतरण नहीं कर सकते थे। अतः कृषिवर्ग में ही थोड़ा-बहुत हस्तांतरण हुआ करता था।

उपर्युक्त से यह ज़ाहिर है कि अंग्रेजों द्वारा लाई गई व्यवस्था उन स्थितियों में कृषिक अर्थव्यवस्था की मौजों के संबंध में अनम्य थी जो हमारी मानसून पर निर्भर उष्णकटिबंधी जलवायु में प्रभावी थीं। इससे भूमि को एक उपभोक्ता-वस्तु जैसी चीज में बदलने का सिलसिला बढ़ा, हालाँकि भूमि कोई कपड़े की भाँति उपभोक्ता-वस्तु तो बन नहीं सकती। फिर भी भूमि का स्वत्व-अंतरण कृषिक संबंधों का एक अभिलक्षण बन ही गया। इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव था, एक, बकायों की उगाही के लिए उच्च धारकों अथवा साहूकारों द्वारा किसानों की भूमि का किसी-न-किसी बहाने अधिहरण किए जाने की निपुणता तथा, दो, उच्च धारकों, जैसे जमींदार की भूमि भी, कर्ज और उस पर चढ़े सूद को चुकाने में असफल रहने पर साहूकार द्वारा जब्त की जा सकती थी। परिणामतः भू-स्वामियों के एक वृहद् आयाम के रूप में ऐसे दूरवासी भू-स्वामियों का उद्गमन हुआ जो फिर कमर-तोड़ लगान अथवा बटाई पर भूमि को उठाने लगे।

कहीं ऐसा न हो यह गलत समझ लिया जाए, यहाँ एक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। यह बंगाल की दीवानी और वहाँ लाए गए भूमि धारणाधिकार से सीमाबद्ध नहीं था। लेकिन यह ब्रिटिश प्रशासन के तहत सम्पूर्ण भारत के लिए एक सामान्य लक्षण था, भूमि धारणाधिकार की किसी भी व्यवस्था को ले लीजिए। बंगाल में कार्नवालिस द्वारा बनाए गए स्थायी बंदोबस्त को ही लें, जहाँ सरकार ने

राजस्व वसूली का अधिकार उन मुट्ठीभर बड़े ज़मींदारों को सौंप दिया जो अब काश्तकार बन गए किसानों पर प्रभुत्व रखते थे। ज़मींदारों को सरकार को एक नियत धनराशि देनी होती थी जो हमेशा के लिए तय कर दी जाती थी लेकिन 19वीं सदी के अन्तिम दशकों तक लगान-दरों पर कोई प्रतिबंध नहीं होता था। या फिर बम्बई प्रेसीडेन्सी में एल्फिन्स्टन की और मद्रास प्रेसीडेन्सी में मुनरो की रैयतबाड़ी को देखें जहाँ भूमिधारियों के साथ सीधे बन्दोबस्त किए जाते थे और आवधिक राजस्व निर्धारण प्रत्येक 20-30 वर्षों में किया जाता था। उपर्युक्त नए अभिलक्षण जो कृषिवर्ग के लिए अलाभकारी थे बड़े आम थे। कृषिवर्ग की तबाही ही वह सवाल था जो दारिद्रय बढ़ोत्तरी के सापेक्ष था (दरिद्र वह है जिसे जीवित रहने के लिए भीख माँगनी पड़े)।

बोध प्रश्न 2

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) राजस्व प्रशासन के क्षेत्र में अंग्रेजों द्वारा उठाए गए नए कदम क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

2) कृषिवर्ग के लिए इनके क्या परिणाम हुए?

.....

.....

.....

.....

.....

3) इतिहास में भारतीय दरिद्रता के मूल को आप इतिहास में कहाँ पाते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

1.3.3 प्रभाव : द्वितीय चरण–अनौद्योगीकरण और उसके प्रभाव

इस चरण के दौरान उपनिवेशवाद का भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था पर दोहरा प्रभाव रहा – विनाशात्मक और विकासात्मक।

विनाशात्मक भूमिका

अंग्रेजों के आने से काफी पहले से भारत के पास एक वृहद् और विशाल रूप से फैला उद्योग अथवा द्वितीयक विनिर्माण था। वास्तव में, अकबर के समय में, यह कहा जाता है, कि एक महकमा-ए-कारखाने (उद्योग विभाग) शुरू किया गया। अपने कुटुंबों के अंदर कार्यरत शिल्पकारों अथवा शिल्प संघों में कार्यरत हस्तशिल्पकारों के नियंत्रण में ये विनिर्माण पूर्णत: संगठित थे। पश्चिमी यूरोप में कुछ देशों द्वारा लिए जाने वाले कुछेक प्रौद्योगिक लाभों को छोड़कर, जैसा कि हमने पहले देखा, राष्ट्रीय तंदरुस्ती और हमारे देश में शासकों के अधीन धन-सम्पत्ति किसी तरह कम नहीं थी; वास्तव में, कुछ अनुमानों के अनुसार यह अधिक ही थी। यहाँ, यद्यपि, अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि भारत में (पूर्व-पूँजीवाद) विनिर्माण देशभर में फैले थे और कई उदाहरणों में, शिल्प संघों के अपवाद के साथ, ये कृषिक अर्थव्यवस्था में भली-भाँति रचे-बसे थे; कृषि और विनिर्माणों के बीच संबंध परस्पर लाभदायक था। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान अधिकांश द्वितीयक विनिर्माण नष्ट हो गए और भारत में इस काल के दौरान कोई नया उद्योग नहीं पनपा। इस प्रक्रिया को अर्थशास्त्रियों द्वारा अनौद्योगीकरण के रूप में जाना गया। हम इस प्रक्रिया का संक्षिप्त रूप से अवलोकन करेंगे और इसके वृहद् प्रभाव पर ग़ौर करेंगे।

अनौद्योगीकरण की इस प्रक्रिया की शुरुआत, पूर्व कथन से जोड़ते हुए, 1813 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार-एकाधिकार की समाप्ति के साथ ही हुई जो ब्रिटेन में पूरी तरह से गतिमान औद्योगिक क्रांति से स्वयं ही ढँक गई। भारत, 1800 के आसपास से आरंभ कर, औपनिवेशिक शोषण के एक पारम्परिक साँचे में ढल गया, जिसे सामान्यतया साम्राज्यिक अर्थव्यवस्था द्वारा "कच्चे माल का आयात और तैयार वस्तुओं का निर्यात" अथवा अगर भारत या किसी अन्य उपनिवेश के दृष्टिकोण से देखा जाए तो इसके विपरीत के रूप में भी ठीक समझा गया है। यह अनौद्योगीकरण हुआ कैसे? और इसके क्या परिणाम हुए?

किसी भी वक्तव्य से पूर्व एक टिप्पणी करना उचित होगा क्योंकि यह अनेक अन्तर्दृष्टियों का स्रोत हो सकती है। 18वीं सदी के अंतिम चतुर्थांश में ब्रिटेन अपने औद्योगीकरण पर अपने सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 7 प्रतिशत निवेश कर रहा था। इसी अवधि के दौरान, वास्तव में, 1765 के पहले से शुरू करके, ब्रिटेन बंगाल से सकल घरेलू उत्पाद का 6 से 7 प्रतिशत प्राप्त कर रहा था जिसमें से 4 प्रतिशत से अधिक ब्रिटेन में निवेश कर दिया जाता था (ब्रिटेन को अप्रतिदत्त आधिशेष के रूप में हस्तांतरण द्वारा), इसने ब्रिटेन के त्वरित औद्योगीकरण में बड़ा योगदान दिया; जबकि शेष को भारत के अन्य भागों पर विजय-युद्ध करने में प्रयोग किया जाता था। अत: पहली विजयों के बाद भारत पर विजय हासिल करने के लिए ब्रिटेन का कुछ नहीं लगा, उसने केवल भारत के कुछ हिस्सों को बस कंगाल कर दिया क्योंकि वे अन्य भागों पर विजय के लिए धन देते थे। (विस्तृत विवरणों व वास्तविक आँकड़ों के लिए अमिया बागची को पढ़ें।)

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के आसपास से एकतरफा मुक्त-व्यापार शुरू किया गया। (यानी ब्रिटेन से वस्तुओं के निर्यात पर आयात-शुल्क में छूट)। आइए, एक विशिष्ट उपभोक्ता-वस्तु, सूती-वस्त्र, पर नज़र डालते हैं, जिसकी उत्पादन-गुणवत्ता के लिए भारत सभी जगह मशहूर था और जिसे वह भारी तादात में निर्यात किया करता था। कुछ ही दशकों के भीतर सूती-वस्त्र भारत की

निर्यात-सूची से पूरी तरह ग़ायब ही हो गया। भारत में वस्त्र-उत्पादन में एक अनर्थकारी गिरावट हुई। इसके स्थान पर देश की आयात-सूची में सूत-उत्पादन की अत्यधिक वृद्धि हुई। औद्योगिक क्रांति के आलोक में ब्रिटेन विश्व में सूती-वस्त्र का अग्रणी उत्पादक हो गया था। भारतीय बाज़ार फैलते ब्रिटिश उद्योग के लिए निर्णायक सिद्ध हुआ। उदाहरण के लिए 1880 के दशक में, जो वस्त्र-उत्पादन का शिखर-बिन्दु था, भारत अकेले ही ब्रिटेन की दुनिया में साझीदारी का 40 प्रतिशत हिस्सा था। बागची द्वारा आकलित सही-सही आँकड़ों में, 1885 में ब्रिटेन से सूती-माल का कुल निर्यात 6.9 करोड़ पाउण्ड आया और इसमें भारत का हिस्सा था 2.8 करोड़ पाउण्ड। भारत में उत्पादित सूती-माल पर ब्रिटेन से आयातित की अपेक्षा कहीं अधिक शुल्क देना पड़ता था।

अनेक प्रकार के निर्मित माल के साथ यही कहानी थी। रेशमी-माल के लिए, अंग्रेजों ने अपने अधीन बुनकरों पर बुनाई छोड़ देने के लिए दवाब डाला और इसके स्थान पर कच्चे रेशम का उत्पादन रखा क्योंकि यूरोप में कच्चे रेशम की बिक्री अधिक लाभप्रद दिखाई पड़ी। ब्रिटेन ने नमक, अफ़ीम (चीन के साथ व्यापार में एक मुख्य मद), नील (सूती-माल को ब्लीच करने में बहुत महत्त्वपूर्ण), आदि के उत्पादन और बिक्री पर भी एकाधिकार किया। कई अन्य निर्मित वस्तुएँ भी दसांश रह गईं। उदाहरण के लिए, राजनीतिक सत्ता की हानि के साथ, आग्नेयास्त्र-निर्माण उद्योग (पूर्व-औपनिवेशिक भारत में महत्त्वपूर्ण) समाप्त हो गया और उसके साथ ही हुआ इस्पात-ढलाई कारखानों का वृहद् स्तर पर सफ़ाया।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक अनौद्योगीकरण पूरा हो चुका था। कृषि पर इसका प्रभाव, ग़ौरतलब है, अत्यधिक विनाशकारी था। द्वितीयक उत्पादन कार्यों से निकाल फेंके गए व्यक्ति प्रत्यक्ष पोषण के लिए कृषि में धकेल दिए गए, भूमि को कुछ और लाख लोगों का पोषण करना पड़ा। इसने पहले से ही कंगाल, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, कृषिवर्ग को और अधिक बर्बादी की ओर उन्मुख किया। चूँकि भूमि पर लोगों की संख्या बढ़ती ही रही, कृषकों के भू-स्वामी (अथवा वरिष्ठ स्वामी) के साथ संबंध तो एक ओर खराब होते जा रहे थे और भूमिहीन कृषिक श्रमिकों की संख्या विशाल रूप से बढ़ गई। इस प्रक्रिया का परिणाम तत्काल एक दोहरे चरित्र वाला था : पहले, कृषि कार्यों में कामगारों के वेतनों में निरंकुश गिरावट तथा उसके बाद दूसरे, लगान में बढ़ोत्तरी जिसको चुकाने के लिए किसानों पर दवाब डाला जाता था (निष्ठुर लगान एक सामान्य अभिलक्षण बन गया, और लगान पूरा अथवा समय पर चुकाने में असफल रहने के कारण ने बटाई-काश्तकारों के रूप में अधिभोक्ताओं की आसानी से बेदख़ली की ओर अग्रसर किया। कंगाली, एक सापेक्ष अर्थ में नहीं बल्कि एक निरपेक्ष स्वरूप में व्यापक हो गई। भारत देश आजतक उनके लिए भयंकर पीड़ा से ग्रस्त है जिनके पास थोड़ी-सी ही ज़मीन है अथवा बिल्कुल नहीं है।

विकासात्मक प्रभाव

भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था पर उपनिवेशवाद का निम्नलिखित विकासात्मक प्रभाव हुआ :

उन्नीसवीं शताब्दी से आरंभ कर, अंग्रेज पहले एक आधुनिक प्रशासनिक प्रणाली निश्चित कर रहे थे और उसके बाद एक न्यायिक व्यवस्था, तथा व्यापारिक प्रतिष्ठानों को साथ लेकर यह भारत के लिए एक नए प्रकार की सामाजिक आधारिक संरचना थी। इसे चलाने के लिए बड़ी संख्या में भारतीयों की आवश्यकता थी। इसीलिए अंग्रेजों ने इन सार्वजनिक व निजी संस्थाओं को चलाने के लिए एक नए प्रकार की शिक्षा-प्रणाली भी निर्धारित की। काफी तर्क-वितर्क के बाद, 1830 के दशक से प्रशासन व शिक्षा दोनों का पूरी तरह से अंग्रेजीकरण लागू कर दिया। अंग्रेजी में भली-भाँति दक्ष भारतीयों के एक नए वर्ग का उद्गमन हुआ। आरंभ में वे अधिकतर हिन्दुओं से निष्कर्षित थे

और पूर्णत: उन तीन उच्च जातियों से थे जिन्होंने पहले नौकरियों पर एकाधिकार स्थापित किया और फिर अन्य व्यवसाय जैसे वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, पत्रकार, कम्पनी कार्यकारी, इत्यादि, भारतीयों के बीच एक उच्च रूप से लाभान्वित समूह पर। इसका उच्चतर स्तर था – नया भारतीय संभ्रान्त वर्ग। उनका प्रधान्य आज भी जारी है जो दलित आदि निम्न जातियों व पिछड़ी जातियों तथा प्राय: उन मुस्लिमों के बीच जो औपनिवेशिक शासन के आरंभ से ही शिक्षा में पिछड़े रहे, विद्वेष का कारण है।

इस काल के दौरान दूसरा अति महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम था रेलमार्गों के निर्माण की शुरुआत। 1854 में शुरू होने वाले पहले दो मुख्यमार्गीय रास्ते चालू किए गए और तब इसका निर्माण एक वृहद् स्तर पर जारी रखा गया। 1914 तक, भारत के सभी मुख्य क्षेत्रों को जोड़ते 34,000 मील लम्बे रेलमार्गों का निर्माण किया गया। चीन से तुलना करके हम देख सकते हैं कि यह नेटवर्क कितना विस्तृत था। चीन जैसे एक अधिक बड़े देश में भी अर्ध-औपनिवेशिक शासन के अंत तक मात्र 12,000 मील तक ही रेलमार्ग नेटवर्क था। भारत भर में माल और लोगों के आवागमन को सरल बनाकर रेलमार्गों ने व्यापार और पूँजी के विकास में अत्यधिक योगदान किया। इससे इस प्रकार एक परस्पर सक्रिय अर्थव्यवस्था में विभिन्न स्थानीय आर्थिक क्षेत्रों का एकीकरण हो गया। इसने एक अखिल-भारतीय बाज़ार के विकास में मदद की। आज ये रेलमार्ग एक भौतिक वांछित आधारभूत ढाँचा बने हुए हैं जो माल व लोगों और व्यापार एवं वाणिज्य के संचलन तथा तेजी से बढ़ती औद्योगिक अर्थव्यवस्था के निवेशों की आपूर्ति में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

बल्कि इन रेलमार्गों ने आश्चर्यजनक रूप से एक महानगर के भीतर भारतीय अर्थव्यवस्था के एक महत्तर एकीकरण में भी योगदान किया है और इस प्रकार भारत के आर्थिक शोषण के विवर्धन में योगदान किया है। इसने ऐसा एक असाधारण मार्ग समूहन और किराया-ढाँचे के द्वारा किया है। मुख्य शहरों को राजधानी से जोड़ते मुख्य-पथ मार्गों के अतिरिक्त, ये रेलमार्ग मुख्य रूप से आंतरिक प्रदेशों को उन पोत शहरों से जोड़ने के लिए ही एकीकृत किए गए जहाँ से भारत और ब्रिटेन के बीच इधर-उधर व्यापार को सरल बनाते हुए, तैयार वस्तुएँ भारत में निर्यात की जाती थीं और कच्चा-माल बाहर ले जाया जाता था।

यदि दो आंतरिक प्रदेशों के बीच माल का परिवहन किया जाता था तो भाड़ा अधिक लगता था, उदाहरणार्थ इंदौर और ग्वालियर के बीच, लेकिन यही माल यदि आंतरिक प्रदेश से पोत शहरों को लाना-ले जाना हो तो यह काफी कम (प्राय: आधा ही) लगता था, उदाहरणार्थ ग्वालियर अथवा इंदौर से बम्बई अथवा कलकत्ता को; ताकि इससे आंतरिक व्यापार निरुत्साहित हो परन्तु ब्रिटेन के साथ बाह्य व्यापार में मदद मिले। अत: इस प्रकार "कच्चे-माल के बदले तैयार वस्तुएँ" वाली प्रक्रिया तेजी से चल पड़ी और इससे ही हुआ भारत के शोषण का विवर्धन। यही था वह घटनाक्रम जिसको महान् राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री और स्वतंत्रता-सैनानी दादाभाई नौरोजी ने नाम दिया "निकास सिद्धांत"।

तीसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन जो प्रासंगिक है, वह है आधुनिक सिंचाई नेटवर्क का विकास। रेलमार्गों के विकास के साथ ही, सिंचित क्षेत्रों में भी तीव्रता से विस्तार हुआ। विशाल सिंचाई नेटवर्कों का यद्यपि कुछ ही क्षेत्रों में परिसीमित निर्माण किया गया लेकिन इसके साथ ही कुओं व ग्राम-सरोवरों जैसे पारम्परिक सिंचाई साधनों की उपेक्षा भी होने लगी। अत: सकल आदेश-क्षेत्र सिंचित क्षेत्र में वास्तविक वृद्धि के बराबर नहीं रहे। 1914 तक, 2.5 करोड़ एकड़ सिंचाई के अंतर्गत था। पूर्व-पारम्परिक व्यवस्था किसानों के हाथ में ही थी इसलिए फसल-मिश्रण और फसल-घूर्णन आदि पर उनका नियंत्रण था। आधुनिक नेटवर्कों ने खेतिहरों को उन सिंचित सम्बद्ध ज़मींदारों की अनुकंपा पर आश्रित कर दिया जिनका उदाहरणार्थ, नहरों जैसे सरकारी सार्वजनिक कार्यों पर

नियंत्रण था। यह कृषिक अर्थव्यवस्था पर ज़मींदारों की अपेक्षिक बल-वृद्धि में और इसीलिए कृषिवर्ग के एक दयनीय अस्तित्व में भी फलित हुआ।

सिंचाई में निवेशों का एक महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण याद रखने योग्य है। लगभग सारा निवेश दो को जाता था, ब्रिटिश भारत के तीन क्षेत्र, और इनमें से इसका अधिकांश पंजाब को जाता था। अनुमान दर्शाते हैं सम्पूर्ण निवेश का 3/5 (पूर्व काल में लेकिन बाद में आंशिक रूप से फिर भी एक विस्तृत भाग कायम रहते हुए) पंजाब को जाता था, शेष मद्रास प्रेसीडेन्सी के कुछ तटीय क्षेत्रों और बम्बई प्रेसीडेन्सी में कुछ क्षेत्रों के आसपास विभाजित कर दिया जाता था। तब ये ही वे क्षेत्र थे जहाँ उत्पादकता में अधिक वृद्धि देखी गई। यह बात नहीं है कि इन क्षेत्रों के किसान अधिक मेहनती हैं, जैसा कि पंजाब के किसानों के बारे में आधुनिक मिथक तर्क देता है, बल्कि वे निश्चित उत्पादन के कारण इन क्षेत्रों में अधिक श्रम व पूँजी लगाते हैं। इस निवेश के विषम स्वभाव ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों के बीच एक नए प्रकार के अनमेलपन को बढ़ावा दिया।

सिंचाई के विकास के साथ दो महत्त्वपूर्ण परिणाम सामने आए, इनका संक्षिप्त वर्णन महत्त्वपूर्ण है। सिंचाई ने फसल पद्धति में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की ओर उन्मुख किया। इससे निर्यात-योग्य खाद्यान्न और वाणिज्यिक फसलों की वृद्धि को मदद मिली, सिंचित क्षेत्रों में प्रत्यक्ष प्रभाव द्वारा बल्कि अन्य क्षेत्रों हेतु लाभप्रद कृषि का स्वभाव दर्शाकर भी। इन नए निर्यात-योग्य खाद्यान्नों ने ज्वार-बाजरा (अल्प जल की आवश्यकता वाले मोटे अनाज और ग़रीबों के प्रमुख आहार) तथा दलहन (ग़रीबों के लिए मुख्य व एकमात्र प्रोटीन-स्रोत) के उत्पादन को हाशिये पर धकेल दिया। क्षेत्रों व विभिन्न वर्गों के बीच कृषि में विकास का सम्पूर्ण स्वभाव एक बेहद असम प्रकृति का था। एक सामाजिक स्तर की ओर उद्गमोन्मुखी कृषिवर्ग के बीच धनी कहे जाने किसानों का उद्गमन हुआ। यह भी ध्यातव्य है कि 1914 तक, कुल फसल-क्षेत्र का लगभग 25% क्षेत्र नकदी-फसलों के तहत आता था, इनमें से अनेक उद्योगार्थ-निवेश प्रकृति के भी थे, नामत: तम्बाकू, जूट, कपास, गन्ना (गुड़ व खांडसारी की बजाय परिष्कृत चीनी का उत्पादन करके), आदि। भारत में आधुनिक कृषि, 1947 से, बहुत बदल गई है, लेकिन आधारभूत संरचना बड़े ध्यानाकर्षक रूप से वही रही।

रेलमार्गों के साथ-साथ, नकदी-फसलों के विकास के साथ सिंचाई, और वृहद्-स्तर खनन ने भारत के भीतर और भारत व अन्य देशों विशेषत: ब्रिटेन के बीच दोनों ही प्रकार के व्यापार के विकास को काफी प्रोत्साहित किया। इसीलिए 1880 के दशक तक एक अच्छा-खासा भारतीय पूँजीपति वर्ग आकार ले रहा था और अनेक क्षेत्रों में विद्यमान था परन्तु पूर्णत: पोत-कस्बों में और उनके आसपास ही संकेंद्रित था। इससे भारतीय उद्यमियों के तहत पूँजीवाद की शुरुआत को कम ही बढ़ावा मिला और आधुनिक उद्योग का धीमा विकास हुआ। यही था भविष्य हेतु व्यापक महत्त्व वाला एक अभिलक्षण।

बोध प्रश्न 3

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) ब्रिटिशों ने दोहन की बजाय "कच्चे माल के निर्यात और तैयार वस्तुओं के आयात" पर जोर देना क्यों शुरू कर दिया?

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारतीय अर्थव्यवस्था के साथ इसने क्या किया?

.....

.....

.....

.....

.....

3) कृषिक अर्थव्यवस्था ने अनौद्योगीकरण को कैसे प्रभावित किया?

.....

.....

.....

.....

.....

1.3.4 प्रभाव : तृतीय चरण – साम्राज्यवाद और औद्योगीकरण

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में पूँजीवाद की प्रकृति बदल रही थी। औद्योगिक और बैंकिंग पूँजियों जैसी विभिन्न प्रकार की पूँजियाँ विलीन होती जा रही थीं। इससे निर्यात हेतु पूँजी-आधिक्य वाले ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, आदि जैसे उन्नत पूँजीवादी देशों में वृहद् वित्तीय अल्पतन्त्रों को बढ़ावा मिला। इन देशों के बीच, उदाहरण के लिए, भारत जैसे देशों को पूँजी निर्यात करने और उद्योग स्थापित करने हेतु गहरी होड़ लगी थी। वास्तव में, इस होड़ ने ही प्रथम विश्व-युद्ध को जन्म दिया। इस होड़ के पीछे इरादा था अधिक-से-अधिक लाभ कमाना और इसे अपने देश निर्यात कर देना। यह साम्राज्यिक अर्थव्यवस्था के लाभार्थ अन्य देशों के साथ-साथ उपनिवेशों के घरेलू बाज़ार पर भी कब्ज़ा करने का एक तरीका था। हॉब्सन नामक एक प्रसिद्ध युक्तिवादी अर्थशास्त्री और सुपरिचित क्रांतिकारी लेनिन इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब पूँजीवाद प्रवेश कर चुका है, जिसको उन्होंने नाम दिया, साम्राज्यवाद का चरण। (साम्राज्यवाद इसी कारण पूरी तरह से उपनिवेशवाद जैसा नहीं है, यह उपनिवेशवाद के समाप्त हो जाने पर भी जारी रहा और भूमण्डलीकरण के नए नाम से हमारे साथ आज भी है।)

शताब्दी के अंत तक और 1914 से पूर्व भारत में उद्योग भली-भाँति विकसित हो चुके थे। ये उद्योग व्यापक नहीं थे बल्कि कुछ परिक्षेत्रों में संघनित थे – जैसे कलकत्ता के आसपास जूट-मिलें और

बम्बई के आसपास सूती-वस्त्रोद्योग, आदि। अन्य उद्योग, नामतः चावल-मिलें, परिष्कृत चीनी, सीमेंट इत्यादि बनाने हेतु भी लगने शुरू हो गए। टाटा (इस कार्य हेतु एकमात्र अनुमतिप्राप्त भारतीय) भी स्टील बनाने हेतु एक भारी उद्योग स्थापित कर चुके थे।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद यह प्रक्रिया तेजी से बढ़ी। इस काल की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि वे भारतीय पूँजीपति जिन्होंने व्यापार के माध्यम से काफी बड़ी पूँजी जोड़ी हुई थी अपने निजी उद्योग लगाने लगे। युद्धोपरांत, उन्नत पूँजीवादी विश्व में ब्रिटेन की स्थिति अपेक्षाकृत रूप से घटी और उसे अन्य औद्योगिक शक्तियों की प्रबल प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। भारतीय पूँजीपतिवर्ग ने उद्योग शुरू करने के लिए ब्रिटेन से बड़ी रियायतें झटक लीं और उस पर एकतरफा मुक्त-व्यापार को संशोधित करने हेतु दवाब डाला, परिणामतः भारतीय पूँजीपति वर्ग को कुछ राजकीय संरक्षण मिल गया। जनाधारित राष्ट्रीय आंदोलन के उदय ने भी आशान्वित भारतीय पूँजीपतिवर्ग को ब्रिटेन के साथ और बेहतर सौदेबाज़ी करने में मदद की।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन स्थापित होने के बाद, उद्योगों में भारतीय पूँजीपति वर्ग की परिसंपत्तियाँ ब्रिटिश पूँजीपतियों के मुकाबले और तेजी से बढ़ीं। भारतीय उद्योगों को कोई राजकीय सहायता नहीं दी जाती थी परन्तु ब्रिटेन पर भारतीय उद्योग व अन्य साम्राज्यिक शक्तियों के सामने रखी जाने वाली संरक्षात्मक शुल्कदार का अनुदान देने हेतु दवाब था, यद्यपि उसके अपने माल पर, अधिमान्य व्यवहार की सुविधा जारी रही। द्वितीय विश्व-युद्धकाल तक भारत ऊपर वर्णित उद्योगों के अलावा, कच्चे-तेल व कच्चे-लोहे, स्टील, सीमेंट, आदि जैसी माध्यमिक वस्तुओं की भाँति उपभोक्ता-वस्तुओं में भी आत्म-निर्भरता का एक अच्छा मापदण्ड हासिल कर चुका था। पहले ब्रिटेन से जो आयात होता था उसमें से काफ़ी कुछ अब देश में ही पैदा किया जा रहा था; औद्योगीकरण की इस पद्धति का अर्थशास्त्रियों द्वारा "आयात-प्रतिस्थापन" औद्योगीकरण के रूप में उल्लेख किया जाता है।

इस चर्चा को समाप्त करने से पूर्व इस औद्योगीकरण के एक महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण पर प्रकाश डालना आवश्यक है। विकास के औपनिवेशिक तरीके ने उद्योग और कृषि के बीच एक गंभीर वियोजन थोप दिया, जैसा कि बागची द्वारा उल्लेख किया गया है। वे अधिकांश क्षेत्र जिनमें उद्योग विकसित हुए, कृषिक रूप से पिछड़े रहे और वे जो पंजाब जैसे कृषिक रूप से उन्नत हुए, औद्योगिक रूप से पिछड़े रहे। परिणाम यह हुआ कि कृषिक क्षेत्र उद्योग के लिए पृष्ठ प्रदेश बन गए। यह पूर्व-औपनिवेशिक पद्धति से बिल्कुल भिन्न हुआ जहाँ उद्योग व कृषि एक परस्पर लाभप्रद संबंध से गहरे जुड़े थे। यह पूरे भारत में असमान विकास के एक विशिष्ट प्रतिमान के रूप में फलित हुआ। लगभग उन सभी क्षेत्रों में जहाँ मुस्लिम जनसंख्या का बाहुल्य था, कोई उद्योग नहीं पनपा और ये पृष्ठ प्रदेश ही रहे। कोई बड़ा मुस्लिम मध्यवर्ग भी नहीं पनपा। इसने भी मुस्लिम अलगाववाद में योगदान किया जिसने, जैसा कि हम जानते हैं, देश के विभाजन और पाकिस्तान के जन्म की ओर उन्मुख किया – एक पेचीदा कहानी जो यहाँ नहीं कही जा सकती।

बोध प्रश्न 4

नोटः i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारत में आधुनिक उद्योग के विकास को किसने प्रवृत्त किया?

.....

.....

.....

.....

.....

2) वे कौन-से मुख्य सामाजिक दवाब थे जो भारत में उद्‌गमित हुए?

.....

.....

.....

.....

.....

3) "आयात-प्रतिस्थापन'' औद्योगीकरण क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

1.4 सारांश

जब भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई, औद्योगिक रूप से यह उन्नत पूँजीवादी देशों की परिधि से बाहर सर्वाधिक विकसित था। उसके पास सबसे बड़ा पूँजीपतिवर्ग था जो पीछे से राजनीति को प्रभावित करने में निपुण था, साथ ही था वृहद्‌तम और सबसे प्रवीण मध्यवर्ग तथा कुशल श्रमिकों की वृहद् सम्पन्नता के साथ संख्यात्मक रूप से विशाल एक सर्वहारा वर्ग। विरोधोक्ति के रूप में, भारत में शहरी व ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में ग़रीबी की सर्वोच्च व्यापकता है, परन्तु इसके साथ चलने वाली कुपोषण, बीमारी, अशिक्षा, अनाश्रय आदि बातों के साथ यह ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष रूप से है; इस वास्तविकता से कतई दूर कि हमारी क्षमतानुसार हमें बनाने वाले साधन समाज में बड़ी विरलता से व्याप्त थे। आधुनिक भारत के निर्माण में उपनिवेशवाद बड़ा ही निर्णायक सिद्ध हुआ।

1.5 शब्दावली

अनौद्योगीकरण : साम्राज्यिक देश के आधुनिक उद्योगों के साथ प्रतिस्पर्धा के कारण उपनिवेशों के पारम्परिक उद्योगों के विनाश की एक प्रक्रिया।

उपनिवेशवाद : एक शासन-पद्धति जिसमें एक देश दूसरे देश पर जीवन के सभी पहलुओं, विशेषत: आर्थिक, में अपना प्रभुत्व रखता है और उसका शोषण करता है।

नव-उपनिवेशवाद : यह एक पद्धति है जिसमें उपनिवेश की अर्थव्यवस्था रेलमार्गों व परिवहन जैसी आधारिक संरचना के विकास द्वारा साम्राज्यिक देश की अर्थव्यवस्था के साथ एकीकृत हो जाती है।

1.16 कुछ उपयोगी पुस्तकें व लेख

चन्द्र, *बिपन, एस्सेज़ ऑन् कॉलोनिअलिज़्म,* (दिल्ली, ओरिएण्ट लौंगमैन, 1999); देखें अध्याय - 3 व 4।

पाव्लोव, वी०, "इण्डिया'ज़ सोशिओ-इकनॉमिक स्ट्रक्चर फ्रॉम दि 18'थ टु मिड-20'थ सैन्चुरी"; वी० पाव्लोव, वी० रास्तानिकोव, और जी० शिरोव, *इण्डिया : सोशल एण्ड इकनॉमिक डिवलपमेंट,* (मॉस्को, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1975)।

बागची,अमिया कुमार, *पॉलिटिकल इकॉनमी ऑव अण्डरडिवलपमेंट,* (कैम्ब्रिज, सी.यू.पी., 1982); भारतीय संस्करण भी उपलब्ध है। देखें विशेषत: अध्याय 4 और अध्याय-2, 6 व 7। तथा उनका "रिफ्लैक्शन्स ऑन् पैटर्न्स ऑव रीजनल ग्रोथ इन् इण्डिया ड्यूरिंग दि पीरियड ऑव ब्रिटिश रूल", बंगाल पास्ट एण्ड प्रेसैण्ट, खण्ड-XCV, भाग-1, नं० 180, जनवरी-जून 1976 भी देखें।

सरकार, सुमित, *मॉडर्न इण्डिया,* (दिल्ली मैकमिलन, 1983)।

हबीब, इर्फान, "कॉलोनाईजेशन ऑव दि इण्डियन इकॉनमी, 1757-1900"', *सोशियल साइण्टिस्ट, मार्च 1975; उनका एस्सेज़ इन् इण्डियन हिस्ट्री* : टुवर्ड्स ए मार्क्सिस्ट पर्सपैक्टिव, (नई दिल्ली, तूलिका, 1995)।

1.17 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) 16-18वीं शताब्दी के उपनिवेशवाद का नया अभिलक्षण यह था कि पूर्व-उपनिवेशवाद से भिन्न इसने विश्व के बड़े भाग का इसी के छोटे-से भाग द्वारा बलात् समावेशन देखा।

2) i) विश्व के बड़े भाग का देशों के एक छोटे-से समूह द्वारा बलात् समावेशन।

   ii) उपनिवेशों के संसाधनों का मुट्ठीभर साम्राज्यिक देशों द्वारा दोहन, और उपनिवेशों की अर्थव्यवस्था को चौपट किया जाना।

   iii) लैटिन अमेरिका भारत से काफी पहले ही जीत लिया गया था। इसके बाद औद्योगिक क्रांति हुई, जिसने भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया।

बोध प्रश्न 2

1) उन्होंने राजस्व का अंश बढ़ा दिया। लगान किसान की कुल भूमि के आधार पर उगाहया जाता था, न कि बुआई किए गए क्षेत्र के आधार पर।

2) यह किसानों से लगान वसूल करने में फलित हुआ। लगान चुकाने में असफल रहने पर ज़मीन से उनकी बेदख़ली होने लगी। किसान कंगाल हो गए।

3) यह औपनिवेशिक काल में देखा जा सकता है।

बोध प्रश्न 3

1) वे इंग्लैण्ड में उत्पादित माल के लिए बाज़ार चाहते थे।

2) इसने भारत की पारम्परिक अर्थव्यवस्था को चौपट कर दिया, जिसको अनौद्योगीकरण की प्रक्रिया के रूप में जाना गया।

3) अनौद्योगीकरण के कारण, भारतीय कृषि से सम्बन्धित पारम्परिक उद्योग व फसल पैदावार तबाह हो गए। इसने भारतीयों को कंगाल कर दिया।

बोध प्रश्न 4

1) प्रथम विश्व-युद्ध के आलोक में ब्रिटेन की स्थिति अन्य उन्नत देशों के मुकाबले घटी। इसने भारतीय उद्योगपतियों को ब्रिटिश सरकार से रियायतें (संरक्षात्मक शुल्कदर नीति) प्राप्त करने का एक अवसर प्रदान किया। इससे आधुनिक भारतीय उद्योग के विकास में मदद मिली।

2) जूट-वस्त्र, सूती-वस्त्र, परिष्कृत चीनी, सीमेंट, आदि।

3) मध्यवर्ग, ज़मींदार, उद्योगपतियों का एक छोटा समूह।

4) "आयात-प्रतिस्थापन'' का अर्थ है वह आर्थिक व्यवस्था जिसमें आयात की जाने वाली वस्तुएँ अपने देश में ही उत्पादित की जाती हैं।

इकाई 2 भारतीय समाज की प्रतिक्रियाएँ

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 भारत तथा औपनिवेशिक अनुभव
2.3 कृषि-वर्ग की दुनिया
2.4 जनजातीय प्रतिक्रिया
2.5 मध्यवर्ग, बुद्धिजीवी-वर्ग तथा समाज-सुधार
  2.5.1 नए वर्ग के विचार व अभिदृष्टि
  2.5.2 समाज-सुधारक तथा जन-विवाद
2.6 सुधार आंदोलन?
2.7 सुधार या पुनरुत्थान?
2.8 सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार
2.9 बुद्धिजीवी-वर्ग, सुधार तथा औपनिवेशिक राज्य
2.10 उपनिवेशवाद की समालोचना
2.11 सारांश
2.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
2.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

यह इकाई भारत में उपनिवेशवाद के पदार्पण के प्रति भारतीय समाज की प्रतिक्रियाओं के विषय में है। इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप समझ सकेंगे :

- औपनिवेशिक नीतियों के प्रति कृषि-वर्ग की प्रतिक्रिया;
- इसके प्रति जनजातियों की प्रतिक्रिया;
- इसके प्रति मध्यम वर्गों व बुद्धिजीवी-वर्ग की प्रतिक्रिया; तथा
- औपनिवेशिक काल में सामाजिक व सांस्कृतिक आंदोलनों के उदय का प्रसंग।

2.1 प्रस्तावना

उपनिवेशवाद ने भारतीय समाज का रूप जड़ से ही बदल लिया। इसने उक्त समाज में हलचल मचाकर रख दी। इस समाज ने उपनिवेशवाद का प्रत्युत्तर बहुविध तरीकों से दिया। वे प्रतिक्रियाएँ, बहरहाल, उस प्रसंग जिसमें लोग रहते थे, जिस तरीके से वे औपनिवेशिक शासन को लेते थे और एक भावी समाज की उनकी अभिदृष्टि से प्रभावित थीं। इस इकाई में हम इन विभिन्न प्रतिक्रियाओं की उनके समुचित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जाँच-परख करेंगे। इससे हम अपने समाज के ऐतिहासिक घटनाक्रम, तथा उस रीति का भली-भाँति अवलोकन कर सकेंगे जिसमें इस समाज ने गत दो सौ साल या अधिक तक संघर्षरत रह सिलसिलेवार ताकतों का प्रत्युत्तर दिया।

2.2 भारत तथा औपनिवेशिक अनुभव

आपने इकाई 1 में पढ़ा कि सोलहवीं शताब्दी में ही व्यापार का एकमात्र लक्ष्य ले यूरोप, यथा ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल व हॉलैण्ड, से व्यापारिक कम्पनियों ने भारत में प्रवेश कर लिया था। 1716 में, अंग्रेज़ी 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' ने उस वक्त बंगाल, बिहार व उड़ीसा की दीवानी हासिल कर ली जब इसकी सेनाओं ने बंगाल व अवध के नवाबों तथा मुग़ल बादशाह आलम के संयुक्त बलों को हरा दिया। उन्नीसवीं सदी के प्रथम दशक तक, एकमात्र व्यापारिक कम्पनी ने भारतीय उपमहाद्वीप के एक विशाल भूखण्ड पर अपना प्रभुत्व कायम किया था।

जबकि एक ओर, उपनिवेशवाद ने समाज को कंगाल कर दिया और उसके आर्थिक शोषण हेतु राजनीतिक सत्ता का प्रयोग किया, इसने एक सम्पूर्णतः नए युग के स्वागतार्थ विचारों के वेग को भी उन्मुक्त कर दिया। अंग्रेज अपने साथ इंग्लैण्ड (1688) व फ्रांस (1789) की क्रांतियों का संदेश लाए। स्वतंत्रता, समानता एवं सत्रहवीं व अठारहवीं शताब्दी के यूरोप की वैज्ञानिक क्रांति व प्रबोध-विचारों से जन्मे एक वैज्ञानिक विश्वावलोकन का द्योतन भी औपनिवेशिक शक्तियों के साथ भारत चला आया। उपनिवेशवाद ने, इसी कारण, स्वयं को एक आमूल समाज पुनर्संगठन हेतु विचार आबंटन करने वाले दारोगा की भाँति प्रस्तुत किया, इसके बावजूद भी इसने इस उपमहाद्वीप की आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक पच्चीकारी को एक आधारभूत रूप से बदल डाला।

2.3 कृषि-वर्ग की दुनिया

ब्रिटिश-अधिकृत क्षेत्रों में कई भू-राजस्व प्रणालियाँ, जैसे कि बंगाल में स्थायी बंदोबस्त तथा अन्य क्षेत्रों में रैयतबाड़ी व्यवस्था, शुरू की गईं। ये दोनों ही इस उपमहाद्वीप के अनुरूप थीं, और ग्राम समुदाय के अपनी ही ज़मीन पर पारम्परिक अधिकारों के प्रतिलंघन को इंगित करती थीं। अब परिसम्पत्ति के रूप अस्तित्व में आ गए। बंगाल में, जहाँ स्थायी बंदोबस्त लागू किया गया, ज़मींदार लोग राज्य व किसानों के बीच बिचौलिए बन गए। अन्य क्षेत्रों में, ये किसान अत्यधिक ऊँचे करों से प्रत्यक्षतः दबे थे।

'कम्पनी' ने भीषण रूप से राजस्व वसूलना शुरू कर दिया। अकेले बंगाल में ही कुल उगाहया गया राजस्व 1762-63 में 63.4 लाख रुपये से दूना हो 1765-66 में 147.0 लाख रुपये हो गया। आर. सी.दत्त, जिन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था पर उपनिवेशवाद के प्रभाव का अध्ययन किया, इस निष्कर्षण का आकलन किया कि 1765-66 में 2.26 करोड़ रुपये से यह 1769-70 में 3.7 करोड़ रुपये तक बढ़ गया।

यहाँ तक कि भीषण अकाल में भी करारोपण में कोई कमी नहीं आयी, जो दर्शाता है नए शासकों के न्यायान्याय-विचार-शून्य लोभ को। इससे उन पुराने ज़मींदारों के लिए भीषण संकट पैदा हो गया, जो अब राजस्व-कृषकों की स्थिति में आन पड़े थे। इन नई भू-राजस्व व्यवस्थाओं ने राज्य-संरक्षण पर आधारित लोगों के वर्ग को भी प्रभावित किया, जैसे कि पारम्परिक वृत्तिधारी, फ़कीर, कलाकार इत्यादि। ज़मींदारों व अन्य अधिकारच्युत लोगों की क्रांति ने औपनिवेशिक शक्ति के प्रति अनुक्रिया सबसे पहले दर्ज की।

कृषि-वर्ग ही इस नई व्यवस्था का निकृष्टतम शिकार था। किसानों ने औपनिवेशिक उत्पीड़न के प्रति विरोध-प्रदर्शन के रूप में प्रतिक्रिया की। यह पाठांश कृषकों की प्रतिक्रिया के कुछ उदाहरण

प्रस्तुत करता है। यह कृषक-प्रतिक्रिया अनेक रूपों में आयी। टीटू मीर (1782) का विद्रोह ब्रिटिश शासन के प्रति एक ऐसी ही पूर्ववर्ती अनुक्रिया थी। टीटू मीर ने ज़मींदारों के खिलाफ़ 24 परगनों (बंगाल) में बरसात के निकट ग़रीब किसानों का नेतृत्व किया, जिनमें हिन्दू व मुस्लिम दोनों ही थे। उसने अपने अनुयायियों को शुद्ध व सहज इस्लामी प्रथाओं का अनुसरण करने का निर्देश दिया। यह आंदोलन नादिया व फ़रीदपुर जिलों से लगे क्षेत्रों में फैलना शुरू हो गया। इसकी लोकप्रियता के चलते अंततः औपनिवेशिक शासकों पर टीटू मीर को मार डालने तथा उसके आंदोलन को दबा देने के लिए दबाव पड़ा। नवम्बर 1831 में, बरसात जिले में नरकुल बाड़िया स्थित टीटू मीर के मुख्यालय को नष्ट कर दिया गया। वह और उसके पचास समर्थकों को मौत के घाट उतार दिया गया, और उसके सैकड़ों समर्थकों को गिरफ़्तार कर लिया गया।

पूर्वी बंगाल में हाजी शरिअत-उल्ला (1781-1840) के और अधिक व्यापक फराज़ी आंदोलन न इसको अपनाया। शरिअत-उल्ला ने अपने ग़रीब-किसान अनुयायियों को कुरान व सुन्ना (मुस्लिम कानून) द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों (फ़र'इज़, फिर फ़र'इज़ी) का सख्ती से पालन करने, और ईश्वर की एकता को बनाए रखने का आदेश दिया। उसने ज़ोर देकर कहा कि जब तक बंगाल पर ब्रिटिश हुकूमत रहे जुम्मे और ईद पर सामूहिक समाज़ अदा नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि परम्परानुसार वह केवल एक मिस्र अल्जामी (एक कस्बा जहाँ एक स्वतंत्र खलीफ़ा द्वारा समुचित रूप से नियुक्त अमीर और क़ाज़ी रहते हैं) में ही अदा की जानी चाहिए। यह ब्रिटिश शासन के प्रबलतम अभियोगों में एक था। उसके पुत्र दूदा मियां (1819-62) के शासन में, कंगाल व भूमिहीन किसानों, शिल्पकारों तथा बुनकरों ने 'फ़राज़ी' पद ग्रहण कर लिए। इन फ़राज़ियों ने क्षेत्र के भू-स्वामियों, जो संयोगवश हिन्दू थे, के साथ-साथ ब्रिटिश नील-कारखाना मालिकों पर भी प्रहार किया। औपनिवेशिक शासकों ने फ़राज़ियों का दमन करने व ब्रिटिश शासन के शरिअत-उल्ला के अभियोग को निरस्त करने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया। यह अंततोगत्वा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में ही हुआ कि इस आंदोलन के नए नेताओं ने जनता को ब्रिटिशों के प्रति वफ़ादारी निबाहने को कहा। ब्रिटिश-विरोधी क्रूरता इतनी सशक्त थी कि लोगों को फ़राज़ी नेताओं की अनुमति के बग़ैर ब्रिटिश दरबारों में शिकायत-समाधान हेतु जाने की आज्ञा नहीं थी।

1859-60 में, बंगाल के नादिया जिले में किसानों ने सुना कि नया लेफ्टीनेंट-गवर्नर उनकी स्थिति के प्रति सहानुभूति रखता है। उन्होंने जबरदस्ती नील उगाने हेतु नील-बाग़ान मालिकों द्वारा दी जाने वाली अग्रिम-राशि को लेने से इंकार कर दिया। यह आंदोलन पूरे नदीमुख भूमिक्षेत्र में फैल गया। नील-बाग़ान मालिकों पर हमले किए गए और जल्द ही संपूर्ण-व्यवस्था ध्वस्त होनी शुरू हो गई। कलकत्ता में बुद्धिजीवी-वर्ग की सक्रिय दिलचस्पी ने भी नील-बाग़ान मालिकों के दमन पर औपनिवेशिक शासकों का ध्यान केन्द्रित किया। इस क्रांति के परिणामस्वरूप, इस क्षेत्र में नील-पैदावार व्यवस्था समाप्त हो गई। 1870 के दशक में, पबना (बंगाल) में विरोध-प्रदर्शन हुए। किसानों ने स्वयं को यहाँ कृषक-संघों में संगठित कर लिया। 1873 में, पबना व उससे लगे क्षेत्रों में कृषि-वर्ग का एक बृहद्-स्तरीय आंदोलन औपनिवेशिक शासन का एक अन्य सशक्त अभ्यारोपण था।

रैयतबाड़ी इलाकों में, कृषि-वर्ग नकद माँगे जाने वाले राजस्व के बढ़ते दबाव के नीचे आ गया। सूत जैसी वाणिज्यिक फसलों की शुरुआत के साथ ही स्थिति और बिगड़ गई। इससे किसान की मौद्रिक आवश्यकताएँ और बढ़ गईं; इसी के साथ उसकी आत्म-निर्भरता में ह्रास हुआ। बम्बई प्रैसिडेन्सी के साहूकार अधिकांशतः स्थानीय कृषक समुदायों में बाहरी आदमी थे। उन्होंने ऋण-वसूली के लिए कानूनी अदालतों का दरवाज़ा खटखटाना शुरू कर दिया। परिणामतः कृषि-वर्ग का उनकी ज़मीनों से बड़े पैमाने पर स्वत्व-अंतरण हुआ। साहूकारों के विरुद्ध कृषि-वर्ग में सामूहिक अन्तर्संबंध मज़बूत हुए, और 1875 में अहमदनगर व पूना जिलों में वे साहूकारों के खिलाफ़ उठ खड़े हुए।

2.4 जनजातीय प्रतिक्रिया

सदियों से इस उपमहाद्वीप में लोगों की ख़ासी संख्या जाति अथवा पदानुक्रमतंत्र के अन्य सिद्धांतों पर आधारित दूसरे सामाजिक संगटनों से भिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक व आर्थिक दुनिया में वास करती आई थी। यूरोपीय भाषा व ज्ञान प्रणालियों से आयात 'जनजाति' शब्द इन्हीं लोगों के वर्णन हेतु प्रयोग किया गया। दो संगटनों के बीच संबंध प्रसंग-प्रसंग में भिन्न होते थे। उपनिवेशवाद ने ग़ैर-जनजातीय बाहरी व्यक्तियों हेतु बड़ी संख्या में जनजातीय लोगों के आवास-क्षेत्रों में जाने के लिए अवसर व स्थितियाँ पैदा कीं। औपनिवेशिक शासन जनजातियों के जीवन में अन्य मूलभूत परिवर्तन ले आया।

सदियों तक आपेक्षिक अलगाव में रहते-रहते, जनजातीय लोगों ने सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक पैटर्न भिन्न रूप से विकसित किए। औपनिवेशिक राज्य ने बड़ी संख्या में राजस्व-कृषकों, वन-ठेकेदारों व ईसाई-मिशनरियों को जनजातीय इलाकों में घुसपैठ हेतु सुविधा प्रदान की। छोटानागपुर व संथाल परगनों जैसे वनीय व पहाड़ी भू-भाग में रहने वाले समुदायों की अल्प जानकारी रखने वाले ब्रिटिशों ने उन बाहरी लोगों को स्वीकृति प्रदान कर दी जो इस क्षेत्र में स्वयं को जनजातीय प्रदेशों के भी शासक अधिपतियों के रूप में स्थापित कर चुके थे। इन्होंने उनके साथ राजस्व-व्यवस्थाएँ भी चालू कर दीं। बदले में उन्होंने एक अनिवार्य राजस्व संबंध के तहत जनजातियों के साथ अपनी प्रथागत प्रतिभाओं व सहायक संबंध को भी बदल डाला। नई कानूनी व्यवस्था ने इस संबंध को सर्वोच्च राजस्व-स्वामी के रूप में औपनिवेशिक मालिकों के साथ जनजातीय लोगों पर थोप दिया। इस प्रकार, जनजातीय लोग भूमि, वन तथा वह सब जिससे वे सदियों से परिचित थे, पर अपने पारम्परिक अधिकारों से वंचित हो गए। नई व्यवस्था जिसमें जनजातीय लोगों के अधिकारों का द्योतन ही नहीं था, के अल्पज्ञान के साथ उन्होंने तेजी से घुसपैठ करते कृषिक समुदायों के साथ कोई सहानुभूति नहीं देखी।

मध्य भारत की जनजातियाँ, विशेषत: जो छोटानागपुर व संथाल परगना क्षेत्र में रहती थीं, नए हालातों में सर्वाधिक पीड़ित हुई। 1780 के बाद जब ब्रिटिश लोग जंगल महल और छोटानागपुर में घुसना शुरू हो गए, ठेकेदार व अन्य बिचौलिए भी इस व्यवस्था में शामिल हो गए। औपनिवेशिक अवबोधन में जनजातियों के बीच कुछ आंतरिक मतभेदों के बढ़ जाने से ये परिवर्तन हड़बड़ी में किए गए। औपनिवेशिक व्यवस्था व बाहरी लोग जनजातीय लोगों से उन पाहन (पादरियों) अथवा मुण्डा (नेता) अथवा मुण्डा जनजाति की भाँति व्यवहार करने लगे, जिनकी सामाजिक स्थिति भू-स्वामियों अथवा राजनीति व सामाजिक नेताओं के रूप में, सर्व-समान लोगों में से एक की थी। इसने छोटानागपुर में मुण्डाओं व ओराओं के समुदायों जैसी सापेक्ष समतावादी व्यवस्था प्रदान की। मिशनरियों के आगमन व बड़े पैमाने पर धर्मांतरणों ने, विशेषत: उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में, नए अन्त: व आन्तर विभेदीकरण को जन्म दिया। जनजातीय लोगों व पड़ौसी समुदायों के बीच सदियों में विकसित हुई ये व्यवस्थाएँ भी छितरी हुई थीं। जंगल महलों के चटवाल छोटानागपुर में स्थानीय शासक अधिपतियों के पारम्परिक पुलिस-दल थे। इस व्यवस्था का उन्मूलन 1790 के दशक में चटवालों की प्रसिद्ध चुआर क्रांति में परिणत हुआ। इसी प्रकार, औपनिवेशिक उद्देश्यों हेतु वन-भूमि के संरक्षण ने वन व उसके वासियों के साथ जनजातीय संबंध को बदल दिया। परन्तु सर्वाधिक आत्यन्तिक परिवर्तन बाहरी लोगों के बड़े पैमाने पर अन्तर्वेधन के रूप में आया।

बाहरी व्यक्तियों के खिलाफ प्रबलतम अभिव्यक्ति, जो अधिकांशत: साहूकारों, राजस्व-ठेकेदारों, वकीलों व भू-स्वामियों के रूप हुई, थी दामनी-ए-कोह (आज का संथाल परगना जिला) में संथालों का प्रसिद्ध 'हल विद्रोह'। 1855 में सिधो व कनु के नेतृत्व में, संथालों ने औपनिवेशिक शासकों के साथ-साथ उन बाहरी लोगों पर भी हमले किए जिन्हें वे 'डिकू' कहते थे। 1832-33 में जंगल

महलों में 'भूमिजियों' ने औपनिवेशिक शासकों के खिलाफ़ क्रांति की, जबकि 1850 के दशक में राँची जिले में 'सरदार' पुकारे जाने वाले जनजातीय नेताओं ने द्रुत भूमि-स्वत्व-अंतरण के खिलाफ क्रांति की।

छोटानागपुर क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों ने शोषित जनजातीय लोगों की मदद हेतु हाथ बढ़ाया। उन्होंने न सिर्फ अस्पताल व स्कूल खोले, बल्कि प्रशासन के साथ उनके हेतुक में रुचि लेते हुए, जनजातीय लोगों व उनकी समस्याओं के बारे में औपनिवेशिक शासकों को चेताया भी। भूमि के सवाल पर, बहरहाल, न तो औपनिवेशिक शासन और न ही मिशनरियाँ हस्तक्षेप का इरादा रखती थीं। छोटानागपुर में जनजातीय लोगों का एक बड़ा वर्ग, इसी कारण, मिशनरियों को औपनिवेशिक स्वामियों से अभिन्न रूप में देखने लगा। इसी प्रसंग में, 1899-1900 में, राँची जिले में बिरसा मुण्डा व उसके उल्गुलन (महाफसाद) का उद्‌गमन हुआ। बिरसा के अनुयायियों ने पुलिस-थाने जैसे औपनिवेशिक प्राधिकरण के सभी प्रत्यक्ष प्रतीकों पर हमले किए। इसमें पूरी ही जनजाति ने भाग लिया। जब गया मुण्डा व उसके आदमी खुन्ती पुलिस-थाने पर एक हमले से लौटे तो मुण्डा महिलाओं ने उनका उसी पारम्परिक तरीके से स्वागत किया जो पुरुषों का किसी आखेट-अभियान से लौटने पर ही किया जाता था।

ब्रिटिश शासन के अंतर्गत असम 1826 में ही आ पाया, और नागा पहाड़ियों में व मणिपुर क्षेत्र में औपनिवेशिक घुसपैठ अपेक्षाकृत देर से हुई। असम में, वैष्णववाद ने सदियों तक स्थानीय जनता पर बड़ा ही प्रभाव डाला। कलकत्ता के साथ सम्पर्क ने नए प्रभावों के लिए यह क्षेत्र खोल दिया। इस प्रकार का एक प्रभाव था हिन्दूकरण के उपलब्ध तरीके का एक विकल्प। धुबरी के कालीचरण मैक ने कलकत्ता के एक हिन्दू संन्यासी से प्रेरित होकर एक नया धर्म चलाया जो क्षेत्र में विद्यमान हिन्दूकरण विधियों से जुड़े खर्चीले कर्मकाण्डों का परिहार करता था। नए धर्मांतरण जिन्हें 'ब्रह्मा' कहा जाता था, ने स्वयं को अपनी जनजातियों की निरक्षरता का दूर करने में लगा दिया। एक आंदोलन और भी था – चावल की शराब, मांस, आदि से परहेज करने का।

अभ्यस्त होने के लिए जनजातीय लोगों पर परिवर्तन का दबाव बहुत अधिक भी था और द्रुत भी। प्रेरणा के लिए, इसीलिए, वे अपने अतीत की ओर देखते थे। उनकी सभी क्रांतियाँ एक खोये मगर सुनहरे अतीत के सचेत आह्‌वान से अभिलक्षित थीं। सिधो, कनु व बिरसा मुण्डा, सभी ने एक गुज़रे जमाने, सतयुग, की तुलना में जनजाति की वर्तमान पीड़ा, कलयुग, को रखकर अपनी जनजाति की एक गौरवमयी तस्वीर का सजीव वर्णन किया – बिरसा ने अपनी जनजाति की दुर्गति के लिए गोरे पिताओं, काले पिताओं (धर्मांतरित जनजातीय लोग), व औपनिवेशिक शासकों को दोषी ठहराया जिनकी वजह से उसने अपने देश व धर्म को खोया था और पूरी तरह से अध:पतन का शिकार हो गया था। इस प्रबोधन ने इन सभी आंदोलनों के पृष्ठ में भाई-चारे हेतु वैचारिक आधार प्रदान किया। ईसाई व ग़ैर-ईसाई विश्व-दृष्टियों के बीच बढ़ती फूट से व्यथित लोगों द्वारा ईसाइयत-पूर्व दिनों की समुदाय-स्मृतियों को पुनर्जीवित करने के प्रयास किए गए। यह 19वीं सदी के अन्तिम दशकों में बाहरी लोगों व ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक हमले से जुड़ गया। खासी जनजाति ने भी एक ऐसा ही प्रयास किया।

20वीं सदी के आरंभिक दशकों में गति पकड़ते राष्ट्रीय आंदोलन ने जनजातीय आंदोलनों को प्रभावित किया। राँची जिले में गुमला का 'ताना भगत' आंदोलन, और नागा पहाड़ियों में 'ज़ेलिआंग्रोंग' आंदोलन ऐसे ही उदाहरण थे। जादोनांग (1905-1931), जिसने तीन मूलभूत उद्देश्यों को लेकर 'हारका' धार्मिक पंथ चलाया, ने 1925 में संयुक्त 'ज़ेलिआंग्रोंग' या 'हाओमी' आंदोलन शुरू किया। पहले, जनजातियों, ख़ासकर ज़ेमी, लिआंगमी और रांगमी, के सुधार को लक्ष्य बताया ताकि वे ईसाइयत के घातक आक्रमण का सामना कर सकें। दूसरे, ब्रिटिश शासन पर हमला

कर शोषक औपनिवेशिक कानूनों को उखाड़ फेंकना। और तीसरे, नागा राज की स्थापना। यह आंदोलन 'कूकी' जनजाति – "बाहरी" के विरुद्ध भी अभिलक्षित था। 1927 के बाद, गाँधीजी से प्रभावित हो, जादोनांग ने क्षेत्र में एक नागरिक अवज्ञा आंदोलन शुरू कर दिया। 13 जून, 1931 को जादोनांग को गिरफ़्तार कर मौत की सज़ा सुनाई गई, और अंत में 29 अगस्त, 1931 को फाँसी दे दी गई। गैदिनलियू, एक किशोरी, ने इस आंदोलन का नेतृत्व सँभाला। गैदिनलियू के अनुयायियों द्वारा असम रायफल्स की सीमा-चौकी पर हमले के बदले में, मार्च 1932 में, नागा पहाड़ियों में बोपुगोआंमी के पूरे गाँव को सरकारी दलों द्वारा जला डाला गया।

अन्त में, इस सत्रह वर्षीय नेता जिसे नेहरू ने रानी गैदिनलियू कहा, को 17 अक्टूबर, 1932 को गिरफ़्तार कर लिया गया, और आजीवन कारावास दे दिया गया। इस प्रकार, 1947 में जब उसे नेहरू के व्यक्तिगत अनुरोध पर छोड़ा गया, वह अपना पूरा यौवन जेल में ही काट चुकी थी।

बोध प्रश्न 1

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तर से करें।

1) औपनिवेशिक शासन के प्रति किसानों की क्या प्रतिक्रिया हुई?

.....

.....

.....

.....

.....

2) औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध जनजातीय प्रतिक्रिया के क्या संकेत-चिह्न थे?

.....

.....

.....

.....

.....

2.5 मध्यवर्ग, बुद्धिजीवी-वर्ग तथा समाज-सुधार

औपनिवेशिक शासन ने देखा एक नए वर्ग का उद्‌गमन जिसके सदस्य अधिकांशत: नए शिक्षित वर्गों और औपनिवेशिक संस्थापन से जन्मे व्यवसायियों से आए थे। यह वर्ग किसी शाही दरबार अथवा धार्मिक संस्थापन से संबद्ध नहीं था और संपूर्णत: अपने ही बल पर था, सिवाए इसके कि यह अपने

पोषण के लिए नई औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था पर निर्भर था। अपनी निजी परम्पराओं में पारंगत इस वर्ग ने पश्चिम को गढ़ते नए विचारों के पूरे विस्फोट का सामना उन्हें अपनी ही योग्यता के बल पर अपने निजी समाज व उसके संस्थानों के पर्यालोकनार्थ समर्थ बनाते हुए किया। उन्होंने पाया कि शिशु-वध, बहु-विवाह, सती, अस्पृश्यता-प्रथा, नारी-शिक्षा और विधवा-पुनर्विवाह का प्रतिबंधन, तथा किसी विवेचनात्मक ज्ञान-तंत्र का अभाव ही उनके समाज के लक्षण हो चले हैं। और, इस प्रकार, धर्म की शरण लेकर सभी अमानवीय प्रथाओं को तर्कसंगत बनाते हुए धार्मिक व सामाजिक प्रथाएँ अपृथक्य थीं।

संस्कृत, अरबी अथवा फ़ारसी में प्रदत्त शास्त्रीय विधि से शिक्षा किसी भी विवेचनात्मक घटक से रहित थी। यह जाति- व लिंग-भेद पर आधारित थी – ग़ैर-ब्राह्मणों व महिलाओं को संस्कृत-शिक्षा की अनुमति नहीं थी। बुद्धिजीवियों व सुधारकों की प्रथम पीढ़ी, खासकर भारतीय सुधार आंदोलन के जनक राजा राममोहन राय (1772-1883), ने अपने पेशों में बहुत पहले ही अपनी अप्रायिक दर्दनाक परिस्थिति का अहसास कर लिया। जबकि उन्हें ईसाई-धर्म संबंधी व कल्पनालोकी प्रहारों के विरुद्ध भारत के समाजों, धर्मों व परम्पराओं की रक्षा करनी थी, उन्हें समाज में व्याप्त दोषपूर्ण व अमानवीय प्रथाओं व उन्मूलन भी करना था। ये ईसाई-धर्म प्रचारक हिन्दू व मुस्लिम प्रथाओं व संस्थाओं को अमानवीय बताते हुए उनकी आलोचना करते थे, और ईसाई धर्म को उन्होंने परित्राण के साधन के रूप में प्रस्तुत किया था। शिक्षित वर्ग ने ही प्रथमत: अपने धर्म व समाज पर इस घातक प्रहार का सामना किया। शिक्षितों का विशाल वर्ग धर्मांतरण कर ईसाई बना दिया गया। राजा राममोहन राय जैसे लोग जो मानते थे कि धर्मांतरण कोई समाधान नहीं है, ने अपने ही समाज को सुधारने की दिशा में काम किया। एक नए समाज की उनकी परिकल्पना स्वतंत्रता, समानता व बंधुत्व, और एक धार्मिक विश्ववाद द्वारा सूचित थी, जो विश्व के धर्मों के बीच एक संयुक्त अभ्यंतर की वकालत करती थी।

2.5.1 नए वर्ग के विचार व अभिदृष्टि

इस नए वर्ग के सिद्धांत व दर्शन राजा राममोहन राय की रचनाओं में सर्वाधिक सुस्पष्ट हैं। फ़ारसी, अरबी, संस्कृत, हिब्रु व अनेक यूरोपीयन व एशियाई भाषाओं की गहन जानकारी के साथ राजा राममोहन राय ने विभिन्न धार्मिक परम्परा में एक गहरी अंतर्दृष्टि अर्जित की। आप यूरोप में हो रही वैचारिक क्रांति से भली-भाँति परिचित थे। आपने महसूस किया कि विस्तृत रूप से फैली अशिक्षा, अज्ञानता तथा विधवा-दाह, शिशु-वध, अत्यधिक कर्मकाण्ड, बहु-विवाह, एवं हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह पर रोक जैसी अमानवीय व क्रूर प्रथाओं के रिवाज़ को जड़ से मिटाने के लिए परम्परा की एक समालोचना आवश्यक है। ये प्रथाएँ धार्मिक उद्धरणों व परम्पराओं के आह्वान द्वारा विधिकृत की जाती थीं। बंगाल में राममोहन राय और फिर विद्यासागर ने, आंध्र में वीरेशलिंगम ने और महाराष्ट्र में कृष्णशास्त्री चिपलूणकर ने यह सिद्ध करने के लिए शास्त्रों का स्वयं अध्ययन किया कि हिन्दू धर्म ने ऐसी प्रथाओं की कभी अनुमति नहीं दी जो ब्राह्मणों के ग़लत व अक्सर व झूठे निर्वचन पर आधारित हों। उनको यह भी स्पष्ट था कि परम्परा को तर्क व सामाजिक भलाई की कसौटी खरा उतरना चाहिए और यह भी कि सामाजिक भलाई समानता, स्वतंत्रता व बंधुत्व के द्योतन पर आधारित हो। इस बात के राममोहन राय ही अग्रदूत थे।

2.5.2 समाज-सुधारक तथा जन-विवाद

सुधारकों ने परम्पराएँ कभी निरस्त नहीं कीं, बल्कि उन्हें आलोचनात्मक मूल्यांकन पर रखा। इस प्रकार की समालोचना को एक विज्ञ और छिद्रान्वेषी जनसमूह की वचनबद्धता की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार, सुधारकों ने इन समाचार पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से सार्वजनिक बहस में व्यस्त

होने को एक विषय बनाया, जैसे कि राममोहन राय का 'मिरात-उल-अखबार', केशवचन्द्र सेन के 'इण्डियन मिरर' व 'सुलभ समाचार', बालशास्त्री जम्भेकर – 'दर्पण' (1832), लोकहितादि – 'प्रभाकर'। समाज-सुधार से संबंधित लगभग सभी मुद्दों पर एक अभ्यंतर लोकतांत्रिक सिद्धांत को प्रतिबिम्बित करते हुए सार्वजनिक रूप से वाद-विवाद किए गए, जिनका फल उस समय पैर जमाते राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान मिला। इन साहित्यिक भावोद्गारों का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि स्थानिक भाषाएँ समृद्ध हुईं। इसके द्वारा बंगाली, असमिया, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु व अन्य मुख्य भाषाएँ समृद्ध हुईं। इन सुधारकों ने परोक्ष रूप से भाषायी समुदायों के विकास में योगदान किया, जो कि 1890 के दशक में स्पष्टत: पहचाना गया और आगे चलकर जिसने एक पृथक् उड़ीसा, आंध्र, आदि हेतु माँग में योगदान दिया।

इन सुधारकों ने यह भी महसूस किया कि अपने समाज को मिशनरी व औपनिवेशिक आलोचना के खिलाफ बचाने के लिए और स्थायी सुधार के लिए भी, यह महत्त्वपूर्ण था कि शिक्षा न सिर्फ पुरुषों के सभी वर्गों को प्रदान की जाए, बल्कि महिलाओं को भी की जाए। उन्होंने एक आलोचनात्मक और वैज्ञानिक शिक्षा-प्रणाली हेतु अभियान चलाया। भारत को जिसकी आवश्यकता थी, वो "संस्कृत-शिक्षा का पुनरुत्थान नहीं" राममोहन राय ने तर्क दिया, "बल्कि अन्य उपयोगी विषयों के साथ गणित, प्राकृतिक दर्शनशास्त्र, रसायनशास्त्र तथा शरीर-रचना विज्ञान को समाविष्ट करते हुए प्रशिक्षण के एक और अधिक स्वतंत्र व प्रबुद्ध तंत्र को प्रोत्साहन" है। यह वायसरॉय कौन्सिल में विधि-सदस्य, लॉर्ड मैकॉले ही थे, जिनका अकाट्य हस्तक्षेप अंग्रेजी शिक्षा हेतु केस जीतने में निर्णायक था। यद्यपि लॉर्ड मैकॉले की मंशा एक ऐसा वर्ग पैदा करने की थी जो 'रंग में भारतीय पर स्वाद में ब्रिटिश' हो, अब भी राममोहन रॉय व अन्य भारत में नए ज्ञान के परिणाम लाना और भारतीयों को नए विचारों व स्फूर्ति के साथ अनुप्राणित करना चाहते थे।

बोध प्रश्न 2

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तर से करें।

1) मध्यवर्ग/ बुद्धिजीवी-वर्ग किस प्रकार कृषि-वर्ग व जनजातियों से भिन्न था?

.....

.....

.....

.....

.....

2) उन्होंने किस प्रकार उपनिवेशवाद का प्रत्युत्तर दिया?

.....

.....

.....

.....

.....

3) बुद्धिजीवी-वर्ग ने किस प्रकार जन-विवाद को जन्म दिया?

.....

.....

.....

.....

.....

2.6 सुधार आंदोलन

उक्त विचारों व उनके संचरण ने शीघ्र ही इच्छित परिणाम दिए। जाति-व्यवस्था, महिलाओं की स्थिति व शिक्षा-प्रणाली में बदलाव लाने के प्रयास हुए। जिन सुधारों के लिए राममोहन राय खड़े हुए, वे थे – कुलीन व्यवस्था का उन्मूलन (इस व्यवस्था में आवश्यक लड़कियों का विवाह अपने से ऊँची उप-जाति के ब्राह्मण से, जो अक्सर उनसे अधिक आयु के होते थे, कर दिया जाता था, जिसका परिणाम होता था बहु-विवाह प्रथा), विवाह में अल्पवयस्क लड़कियों को बेचने पर रोकथाम, जाति-व्यवस्था का समापन, विधवा-पुनर्विवाह का प्रारम्भ तथा सती का उन्मूलन। सती उच्च जाति के हिन्दुओं के बीच एक विद्यमान प्रथा थी जिसमें विधवा को अपने मृत पति की चिता पर उसके साथ, कभी-कभी बलात्, मर जाना पड़ता था। राममोहन राय में इस निर्मम प्रथा के विषय में कहा कि इसे शास्त्रों की कोई अनुमति नहीं है। उन्होंने व उनके मित्रों ने एक आंदोलन चलाया, जिसके परिणामस्वरूप 1928 के 'लैजिस्लेटिव कौंसिल एक्ट' द्वारा 'सती' को अन्ततः प्रतिबंधित कर दिया गया।

राममोहन राय ने ईसाई मिशनरियों को उन आम बहसों में भी उलझाया जो प्राच्य धर्मों पर उनके धावों को लेकर थीं। उन्होंने ईसाइयत की एक विरूपित व्याख्या प्रस्तुत करने और उसके सत्त्व को तोड़ने-मरोड़ने के लिए मिशनरियों की आलोचना की। यह धावा धार्मिक विश्ववाद के दृष्टिकोण से था। 1928 में, उन्होंने उन सभी को ग़ैर-सम्प्रदायवाद में विश्वास करते थे। आपकी मृत्यु 1833 में ब्रिस्टल, इंग्लैण्ड में हुई। ब्रह्म समाज बंगाल और सम्पूर्ण भारत में सुधार-क्रियाकलापों का केन्द्र बन गया।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने, जो संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य बने, ग़ैर-ब्राह्मण छात्रों हेतु संस्कृत-शिक्षा के द्वार खोल दिए। उन्होंने विधवा-पुनर्विवाह तथा लड़कियों हेतु शिक्षा के लिए अथक परिश्रम किया। यह उनके प्रयासों का ही फल था कि 1856 में विधवा-पुनर्विवाह को विधि-सम्मत बना दिया गया। राममोहन राय के सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न उत्तराधिकारियों में से एक, केशवचन्द्र सेन, ने उनके संदेश को देशभर में फैलाया। 1864 में बम्बई व मद्रास तथा 1868 में पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रांतों (एन.डब्ल्यू.एफ.पी.) की उनकी यात्रा बम्बई में 'प्रार्थना समाज' का अन्य स्थानों में 'ब्रह्म समाज' के निर्माण में परिणत हुई।

महाराष्ट्र ने, मध्यकाल में भक्ति-संतों के समय से चली आ रही सुधारों की एक सशक्त परम्परा के साथ, बालशास्त्री जम्भेकर व गोपाल हरि देशमुख को जन्म दिया जिन्होंने 'लोकहितवादी' नाम ग्रहण किया। उन्होंने एक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों, और महिलाओं व निम्न जातियों के अवमूल्यन की आलोचना की। फिर इनके साथ शामिल हो गए गोपाल गणेश अगरकर और कृष्णा शास्त्री चिपलूणकर, हिन्दू धर्म व समाज के सामने चुनौतियों पर अत्यधिक आलोचनात्मक संदर्श रखने वाले एक संस्कृत पंडित। 1948 में बम्बई में बनी 'वैज्ञानिक व साहित्यिक समिति' और प्रार्थना समाज (1864) सुधार आंदोलन के केन्द्र बन गए।

इन नए विचारों ने बम्बई प्रैसीडेन्सी के पारसी समुदाय को आसानी से जीत लिया। कुर्सेत्जी नसर्वांजी कामा, नौरौजी फरदोन्जी तथा सोरबजी शपूर्जी बंगाली इसमें आगे थे। ज्यादा ज़ोर महिलाओं की सामाजिक स्थिति व शिक्षा पर था। कुर्सेत्जी कामा ने लड़कियों के लिए नियमित स्कूल शुरू किए और सर जमशेत्जी जीजीभाई ने पारसी कन्याओं के लिए चार स्कूल खोले, जो 1856 में पारसी गर्ल्स एसोसिएशन द्वारा अधिकार में ले लिए गए। फरदोन्जी की आवधिक पत्रिका 'विद्यासागर' और बंगाली की 'जगत्मित्र' तथा द्यान प्रकाशक मण्डली ने नए सामाजिक व साहित्यिक विचारों का प्रसार किया। दादाभाई नौरोजी के पत्र 'रस्त गोफ़्तार' (1851) ने समुदाय के भीतर सुधार लाने वाली प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित किया।

सन् 1857 में आंध्र में इंगुलु वीरस्वामैया ने लिखा कि शास्त्रों में अस्पृश्यता को कोई मान्यता नहीं है, और ईसाई-धर्मांतरण इसी प्रथा की वज़ह से हो रहे हैं। राजामुंद्री के समिनेनी मुथूनरसिम्हैया नायडू ने 'हितसूचनी' लिखा जिसमें उन्होंने विवाह और नारी-शिक्षा से संबंधित सामाजिक समानताओं पर ध्यान आकृष्ट किया। तथापि, यह कण्डाकरी वीरेशालिनन (1848-1919) ही थे जिन्होंने आंध्र में सुधार प्रक्रिया को एक संगठित व सक्रिय रूप दिया। उनके पत्र 'विवेकार्धिनी' (1974) ने न्यायपरक बुद्धिजीवी दृष्टिकोण अपनाते हुए इस रूढ़ि की आलोचना की, और जातिगत असमानताओं व समाज में महिलाओं की अशक्तता पर भी प्रहार किया। उन्होंने ईसाई मिशनरियों के स्कूलों के अतिरिक्त भी महिलाओं के लिए अनेक स्कूल शुरू किए। आंध्र में महिला पत्र-पत्रिकाओं के युग का आह्वान करते हुए उन्होंने 1883 में 'सतीहितबोधिनी' का प्रकाशन आरंभ किया जो महिलाओं से संबंधित विषयों को संबोधित करती थी। इसी बीच, 1864 में केशवचन्द्र सेन की यात्रा और ब्रह्मसमाज की स्थापना ने इन सुधारकों के प्रयासों को आगे बढ़ाया। कुड्डालोर के चेम्बेटी श्रीधरलु नायडू ने जब काकीनाडा में ब्रह्म समारोहों का कार्य निभाना शुरू कर दिया, वे दक्षिण भारत में प्रथम अनुस्थानिक ब्रह्म (1869) बन गए। पीठापुर के राजा ने लड़कियों के लिए स्कूल खोले।

असम में, कुलीनवाद और सती-प्रथा के विरुद्ध निर्देशित प्रहार हुए। जादूराम बरुआ ने स्वयं एक विधवा से विवाह कर विधवा-पुनर्विवाह की लहर चलाई। गुणवीराम बरुआ और हेमचन्द्र बरुआ ने बाद में एक नए उत्साह के साथ इन प्रथाओं पर प्रहार किया। 'विवाह पद्धति' और 'तीन घैनी' में हेमचंद्र बरुआ ने बहु-विवाह व उसके संबद्ध बुराइयों पर प्रहार किया, जबकि 'बाहिरे रंग भीतरे कोआ भातुरी' ने पुरोहित-वर्ग के अधार्मिक कृत्यों को उजागर किया।

ब्रिटिशों द्वारा सत्ता-ग्रहण ने मुस्लिम अभिजात्य वर्ग को सर्वाधिक उत्तरी भारत में प्रभावित किया। पूर्वोक्त ब्रिटिश भू-राजस्व प्रणाली ने बंगाल में कृषि-वर्ग को कंगाल कर दिया, जो कि प्रधान रूप से मुस्लिम थे। विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिक्रियाएँ, इसी कारण, भिन्न-भिन्न थीं। पूर्वतम प्रतिक्रिया ब्रिटिश शासन के प्रति तीव्र विरोध की थी। एक औपनिवेशिक-विरोधी समालोचना के अभाव ने अपनी अभिव्यक्ति को उन धार्मिक संबंधों की ओर उन्मुख किया जिनका रायबरेली के सैयद अहमद

(1786-1831) के वहाबी आंदोलन और शरीअतुल्ला के फराज़ी आंदोलन ने उदाहरण प्रस्तुत किया।

उत्तरी भारत में मुस्लिम अभिजात-वर्ग के प्रवर्गों में किए गए विद्रोह और प्रतिरोध प्रवृत्ति में एक बदलाव लाए। प्रतिद्वंद्विता की बजाय ब्रिटिश शासन से समन्वय को मुस्लिम समाजों में सुधार लाने हेतु समझदारी समझा गया। बंगाल में, सैयद अब्दुल लतीफ (1828-93) और अमीर अली (1849-1928) ने मुसलमानों को अंग्रेज़ी शिक्षा प्रदान किए जाने हेतु प्रयास किए। यह सैयद अहमद (1817-98) ही थे जिनको अहसास था कि उत्तर-भारतीय मुस्लिम समुदायों के भीतर किसी भी सुधार के लिए मुस्लिम अभिजात-वर्ग की बदली परिस्थितियों को संबोधित किए जाने की आवश्यकता है। उन्होंने महसूस किया कि अपने आत्मविश्वास और नेतृत्व के भाव को पुनर्प्राप्त करने के लिए इस अभिजात वर्ग को एक आधुनिक शिक्षा से सुसज्जित किए जाने की आवश्यकता है। 1875 में, उन्होंने भारत में मुसलमानों के सुधारों के संदेशवाहक के रूप में, अलीगढ़ में मौहम्मडन एंग्लो-ओरियेण्टल कॉलेज शुरू किया। मुस्लिम समुदायों की महिलाओं को बेहतर स्थान दिया गया क्योंकि उनके हिन्दू अथवा पारसी प्रतिपक्षों की भाँति उन्हें साक्षरता से कभी दूर नहीं रखा गया। कुरान के प्रपाठन ने उन्हें प्राथमिक साक्षरता प्रदान की, परन्तु ऐसा 20वीं सदी के प्रथम दशकों में ही हुआ कि मुस्लिम महिलाओं को घर से बाहर के स्कूलों में लाने के प्रयास किए गए। 1911 में, बंगाल की बेग़म रुकैया सखावत हुसैन (1880-1932) ने कलकत्ता में एक कन्या विद्यालय स्थापित किया। इस संबंध में बदरुद्दीन तयैबजी और एस.एस. बिलग्रामी के परिवारों और हैदराबाद के शाही परिवार का प्रयास उल्लेखनीय है।

समाज सुधार हेतु सभी प्रयासों में, परम्परा से आलोचनात्मक रूप से जुड़ने के प्रयत्न किए गए। लेकिन एक विचारधारा और अस्तित्व में भी जिसने विद्यमान सारी परम्पराओं पर प्रहार किया और वैकल्पिक परम्पराएँ प्रस्तुत कीं। पूना में, एक माली-पुत्र, ज्योतिबा फुले (1827-90) ने जाति-दमन से स्वयं गुज़रने के बाद, इस समुदाय का एक वैकल्पिक इतिहास प्रस्तुत किया जिसे उन्होंने 'बहुजन समाज' पुकारा। उन्होंने ब्राह्मणों को उन बाहरी लोगों के रूप में देख जिन्होंने बहुजनों की भूमि बलपूर्वक ले ली थी और उन्हें अछूतों व निम्न-जाति की पद-स्थिति पर धकेल दिया था। उन्होंने इन असमानताओं को वैध ठहराते रामदास जैसे भक्ति-संतों समेत सभी परम्पराओं की आलोचना की। अम्बेडकर ने बाद में इस सशक्त विचारधारा को विकसित किया। पंडिता रमाबाई (1858-1922) के 'दि हाई कास्ट हिन्दू वुमन' ने ब्रह्मणवादी रूढ़िवादिता के प्रबल पित -तंत्रामक लक्षण पर ध्यान आकृष्ट किया, और जाति व लिंग असमानताओं की परम्परा व स्थायीकरण की पवित्रता पर ढेरों प्रश्नों के साथ आक्रमण किया। मद्रास में, रामलिंगमस्वामी ने एक बड़े ही सशक्त बुद्धिजीवी वंशक्रम का प्रतिनिधित्व किया।

2.7 सुधार या पुनरुत्थान?

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इस उप-महाद्वीप के प्रज्ञाजीवी जीवन में अवगम्य परिवर्तन हुए। बंगाल में बंकिमचन्द्र चटर्जी, अक्षयकुमार सरकार, राजेन्द्रलाल मित्रा, भूदेव मुखर्जी, और महाराष्ट्र में विष्णुशास्त्री चिपलूणकर, बालगंगाधर तिलक और भण्डारकर ने आत्मविश्वास का एक भाव दर्शाया, जो विवेकानन्द की वेदान्त-विजय में पराकाष्ठा पर पहुँच रहा था। यही था अपने गौरवमय अतीत की पुनर्खोज के ऊपर एक समाज का विश्वास। यह विद्रोह के बाद ब्रिटिशों द्वारा दर्शाए गए प्रजातीय अकड़पन के प्रति एक अनुक्रिया भी थी। इस पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रिया का लक्ष्य था गौरवपूर्ण हिन्दू अतीत के आधार पर समाज सुधार करना, और इसीलिए वह पाश्चात्य विचारों द्वारा

प्रेरित सुधारों का आलोचक था। विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने, जिनके पिता कृष्णशास्त्री चिपलूणकर एक पूर्ववर्ती सुधारक थे, इस पुनरुत्थान का समर्थन किया। एक अन्य धारा ने समाज-सुधार के मामले में किसी राज्यिक अथवा विधायी अन्तर्भाविता का विरोध किया। इस धारा के पूर्ववर्ती प्रस्तावकों में से एक, राधाकान्त देवे, के विरोध का सामना राममोहन राय को करना पड़ा।

पुनरुत्थानवादी जरूरी नहीं था कि सुधारों के खिलाफ ही हों। जबकि पूर्ववर्ती बुद्धिजीवियों ने पुरातनकाल के साथ एक आलोचनात्मक संबंध कायम रखा था, अब इसके स्थान पर अतीत के अभिकथन का पुनरुत्थानवादी भाव आ गया। दयानन्द सरस्वती जो काठियावाड़ में मूलशंकर के नाम से जन्मे, ने सुधार हेतु आधार के रूप में वेदों में सामाजिक व्यवस्थाएँ बनाई। उन्होंने विधर्मी हिन्दू समाज के विरुद्ध पाश्चात्य आलोचना का प्रत्युत्तर देने, और हिन्दूवाद में ही अनावश्यक व निर्मम प्रथाओं को समाप्त करने का प्रयास किया। इन्हीं विचारों पर आधारित सुधार का प्रचार करने हेतु उन्होंने 1875 में बम्बई में 'आर्य समाज' की स्थापना की। 'थिओसोफिकल सोसाइटी' ने भी भारत की धार्मिक परम्पराओं की महानता का समर्थन किया, और इनको पाश्चात्य परम्पराओं की विपरीत दिशाओं में माना। विवेकानन्द ने ज़ोरदार ढंग से वेदान्तिक धर्म की सर्वोच्चता का उद्घोष किया।

2.8 सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार?

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश में राष्ट्रवाद एक संगठित और अभिकथनात्मक सुर में आ चुका था। सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार की पूर्ववर्तिता पर तर्क-वितर्क केन्द्रीय पड़ाव पर आना शुरू हो गया। बाल गंगाधर तिलक (1856-1920) ने सामाजिक सुधार की बनिस्पत राजनीति को प्राथमिकता दी, और 1893 में भारतीय सामाजिक सम्मेलन को कांग्रेस अधिवेशन से बाहर ही करवाया। गोपालकृष्ण गोखले (1866-1915) का, बहरहाल, यह सोचना था कि सामाजिक व राजनीतिक दोनों सुधार साथ-साथ चलने चाहिए। राजनीति में उग्रपंथियों के, और उनके जो सामाजिक मामलों में किसी राज्य अथवा विधायी हस्तक्षेप का प्रतिरोध करते थे, प्रभुत्व ने धीरे-धीरे सामाजिक व राजनीतिक सुधार के बीच अलगाव ला दिया। विवाह-योग्य आयु विधेयक (1893) के भारी विरोध और कांग्रेस अधिवेशनों से सामाजिक सम्मेलन के निष्कासन ने यह संकेत दिया कि सामाजिक परिवर्तन और सुधार राष्ट्रवादी हेतुक के लिए गौण हो गए थे। महात्मा गाँधी का उद्गमन सामाजिक व राजनीतिक प्रश्न को एक बार फिर एक साथ ले आया।

2.9 बुद्धिजीवी-वर्ग, सुधार तथा औपनिवेशिक राज्य

वह अभिदृष्टि जिसने पूर्ववर्ती सुधारकों का संचलन किया, समानता, स्वतंत्रता और एक प्रबुद्ध समाज वाली थी, और ब्रिटिशजन इन सिद्धांतों के संदेशवाहक के रूप में देखे गए। इसने सुधारकों के औपनिवेशक शासन-बोध को आकार दिया। विद्रोह-पूर्व ब्रिटिश प्रशासकों ने भी सुधारकों की मदद करने में अपनी उत्सुकता दिखाई। ज्योतिबा फुले के अनुसार, "ब्रिटिश सरकार ने ही यह संभव किया कि मैं स्पष्ट बोल सका और अपने विचार व्यक्त कर सका।" यह महत्त्वपूर्ण है कि जब बुद्धिजीवी-वर्ग निम्न जातियों अथवा मुस्लिम समुदायों के बीच उद्गमित हुआ, उन्होंने भी सुधार लाने में मदद के लिए औपनिवेशिक राज्य का मुँह ताका। 1820 और 1870 के बीच, तथापि औपनिवेशिक शासन और औपनिवेशिक राज्य के स्वभाव में परिवर्तन हुआ। इसकी सुधारात्मक भूमिका का वर्णन हुआ, और ये सुधारक प्रजातीय वंशक्रमों को साथ लेकर चलाए जा रहे उस राज्य

के साथ कार्य-व्यापार करने लगे, जिसने इसके अस्तित्व के खिलाफ़ किसी भी संगठित प्रयास का प्रतिरोध करना शुरू कर दिया था। लेकिन यहाँ महत्त्वपूर्ण मतभेद थे। उत्तर भारत में मुस्लिम समाज की सशक्त प्रतिक्रियाओं से अवगत, जैसा कि सैय्यद अहमद बरेली के आंदोलन एवं अन्य ब्रिटिश-विरोधी व आधुनिकता-विरोधी प्रवृत्तियों में देखा गया, सैय्यद अहमद द्वारा शुरू की गई सुधार-प्रक्रिया एक उच्चवर्गीय संदर्श रखती थी। राममोहन राय जैसे सुधारकों को अपने ही वर्ग अथवा अभिजात वर्ग से विरोध का सामना करना पड़ा। इसप्रकार, औपनिवेशिक राज्य से प्रत्येक द्वारा उम्मीद की जाने वाली मदद दिशात्मक रूप से भिन्न थी। सैय्यद अहमद को उन वर्गों से विरोध का सामना करना पड़ा जो ब्रिटिशों के विरोध में थे, अर्थात् उलमा। इस प्रकार, 1880 के दशक में जब सैय्यद अहमद व अन्य ने एक सुधार-समर्थक लबादा ओढ़ लिया, वे उन उलमाओं के विरुद्ध खड़े हुए जिन्होंने अपने ब्रिटिश-विरोधी अभिलक्षण को बनाए रखा था।

2.10 उपनिवेशवाद की समालोचना

राममोहन राय व पूर्ववर्ती सुधारकों को देश के औपनिवेशिक शोषण की जानकारी थी। तथापि, औपनिवेशिक शासन की सकारात्मक भूमिका ने इस जानकारी को अत्यधिक भारी बना दिया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में बुद्धिजीवियों के वर्ग ने महसूस किया कि उपनिवेशवाद, सामाजिक पुनरुत्थान के बीज बोने से कहीं अधिक, भारतीय समाज को मूलत: हानि ही पहुँचा रहा था। दादाभाई नौरोजी (1825-1917) – भारत के वयोवृद्ध, न्यायमूर्ती महादेव गोविन्द रानाडे (1842-1901), रोमेश चन्द्र दत्त (1848-1909), जी०वी० जोशी (1851-1911) व अन्य ने विकासशील व अद्यतनशील भारत के औपनिवेशिक अभिकथन पर प्रश्न करने शुरू कर दिए। उन्होंने जानना चाहा यदि यह सत्य है तो क्यों भारतीय दिन-ब-दिन गरीब होते जा रहे हैं, और गाँव अकालग्रस्त हैं, जबकि उत्पादनशील उद्योग व शिल्पकार वर्ष-दर-दर विनष्ट होते जा रहे हैं। दादाभाई नौरोजी ने "निर्गम सिद्धांत" सामने रखा जो यह स्पष्ट करता है किस प्रकार संसाधनों की बड़ी राशि भारत से व्यय होकर इंग्लैण्ड का रास्ता पा लेती है। यह औपनिवेशिक राज्य के नागरिक व सैन्य सरकारी कर्मचारियों के वेतनों व निवृत्ति-वेतनों, भारत सरकार द्वारा लिए गए ऋणों पर ब्याज, और भारत में लगी ब्रिटिश पूँजी के विशाल लाभों के रूप में था। इनमें परवर्ती का अर्थ था रेलमार्गों में निवेश पर पाँच प्रतिशत प्रत्याभूत लाभ, और इंग्लैण्ड में प्रशासन लागत। इस निर्गमन ने भारत में न सिर्फ़ उसके विद्यमान संसाधनों का बल्कि भविष्य निवेश हेतु आधिशेष का भी, अभाव ला दिया। इस विवाद पर कि भारत में रेलमार्गों ने औद्योगिक क्रांति की शुरुआत का महत्त्व दर्शाया, नौरोजी की प्रतिक्रिया थी कि रेलमार्गों ने मात्र औपनिवेशिक शासन को भारत के भीतरी प्रदेशों में घुसने का रास्ता साफ कर दिया जिससे वे ब्रिटिश उद्योगों के लिए सस्ता कच्चा-माल ले जा सकें और वापसी में यहाँ ब्रिटिश उद्योग का तैयार माल ला सकें। इस प्रकार," इसने सभी लाभ ब्रिटिश उत्पादनकर्त्ता को देकर ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति में सहायता की। इस रोग-निदान का प्रचार आम बहस, प्रकाशनों, आदि के माध्यम से किया गया, और ब्रिटिश परोपकार के झूठे विचार को एक तरफ कर दिया। नौरोजी व अन्य ने भारत के वास्तविक आधुनिकीकरण, और भारतीय पूँजी की मदद से औद्योगीकरण की वकालत की।

बोध प्रश्न 3

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तर से करें।

1) सामाजिक आंदोलन जिनका उन्मूलन करना चाहते थे वे समस्याएँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) सामाजिक व राजनीतिक मुद्दों के विषय में बहस में मुख्य बिन्दु क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

3) "निर्गम सिद्धांत" से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.11 सारांश

समाज के विभिन्न वर्गों ने भारत में उपनिवेशवाद के प्रति अनुक्रिया की। उनकी प्रतिक्रिया उनसे सम्बन्धित मामलों की प्रकृति और उन पर उपनिवेशवाद के प्रभाव पर निर्भर थी। कृषि-वर्ग ने भू- व राजस्व-प्रणाली के बारे में औपनिवेशिक नीतियों के खिलाफ विरोध-प्रदर्शन कर प्रतिक्रिया की। जनजातियों ने ब्रिटिशजन व उनके भारतीय सहबद्धों के खिलाफ विरोध व्यक्त किया। मध्यवर्ग व बुद्धिजीवी-वर्ग ने भारतीय परम्परा से ब्रिटिशों का सामना करने का आह्वान किया। उनमें से अनेक समानता, स्वतंत्रता व भाई-चारे के विचारों से प्रभावित थे। भारत के प्रति ब्रिटिश नीतियाँ परोपकार की बजाय औपनिवेशिक हित से दिशा-निर्देशित थीं।

2.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चक्रवर्ती, उमा, *रिराइटिंग हिस्ट्री : दॅ लाइफ़ एण्ड टाइम्स ऑव पण्डिता रमाबाई*, दिल्ली, 1998।

चंद्र, विपन, *नैशनलिज़्म एण्ड कॅलोनिअलिज़्म इन् मॉर्डन इण्डिया*, दिल्ली, 1979।

देसाई, ए०आर० *पीज़ैण्ट स्ट्रगल्स इन् इण्डिया*, दिल्ली, 1979।

हार्डी, पीटर, *दि मुस्लिम्स ऑव ब्रिटिश इण्डिया*, लन्दन, 1972।

हीम्सैथ, चार्ल्स, *इण्डियन नैशनलिज़्म एण्ड हिन्दू सोशल रिफॉर्म*, प्रिन्सटन, 1964।

नटराजन, एस०, *ए सैन्चुरी ऑव सोशल रिफॉर्म इन् इण्डिया*, बम्बई, 1959।

सिंह, सुरेश के०, *दि डस्ट स्ट्रॉम एण्ड हैंगिंग मिस्ट*, कलकत्ता, 1966।

सिंह, सीताराम, *नैशनलिज़्म एण्ड सोशल रिफॉर्म इन् इण्डिया : 1885 से 1920*, दिल्ली, 1968।

2.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) कृषकों ने औपनिवेशिक शासन के खिलाफ़ विरोध-प्रदर्शन किया। उन्होंने भू-स्वामियों व नील-बाग़ान मालिकों, दोनों पर प्रहार किया।

2) उन्होंने अपने पारम्परिक, प्रतीकों का आह्वान करते हुए औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध क्रांति की।

बोध प्रश्न 2

1) यह इस भाव में भिन्न था कि जबकि कृषि-वर्ग व जनजातियाँ सीधे-सीधे भूमि व सामाजिक ढाँचों से संबद्ध थीं, यह ग़ैर-ज़मीनी आर्थिक ढाँचों में अधिक घिरा था। इसके अलावा, इसने ब्रिटिशों के खिलाफ़ क्रांति की क्योंकि यह कृषि-वर्ग व जनजातियों की अपेक्षा अधिक प्रबुद्ध था।

2) उन्होंने भारतीय परम्पराओं का आह्वान कर, और भारतीय समाज के सुधार करने हेतु पुकार कर औपनिवेशिक शासन का प्रत्युत्तर दिया।

3) उन्होंने समाचार पत्र-पत्रिकाओं तथा मुद्रित सामग्री द्वारा आम-बहस को जन्म दिया।

बोध प्रश्न 3

1) उन्होंने जातिगत भेदभाव, विधवा-पुनर्विवाह पर प्रतिबंध, सती-प्रथा, किशोरियों छकाने, इत्यादि के उन्मूलन हेतु प्रयास किया।

2) बहस इस प्रश्न पर थी कि क्या समाज-सुधारकों को राजनीतिक सुधारों से ऊपर रखना चाहिए या फिर इसके विपरीत। बालगंगाधर तिलक ने राजनीतिक मुद्दों को प्राथमिकता दी जबकि गोपालकृष्ण गोखले दोनों ही मुद्दे एक साथ उठाना चाहते थे।

3) दादाभाई नौरोजी द्वारा प्रस्तुत किया गया 'निर्गम सिद्धांत' स्पष्ट करता है कि किस प्रकार भारत से व्यय हुई संसाधनों की विशाल राशि इंग्लैण्ड का रास्ता पा लेती थी।

इकाई 3 राष्ट्रीय आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 पूर्वकालिक राष्ट्रवादी गतिविधियाँ

3.2.1 भारतीयों द्वारा औपनिवेशिक मतभेद का अनुभव

3.2.2 भारतीय प्रतिनिधित्व में वृद्धि की माँग

3.3 अतिवादी राष्ट्रवादी चरण

3.4 गदर और होमरूल आंदोलन

3.4.1 गदर आंदोलन

3.4.2 होमरूल आंदोलन

3.5 गाँधी व असहयोग आंदोलन का पदार्पण

3.5.1 गाँधी और कृषि-वर्ग

3.5.2 रोलट एक्ट के प्रति विरोध

3.5.3 असहयोग आंदोलन

3.6 कृषि-वर्ग, कामगार वर्गों का वामपंथ का उदय

3.6.1 गाँधी-अम्बेडकर विवाद

3.6.2 मार्क्सवाद का आगमन

3.6.3 सम्प्रदायवाद का विकास

3.7 नागरिक अवज्ञा आंदोलन और उसके परिणाम

3.7.1 सायमन आयोग

3.7.2 नागरिक अवज्ञा आंदोलन

3.8 विश्वयुद्ध और 'भारत छोड़ो' आंदोलन

3.9 युद्धोपरांत लहर

3.9.1 आज़ाद हिन्द फौज़ (आई.एन.ए.)

3.10 सांप्रदायिक दंगे, स्वतंत्रता और विभाजन

3.11 सारांश

3.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की विरासत ने भारत में राजनीति को एक नहीं अनेक तरीकों से प्रभावित किया। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की समझ आपको तत्कालीन भारत की राजनीति को समझने में बेहतर मदद करेगी। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में भिन्न-भिन्न वैचारिक पृष्ठभूमि वाले नेताओं की भूमिका समझ सकें;
- कृषि-वर्ग व कामगार वर्ग जैसे विभिन्न वर्गों के योगदान को जान सकें;

- स्वतंत्रताप्राप्ति के पूर्वगामी कुछ विकास-परिणामों, और उसमें राजनीति के योगदान के बीच सुस्थापित रेखा खींच सकें; और
- राष्ट्रीय आंदोलन के अधूरे काम का विश्लेषण कर सकें।

3.1 प्रस्तावना

विश्व इतिहास में दो महत्त्वपूर्ण जन-आंदोलन थे – 'भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन' और 1949 की 'चीनी क्रांति', जिन्होंने लाखों लोगों का भाग्य ही बदल दिया। पहले ने लाखों भारतीयों की स्वतंत्रता हेतु इच्छा को सुव्यक्त किया, और उपनिवेशित एशिया व अफ्रीका में आंदोलनों को प्रेरित किया। यह भारतीय आंदोलन अनेक चरणों से गुज़रा।

3.2 पूर्वकालिक राष्ट्रवादी गतिविधियाँ

जैसा कि आप इकाई 1 व 2 में पढ़ चुके हैं, ब्रिटिशों ने भारतीयों का अनेकविध शोषण किया और विभिन्न प्रवर्गों ने इसका नानाविध तरीकों से प्रत्युत्तर दिया।

3.2.1 भारतीयों द्वारा औपनिवेशिक मतभेद का अनुभव

ब्रिटिश शासन के शोषणवादी और भेदभावपूर्ण लक्षण का अनुभव धीरे-धीरे हुआ। दादाभाई नौरोजी, बदरुद्दीन तैयबजी, के०टी० तेलंग, गोपालकृष्ण गोखले, आर०सी० दत्त व एम०जी० रानाडे ने लेखों द्वारा लोगों में बढ़ती गरीबी व बेरोज़गारी के लिए जिम्मेदारी स्पष्ट रूप से औपनिवेशिक राज्य पर डाली। उन्होंने देश के प्रशासन के साथ भारतीयों को न सम्मिलित के लिए भी औपनिवेशिक अधिकारियों की आलोचना की। जब सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (1848-1925) को एक सारहीन आधार पर असैनिक सेवाओं में जाने हेतु अयोग्य करार दे दिया गया, उन्होंने देश भर में भ्रमण किया और औपनिवेशिक शासन के भेदभावपूर्ण स्वभाव के विषय में देशवासियों को शिक्षित किया। 1883 में, इलबर्ट विधेयक ने एक पीठासीन भारतीय न्यायाधीश को किसी यूरोपियन के न्याय-विचार मुकदमे हेतु शक्ति प्रदान करने का प्रयास किया। इस विधेयक, जिसे वे मानते थे कि प्रजातीय पदानुक्रम को निष्ठाहीन बना रहा है, के खिलाफ़ ब्रिटिश व यूरोपीय जनता के प्रबल व संगठित विरोध-प्रदर्शनों ने राज्य के अनिवार्यत: प्रजातीय चरित्र के प्रति भारतीय के एक बड़े प्रवर्ग की आँखें खोली दीं। इसने उन्हें उनकी स्थिति के प्रति सचेत कर दिया कि वे आम प्रजा ही हैं, न कि 'क्वीन' की उद्घोषणा (1858) में प्रतिज्ञ समानता के हकदार, अथवा उसके जिसकी उन्होंने शिक्षा के माध्यम से अर्जित कर लेने की आशा की थी।

3.2.2 भारतीय प्रतिनिधित्व में वृद्धि की माँग

इस अनुभव के परिणामस्वरूप, मद्रास नेटिव एसोसिएशन, पूना सार्वजनिक सभा (1870), बंगाल में इण्डियन एसोसिएशन (1977), तथा मद्रास महाजन सभा (1884) बनाई गईं। उन्होंने माँग की कि लेजिस्लेटिव तथा वॉयसराय की एक्ज़ीक्यूटिव कौंसिलों में भारतीय प्रतिनिधित्व बढ़ाया जाए, और सिविल सर्विस परीक्षाओं हेतु योग्यता-आयु तथा शिक्षा व अन्य विकासात्मक गतिविधियों पर सरकारी बजट को बढ़ाया जाए। लोगों के हितों को व्यक्त करने के लिए अमृत बाज़ार पत्रिका, दि बंगाली, दि हिन्दू, व द ट्रिब्यून जैसे समाचार-पत्र शुरू किए गए। एलन ऑक्टेविन ह्यूम (1829-1912) द्वारा गठित 'इण्डियन नैशनल कांग्रेस', जो इसी आवश्यकता की उपज थी, ने राष्ट्रीय महत्त्व के मुद्दों को उठाने के लिए 25-28 दिसम्बर, 1885 को बम्बई में अपना प्रथम अधिवेशन किया।

फिरोज़शाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले, एम०जी० रानाडे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पी० आनन्द चारुलु, और एस० सुब्रह्मण्यम अय्यर जैसे पूर्ववर्ती राष्ट्रवादी प्रबल रूप से मानते थे कि भारतीयों के सामान्य हित व कल्याण में औपनिवेशिक राज्य के शोषणवादी कृत्यों द्वारा बाधा पहुँचाई जा रही है, जैसे कि भारत से संसाधनों का अपवहन। उन्होंने, तथापि, जोर देकर कहा कि औपनिवेशिक राज्य सकारण संशोधनीय है, और अपनी गलतियों का संज्ञान होने पर वह अन्ततोगत्वा भारतीयों को उनका प्राप्य दे देगा। वे भारत में समुदाय व समाज की विषम जातीयता के विद्यमान होने के प्रति भी सचेत थे। ये ब्रिटिश प्रशासन, नए संचार माध्यम व अंग्रेज़ी शिक्षा के उपाय ही थे जिन्होंने लोगों का 'राष्ट्र' पुकारे जाने वाले एक सामूहिक समुदाय में संगठित होना संभव बनाया। लेकिन यह चेतना आम जनता के सभी हिस्सों में समान रूप से विकसित और दृढ़ नहीं थी। इस प्रकार, जबकि सुधारों के लिए माँग राष्ट्र हेतु उच्चारित की जानी थी, उसी समय, विषम प्रवर्गों का राष्ट्र-धारा में दृढ़ीकरण व समूहीकरण करने के प्रयासों की आवश्यकता थी। राष्ट्रवादियों ने इसी रूपरेखा के साथ जनमत सूचित करने का प्रयास किया।

3.3 अतिवादी राष्ट्रवादी चरण

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में औपनिवेशिक व प्रजातीय अक्खड़पन का एक उच्चीकृत भाव था। यही समय था जब अनेक ग़ैर-यूरोपीय लोग आग्रहिता के संकेत दर्शा रहे थे। 1896 में एबिसीनिया ने इटली को हरा दिया, जबकि 1905 में छोटे-से जापान ने रूस को हरा दिया। भारत में, एनी बेसेण्ट, राजेन्द्रपाल मित्र, बाल गंगाधर तिलक, बंकिमचन्द्र चटर्जी और सबसे ऊपर विवेकानन्द ने भारतीयों की श्रेष्ठता और उनके गौरवमय अतीत को निश्चयपूर्वक कहा। इस नए आत्मविश्वास का प्रतिनिधित्व नेताओं की एक नई पीढ़ी द्वारा किया गया--बंगाल में विपिनचंद्र पाल, अरविंद घोष व अश्विनी कुमार दत्त; पंजाब में अजीत सिंह व लाला लाजपत राय; महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक; और मद्रास में जी० सुब्रह्मण्यम्, अय्यर, एन०के० रामास्वामी अय्यर, सी० विजयराघवाचारिअर, टी० प्रकाशम् और एन० कृष्णा राव। उन्होंने कांग्रेस नेताओं की नरमपंथी शैली की आलोचना की। प्रार्थना व याचना की बजाय, उन्होंने विरोध-प्रदर्शन के नए तरीकों के रूप में निष्क्रिय प्रतिरोध, बहिष्कार, स्वदेशी अपनाने और राष्ट्रीय शिक्षा की वकालत की।

भारतीयों का भाईचारा उस वक्त देखने में आया जब 1905 में बंगाल का विभाजन हुआ, और एक नया प्रांत बनाने के लिए असम को पूर्वी बंगाल के साथ सम्मिलित कर लिया गया। यह कहा गया कि कुशल प्रशासन के लिहाज से बंगाल बहुत बड़ा है और अनियन्त्रणीय है। लेकिन 1930 से ही विभिन्न अधिकारियों की लगातार घोषणा ने यह जता दिया कि विभाजन के पीछे वास्तविक कारण था बंगाल में बढ़ते राष्ट्रवादी विचारों को कमज़ोर करना, ख़ासकर 'बंगाली बाबुओं' के विचार। विभाजन के खिलाफ़ विरोध-प्रदर्शन ने जल्द ही संगठित रूप ले लिया, और अन्ततः 7 अगस्त, 1905 से 'स्वदेशी आंदोलन' आधिकारिक रूप से शुरू हो गया। विदेशी वस्तुओं और सरकारी स्कूलों का बहिष्कार विरोध का प्रमुख साधन बन गया। अनेक राष्ट्रीय विद्यालय व स्वदेशी उत्पादन इकाइयाँ खोली गईं। 16 अक्टूबर, 1905 को, जब विभाजन प्रभावी होना था, बंगाल में अनेक लोगों ने उपवास किया, और टैगोर के सुझाव पर भाईचारे के संकेतार्थ एक-दूसरे की कलाई पर राखी बाँधी। जुलूसकर्त्ताओं ने शहर के चारों ओर घूम-घूमकर रवीन्द्रनाथ टैगोर व अन्य द्वारा लिखे गीत गाए। स्वदेशी आंदोलन देश के अन्य भागों में भी फैल गया, और उसने ही असम, उड़ीसा व पंजाब में राष्ट्रवादी गतिविधि की पहली लहर चलाई।

नए नेताओं ने एक अधिक अभिकथनात्मक कांग्रेस की माँग की, जिसको कि पूर्ववर्ती राष्ट्रवादियों ने न सिर्फ़ कांग्रेस के लिए बल्कि कांग्रेस द्वारा शुरू की गई सुधार प्रक्रिया के लिए भी अनर्थकारी के

रूप में देखा। उनकी राजनीतिक शब्दावली में जन-आंदोलन व उपद्रवों में विश्वास रखना शामिल नहीं था। तथापि, यह इसलिए नहीं था कि वे शिक्षितों अथवा मध्यवर्ग से संबंध रखते थे। यह अधिकांशत: औपनिवेशिक राज्य के प्रति उनकी भिन्न धारणा और प्रचलित राजनीतिक मनोदशा की उनकी समझ के अभाव के कारण था।

बनारस में कांग्रेस के वार्षिक सम्मेलन, 1905 में नए नेता स्वदेशी, बहिष्कार व राष्ट्रीय शिक्षा को अपनी नीतियों के रूप में कांग्रेस को स्वीकार कराने में सफल रहे। 1906 में, ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वतंत्र उपनिवेश-स्थिति शर्तों पर स्वराज्य-प्राप्ति को कांग्रेस के लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया। नए उग्रपंथी नेताओं ने नरमपंथियों को कांग्रेस से निकाल बाहर करने का प्रयास किया। इस अनर्थकारी मुहिम ने अन्ततोगत्वा 1907 में सूरत में कांग्रेस को विभाजन की ओर उन्मुख किया, जहाँ उग्रपंथियों को पार्टी से निकाल दिया गया। औपनिवेशिक राज्य ने उस स्थिति का फायदा उठाते हुए, उग्रपंथी नेताओं को सख्ती से दबाया। तिलक को जेल हुई और उन्हें बर्मा की माण्डले जेल भेज दिया गया। नरमपंथी नेताओं ने जन-सहानुभूति खोनी शुरू कर दी, और इस उम्मीद पर जीने लगे कि वे संवैधानिक सुधारों के माध्यम से देश को मुक्ति की ओर ले जा रहे हैं।

स्वदेशी आंदोलन छात्रों व शहरी युवावर्ग जैसी शक्तियों को राष्ट्रीय आंदोलन में, और असम व उड़ीसा जैसे स्थानों को मुख्यधारा में ले आया। बंगाल, पंजाब व महाराष्ट्र, तथापि, गतिविधियों के केन्द्र बने रहे। खुदीराम बोस, अरविंद व वरिंद्र घोष, रासबिहारी बोस व सचिन सान्याल, अजीत सिंह व मदनलाल धींगरा तथा दामोदर सावरकर द्वारा देशभक्ति व बलिदान की उच्च भावना दर्शाते आतंक व व्यक्तिगत कृत्यों ने युवाओं के देश की छवि परिगृहीत कर ली। खुदीराम को फाँसी दिए जाते समय, खुदीराम बोस व प्रफुल्ल चाकी, जिन्होंने मुज़फ्फरपुर के दण्डाधिकारी किंग्सफोर्ड के वाहन पर बम फेंका पर दुर्भाग्यवश दो निर्दोष महिलाएँ मारी गईं थीं, का नाम बच्चे-बच्चे की जुबान पर था। रासबिहारी बोस व सचिन सान्याल (1912) ने एक राजकीय शोभायात्रा पर बम फेंका जिससे वायसरॉय लॉर्ड हार्डिंग घायल हुए जो एक हाथी पर बैठे थे।

देशभक्ति के अपने विशुद्ध भाव के बावजूद उग्रपंथियों ने संगठनात्मक व प्रेरणाप्रद उद्देश्यों हेतु शिवजी, गणेश व काली देवी जैसे सांस्कृतिक संकेत-चिह्नों का प्रयोग किया। उनमें कृषि-वर्ग हेतु गंभीर दिलचस्पी का अभाव था, और बाद में उनके पास कोई भी सामाजिक कार्यक्रम न होने के कारण बाधा उत्पन्न हुई – उनके अपने वैचारिक विकास व आंदोलन के विकास, दोनों में।

बोध प्रश्न 1

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) औपनिवेशिक शासन के शोषक स्वभाव के बारे में भारतीयों के अहसास का क्या परिणाम हुआ?

.....

.....

.....

.....

.....

2) पूर्ववर्ती राष्ट्रवादियों के अनुसार औपनिवेशिक प्रशासन, उनके शोषक व भेदभावपूर्ण स्वभाव का क्या योगदान था?

.....

.....

.....

.....

.....

3) उग्रपंथी नेतृत्व द्वारा सुझाए गए विरोध-प्रदर्शन के तरीके क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

3.4 गदर और होमरूल आंदोलन

3.4.1 गदर आंदोलन

1905-06 से ही, उत्तरी अमेरिका में बसे भारतीयों की मदद से, रामनाथ पुरी, जी.डी. कुमार, तारकनाथ व अन्य मुक्त हिन्दूवाद का समर्थन करते विचारों का प्रसार कर रहे थे। 1911 में लाला हरदयाल के पदार्पण के साथ ही, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के पश्चिमी तट में केन्द्रित ग़दर (क्रांति) आंदोलन शुरू हो गया जो कि एक समाचार-पत्र के नाम पर था। यह वहाँ और पूर्व-एशियाई देशों में बसी विशाल भारतीय जनसंख्या की उपनिवेशवाद-विरोधी भावनाओं का केन्द्र-बिन्दु बन गया। ग़दर क्रांतिकारियों ने भारत में बिखरे क्रांतिकारियों को संगठित करने और क्रांति का नेतृत्व करने के लिए रासबिहारी बोस को आमंत्रित किया। बोस पंजाब आए और लोगों को संगठित करने के बाद, क्रांति के लिए तारीख तय की – 21 फरवरी, 1915 जो बाद में 19 फरवरी, 1915 हो गई। लेकिन सरकार को इसकी भनक लग गई और उसने ग़दर क्रांतिकारियों पर प्रतिबंध लगा दिया। पैंतालीस लोगों को फाँसी हुई जबकि सैकड़ों को जेल। ग़दर व ग़दरकारियों की क्रांतिकारी अभिदृष्टि ने तथापि, पंजाब तथा भारत में लोगों के दिलोदिमाग़ में एक अमिट छाप छोड़ी।

3.4.2 होमरूल आंदोलन

प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान, ऐनी बेसेण्ट व तिलक के नेतृत्व वाले 'होम रूल' आंदोलन ने बिखरी हुई ताकतों को सक्रिय होने के लिए प्रेरित किया। होम रूल के लिए आयरिश आंदोलन द्वारा प्रेरित

होकर, इस आंदोलन ने इस आधार पर गृह-शासन की माँग की कि भारतीय अब वयस्क हो गए हैं। तिलक (1915) व बेसेण्ट (1916) की होम रूल लीगों ने स्वयंसेवक नामज़द किए और पर्चे छपवाए जिनमें होम रूल की माँगें, कारण व तरीके स्पष्ट किए गए थे। 1917 तक, कर्नाटक, सैण्ट्रल प्रोविन्सिज़, बंगाल व यूनाइटिड प्रोविन्स में तिलक की लीगों में 14,000 स्वयंसेवक थे, जबकि ऐनी बेसेण्ट की लीग, जो न्यू इण्डिया व कॉमवैल्थ की मार्फ़त विचारों का प्रसार करती थी, के पास 7000 स्वयंसेवक ही थे। जवाहरलाल नेहरू, शंकरलाल बांकर व व्योमकेश चक्रवर्ती समेत भारत के अनेक भावी नेताओं ने इन्हीं लीगों के स्वयंसेवक के रूप में अपना पहला राजनीतिक सबक सीखा। सरकार इस आंदोलन की प्रसिद्धी व उग्र-परिवर्तनवाद से नाखुश थी। विरोध-प्रदर्शन का एक तूफान उठाती बेसेण्ट 1917 में गिरफ़्तार कर ली गईं। वह सितम्बर में रिहा हुईं, और तिलक के आग्रह पर कांग्रेस की अध्यक्षा चुनी गईं।

तिलक और बेसेण्ट कांग्रेस को होल रूल आंदोलन के साथ शामिल करके उसका पुनरुत्थान करना चाहते थे। 1916 में कांग्रेस के इस लखनऊ अधिवेशन में होमरूल स्वयंसेवक बड़ी संख्या में आए, जहाँ कांग्रेस व मुस्लिम लीग मिले। तिलक ने निर्वाचक/साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व हेतु कांग्रेस-लीग संधि कराने में निर्णायक भूमिका निभाई। यह उस समय तक आमूल परिवर्तनवादी समाधान जैसा लगा किन्तु राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में पतन का कारण ही सिद्ध हुआ।

3.5 गाँधी व असहयोग आंदोलन का पदार्पण

प्रथम विश्व-युद्ध ने कृषि-वर्ग व नए औद्योगिक कामगार वर्ग के जीवन को बुरी तरह प्रभावित किया। ब्रिटिशों द्वारा विश्वास-भंग किए जाने से मुस्लिम बुद्धिजीवी-वर्ग आंदोलित हो गया। ब्रिटिश युद्ध प्रयासों में भारतीय मुस्लिमों के समर्थन के बदले में, अंग्रेज़ों ने उनसे वायदा किया था कि ऑटोमन सम्राट को ख़लीफ़ा अथवा मुस्लिम विश्व के अध्यात्मिक व ऐहिक प्रधान की मान्यता देंगे। 1915 में यह लगभग उसी समय हुआ जबकि 1869 में गुजरात के काठियावाड़ में जन्मे मोहनदास करमचन्द गाँधी, दक्षिण अफ्रीका में बीस वर्ष बिताने के बाद भारत लौटे। वहाँ उन्होंने दक्षिण अफ्रीकाई सरकार की प्रजातीय व भेदभावपूर्ण नीतियों के विरुद्ध गरीब भारतीय कुलियों व अन्य को संगठित किया था। यहाँ आकर उन्होंने राजनीतिक हथियारों के रूप में सत्याग्रह व अहिंसा के तरीकों को आजमाया।

3.5.1 गाँधी और कृषि-वर्ग

सन् 1917 में, भारतीयों ने गाँधीजी के आंदोलनकारी तरीकों का प्रथम परीक्षण बिहार के चम्पारण में देखा, जहाँ यूरोपीय नील-रोपक खेतीहरों को ग़ैर-कानूनी लगान देने व अन्य बलात् ग्रहणों के लिए दवाब डालते थे। जब गाँधीजी चम्पारण पहुँचे तो जिला कमिश्नर ने उन्हें जिला छोड़ने का आदेश दिया, जिसे उन्होंने ठुकरा दिया। राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में यह एक नई घटना थी। गाँधी व सहयोगियों ने कृषकों की यथार्थ व विस्तृत शिकायतों को दर्ज किया, और उन्हें सरकार के सामने रखा। विपुल तथ्यों को नकारने में असमर्थ सरकार ने अन्ततः रोपकों पर दवाब डला कि वे कृषकों को अवैध बलात् ग्रहण का 25% लौटाएँ। इससे रोपकों की साख और उनसे किसानों का भय दोनों खत्म हुए। गाँधीजी ने अहमदाबाद में मिल-मालिकों के विरुद्ध कर्मचारियों को, और औपनिवेशिक प्रशासन के विरुद्ध खेड़ा किसानों का नेतृत्व भी किया। 1918 के अन्त तक, यह शोषण व अन्याय के विरुद्ध अपने अनूठे विरोध-प्रदर्शनों के माध्यम से स्वयं को स्थापित कर चुके थे। अपने सरल और आत्मसंयमी जीवन से ही वह जन-सामान्य में जाने जाने लगे।

मुहम्मद अली, शौकत अली, अबुल कलाम आज़ाद और उलमा के वर्ग खासकर फिरंगी महल, लखनऊ के, इस समय ख़िलाफ़त आंदोलन में व्यस्त थे। जब वे गाँधीजी के पास पहुँचे, उन्होंने उनको अपने वाद के प्रति सहानुभूतिशील पाया। गाँधीजी ने कांग्रेस से अपील की कि ख़िलाफ़तियों के साथ चलें जिसके विरुद्ध ब्रिटिशों द्वारा एक गंभीर विश्वास-भंग हुआ। इस मोड़ पर, सरकार ने जल्दी में 'रोलट एक्ट' पास कर दिया। यह अधिनियम भारतीयों को बिना मुकदमा चलाए जेल में बंद कर दिए जाने की व्यवस्था देता था, और यह शीघ्र ही आंदोलन के लिए जी-जान से जुट जाने के लिए आधार बन गया।

3.5.2 रोलट एक्ट के प्रति विरोध

इस क्रूर कानून के खिलाफ़ विरोध-प्रदर्शन के लिए गाँधीजी ने सत्याग्रह सभाएँ बनाने का सुझाव दिया। 30 मार्च, 1919 के लिए एक अखिल भारतीय हड़ताल की योजना बनाई गई, जो कि 6 अप्रैल, 1919, तक के लिए टाल दी गई। हड़ताल उड़ीसा, असम, मद्रास, बम्बई व बंगाल में की गई। 13 अप्रैल, 1919 को बैसाखी के दिन, जनरल डायर के आदेश पर पुलिस ने अमृतसर के जलियाँवाला बाग़ में एक शांतिपूर्ण सभा पर अंधा-धुंध गोलियाँ चलाईं, और एक कार्यालिक अनुमान के अनुसार, 379 नि:शस्त्र व रक्षाहीन लोगों को मार डाला। इसके बाद मार्शल लॉ (सैनिक कानून) लगा दिया गया, और लोगों को यूरोपियनों के सामने पेट के बल रेंगने पर भी मजबूर किया गया। जलियाँवाला बाग़ घटना ने देश में उत्तेजना फैला दी। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रिटिश क्राउन द्वारा प्रदत्त 'नाइटहुड' की उपाधि लौटा दी। ब्रिटिश लोगों द्वारा जनरल डायर को कठघरे में खड़ा करने की बजाय, उसे एक धन की थैली भेंट की गई। घटना की तहकीक़ात कर रहे 'हण्टर कमीशन' ने, गाँधीजी के शब्दों में, "पन्ना-दर-पन्ना लीपा-पोती" प्रकाशित की।

3.5.3 असहयोग आंदोलन

नवम्बर 1919 में, इलाहाबाद में अखिल भारतीय ख़िलाफत कमेटी की बैठक हुई, और गाँधीजी का अहिंसावादी असहयोग आंदोलन का प्रस्ताव मान लिया गया। यह आंदोलन देशभर में छा गया। बंगाल में अबुल कलाम आज़ाद, मौलाना अक्रम खान और मुनिरुज़मन इस्लामाबादी ने आन्दोलन लोकप्रिय कर दिया। अक्रम खान के मोहम्मदी ने स्वदेशी व बहिष्कार की विचारधारा का प्रचार किया। आन्दोलन के संदेश को फैलाने में मोहम्मद अली के 'हमदर्द' और 'कामरेड', तथा अबुल कलाम आज़ाद के 'अल हिलाल' प्रबल संचार-साधन रहे। इसी बीच, गाँधीजी ने कांग्रेस को एक अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन का सिद्धांत स्वीकार करवाने का प्रयास किया। उनका विचार था कि पंजाब व ख़िलाफ़त के अन्यायों को असहयोग का आधार बनाया जाए। सितम्बर 1920 में कलकत्ता में हुए विशेष कांग्रेस अधिवेशन में, इस पर कुछ विरोध हुआ। दिसम्बर 1920 में, तथापि, कांग्रेस ने नागपुर में अपने वार्षिक अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव निर्विरोध प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

ख़िलाफ़त व असहयोग ने एक साथ मिलकर भारत का प्रथम शक्तिशाली व्यापक महापरिवर्तन किया। देशभर में स्कूलों, अदालतों व विदेशी-वस्त्रों का बहिष्कार किया गया, और चरखा व स्वदेशी-वस्त्र अपनाए गए। कांग्रेस नागपुर में पहले ही घोषणा कर चुकी थी कि स्वराज शांतिपूर्ण व विधिसंगत तरीकों से ही लिया जाना है। आसन्न स्वतंत्रता को लेकर एक नया जोश था, जो कि गाँधीजी ने एक साल के भीतर लाने का वायदा किया था। अवध, बंगाल, मद्रास, बम्बई, बिहार व असम में कृषक आन्दोलन में शामिल हो गए। एक नया नेतृत्व, वृहदत: ग्रामीण क्षेत्रों से, उद्गमित हुआ। गाँधीजी के आंदोलन व संदेश ने बिहार व मणिपुर की पहाड़ियों में जनजातीय आंदोलनों को भी प्रभावित किया। लेकिन 4 फरवरी, 1922 को, गोरखपुर के चौरीचौरा में लोगों के एक समूह ने पुलिस द्वारा उकसाये जाने पर पुलिस थाने पर हमला किया और पुलिसकर्मियों को जिंदा जला दिया।

गाँधीजी ने आंदोलन वापस ले लिया, और अधिकतर नेताओं द्वारा आलोचना किए जाने पर भी वह अपने निर्णय पर अडिग रहे। उन्होंने अहिंसा के सिद्धांत को छोड़ देने अथवा उसमें ढील देने से इंकार कर दिया।

बोध प्रश्न 2

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) चम्पारण में कृषक आंदोलन में गाँधीजी की भागीदारी का क्या परिणाम हुआ?

.....

.....

.....

.....

.....

2) ब्रिटिश सरकार ने रोलट एक्ट क्यों पास किया?

.....

.....

.....

.....

.....

3) असहयोग और ख़िलाफ़त आंदोलन में विरोध-प्रदर्शन का क्या तरीका अपनाया गया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.6 कृषि-वर्ग, कामगार वर्गों का वामपंथ का उदय

असहयोग आंदोलन अचानक वापस लिए जाने से एक असहाय स्थिति पैदा हो गई। सी०आर०दास० (1870-1925) तथा मोतीलाल नेहरू (1861-1931) ने उन स्वराजियों का नेतृत्व किया जो विधान सभाओं के अन्दर घुसकर उन्हें बर्बाद करना चाहते थे। गाँधीजी के कार्यक्रम में चुनावी लड़ाई के लिए कोई स्थान न था। इसलिए, जबकि स्वराजी चुनाव लड़े और सैण्ट्रल प्रोविन्स, बंगाल व केन्द्रीय विधान सभा में भी जोरदार धावा बोला, गाँधीजी व अन्य ने रचनात्मक कार्य की अपनी सामाजिक कार्यसूची पर ध्यान केंद्रित किया। इसमें शामिल थे – ग्राम पुनर्निर्माण कार्य, शिल्पकारों का उत्थान, चरखे का प्रचार और अस्पृश्यता निवारण। गाँधीजी के विचार से, सामाजिक व राजनीतिक आंदोलन एक-दूसरे से विलग नहीं किए जा सकते, और यहाँ उनके विचार उनसे भिन्न थे जिनके लिए राष्ट्रवाद का अर्थ मात्र देश को विदेशी शासन से मुक्त कराना था।

3.6.1 गाँधी-अम्बेडकर विवाद

गाँधीजी ने अस्पृश्यता-प्रथा के खिलाफ़ अपना सबसे बड़ा आंदोलन शुरू किया। उन्होंने उस व्यावसायिक पदानुक्रम के द्योतन के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत किया जो धीरे-धीरे वर्ण-व्यवस्था को परिभाषित करने लगी थी। चूँकि कुछ काम निम्नतर समझे जाते थे, इन अनिवार्य कामों को करने वाला अछूत माना जाने लगा। उन्होंने पदानुक्रम के इस द्योतन को खत्म करना चाहा, ताकि वर्ण-व्यवस्था अपने विशुद्ध व भेदभाव रहित रूप को पुनर्प्राप्त कर सके। अम्बेडकर ने गाँधीजी का विरोध किया, और तर्क दिया कि अस्पृश्यता वर्ण-व्यवस्था द्वारा ही वैध करार दी गई है। जब तक जाति-व्यवस्था को ही समाप्त नहीं कर दिया जाता, जाति-दमन नहीं जाएगा। गाँधीजी, तथापि, इससे सहमत नहीं थे क्योंकि जाति-प्रथा सदियों से चलती आई थी, और इसकी कैंसर-सी होती वृद्धि को ही समाप्त करने की आवश्यकता है। दोनों ही प्रबल रूप से तर्क प्रस्तुत करते थे, लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन के लोकतांत्रिक लोकाचार के प्रति निष्ठावान रहते हुए वे एक-दूसरे के मत का सम्मान करते थे और अपनी-अपनी स्थिति की विशेषताएँ एक-दूसरे को समझाने के प्रयास करते थे। सत्याग्रह को हथियार के रूप में प्रयोग करते हुए केरल के वैकोम और गुरुवयुर में मंदिर-प्रवेश आंदोलन और निम्न जाति के लोगों उत्थान हेतु देशव्यापी आंदोलन गाँधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम के प्रत्यक्ष परिणाम थे।

3.6.2 मार्क्सवाद का आगमन

1920 के दशक में बड़ी संख्या में लोग, खासकर युवा, मार्क्सवाद की ओर आकर्षित होने लगे। रूसी क्रांति ने उनकी कल्पना को प्रेरित किया था। बांग्ला कवि काज़ी नज़रुल इस्लाम ने इस नए उत्साह को सशक्त अभिव्यक्ति दी कि समाजवादी विचार राष्ट्रवादियों के मस्तिष्क में घर कर चुका है। उनके 'सर्वहारा' (मज़दूर वर्ग) और 'बिशेर बंशी' (विष-बाँसुरी) पर प्रतिबंध लगा दिया गया, और उन्हें एक साल की क़ैद हुई। एम०एन० राय समाजवादी युवावर्ग के शीर्षस्थ नेता थे। मद्रास, बंगाल व बम्बई में सिंगरावेलु, हेमन्त सरकार, मुज़फ्फर अहमद, एस०ए० दांगे व शौकत उस्मानी द्वारा श्रमिक व कृषक दल संगठित किए गए और पंजाब में 'कीर्ति किसान पार्टी' की स्थापना की गई। बाद में, वे 'किसान व कामगार पार्टी' के झण्डे तले ले आए गए। इनमें परवर्ती ने कांग्रेस के भीतर ही रहकर काम किया जिसे वह एक लोक दल बनाना चाहती थी। श्रमिक-संघ कार्यकर्त्ताओं ने राष्ट्रीय स्तर पर श्रमिकों को संगठित करने, और श्रम-संबंधी मुद्दों को सुस्पष्ट करने में मदद की। भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (1925) के निर्माण ने समाजवादी आंदोलन को एक केन्द्र प्रदान किया और राष्ट्रीय आंदोलन को एक उग्र उन्मूलनवादी मोड़ भी। व्यक्तिगत बहादुरी के काम, तथापि,

अभी तक क्रांतिकारी अतिवादियों का संचलन करते थे। लेकिन ये क्रांतिकारी एक वृहदतर सामाजिक कार्यक्रम के मद्देनज़र संगठित थे। यह नई विचारधारा सूर्यसेन, भगत सिंह, जतिन मुखर्जी (बाघा जतिन), जादू गोपाल मुखर्जी भगवत् चरण वोहरा, यशपाल और चन्द्रशेखर आज़ाद के कार्यों में प्रतिबिम्बित हुई। सचीन्द्र सान्याल कृत 'फ़िलासॅफ़ी ऑव दि बॉम' इस परिवर्तन का सबसे अच्छा कथन था। परिणामत:, 'हिन्दुस्तान क्रांति सेना' बनाई गई।

1907 में जन्मे व प्रसिद्ध क्रांतिकारी अजीत सिंह के भतीजे, भगतसिंह (1907-1931) ने इस परिवर्तन का सबसे अच्छा संकेत दिया। उन्होंने 1926 में 'पंजाब नौजवान भारत सभा' बनाई। भगत सिंह किसी भी क्रांति के लिए जनसाधारण का महत्त्व समझते थे। उन्होंने समाज पर सम्प्रदायवाद के बढ़ते खतरे को भी महसूस किया। 1928 में ही, उन्होंने व उनके मित्रों ने नौजवान सभा में किसी भी धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक संगठन के सदस्यों के प्रवेश का विरोध किया, जिसका निर्णय 1938 में कांग्रेस द्वारा ही लिया गया था। बाइस वर्ष की उम्र में, अपने कारावास के दौरान, उन्होंने प्रसिद्ध पुस्तिका लिखी वाइ आई ऐम ऐन् एथिइस्ट (मैं अनीश्वरवादी क्यों हूँ)। वह समझ सकते थे कि परिवर्तन की शक्तियाँ भारत के खेतों व कारखानों में ही बसी हैं।

'मास्टर दा' के नाम से लोकप्रिय, सूर्यसेन (1897-1934) एक अन्य प्रतिभाशाली क्रांतिकारी अतिवादी थे। सूर्यसेन व उनके अनुयायियों ने 18 अप्रैल, 1930 को चित्तगोंग स्थित दो शस्त्रागारों पर असफल रूप से धावा बोला। 1933 में सेन को गिरफ़्तार कर लिया गया और 12 जनवरी, 1934 को उन्हें फाँसी हो गई। चित्तगोंग शस्त्रागार धावे में बड़ी संख्या में महिलाओं ने भाग लिया। असहयोग-पश्चात् चरण में प्रीतिलता वाडेकर, कल्पना दत्त, शांति घोष, सुनीति चौधरी, मीना दास, मणिकुंतला सेन और आशालता सेन समेत अनेक महिलाओं ने राष्ट्रीय आंदोलन में तथा कृषकों व श्रमिकों को संगठित करने में निर्णायक भूमिका निभाई।

3.6.3 सम्प्रदायवाद का विकास

1920 के दशक में कुछ दिग्गज नेता या तो कांग्रेस के साथ जुड़ गए या फिर राष्ट्रीय विचारधारा के साथ। अनमनीय साम्प्रदायिक विचारों के साथ मोहम्मद अली जिन्ना ने गाँधीवादी राजनीति के प्रतिक्रियास्वरूप कांग्रेस छोड़ दी। लाजपत राय, वीर सावरकर, आशुतोष लाहिड़ी व अन्य अनेक देशभक्त राष्ट्रीय आंदोलनों के लोकप्रिय पहलू को हिन्दू समुदाय के सिद्धांत के प्रति हानिकारक के रूप में देखने लगे। उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रान्त (एन.डब्ल्यू.एफ.पी.) में कोहाट, मालाबार व कलकत्ता (1926) में असहयोग-पश्चात् साम्प्रदायिक दंगों ने साम्प्रदायिक बोध को बढ़ाने में सहयोग दिया। ख़िलाफ़त के दिनों में गाँधीजी के निकट सहयोगियों, अली बंधुओं, ने गाँधीजी पर मुसलमानों से गद्दारी का आरोप लगाया। साम्प्रदायिक विचार व संगठन द्रुत गति से प्रचुरोद्भूत हुए। इसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कारण थे – राष्ट्रीय आंदोलन के कार्यक्रम की सफलता और इस आंदोलन में शामिल होने के लिए कृषकों, श्रमिकों व जनसाधारण को प्रेरित करने की अभिदृष्टि। राजभक्त व उच्च वर्ग राष्ट्रीय आंदोलन व कांग्रेस के इस आमूल-चूल परिवर्तन से घबराए हुए थे। इससे अंशत: यह भी स्पष्ट होता है कि मुस्लिम लीग व हिन्दू महासभा जैसे अधिकतर साम्प्रदायिक संगठन क्यों पूर्णत: कांग्रेस-विरोधी थे।

3.7 नागरिक अवज्ञा आंदोलन और उसके परिणाम

3.7.1 सायमन आयोग

आंदोलन के इसी मोड़कर, भारत के लिए भावी सुधारों की सिफारिश करने ब्रिटिशों ने सायमन

कमीशन भेजा जिसमें एक भारतीय प्रतिनिधि भी था। कांग्रेस ने, अपने 1927 अधिवेशन में, कमीशन का बहिष्कार करने का फैसला किया। यह कमीशन जहाँ भी गया, हड़ताल से उसका स्वागत हुआ। अधिकारियों ने एक आम-सहमति वाला संविधान प्रस्तुत करने के लिए भारतीय नेताओं को चुनौती दी। कांग्रेस ने मोतीलाल नेहरू की देखरेख में एक समिति गठित की जिसने 'नेहरू रिपोर्ट' पेश की। जिन्ना ने उन संशोधनों की सिफ़ारिश की, जो रिपोर्ट में सुझाई गई राज्य व्यवस्था के प्रत्येक लक्षण को बदल डालते। सुभाष बोस और नेहरू ने भी देश के लिए सम्पूर्ण स्वाधीनता की सिफ़ारिश न करने के लिए रिपोर्ट पर आक्षेप किया।

3.7.2 नागरिक-अवज्ञा आंदोलन

स्वाधीनता के साथ अपने औपचारिक लक्ष्य के रूप में, 26 जनवरी, 1930 का दिन स्वाधीनता दिवस के रूप में मनाया गया। इस अधिवेशन में कार्यकारी समिति को एक नागरिक अवज्ञा कार्यक्रम शुरू करने के लिए अधिकृत किया गया। गाँधीजी ने अपने कार्यक्रम को विस्तारपूर्वक लिखते हुए, तथा सरकार को आगे आने और उन्हें नमक-कानून तोड़ने से रोकते को चुनौती देते हुए वायसरॉय को एक अन्तिम चेतावनी भेजी। 12 मार्च, 1930 को 78 स्वयंसेवकों के साथ उन्होंने अहमदाबाद से दाण्डी के तट तक 240 कि.मी. लम्बा मार्च शुरू किया, और 6 अप्रैल, 1930 को उन्होंने सांकेतिक रूप से नमक-कानून तोड़ा। पूरा देश नागरिक-अवज्ञा आंदोलन में कूद पड़ा। बंगाल में, नमक-कानून तोड़ने के लिए स्वयंसेवक कोमिला, पूर्व बंगाल में अभय आश्रम से पश्चिम बंगाल में कोन्तई, मिदनापुर तट तक गए। सी० राजगोपालाचारी ने तंजौर तट पर त्रिचिनापल्ली से वेदारण्यम् तक प्रयोग किया, जबकि मालाबार तट पर के० केलप्पन ने नमक बनाया। नागरिक अवज्ञा का एक नया केन्द्र उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रान्त के रूप में उद्गमित हुआ, जहाँ खान अब्दुल गफ़्फ़ार खान व उनके अनुयायियों – खुदाइ खिदमतगार – ने अहिंसात्मक नागरिक अवज्ञा शुरू की। जब उन पर गोली चलाने का आदेश मिला, गढ़वाली सैनिकों ने आज्ञा मानने से इंकार कर दिया, और फिर उन्हें बंदी बना लिया गया। शराब व विदेशी-वस्त्र दुकानों पर धरना देने, कर चुकाने से इंकार करने व कानूनी पेशा छोड़ देने की घटनाओं ने आंदोलन का संकेत किया। बिहार व बंगाल में कृषकों ने चौकीदारी कर का विरोध किया। उड़ीसा के पुरी ज़िले में वन-कानून-विरोधी अभियान शुरू हुए। 4 मई, 1930 को गाँधीजी गिरफ़्तार कर लिए गए। विरोध में देशभर में हड़तालें व प्रदर्शन हुए। आंदोलन तब वापस लिया गया जब गाँधी-इर्विन समझौते पर हस्ताक्षर हो गए, और गाँधीजी ब्रिटेन में द्वितीय गोल-मेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए राजी हो गए। इस सम्मेलन की उपलब्धि शून्य रही क्योंकि अधिकारियों ने कांग्रेस को भी औरों की तरह ही एक विचार करार दिया और खुले रूप से कांग्रेस के विरुद्ध राजकुमारों, प्रतिक्रियावादियों, दमित वर्ग नेताओं व साम्प्रदायिक नेताओं को प्रोत्साहित किया।

अनेक प्रान्तों में कांग्रेस द्वारा जीते गए 1937 के चुनावों के दौरान, चुनावीय राजनीति में प्रविष्ट होते, और फिर पदासीन होते एक जन-आंदोलन की दुविधा तीक्ष्ण हो गई। काफी समीक्षा व तर्क-वितर्क के बाद, कांग्रेस ने छह प्रान्तों में मंत्रिमण्डल बनाने का निर्णय लिया, और अपना सामाजिक व आर्थिक कार्यक्रम चालू किया। इससे कुछ हलकों में आशंका पैदा हुई, जैसे कि यूनाइटेड प्रोविन्सिज़ में भू-स्वामी। मुस्लिम लीग भी मुसलमानों पर उसकी न शंसताओं के लिए मंत्रिमण्डलों पर आक्षेप करने लगी। यद्यपि जो कभी साबित नहीं हुए, ये अधिप्रचारक आरोप कांग्रेस के शासन वाले एक हिन्दू राज के भावी स्वरूप को तैयार करने में प्रयोग किए गए। मद्रास व बम्बई के मंत्रिमण्डल जैसे कुछ कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने कम्यूनिस्ट व अन्य उग्र-उन्मूलनवादी समूहों को दबाने के लिए काम किया।

बोध प्रश्न 3

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) गाँधीजी व अम्बेडकर के बीच भौतिक मतभेद क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

2) सम्प्रदायवाद के उदय हेतु सबसे महत्त्वपूर्ण कारण क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

3) नेहरू रिपोर्ट की मुख्य सिफारिशें लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

3.8 विश्वयुद्ध और 'भारत छोड़ो' आंदोलन

यूरोप में 1 सितम्बर, 1939 को द्वितीय विश्वयुद्ध की घोषणा हो गई। भारतीय सरकार ने, भारत में जनमत की सलाह लिए बग़ैर, जर्मनी से युद्ध की घोषणा कर दी। अनेक कारणों से युद्ध अवश्यंभावी हो गया, बल्कि मूल रूप से हिटलर व नाज़ीवाद के उद्‌गमन के कारण। हिटलर ने लगभग 60 लाख यहूदियों को निकाल दिया क्योंकि उसका विश्वास था वे एक नीची प्रजाति में जन्मे

हैं और प्रथम विश्वयुद्ध में उसकी हार समेत जर्मन समाज की सभी बुराइयों की वजह वही हैं। इटली में मुसोलिनी, स्पेन में जेनरल फ्रैन्को और जापान में उभरती सैन्य तानाशाही ने नाज़ी आक्रमण को एक सत्तावादी और फासीवादी सैन्य-व्यूह प्रदान किया। भारतीयों के लिए, युद्ध ने उपनिवेश-विरोधी आंदोलन के पुनरुत्थान का अवसर मुहैया कराया। तथापि, भारतीय नेतागण इस प्रकार के अवसरवाद के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि यह लोकतांत्रिक, फासीवाद-विरोधी ताकतों के सिद्धांत विरुद्ध होता। लेकिन ब्रिटिशों ने, युद्ध को लोकतंत्र हेतु लड़ाई के रूप में घोषित करने के बावज़ूद, भारतीयों व उनके हेतुक के लिए कोई रुचि नहीं दर्शायी। ध्यानपूर्वक विचार करने के बाद, गाँधीजी ने 17 अक्टूबर, 1940 को ध्यानपूर्वक चुने गए वैयक्तिक सत्याग्रहियों को लेकर एक हल्का व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू करने का निर्णय लिया। पहले व्यक्ति थे विनोबा भावे, और दूसरे जवाहरलाल नेहरू। इनको युद्ध-प्रयास से सहयोग के विरुद्ध सार्वजनिक भाषण, और उसके बाद गिरफ़्तारी देनी होती थी।

दिसम्बर 1941 में जापान युद्ध में शामिल हो गया और भारतीय सीमाओं को चुनौती दी। जापानियों की दया पर आश्रित छोड़कर ब्रिटिश फ़ौजों के पीछे हटने की ख़बर ने भारत में क्षोभ और असहाय्य स्थिति का भाव पैदा कर दिया। सैनिक अत्याचारों और युद्ध-काल संकट ने लोगों को बेचैन कर दिया। गाँधीजी ने इस बढ़ते असंतोष को समझा और, अधिकतर नेताओं के बहुत ही संकोच के बावजूद, एक आंदोलन शुरू करने का निर्णय किया। 8 अगस्त, 1942 को बम्बई में, उन्होंने 'करो या मरो' का नारा दिया और ब्रिटिशों को 'भारत छोड़ो' कहा। उसी रात गाँधीजी व अन्य को गिरफ़्तार कर लिया गया। अगले ही दिन से, देशभर में लोग घरों से बाहर निकल आए, और एक विशाल उपनिवेश-विरोधी आंदोलन शुरू हो गया। सरकारी सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाया गया, और पूर्वी उत्तर-प्रदेश में बलिया, बंगाल में मिदनापुर, व महाराष्ट्र के सतारा में कृषक ठिकानों पर समानान्तर सरकारें स्थापित की गईं। जयप्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया (1910-1967), अच्युत पटवर्धन, अरुणा आसफ़ अली ने वीरतापूर्ण योगदान दिया। अरुणा आसफ़ अली एक भूमिगत रेडियो चलाती थीं। ब्रिटिश अधिकारियों ने इस आंदोलन को बड़ी सख्ती से दबाया।

3.9 युद्धोपरांत लहर

3.9.1 आज़ाद हिन्द फौज़ (आई.एन.ए.)

युद्ध समाप्त होने के बाद, जुलाई 1945 में, ये नेतागण आज़ाद कर दिए गए और एक चुनाव की घोषणा कर दी गई। इस बीच, आज़ाद हिन्द फ़ौज (आई.एन.ए.) ने लोकप्रिय छवि बना ली थी। इसका गठन 1940 में ब्रिटिश इण्डियन आर्मी के मोहन सिंह व अन्य ने किया, जो जापानियों द्वारा युद्ध-बन्दी बना लिए गए थे। चकाचौंध कर देने वाले साहस-प्रदर्शन में देश को ले जाकर सुभाष चन्द्र बोस ने फ़ौज को नए सिरे से संगठित करने में अग्रणी भूमिका निभाई। जापानी सेना के हाथों में सभी प्रकार के भेदभाव को झेलते सैनिकों ने उस दुर्गम भू-भाग को ललकारा और कोहिमा सीमा तक पहुँच गए। लेकिन जल्द ही जापानियों का लौटना शुरू हो गया, और आई.एन.ए. का लाल किले पर भारतीय तिरंगा फहराने का सपना चूर-चूर हो गया। 1945 में आई.एन.ए. सैनिक ब्रिटिशों द्वारा बन्दी बना लिए गए और उन पर राजद्रोह का मुकदमा चला। मुकदमे की पहली सुनवाई नवम्बर में लाल किले में शुरू हुई। नवम्बर 1945 में और फरवरी 1946 में, पूरे देश ने क्रोध में भर इन भारतीय स्वाधीनता के वीरों पर मुकदमों और सज़ाओं के खिलाफ विरोध-प्रदर्शन किया।

इस राष्ट्रवादी लहर के बीच ही प्रान्तीय एवं केन्द्रीय विधानमण्डलों के चुनाव हुए। यद्यपि मताधिकार जनसंख्या के एक छोटे वर्ग तक ही सीमित था, यह चुनाव राष्ट्रवाद और उनके विरोधियों की

विचारधाराओं का एक इम्तहान था। कांग्रेस प्रत्याशियों को अभूतपूर्व सफलताएँ हासिल हुईं, जबकि मुस्लिम लीग ने सभी मुस्लिम सीटें जीत लीं। इसने भारतीय मुसलमानों के एकमात्र प्रतिनिधि होने का दावा साबित कर दिया। बड़ी संख्या में वीरों व सजदानशीनों ने पंजाब व सिंध में लीग के लिए वोट माँगा। उलमाओं के निकाय, ज़माइत-उल-उलमा-ए-हिन्द, जो पाकिस्तान की माँग के खिलाफ़ था, ने कांग्रेस का खुले रूप से समर्थन किया। हिन्दू महासभा, जो हिन्दुओं की एकमात्र प्रतिनिधि होने का दावा करती थी, बुरी तरह खदेड़ दी गई – कलकत्ता सीट पर श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में उसे अपने विरोधी के 6,000 के मुकाबले मात्र 146 वोट मिले।

बोध प्रश्न 4

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में आज़ाद हिन्द फ़ौज (आई.एन.ए.) की क्या भूमिका थी?

.....

.....

.....

.....

.....

2) ब्रिटिशों ने भारत क्यों छोड़ा?

.....

.....

.....

.....

.....

3.10 सांप्रदायिक दंगे, स्वतंत्रता और विभाजन

बम्बई व कराची में 'नेवल रेटिंग्स' के विद्रोह ने सेना में राजद्रोह के स्पष्ट संकेत दिए। नौकरशाही का नैतिक पतन भी प्रत्यक्ष था। यह स्पष्ट था कि ब्रिटेन भारत पर अब और अधिक शासन नहीं कर सकता था। मुस्लिम लीग ने, नौकरशाही के सक्रिय संरक्षण के साथ, पहले पाकिस्तान दिए बग़ैर ब्रिटिशों द्वारा भारत छोड़ने के किसी भी कदम का विरोध किया। भावी इन्तज़ामात की सिफ़ारिश के लिए 1946 में कैबिनेट मिशन भेजा गया। मिशन ने पाकिस्तान को एक जीवनक्षम विकल्प के रूप में निरस्त कर दिया, लेकिन प्रान्तों की एक सामूहिक व्यवस्था वाली सिफ़ारिश को लीग द्वारा उसकी पाकिस्तान की माँग के अनुमोदन के रूप में लिया गया, जिसको नेहरू जैसे कांग्रेसी नेताओं

ने दृढ़ता से ठुकरा दिया। पाकिस्तान की अपनी माँग मनवाने के लिए लीग ने, कैबिनेट मिशन की सिफ़ारिशें ठुकरा दीं और 16 अगस्त, 1946 को 'सीधी कार्रवाही दिवस' घोषित कर दिया। बिना किसी उपनिवेश-विरोधी कार्यक्रम के साथ, कांग्रेस व उनके खिलाफ़ जो पाकिस्तान के विरोध में थे, सीधी कार्रवाही का संकेत मिला। परिणाम हुआ कलकत्ता में एक साम्प्रदायिक हत्याकाण्ड जिसमें 5000 से अधिक जानें गईं; यहीं मुस्लिम लीगी मुख्यमंत्री ने 16 अगस्त अवकाश घोषित किया था। प्रतिक्रिया नोआखली में हिन्दू-विरोधी हिंसा के रूप में फूटी, जो असहयोग/ ख़िलाफत के दिनों के बाद से कृषक आंदोलन की एक ख़ास दूरवर्ती-चौकी बन चुकी थी। साम्प्रदायिक विचारधारा अब पूरी तरह से हावी थी। बिहार में जवाबी प्रतिक्रियाएँ शुरू हो गईं, जहाँ गाँव के गाँव जला डाले गए और इस हिंस्रकता के साथ कि हज़ारों की संख्या में मुसलमान मारे गए; मजबूर होकर नेहरू ने कहा कि अगर दंगे न रुके तो इलाके में बम गिराएँगे। इस स्थिति के लिए औपनिवेशिक स्वामीजन ज़िम्मेदारी ही लेने को तैयार नहीं थे जिन्होंने कि इसको पैदा करने में मनोयोग से सहायता की थी। उन्होंने अब भारत छोड़ने का फैसला कर लिया जो उपनिवेशवाद के अनिवार्यत: ग़ैर-जिम्मेदाराना चरित्र के प्रति विश्वासघात था; इसने अधिकांश औपनिवेशिक समाजों को अस्तव्यस्तता की स्थिति में छोड़ दिया – या तो बँटवारा करके या फिर उन्हें भीतर से तोड़ के।

यह आभास होने लगा कि स्वतंत्रता कहीं आसपास ही है, पाकिस्तान भी बहुत दूर नहीं था। दोनों ही अपरिहार्य थे। पाकिस्तान न मिलने के परिणाम कलकत्ता, नोआखली और बिहार के दंगों से स्पष्ट थे। इस प्रकार, जब कांग्रेसी नेताओं व गाँधीजी ने विभाजन स्वीकार किया, वे अपरिहार्य को स्वीकार कर रहे थे। ऐसी आशा थी कि विभाजन सम्प्रदायवाद की समस्या को हमेशा के लिए समाप्त कर देगा। 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हो गया।

3.11 सारांश

स्वाधीनता उपनिवेशवाद के विरुद्ध एक लम्बे संघर्ष का परिणाम थी। पूर्ववर्ती राष्ट्रवादियों व अतिवादियों ने लोगों के मन में देशभक्ति का एक उच्चभाव जगा दिया। कांग्रेस के तत्त्वावधान में गाँधीजी कृषि-वर्ग, श्रमिक वर्गों व शोषित जनसाधारण को राष्ट्रवाद के दायरे में लाए। राष्ट्रवादियों के सामाजिक कार्यक्रमों का उद्देश्य लोगों की मात्र राजनीतिक स्वतंत्रता से कहीं अधिक था। लेकिन पूर्ववर्ती राष्ट्रवादियों का यह विचार कि भारत एक निर्माणशील राष्ट्र है, सत्य सिद्ध हुआ क्योंकि विभाजन ने भारत राष्ट्र की सशक्त नींव का अभाव दर्शाया। राष्ट्रवाद के ज़ोर, जिसने ब्रिटिशों को भारत छोड़ने पर मजबूर किया, का प्रयोग अब एक लोकतांत्रिक व धर्मनिरपेक्ष नीति की मदद से ग़रीबी, निरक्षरता व विकास के सामाजिक प्रश्नों को हल करने में किया जाना था।

3.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चन्द्र, विपिन व अन्य (सं०), *इण्डिया'ज़ स्ट्रगल फॉर इण्डिपेण्डेंस*, दिल्ली, 1989।

दत्त, आर. *पाल्मे, इण्डिया टुडे*, दिल्ली, 1949।

नेहरू, जवाहरलाल, *एन ऑटोबायोग्राफी*, दिल्ली, 1934।

प्रसाद, राजेन्द्र, *इण्डिया डिवाइडिड*, बम्बई, 1947।

बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ, *ए नेशन इन् दि मेकिंग*, कलकत्ता, 1963।

बॉन्ड्यूरांत्, वी० जोन, *कॉन्क्वैस्ट ऑव वाइअलन्स्*, बरकेली, 1971।

वर्मा, शिव (सं०), *सेलेक्टिड राइटिंग्स ऑव शहीद भगत सिंह*, नई दिल्ली, 1986।

सरकार, सुमित, *मॉडर्न इण्डिया* : 1885-1947, दिल्ली, 1983।

3.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) वे अपनी स्थिति के बारे में सचेत हो गए तथा उन्होंने अंग्रेज़ों का विरोध किया।

2) पूर्ववर्ती राष्ट्रवादियों का मानना था कि औपनिवेशिक राज्य ने भारतीयों के सामान्य हितों एवं कल्याण विशेषकर भारत से श्रोतों के पलायन के कारण, को हानि पहुंचाई।

3) इसने विरोध प्रदर्शन के निम्न प्रकारों का सर्मथन किया : निष्क्रिय प्रतिरोध, बॉयकॉट, स्वदेशी को अपनाना तथा राष्ट्रीय शिक्षा।

बोध प्रश्न 2

1) गाँधी के चम्पारण आन्दोलन में हिस्सा लेने के फलस्वरूप सरकार ने बागान मालिकों पर किसानों को उनसे गैरकानूनी तरीके से उघाये गये कर का 25% वापस करने के लिए दबाव डाला।

2) इसने रॉलेट ऐक्ट पारित किया क्योंकि इसमें ऐसे प्रावधान थे जिससे भारतीयों को बिना मुकदमा चलाए बंदी बनाया जा सकता था।

3) अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन।

बोध प्रश्न 3

1) गाँधी के अनुसार व्यवसायिक पदसोपान (occupational hierarchy) का विनाश वर्ण व्यवस्था की शुद्धता को पुन: प्राप्त करके किया जा सकता था। दूसरी तरफ अम्बेडकर का मानना था कि अस्पर्शता का मुख्य कारण हिंदू वर्ण व्यवस्था है। इसको वर्णव्यवस्था के विनाश द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है।

2) राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता और उसके विजन द्वारा किसानों, मजदूरों एवं जनता को राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लेने की प्रेरणा। इससे घबराकर उच्च वर्ग के लोगों ने साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया।

बोध प्रश्न 4

1) यह व्यक्तिगत स्तर पर निम्न स्तरीय सत्याग्रह था, जो 17 अक्तूबर, 1940 को शुरू किया गया था। नेताओं ने व्यक्तिगत स्तर पर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध भाषण दिए तथा गिरफ्तारियाँ दीं।

2) यह गाँधीजी के नेतृत्व में 8 अगस्त 1942 को शुरू हुआ था। गाँधीजी ने अंग्रेजों को भारत छोड़ने को कहा तथा भारतीयों को स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए "करो या मरो" का आवाहन किया।

इकाई 4 नए वर्गों का उद्गमन

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 नए वर्गों के उदय के कारण

4.3 एक नए वातावरण में पुराने वर्ग

4.4 नए वर्ग

- 4.4.1 ज़मीदार
- 4.4.2 काश्तकार
- 4.4.3 भूमिधारी
- 4.4.4 किसान आंदोलन, मुख्य महत्त्वपूर्ण घटनाएँ
- 4.4.5 आधुनिक भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग
- 4.4.6 पूँजीपति वर्ग
- 4.4.7 कामगार वर्ग

4.5 सारांश

4.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप पाएँगे उन नए वर्गों का उदय जो औपनिवेशिक काल में उद्गमित हुए। इसके अध्ययन के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- नए वर्गों के उदय के कारण समझ सकें;
- पुराने वर्गों की परिस्थितियाँ समझ सकें; तथा
- इन वर्गों और शेष अन्य खण्डों में दी गई इकाइयों के बीच एक संबंध स्थापित कर सकें।

4.1 प्रस्तावना

अंग्रेजी शासन के आगमन के बाद भारतीय समाज ने अनेक वर्गों का उद्गमन होते देखा। ग्रामीण क्षेत्रों में, ज़मीदारों, काश्तकारों, भूमिधारियों, साहूकारों, कृषि-श्रमिकों, आदि के वर्गों का उद्गमन हुआ और शहरी क्षेत्रों में, पूँजीपतियों, कामगारों, लघु उद्यमियों, आदि के वर्गों का आविर्भाव हुआ। एक शिक्षित मध्य वर्ग का भी उद्गमन हुआ। धीरे-धीरे इन वर्गों ने राष्ट्रीय स्वरूप अर्जित कर लिया, जो उनके द्वारा अखिल भारतीय संगठन के रूप में व्यक्त हुआ। पूँजीपति वर्ग ने भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग मण्डल-संघ बनाया। कर्मचारियों ने अखिल भारतीय ट्रेडयूनियन कांग्रेस का निर्माण किया। भूमिधारियों, काश्तकारों और कृषि-श्रमिकों ने अखिल भारतीय किसान सभा का निर्माण किया। अंग्रेजों द्वारा राज्य की प्राय: असंबद्ध स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं और समूहों में से निकाली गई एक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और राज्य-व्यवस्था के सृजन ने एक अखिल भारतीय स्तर पर संगठित होने और संघर्ष करने के लिए नए वर्गों के बीच प्रेरणा जगाई। पूर्व-ब्रिटिश भारत की

पहचान थी एक अखिल भारतीय अर्थव्यवस्था और एक एकीकृत प्रशासनिक व्यवस्था का अभाव। यही कारण था कि यहाँ एक भी अखिल भारतीय वर्ग नहीं था। इन नए वर्गों ने अपने वर्गगत हितों को बढ़ावा देने के लिए संघर्ष करना शुरू कर दिया। इन वर्गों के प्रबुद्ध प्रवर्गों ने अंग्रेजी शासन के सही स्वभाव को समझना शुरू कर दिया, वे भारत में ब्रिटिश हितों के साथ भारतीय लोगों के हितों के टकराव को समझ सकते थे। उन्हें यह भी अहसास हो गया कि भारतीय समाज की सामान्य सम्पन्नता उनके वर्गगत हितों को प्रोत्साहन देने हेतु भी कहीं बेहतर परिस्थितियाँ पैदाकर सकती है। उन्होंने यह भी महसूस किया कि यह सामान्य सम्पन्नता केवल आज़ादी के साथ ही आ सकती है। इस बोध ने प्रगामी वर्गों को संयुक्त राष्ट्रवादी स्वतंत्रता संघर्ष में शामिल होने के लिए उत्तेजित किया।

नए वर्गों के उद्‌गमन ने सभी जगह और सभी समुदायों के बीच किसी एकरूप प्रतिमान का अनुसरण नहीं किया। नए वर्गों के उदय को प्रेरित करती यह नई अर्थव्यवस्था उन क्षेत्रों में लागू की गई, जो ब्रिटिश शासन के अंतर्गत आते थे। भारत पर विजय एक ही झटके में नहीं मिल गई। यह चरणों में हासिल की गई। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत देश के पहले आने वाले हिस्से में नए वर्गों का उदय पहले दिखाई दिया। प्रथमत: बंगाल ने नए वर्गों - ज़मींदार और काश्तकार - को प्रवेश-प्रवेश दिया क्योंकि ब्रिटिश विजय बंगाल से ही शुरू हुई और यहीं प्रथमत: उस स्थायी बंदोबस्त को लागू किया गया, जिसने ज़मींदारों और काश्तकारों को जन्म दिया। वे औद्योगिक उद्यम भी प्रथमत: बंगाल और बंबई क्षेत्रों में ही स्थापित किए गए जिनसे उद्योगपतियों और कर्मचारियों के वर्ग का उदय हुआ। इन क्षेत्रों में व्यवसायिक और शिक्षित मध्य वर्ग भी अन्य क्षेत्रों के मुकाबले काफी आगे निकल गए। एक नए प्रशासनिक तंत्र और आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के लागू होने से ऐसा हुआ था। धीरे-धीरे पूरा ही देश ब्रिटिश शासन के अंतर्गत आ गया। अत: ब्रिटिश द्वारा लागू की गई आर्थिक व्यवस्था, प्रशासनिक तंत्र और आधुनिक शिक्षा-प्रणाली पूरे ही देश पर छा गए। इस प्रकार नए वर्गों का उद्‌गमन बन गया एक देश-व्यापी अद्‌भुत घटना।

विभिन्न समुदायों के बीच भी नए सामाजिक वर्गों का उद्‌गमन एकरूप नहीं था। बनियों और पारसियों ने ही प्रथमत: वाणिज्य और बैंकिंग में रुचि दिखाई इसीलिए वे पूँजीपति वर्ग में फले-फूले। इसी प्रकार, अंग्रेजों द्वारा आरंभ की गई आधुनिक शिक्षा ग्रहण करने वाले प्रथम ब्राह्मण ही थे। इसी कारण उन्होंने ही व हद्‌त: व्यवसायियों और बुद्धिजीवियों का वर्ग निर्माण किया। मुस्लिमों में नए वर्गों का उद्‌गमन देर से दिखाई दिया क्योंकि वे व्यापार और वाणिज्य से दूर रहते थे व शिक्षा की आधुनिक प्रणाली को शंका की दृष्टि से देखते थे और वे उत्तरी भारत में रहते थे, जो ब्रिटिश अधीनता के अंतर्गत काफी बाद के चरण में आया। बंगाल में मुस्लिम जनसंख्या का बहुल था।

4.2 नए-वर्गों के उदय के कारण

नए भूमि संबंध के पदार्पण की भाँति आर्थिक व्यवस्था का परिवर्तन होना, पूँजीपति जगत् द्वारा वाणिज्यिक दोहन हेतु भारतीय समाज का विवृत्तन, एक नई प्रशासनिक व्यवस्था और एक आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का प्रवेश, तथा आधुनिक उद्योगों की स्थापना ही नए सामाजिक वर्गों के उद्‌गमन हेतु व हद्‌त: उत्तरदायी कारक थे। स्थायी और रैयतवाड़ी व्यवस्थाओं द्वारा भूमि में निजी सम्पत्ति के सृजन ने वृहद् सम्पदा-स्वामियों, ज़मींदारों और भूमिधारियों के रूप में नए वर्गों को जन्म दिया। काश्तकारों और सह-काश्तकारों का वर्ग भूमि-पट्टाधृति अधिकार दिए जाने के साथ ही जन्मा। भूमि में निजी सम्पत्ति का अधिकार और भूमि पर काम करने हेतु श्रमिक रखने का अधिकार के फलस्वरूप अन्यत्रवासी भूमि-स्वामी और कृषि-श्रमिक जैसे वर्गों का जन्म हुआ। यहाँ एक वर्ग साहूकारों का भी उद्‌गमित हुआ।

विपणन शक्तियों के लिए नई अर्थव्यवस्था के विवर्त्तन ने भी नए वर्गों को जन्म दिया। ब्रिटिश शासन के तहत उत्पादन, औद्योगिक और कृषीय दोनों बाज़ार के लिए होने लगा। इससे उन लोगों के लिए अवसर पैदा हुआ जिनकी भूमिका भारत के भीतर-बाहर माल को आयात व निर्यात करने की थी। इन लोगों को व्यापारियों के रूप में जाना जाने लगा। ब्रिटिश-पूर्व भारत में भी व्यापारियों का यह वर्ग विद्यमान था क्योंकि अंत: और बाह्य दोनों प्रकार का व्यापार अस्तित्व में तो था परन्तु यह स्तर और आकार में बहुत छोटा था। इस वर्ग का समाज में पर्याप्त प्रभाव नहीं था। व्यापारिक वर्ग, ज़मींदार और व्यावसायिक वर्गों के बीच अपेक्षाकृत धनवान का एक प्रवर्ग के हाथों में लाभ-संचय ने भारतीयों के स्वामित्व वाले वस्त्रादि, खनन व अन्य उद्योगों के उदय हेतु पूँजी-निर्माण किया। इससे देशज पूँजीपति वर्ग का उद्गमन हुआ। इस प्रकार पूरी तरह से नए वर्ग दृष्टिगोचर हुए; एक, औद्योगिक पूँजीपति जो मिलों, खानों व अन्य पूँजीपति उद्यमों के स्वामी थे; दो, वे कर्मचारी जो कारखानों, मिलों, रेलों में व बाग़ानों में काम करते थे।

अंग्रेजों द्वारा लायी गई नई सामाजिक, आर्थिक व राज्य व्यवस्था को भारतीयों के एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता थी जो विधि, प्रौद्योगिकी, चिकित्सा, अर्थ आदि व्यावसायिक क्षेत्रों में आधुनिक शिक्षा-प्राप्त हो। पूरे देश में आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का समावेश इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर किया गया। व्यवसायिकों का यह सदा-प्रसरणशील वर्ग इस नई सामाजिक-आर्थिक व प्रशासनिक व्यवस्था की ही रचना था। यह व्यवसायी-वर्ग ब्रिटिश-पूर्व भारत में था ही नहीं। इन व्यवसायी-वर्गों ने विज्ञान व कला के क्षेत्रों में आधुनिक ज्ञान अर्जित किया था। अंग्रेजों द्वारा लाई गई विधि-व्यवस्था ने उनको अवसर प्रदान किए जिन्होंने कानून की पढ़ाई की। वे जिन्होंने चिकित्सा-शास्त्र पढ़ा सरकारी अस्पतालों और चिकित्सा-कॉलेजों में लगा दिए गए।

4.3 एक नए वातावरण में पुराने वर्ग

भारत ब्रिटिश शासन के अंतर्गत पूँजीवादी दिशा में एक रूपांतरण से गुज़रा था किन्तु यह रूपांतरण वैसा सम्पूर्ण नहीं था जैसा कि फ्रांस, इंग्लैण्ड अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ था। इसका मतलब था औद्योगिक विकास का अवरुद्धन। परिणामत: पुराने वर्गों में से कुछ कायम रहे। ग्राम्य शिल्पकारों और शहरी दस्तकारों के वर्ग ऐसे ही वर्ग थे। लेकिन वह प्रसंग जिसमें वे कार्य कर रहे थे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की वजह से बदल चुका था। ग्राम्य शिल्पकार अब पहले की तरह ग्राम-समुदाय के सेवक नहीं रहे थे। उन्होंने अपने तैयार माल को बाज़ार में भेजना शुरू कर दिया। शहरी दस्तकार जो पहले अभिजात्यों, राजाओं व धनी व्यापारियों के लिए काम करते थे, अब अपने उत्पाद बाज़ार में बेचने लगे। ब्रिटिश-पूर्व काल से एक अन्य महत्त्वपूर्ण वर्ग, जो कायम रहने में सफल हुआ, उन राजाओं का था जो भारतीय राज्यक्षेत्र के लगभग एक-तिहाई पर शासन करते थे। वे इसलिए कायम रहे क्योंकि 1857 के पश्चात् अंग्रेज अधिनहन की नीति छोड़ चुके थे क्योंकि इस वर्ष की क्रांति के दौरान राजागण सामान्यत: अंग्रेजों के प्रति वफ़ादार रहे थे। परन्तु कायम रहने के लिए उन्हें अंग्रेजों की परमोच्चसत्ता स्वीकार करनी पड़ी। इन राज्यों की सभी प्राणाधार शक्तियों सर्वोच्च ब्रिटिश शक्ति के अभिभूत थीं। रेज़ीडेन्ट्स के माध्यम से अंग्रेजों ने इन राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। इन राजसी राज्यों में आम आदमी की स्थिति दयनीय थी। लोकतांत्रिक स्वतंत्रता समाप्तप्राय थी। भूमि-राजस्व और कराधान बहुत ऊँचे थे और उगाहया गया अधिकांश राजस्व राजाओं की विलासमय जीवन-शैलियों पर खर्च किया जाता था। नई अर्थव्यवस्था के आविर्भाव ने इन राजाओं को कभी-कभी अपने राज्य-क्षेत्र से बाहर भी वाणिज्यिक, औद्योगिक व वित्तीय साहसिक कार्यों में निवेश करने का अवसर प्रदान किया। मध्यकालीन कुलीनों से रूपान्तरित हो वे अब राष्ट्रीय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से जुड़े पूँजीपति बन गए थे।

4.4 नए वर्ग

4.4.1 ज़मीदार

बंगाल और बिहार में लॉर्ड कॉर्नवैलिस द्वारा किए गए 1793 के स्थायी बन्दोबस्त ने कृषक पदानुक्रम के शीर्ष पर ज़मींदार वर्ग, एक वैभवशाली वर्ग, को जन्म दिया। इस वर्ग को बनाकर अंग्रेजों का उद्देश्य भारत में अपने शासन हेतु समर्थनाधार तैयार करना था। यह अंग्रेजी शासन की स्थिरता के लिए एक राजनीतिक आवश्यकता थी। चूँकि ज़मींदार अपने अस्तित्व मात्र के लिए अंग्रेजी शासन के आभारी थे, वे उनके वफ़ादार समर्थक बन गए। बदले में अंग्रेजों ने उन्हें सरकार द्वारा आरम्भ की गई अनेक संवैधानिक योजनाओं में प्रतिनिधित्व व अन्य अनुग्रह प्रदान किए। इस वर्ग की रचना के पीछे एक अन्य मन्तव्य था आय की स्थिरता। कम्पनी के सामने निरन्तर वित्तीय संकट रहता था। बंगाल से उगाहे गए भूमि-राजस्व से कम्पनी के विस्तारवादी युद्धों का वित्त-प्रबंध करना पड़ता था; इससे बंगाल, मद्रास और बम्बई में कम्पनी की प्रतिष्ठान-लागतों का भुगतान होता था। इस धन से कम्पनी को निर्यात हेतु खरीदी गई भारतीय उपभोक्ता वस्तुओं के लिए भी भुगतान करना पड़ता था। कम्पनी के सामने समस्या यह थी कि राजस्व वसूली अनियमित थी और उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं थी। 1793 के स्थायी बंदोबस्त में इन दोनों ही समस्याओं का हल था। इससे स्थायी आय की गारण्टी मिल गई और भूमि-राजस्व से कम्पनी की आय भी बढ़ गई। स्थायी बन्दोबस्त ने राजस्व वसूली के काम को आसान भी कर दिया। इससे पहले कम्पनी को लाखों खेतिहरों से सीधे जूझना पड़ता था। अब वे ज़मींदारों से ही वास्ता रखने लगे जो सरकार और खेतिहरों के बीच बिचौलिये बन गए थे।

ये ज़मींदार अंग्रेजों के एजेण्ट थे। सरकार को एक निश्चित राजस्व-राशि का भुगतान करने के उनके वायदे के बदले में उन्हें लाचार, आर्थिक रूप से दुर्बल किसानों से चाहे जितना लगान वसूलने का अधिकार मिल गया। अगर ये खेतिहर समय पर राजस्व नहीं चुका पाते थे उन्हें उनकी भूमि से बेदखल कर दिया जाता था। किसी विवाद की स्थिति में ज़मींदारों के पास उनके पक्ष में अदालतें और सरकारी तंत्र थे। परिणामस्वरूप खेतिहरों की स्थिति ज़मींदारी वाले क्षेत्रों में बेहद खराब हो गई। कृषि पर भी दुष्प्रभाव पड़ा क्योंकि इन किसानों के पास बीज अथवा खाद पर खर्च करने को मुश्किल से ही कुछ बचता था। ये ज़मींदार कृषि सुधार के लिए कुछ भी नहीं करते थे। इन्होंने अपना राजनीतिक संगठन बना लिया, यानी, ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन। यह एक अनुदार निकाय था। यह वर्ग हमेशा लोकतंत्र-विरोधी रहा। जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस लोकतांत्रिक अधिकारों, प्रशासनिक सुधारों अथवा स्वराज के लिए लड़ रही थी और इन चीजों के लिए उसने संघर्षों को आयोजित किया, ये ज़मींदार हमेशा सरकार के पक्ष में रहे। इन वर्ग को लोकतांत्रिक संघर्षों का भय था क्योंकि ऐसे संघर्षों की सफलता से न सिर्फ उनके हितों को बल्कि उनके अस्तित्व मात्र को भी ख़तरा था। अंग्रेजों ने ज़मींदारों को राष्ट्रवाद की उठती लहर के विरुद्ध एक प्रतितोलक भार के रूप में इस्तेमाल किया।

4.4.2 काश्तकार

स्थायी बन्दोबस्त ने मात्र ज़मींदारों के वर्ग को ही जन्म नहीं दिया। इसने देश में खेतिहरों का भी एक वर्ग बना दिया। वे बेहिसाब ऊँचे लगान के अधीन थे। वे किसान जो लगान नहीं चुका पाते थे बेदखली झेलते थे, कारण बेशक उनके वश से बाहर हों। ज़मींदारी व्यवस्था खेतिहरों की आम कंगाली में फलीभूत हुई। 1859 और 1885 के बंगाल कृषक अधिनियम, जिनका उद्देश्य खेतिहरों

की स्थिति में सुधार करना था, ज्यादा कुछ नहीं दे सके और उनकी स्थिति बदतर ही होती रही। आगे चलकर ये खेतिहर राजनीतिक रूप से सचेत हो गए जो उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल व अन्य क्षेत्रों में कृषक संघों के निर्माण में व्यक्त हुआ। ये खेतिहर एन०जी० रंगा और स्वामी सहजानन्द द्वारा प्रारंभ किसान सभा के प्रभाव में भी आए। उत्तर प्रदेश में वे बाबा राम चंद द्वारा संघटित किए गए। वे केवल अंग्रेजी शासन के ही आलोचक नहीं थे, वे ज़मींदारों के हितों के प्रति उदारता दिखाने के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की भी आलोचना करते थे। उनकी मुख्य माँगों में शामिल थे– लगान घटाना, ज़मींदारों द्वारा वसूले जाने वाले अवैध देयों का उन्मूलन। किसान सभा ज़मींदारों और ज़मींदारी व्यवस्था का विरोध करती थी।

4.4.3 भूमिधारी

दक्षिण और दक्षिण-मध्य भारत में जहाँ रैयतबाड़ी व्यवस्था शुरू की गई, भूमिधारियों के एक वर्ग का उद्गमन हुआ। इन इलाकों में खेतिहर भू-राजस्व के अपने भुगतान के बदले में अपने भू-खण्डों के स्वामियों के रूप में पहचाने जाते थे। इस वर्ग की आम स्थिति मुख्यत: अत्यधिक भूमि-कर, जोत के अपूर्ण आकार और भारी ऋणग्रस्तता की वजह से बिगड़ी। कुछ भूमिधारियों की हालत सुधरी और वे धनी खेतिहरों की श्रेणी में आ गए लेकिन उनमें से अधिकांश दयनीय रूप से सफल हुए और दरिद्र खेतिहरों और दूरवासी भू-स्वामियों के काश्तकारों की श्रेणी में आ गए। उनमें से कुछ तो भूमि-श्रमिकों के वर्ग में ही आ गए। ये भूमिधारी काश्तकारों से आगे निकलकर राजनीतिक रूप से सचेत हो गए। ऐसा इसलिए था क्योंकि वे विदेशी शासन से सीधे सम्पर्क में थे जबकि ज़मींदारी वाले क्षेत्रों में ज़मींदार सरकार और काश्तकारों के बीच मध्यस्थता करते थे। इन भूमिधारियों को अपने शत्रु, अंग्रेजी शासन, की पहचान करने में मुश्किल नहीं आयी। ये काश्तकार ज़मींदारों को शत्रु मानते थे न कि अंग्रेजी शासन को। इन काश्तकारों की यह सचेतता वर्ग-सामंजस्य की गाँधीवादी विचारधार के कारण कुण्ठित भी थी। गाँधीजी स्वराज-प्राप्ति के लिए ज़मींदारों और काश्तकारों के बीच एकता की आवश्यकता पर बल देते थे। किसान सभा के एन०जी० रंगा व सहजानन्द जैसे नेताओं ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर काश्तकारों के लिए माँगों का एक कार्यक्रम निरूपित करने हेतु दवाब डाला। उनका यह भी कहना था कि कांग्रेस कुछ क्षेत्रों में काश्तकारों के हितों के विरुद्ध ज़मींदारों के साथ मिली हुई है।

बोध प्रश्न 1

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) उन कारकों को पहचानें जिनसे नए वर्गों का उदय हुआ।

.....

.....

.....

.....

.....

2) अंग्रेजों ने ज़मींदार-वर्ग का निर्माण क्यों किया?

.....

.....

.....

.....

.....

3) ज़मींदारों द्वारा काश्तकारों का किस प्रकार शोषण होता था?

.....

.....

.....

.....

.....

4.4.4 किसान आंदोलन, मुख्य महत्त्वपूर्ण घटनाएँ

फरवरी 1918 में उत्तर प्रदेश किसान सभा के संघटन ने भारत में किसान आंदोलनों के इतिहास में एक जल-संभर विकास का संकेत दिया। इस काल के आस-पास किसानों ने राजनीतिक सचेतता दर्शानी शुरू कर दी। वे अब राष्ट्रवादी संघर्षों में भाग लेने लगे। उनके संगठन अपने कार्यक्रमों और उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपने ही नेतृत्व में उद्गमित हुए। इसका मतलब यह नहीं है कि 1918 से पूर्व कोई किसान आंदोलन हुए ही नहीं थे। वास्तव में कई हुए थे। लेकिन ये आंदोलन संकीर्ण और स्थानीय उद्देश्य रखते थे तथा उपनिवेशवाद की किसी प्रकार की उचित समझ अथवा एक वैकल्पिक समाज की किसी भी संकल्पना से रहित थे। एक ऐसी अवधारणा जो अखिल भारतीय स्तर पर एक आम संघर्ष में लोगों को संगठित कर सकती और कोई दीर्घावधि राजनीतिक आंदोलन जारी रख सकती, का अभाव था।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख किसान आंदोलनों में एक था 1859-60 की नील क्रांति। नील इंग्लैण्ड में कारखानों द्वारा उत्पादित सूती वस्त्रों के लिए एक अभिरंजक के रूप में प्रयोग की जाती थी। लगभग सभी नील-बाग़ान मालिक यूरोपियन थे और वे किसानों पर अपनी भूमि के सर्वोत्तम भाग पर नील उगाने के लिए दबाव डालते थे। अधिकांश न्यायाधीश भी यूरोपियन थे और किसी विवाद की स्थिति में वे इन बाग़ान मालिकों का ही पक्ष लिया करते थे। यह नील क्रांति 1860 तक बंगाल के सभी नील-उत्पादक जिलों पर छा गई। किसान अपने विरुद्ध दायर न्यायालिक केसों को लड़ने हेतु धन उगाहने के लिए संगठित हो गए। ये बागान मालिक संयुक्त दबाव के आगे झुक गए और अपने कारखाने बंद कर दिए। नील क्रांति में बुद्धिजीवी-वर्ग की भूमिका राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों पर दूरगामी प्रभाव डालने की थी। दीनबंधु मित्र का नाटक 'नील दर्पण' इन बाग़ान मालिकों द्वारा शोषण की अपनी विशद व्याख्या के लिए विख्यात हो गया।

1870 से 1880 के दौरान पूर्वी बंगाल के एक बड़े हिस्से में ज़मींदारों के वैध सीमाओं से परे लगान बढ़ाने के प्रयासों से उत्पन्न हुई कृषिक हलचल को देखा गया। ऐसा वे काश्तकारों को 1859 के अधिनियम-X के तहत कब्जा लेने के अधिकारों से रोकने के लिए कर रहे थे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने जबरन बेदखली और फसल अभिग्रहण जैसे अवपीड़क तरीके अपनाए। मई 1873 में, ज़मींदारों की माँगों का विरोध करने के लिए पबना जिले में एक कृषक संघ बनाया गया। काश्तकारों ने बढ़ाए गए लगान को चुकाने से इंकार कर दिया और न्यायालयों में ज़मींदारों को चुनौती देने के लिए धन उगाहया। अधिकांश विवाद अंशत: सरकारी दवाब के कारण और अंशत: ज़मींदारों को संगठित कृषिवर्ग द्वारा लम्बी खिंचती कानूनी लड़ाई में घसीटे जाने के भय से निबटा दिए गए। 1885 का बंगाल कृषिवर्ग अधिनियम ज़मींदारी व्यवस्था के निकृष्टतम पहलुओं को सम्बोधित करने का एक प्रयास था।

1875 में महाराष्ट्र के पूना और अहमदनगर जिले प्रमुख कृषिक उपद्रवों की रंगशालाएँ बन गए। अमेरिकन गृह-युद्ध के कारण 1860 के दशक में इन क्षेत्रों में कपास के भाव चढ़ गए। गृह-युद्ध समाप्त होते ही कपास के भाव सहसा गिरे। सरकार द्वारा लगान में पचास प्रतिशत की वृद्धि और लगातार खराब फसलों के सिलसिले ने कृषकों की मुसीबतों को और बढ़ा दिया। किसानों के पास साहूकारों की शरण में जाने के सिवा कोई चारा न रहा। साहूकारों ने इस मौके का लाभ किसानों और उनकी भूमियों पर अपनी पकड़ मजबूत करने में उठाया। किसानों ने साहूकारों को एक सम्पूर्ण सामाजिक बहिष्कार आयोजित किया। उन्होंने साहूकारों के घरों पर हमला किया और ऋण-लेखे भी जला दिए। इस उपद्रव के जवाब में, 1879 में, सरकार 'दक्कन कृषक राहत अधिनियम' ले आयी। उन्नीसवीं शताब्दी में देश के दूसरे भागों में अन्य महत्त्वपूर्ण कृषक आंदोलनों में थे – मालाबार क्षेत्र में मापिला विद्रोह और पंजाब की कूका क्रांति।

बीसवीं शताब्दी में कृषक आंदोलन उन्नीसवीं शताब्दी के आंदोलनों से भिन्न थे। अब कृषक आंदोलन और स्वतंत्रता संघर्ष एक-दूसरे को प्रभावित करने लगे। बीसवीं शताब्दी के दूसरे व तीसरे दशकों में तीन प्रमुख आंदोलन उद्गमित हुए : उत्तर प्रदेश के अवध क्षेत्र में किसान सभा और एका आंदोलन, मालाबार क्षेत्र में मापिला विद्रोह और गुजरात में मशहूर बारदोली सत्याग्रह। उत्तर प्रदेश में किसानों के सामने थीं बेहिसाब लगान, अवैध उदग्रहण, बेगार (बिन-भुगतान श्रम), बेदख़ली (निष्कासन) की समस्याएँ। युद्धोपरांत आवश्यक उपभोक्ता-वस्तुओं के दामों में भारी वृद्धि ने उनकी समस्याओं को और बढ़ा दिया था। उत्तर प्रदेश किसान सभा 1918 में बनी और जून 1919 तक यह इस प्रांत में 450 शाखाएँ खोल चुकी थीं। 1920 में एक वैकल्पिक अवध किसान सभा बनायी गई, जो अवध की सभी तृण-मूल किसान सभाओं को एकीकृत करने में सफल हुई। इस अवध किसान सभा ने सभी किसानों से बेदख़ली ज़मीन को जोतने से इंकार करने और बेगार न करने की अपील की। 1921 के अवध लगान अधिनियम ने इन माँगों में से कुछ को सम्बोधित करने का प्रयास किया। 1921 के अंत तक अवध के कुछ हिस्सों में एका (एकता) आंदोलन के नाम से एक दूसरा आंदोलन जन्मा। असंतोष का मुख्य कारण था कि अवध के इन क्षेत्रों में लगान अंकित लगान से पचास प्रतिशत अधिक था। सरकार द्वारा कठोर दमन से यह आंदोलन समाप्त हो गया। केरल का मालाबार क्षेत्र, जो उन्नीसवीं शताब्दी में भी गड़बड़ झेल चुका था, ने अगस्त 1921 में मापिला (मुस्लिम) कृषकों द्वारा किया गया विद्रोह देखा। नम्बूदरी ब्राह्मण भू-स्वामी मापिला किसानों का शोषण करते थे। यह विद्रोह एक सरकार-विरोधी भू-स्वामी-विरोधी कार्यवाही के रूप में शुरू हुआ लेकिन इसने साम्प्रदायिक रंग ले लिया। इसे सरकार द्वारा निर्ममतापूर्वक कुचल दिया गया। 1928-29 में कृषिवर्ग का एक अन्य महत्त्वपूर्ण संघर्ष छिड़ गया। 1926 में सूरत जिले के बारदोली तालुका में लगान में कोई तीस प्रतिशत वृद्धि की सिफ़ारिश की गई। कृषिवर्ग सरदार पटेल के कुशल नेतृत्व में लड़ा। कृषकों में संघर्ष किया और लगान-वृद्धि वापस लेने के लिए सरकार पर दवाब डाला।

1930 के दशक ने भारतीय किसानों की एक देशव्यापी जागरूकता देखी। 1920-30 की आर्थिक मंदी और तत्पश्चात् कृषि उपभोक्ता-वस्तुओं के दामों में सहसा गिरावट ने किसानों की आय को बुरी तरह प्रभावित किया। लेकिन सरकार और ज़मीदारों ने कर और लगान घटाने से इंकार कर दिया। उत्तर प्रदेश, आंध्र और बिहार में किसान आंदोलनों की एक लहर-सी चल पड़ी। जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस और कम्यूनिस्टों द्वारा प्रचारित वाम विचारधारा प्रभावमय होती जा रही थी। वामपंथियों ने किसानों के एक स्वतंत्र वर्ग संगठन की आवश्यकता पर बल दिया। 1936 में, अध्यक्ष के साथ में बिहार किसान सभा के संस्थापक सहजानन्द और सचिव के रूप में आंध्र किसान सभा के संस्थापक एन०जी० रंगा को लेकर अखिल भारतीय किसान सभा बनाई गई। सम्पूर्ण देश से किसानों की आकांक्षाओं और आम माँगों का प्रतिनिधित्व करते एक अखिल भारतीय संगठन का जन्म एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण घटना थी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कृषकों, विशेष रूप से ज़मींदारी क्षेत्रों में रहने वाले काश्तकारों से संबंधित मामलों को उठाने से संकोच करती थी। विपिनचन्द्र के अनुसार कांग्रेस हमारी जनता को विभिन्न आर्थिक हितों पर आधारित राजनीतिक समूहों में बाँटकर भारतीय राष्ट्रवाद को कमज़ोर नहीं करना चाहती थी। 1930 में गाँधीजी द्वारा ब्रिटिश सरकार को पेश किए गए 'ग्यारह-सूत्र' में लगानों को घटाने व कृषिक ऋणग्रस्तता के प्रतिदान जैसी कृषकों की मुख्य माँगें शामिल नहीं थीं। अधिकांश प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के निर्माण के कृषकों की उम्मीदों को बढ़ाया। ये मंत्रिमण्डल कृषकों के लिए ऋण-राहत, मंदी के दौरान खोई भूमि का पुनर्ग्रहण और काश्तों की सुरक्षा पर अभिलक्षित अनेक विधि-विधान लेकर आए। इन कदमों ने निम्न स्तर से तादीयत्व वाले कृषकों की स्थिति को प्रभावित नहीं किया। अनेक किसान नेता गिरफ्तार किए गए और उनकी सभाओं पर प्रतिबंध लगाए गए। कांग्रेस पर कृषक-विरोधी होने का आरोप था। किसान सभा के साथ जुड़े उग्र उन्मूलनवादी तत्त्वों ने कांग्रेस पर पूँजीपतियों व ज़मींदारों के साथ चलने का आरोप लगाया।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद जब स्वतंत्रता मिलती प्रतीत हुई तो किसानों ने अपने अधिकारों का दावा करना शुरू कर दिया। ज़मींदारी उन्मूलन की माँग एक अत्यावश्यकता के भाव साथ उठायी गई। तेलंगाना में कृषकों ने भू-स्वामियों के दमन का विरोध करने के लिए स्वयं को संगठित किया और निज़ाम-विरोधी संघर्ष में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। 1946 में बंगाल प्रांतीय किसान सभा ने उन बटाई काश्तकारों के आंदोलन का नेतृत्व किया जो जोतदारों को अब अपनी फसल का केवल एक-तिहाई देना चाहते थे न कि आधा भाग। इस आंदोलन को 'तिभागा आंदोलन' के रूप में जाना जाने लगा।

4.4.5 आधुनिक भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में शिक्षित व्यक्तियों की संख्या बहुत कम थी। आधुनिक शिक्षा का प्रसार वृहद् ब्रिटिश सरकार का काम था। लेकिन ईसाई मिशनरियों और अनेकानेक प्रबुद्ध भारतीयों ने भी पूरे देश में स्कूलों और कालेजों की स्थापना की थी। इसी शताब्दी के लगभग मध्य में बुद्धिजीवियों के एक बड़े वर्ग का उद्गमन हुआ। इन्होंने पाश्चात्य लोकतांत्रिक संस्कृति अपनायी थी और प्रारंभिक भारतीय राष्ट्रत्व की जटिल समस्याओं को समझते थे। इन्होंने भारतीय जनता को एक आधुनिक राष्ट्र में संघटित करने हेतु अनेक सामाजिक व धार्मिक सुधार आंदोलनों का नेतृत्व किया। इस बुद्धिजीवी-वर्ग ने ही सर्वप्रथम राष्ट्रीयता चेतना उपार्जित की। वे लोग जिन्होंने राष्ट्रवादी आंदोलन का नेतृत्व उसके विभिन्न चरणों के दौरान किया, विभिन्न विचारधाराओं में विश्वास रखते हो सकते हैं परन्तु वे सभी एक ही वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग, से सम्बन्ध रखते थे।

गोपालकृष्ण गोखले, दादाभाई नौरोजी, एम.जी. रानाडे जैसे नेताओं व अन्य ने राष्ट्रवादी आंदोलन की नरम अवस्था का नेतृत्व किया। खाड़कू अवस्था में मुख्य नेता थे– अरविंद घोष के साथ-ही-साथ लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक और विपिनचन्द्रपाल की तिकड़ी। जब 1919 के असहयोग आंदोलन के बाद स्वतंत्रता संघर्ष को एक व्यापक आधार मिल गया, इसका नेतृत्व मोहनदास गाँधी, मोतीलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस जैसे नेताओं और समाजवादी व कम्यूनिस्ट रुझान वाले बुद्धिजीवियों के हाथों में चला गया। उनमें सभी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की उपज थे। इस वर्ग में एक आधुनिक युक्तियुक्त, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक और राष्ट्रवादी अभिदृष्टि की उमंग थी। वे लोकतंत्र, समानता, उदारता और न्याय के विचारों से सराबोर थे। उन्हें ब्रिटिश शासन के नकारात्मक प्रभावों का पूरी तरह से बोध था और वे भारत में ब्रिटिश हित और भारतीयों के हित के बीच प्रतिवाद को समझ सकते थे। विपिनचन्द्र के अनुसार यह सोचना गलत होगा कि राष्ट्रवादी आंदोलन ब्रिटिश शासन के दौरान शुरू की गई आधुनिक शिक्षा प्रणाली की उपज था। वास्तव में भारतीय राष्ट्रवाद भारत और ब्रिटिश के बीच हितों के टकराव के परिणामस्वरूप जन्मा था और उसी के द्वारा पोषित था। इस आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने विवाद के स्वभाव को और अच्छी तरह समझने में मदद की। यह वर्ग, जिसमें वैज्ञानिक, कविगण, इतिहासकार, अर्थशास्त्री व दार्शनिक शामिल थे, एक आधुनिक, सशक्त, सम्पन्न व संगठित भारत का सपना देखता था। उनके द्वारा अधिकांश प्रगतिशील सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक आंदोलन ब्रिटिश शासन के दौरान ही प्रवर्तित किए गए। उनकी भूमिका अतिमहत्त्वपूर्ण थी क्योंकि उन्हें अशिक्षित, ज्ञानहीन, अंधविश्वासी जन-साधारण के बीच चेतना का प्रसार करना पड़ा।

मध्यवर्ग, जिसमें वकील, डॉक्टर, पत्रकार, सरकारी कर्मचारी, छात्र व अन्य आते थे, आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की ही उपज था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्कूलों व कॉलेजों की संख्या में वृद्धि के कारण उनकी संख्या भी बढ़ी। लेकिन शिक्षित भारतीयों की संख्या में वृद्धि सदृश नौकरियों की संख्या-वृद्धि से मेल नहीं खाती थी। सरकार द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीतियाँ नौकरियों की वह यथेष्ट संख्या पर्याप्त में असफल रहीं जिसमें शैक्षिक संस्थानों द्वारा उत्पन्न किए गए शिक्षित व्यक्ति खपाए जा सकते। इन शिक्षित बेरोजगारों के बीच असंतोष ही लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्रपाल और अरविंद की अगुवाई वाले खाड़कू राष्ट्रवाद के उदय और वृद्धि के पीछे मुख्य कारक था। यह क्रांतिकारी उग्रवादी आंदोलनों की वृद्धि के विषय में भी सत्य था।

4.4.6 पूँजीपति वर्ग

पूँजीपति वर्ग का उद्गमन भारतीय अर्थव्यवस्था के विश्व-पूँजीवादी व्यवस्था हेतु खुलने, औद्योगीकरण की प्रक्रिया और बैंकिंग क्षेत्र की उत्तरोत्तर वृद्धि का परिणाम था। इस प्रकार, व्यापारिक, औद्योगिक और वित्तीय पूँजीपतियों का जन्म हुआ। भारतीय व्यापारियों, राजाओं, ज़मींदारों और साहूकारों के हाथों में पर्याप्त बचतों के संचय ने भारतीय उद्योगों के उद्गमन हेतु आधार प्रदान किया। 1850 के दशक में देश का औद्योगीकरण सूती-वस्त्र, जूट व कोयला-खनन उद्योगों के स्थापित होने के साथ ही शुरू हो गया था। परन्तु ये अधिकांश उद्योग ब्रिटिश पूँजीपतियों के स्वामित्व में थे क्योंकि कच्चे माल और सस्ती दर पर श्रमिकों की उपलब्धता की वजह से भारत में निवेश करने से उन्हें ऊँची आमदनी के आसार नज़र आते थे। इसके अलावा, वे एक उपकारी औपनिवेशिक सरकार और नौकरशाही को नहीं समझ सके। लेकिन भारतीय पूँजीपतियों को विदेशी व्यापार, सीमा-शुल्क कराधान व सरकार की परिवहन नीतियों को झेलना पड़ा। अपने शैशव में भारतीय उद्योगों को तीव्र वृद्धि हेतु संरक्षण की आवश्यकता थी। अन्य सभी औद्योगीकरण देशों ने अपने शिशु उद्योगों की रक्षा बाहरी देशों से आयात पर भारी सीमा-शुल्क थोपकर की। ब्रिटिश उद्योगों के हितों को तुष्ट करने के लिए भारत पर एक मुक्त व्यापार-नीति थोपी गई क्योंकि भारत एक स्वतंत्र देश नहीं था।

आरम्भ से ही अधिकांश सूती-वस्त्र उद्योग भारतीयों के स्वामित्व में थे। 1905 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा शुरू किए गए स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन ने भारतीय उद्योगों के विकसन को प्रोत्साहित किया। प्रथम विश्व-युद्ध (1914-18) की अवधि भारतीय उद्योगों के लिए एक वरदान सिद्ध हुई। युद्ध-संबंधी आवश्यकताओं की ओर जहाजों का रुख हो जाने से आयात मुश्किल हो गया। अतः, युद्ध-संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अनेक उद्योग स्थापित किए गए। 1914 से 1947 के बीच भारतीय पूँजीपति वर्ग तीव्रतर गति से पनपा और यूरोपीय उसने प्रभुत्व वाले क्षेत्रों का अतिक्रमण किया गया। स्वतंत्रता प्राप्त होने तक भारतीय पूँजीपति वर्ग के पास बाजार के लगभग सत्तर प्रतिशत का और संगठित बैंकिंग क्षेत्र में निक्षेपों के अस्सी प्रतिशत का स्वामित्व था।

1905 तक यह उदयमान पूँजीपति वर्ग नितान्त शक्तिशाली और सज्ञेत हो गया। इस वर्ग ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा शुरू किए गए स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन का समर्थन किया क्योंकि इस आंदोलन का उद्देश्य उनके वर्ग-हित से मेल खाता था। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद तथा और सटीक रूप से 1919-20 के बाद, इस वर्ष का प्रभाव राष्ट्रवादी आंदोलन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में बढ़ना शुरू हो गया। विपिनचन्द्र के अनुसार यह सत्य है कि कांग्रेस पूँजीपति वर्ग से धन ग्रहण करती थी पर इसके बावजूद उसने नीतिगत व सैद्धांतिक मामलों पर अपनी निरपेक्ष स्थिति बनाए रखी। ए.आर. देसाई के अनुसार, यह पूँजीपति वर्ग गाँधी जी के नेतृत्व, सामाजिक सामंजस्य के उनके सिद्धांत, वर्ग-संघर्ष के विचार पर उनके विरोध तथा विश्वस्तता की उनकी संकल्पना की वजह से ही कांग्रेस की ओर आकर्षित था।

यह पूँजीपति वर्ग औपनिवेशिक सरकार के हित उनके अपने स्वतंत्र विकास के बीच अंतर्विरोध के प्रति जागरूक था। उन्होंने अनुभव किया कि एक राष्ट्रीय सरकार ही उनके विकसन हेतु बेहतर वातावरण प्रदान करेगी। 1920 के दशक से ही भारतीय पूँजीपति भारतीय वाणिज्यिक, औद्योगिक व वित्तीय हितों का एक राष्ट्रीय स्तर का संगठन बनाने की दिशा में प्रयासरत थे। ये प्रयास 1927 में भारतीय वाणिज्य व उद्योग मंडल-संघ (FICCI) के निर्माण में परिणत हुए। यह 'फिक्की' जल्द ही व्यापार, वाणिज्य व उद्योग के राष्ट्रीय अभिभावक के रूप में पहचाना जाने लगा। इसने प्रारंभ से ही भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष को अपना समर्थन देने का वचन दिया।

1930 के दशक में कांग्रेस नेहरू और समाजवादियों के नेतृत्व में उत्तरोत्तर रूप से आमूल-परिवर्तनवादी होती जा रही थी। आमूल परिवर्तनवाद के भय ने पूँजीपति वर्ग को साम्राज्यवादियों के साथ मिल जाने के लिए दबाव नहीं डाला। 1942 में पूँजीपतियों द्वारा स्थापित 'युद्धोपरांत आर्थिक विकास समिति' ने 'बम्बई प्लान' का प्रारूप तैयार किया, जिसका प्रयास था सम्पत्ति के न्यायोचित वितरण, आंशिक राष्ट्रीयकरण और भू-सुधारों जैसी समाजवादी माँगों को पूँजीवाद द्वारा उसके मौलिक अभिलक्षणों को न छोड़ते हुए समायोजित करना।

बोध प्रश्न 2

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) आधुनिक भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के उदय में शिक्षा की भूमिका पर टिप्पणी करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और भारतीय पूँजीपतियों के बीच संबंध किस स्वभाव का था?

.....

.....

.....

.....

.....

4.4.7 कामगार वर्ग

भारत में आधुनिक कामगार वर्ग का आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आधुनिक उद्योगों, रेलमार्गों, डाक-तार नेटवर्क, बागानों और खनन के विकसन के साथ ही हुआ। आरंभ में यह भारतीय कामगार वर्ग अकिंचनकृत किसानों और तबाह शिल्पकारों से ही निकलकर आया। ये किसान ऊँचे भू-कर, जोतों की अपूर्णता और बढ़ती ऋणग्रस्तता के कारण दरिद्र हुए। शिल्पकारों को कामगारों की श्रेणी में शामिल होने के लिए दवाब डाला गया क्योंकि उनके उत्पाद इंग्लैण्ड से आने वाली अपेक्षाकृत सस्ती मशीन-निर्मित वस्तुओं के साथ प्रतिस्पर्धा में नहीं ठहरते थे। ये कामगार अमानवीय और अपमानजनक स्थिति में रहते थे जहाँ उनके लिए प्राधिकारियों द्वारा किए जाने वाले निम्नतम कर्त्तव्यों का भी नामोनिशां नहीं होता था। एस.वी. पारुलकर, जो 1938 में जेनेवा में हुए अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि थे, ने भारतीय कामगारों की स्थिति को वर्णन इन शब्दों में किया – "भारत में कामगारों की विशाल जनसंख्या को इतनी-सी मजदूरी मिलती है कि वह उनको जीवन की घटिया-से-घटिया अनिवार्य वस्तुएँ मुहैया कराने के लिए भी पर्याप्त नहीं है।" आर.पी. दत्त के अनुसार, 'मध्य ब्रिटिश राज के प्रबुद्ध संरक्षण में भारतीय कामगारों की गंदगी भरी स्थितियों, असीमित शोषण और अधिसेविता को बड़े उत्साहपूर्वक बनाए रखा गया।'

श्रमिक आंदोलन एक संगठित रूप में प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद ही शुरू हुए। युद्ध से पूर्व होने वाली हड़तालों व आंदोलन अधिकतर यत्रतत्रिक, साहजिक, दूरगामी लक्ष्यों के अभाव वाले, वर्ग चेतना से रहित, और स्थानीय व तत्काल शिकायतों पर आधारित होते थे। युद्धोपरांत आर्थिक संकट के कारण कामगारों की दिन-ब-दिन बिगड़ती आर्थिक स्थिति, रूस में समाजवादी क्रांति, देश में असहयोग तथा खिलाफ़त आंदोलन ने 1920 में वह पृष्ठभूमि तैयार की जिसमें मुख्यत: एन.एम. जोशी, लाला लाजपतराय और जोसेफ बैप्टिस्ट जैसे नेताओं के प्रयासों से अखिल भारतीय श्रमिक संघ कांग्रेस (ऐटक–A.I.T.U.C.) का जन्म हुआ। इसका कथित उद्देश्य था आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक मामलों में भारतीय श्रमिकों के हितों को बढ़ावा देने के लिए भारत के सभी प्रांतों में सभी संगठनों की गतिविधियों को समन्वित करना। 1922 में अपने गया अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 'ऐटक' के निर्माण का स्वागत किया और इसके कार्यों में मदद करने हेतु प्रमुख कांग्रेसीजनों की एक समिति बनाई। विपिनचन्द्र के अनुसार, आरंभ के राष्ट्रवादियों ने श्रमिकों की

अधम स्थिति होने के बावजूद उनके प्रश्न पर अपेक्षाकृत कम ही ध्यान दिया क्योंकि श्रमिक बनाम देशज नियोक्ता के मामलों को उठाने से साम्राज्यवाद के विरुद्ध आम संघर्ष कमज़ोर पड़ जाता। कामगारों के मुद्दों को न उठाने का एक अन्य कारण आरंभ के राष्ट्रवादियों का यह विश्वास था कि औद्योगीकरण दरिद्रता की समस्याओं को हल कर सकता है।

1920 के दशक के उत्तरार्ध में देश में विचारधारा वाली शक्तियों का दृढ़ीकरण हुआ। श्रमिक संघ आंदोलन में भी एक वामपंथी नेतृत्व विकसित हो गया। 1928 में कम्यूनिस्टवादियों समेत वामपंथ 'ऐटक' के भीतर प्रभावशाली स्थान बनाने में सफल हुआ। जोशी गुट के प्रतिनिधित्व वाला पुराना नेतृत्व अल्पमत में रह गया। इससे 'ऐटक' में दरार पड़ गई। कामगारों ने कम्यूनिस्टवादियों और उग्र राष्ट्रवादियों के प्रभाव में आकर देशभर में अनेक हड़तालों और प्रदर्शनों में भाग लिया। उन्होंने सायमन बहिष्कार प्रदर्शन में भी भाग लिया। सरकार ने लगभग समूचे उग्र उन्मूलनवादी नेतृत्व को मेरठ षड्यंत्र केस में फँसा दिया।

1937 में प्रांतीय सरकारों के लिए चुनावों से पूर्व कांग्रेस ने श्रम विवादों को निबटाने और संघ बनाने व हड़ताल पर जाने के अधिकारों को सुनिश्चित करने हेतु कदम उठाने का वायदा किया। कांग्रेस सरकार के तत्त्वावधान में नागरिक स्वतंत्रताएँ बढ़ गई थीं। यह बात श्रमिक संघों में आश्चर्यजनक रूप से बढ़ोत्तरी में प्रतिबिम्बित हुई। बम्बई श्रमिक विवाद अधिनियम जैसे अलोकतांत्रिक और पूँजीवाद-समर्थक विधानों के कुछ आरोप लगाए गए तथा श्रमिक सभाओं पर प्रतिबंध लगाने और श्रमिक नेताओं के बंदीकरण के मामले आए। 1939 में, जब द्वितीय विश्व-युद्ध आरंभ हुआ, बम्बई का कामगार वर्ग विश्व में सबसे पहले युद्ध-विरोधी हड़ताल करने वालों में एक था जिसमें कि 90,000 कर्मचारियों ने भाग लिया था। 1941 में सोवियत संघ पर नाज़ियों के हमले के साथ ही कम्यूनिस्टवादियों ने तर्क दिया कि युद्ध का स्वरूप साम्राज्यवादी समर से बदलकर जन-संग्राम हो गया है। उनका विचार था कि कामगार वर्ग को अब समवर्गी शक्तियों का समर्थन करना चाहिए और स्वयं को 1942 के भारत-छोड़ो आंदोलन से विलग कर लेना चाहिए। इस ओर कम्यूनिस्टवादियों की उदासीनता के बावजूद, भारत-छोड़ो आंदोलन का कामगारों पर अपना प्रभाव था। गाँधीजी व अन्य नेताओं की गिरफ़्तारी के बाद पूरे देश में हड़तालें हुईं। 1945-47 के बीच कलकत्ता में आज़ाद हिन्द फ़ौज के बन्दियों के समर्थन में हड़तालें तब हुईं जब उन पर मुकदमा चलाया जाने लगा। 1946 में नौसैनिक वर्ग की 'विद्रोहपूर्ण एकात्मकता' में बम्बई के कामगारों द्वारा हड़तालें की गईं।

भारत में नए वर्गों का उद्‌गमन एक व्यापक निहितार्थों वाली घटना सिद्ध हुआ। सामान्यत: इन वर्गों के प्रबुद्ध प्रवर्गों ने स्वतंत्रता संघर्ष को मजबूती प्रदान की लेकिन कुछ प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ भी थीं। बुद्धिजीवी वर्ग के के प्रतिक्रियावादी प्रवर्ग ने विभिन्न समुदायों के बीच अविश्वास बढ़ाया जो कि सम्प्रदाय के वृद्धि में व्यक्त हुआ। ज़मींदारी का उन्मूलन ग्रामीण जन-साधारण की स्थिति में सुधार के लिए आवश्यक था। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने इस माँग का कभी समर्थन नहीं किया। एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य था कि जिस वक़्त ये वर्ग स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए एकजुट थे स्वतंत्रोत्तर भारत का उनका सपना, और राज्य का स्वरूप सामाजिक-आर्थिक संरचना अपसारी थे।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) साइमन आयोग के प्रति कामगार वर्ग का क्या रवैया था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) कामगार वर्ग के प्रति कांग्रेस के नेतृत्व वाली प्रांतीय सरकारों का क्या रवैया था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.5 सारांश

औपनिवेशिक काल के दौरान भारत में अनेक नए वर्ग उद्गमित हुए। इनमें शामिल थे – ग्रामीण क्षेत्रों में ज़मींदार, काश्तकार, भूमिधारी, साहूकार और कृषि श्रमिक, और शहरों में पूँजीपति, आधुनिक बुद्धिजीवी और कामगार वर्ग। वे पूँजीवादी व्यवस्था के विकास, नए प्रशासनिक ढाँचे और शिक्षा-प्रणाली के परिणामस्वरूप जन्में। इन वर्गों ने अपनी-अपनी स्थिति और हितों पर निर्भर रहते हुए राष्ट्रीय आंदोलन में भूमिकाएँ अदा कीं।

4.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चन्द्रा, बिपन, व अन्य कॅलोनिअलिज़्म, *फ्रीडम स्ट्रगल एण्ड नैशनलिज़्म इन् इण्डिया*, दिल्ली।

दत्त, आर०पी०, *इण्डिया टुडे*, कलकत्ता, 1970।

देसाई, ए०आर०, *सोशल बैकग्राउंड ऑव इण्डियन नैशनलिज़्म*, बम्बई, 1976।

मिश्रा, बी०बी०, *दि इण्डियन मिडिल क्लास*, लंदन, 1961।

4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) पूँजीपति व्यवस्था, नया प्रशासनिक ढाँचा और एक आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का आविर्भाव।

2) एक वफ़ादार वर्ग के निर्माण द्वारा अपने हितों की रक्षा करना, जो उन्हें भारत पर शासन करने के लिए राजस्व व अन्य प्रकार का समर्थन दिला सके।

3) लगान बढ़ाकर, भूमि के बेदख़ली और शारीरिक उत्पीड़न।

बोध प्रश्न 2

1) इसने बुद्धिवाद, समानता, लोकतंत्र के विचारों का अन्तर्निवेशन किया।

2) भारतीय पूँजीपति वर्ग कांग्रेस को धन देता था, वे कांग्रेस के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन करते थे।

बोध प्रश्न 3

1) उन्होंने इसका विरोध किया।

2) कांग्रेस सरकारों ने श्रम-विवादों को निबटाने, और कामगार वर्ग के अधिकारों को सुनिश्चित करने हेतु कदम उठाए। बहरहाल, बम्बई जैसे प्रान्तों में इसने श्रमिक-वर्ग-विरोधी कदम उठाए।

इकाई 5 भारतीय संविधान की रचना

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 संवैधानिक सरकार का अर्थ
5.3 भारतीय संविधान सभा के मूलाधार
5.4 कैबिनेट मिशन की योजना
  5.4.1 संविधान सभा
  5.4.2 संघीय सूत्र
  5.4.3 त्रि-पंक्ति संघ
  5.4.4 एक अनोखी रीति
  5.4.5 गुट से निष्क्रमण निषिद्ध
5.5 'गुटीय' विवाद
5.6 प्रस्तावित संविधान सभा का संयोजन
5.7 अंतरिम सरकार
5.8 संविधान सभा और 'विभाजन'
5.9 संविधान सभा में दल
  5.9.1 काँग्रेस का प्रभुत्व
  5.9.2 संविधान सभा का नेतृत्व
  5.9.3 संविधान सभा में प्रतिपक्ष
  5.9.4 बाड़-आसन्न जन
5.10 संविधान सभा का कार्य
5.11 संविधान सभा का महत्त्व
5.12 सारांश
5.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें
5.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमारे संविधान की रचना से संबंधित प्रक्रियाओं, कारकों एवं लोगों का ज़िक्र है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप स्पष्ट कर सकेंगे:

- एक संवैधानिक सरकार का अर्थ;
- भारत ने कैसे और क्यों अपने संविधान की रचना का निश्चय किया;
- इस संविधान की रचना किस जन-निकाय ने की; तथा
- यह संविधान कैसे रचा गया।

5.1 प्रस्तावना

आधुनिक लोकतंत्र संवैधानिक सरकार की संकल्पना पर आधारित है। भारतीय संविधान ने एक गणतंत्रीय लोकतन्त्र की स्थापना की। इसकी सत्ता जनसामान्य से व्युत्पन्न है और यह इस देश का सर्वोच्च कानून है।

5.2 संवैधानिक सरकार का अर्थ

लोकतंत्र की दुनिया में मुख्यत: दो प्रकार के संविधान होते हैं:

अ) वे संविधान जो रीति-रिवाज़, प्रथाओं, विधायी व्यवस्थापन और अदालती फैसलों के माध्यम से दशकों-शतकों में धीरे-धीरे विकसित हुए – जैसे कि ब्रिटिश साम्राज्य और कनाडा, ऑस्ट्रेलिया एवं न्यूज़ीलैण्ड जैसे ब्रिटिश अधिराज्यों में।

ब) वे संविधान जो प्रतिनिधि सभाओं द्वारा रचे गए – सामान्यत: क्रांतियों के बाद – ताकि एक नई शासन-प्रणाली एक नए सिरे से आरंभ कर सकें। इन प्रतिनिधि सभाओं को विभिन्न नाम दिए गए हैं– जैसे राष्ट्रीय सभाएँ, संवैधानिक समितियाँ और संविधान सभाएँ।

इन दोनों ही प्रकार के देशों में, हालाँकि, संविधान का मतलब है ऐसे आधारभूत कानूनों का एक संकाय, जो आसानी से बदले नहीं जा सकते और जिनका आदर सरकारों और सभी नागरिकों को करना होगा।

5.3 भारतीय संविधान सभा के मूलाधार

किसी देश के लिए एक संविधान की रचना करने के लिए एक संविधान सभा का यह विचार ब्रिटिश साम्राज्य की प्रथा के अनुरूप था। उसकी माँग सबसे पहले 1934 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस द्वारा की गई। मुस्लिम लीग इसके विरुद्ध थी क्योंकि उसको शंका थी कि व्यस्क मताधिकार द्वारा चुनी गई संविधान सभा पर काँग्रेस का प्रभुत्व होगा जिसको कि लीग एक हिन्दू पार्टी मानती थी।

5.4 कैबिनेट मिशन की योजना

जनवरी 1946 में प्रान्तीय विधानमण्डलों के लिए चुनाव हुए। उसी वर्ष मार्च में सर पैथिक लॉरेन्स के नेतृत्व में 'कैबिनेट मिशन' के नाम से एक ब्रिटिश कैबिनेट की समिति ने भारत का दौरा किया ताकि वह भारतीय राजनीतिक स्थिति का मूल्यांकन कर सके और भारत के लिए एक संविधान की रचना हेतु कार्य-योजना बना सके। कैबिनेट मिशन ने प्रमुख राजनीतिक दलों के बीच एक समझ पैदा करने के लिए शिमला में एक सम्मेलन आयोजित किया लेकिन यह लक्ष्य प्राप्ति में असफल रहा। अत: मिशन ने अपनी ही योजना निकाली।

5.4.1 संविधान सभा

कैबिनेट मिशन द्वारा बनायी गई योजना ने एक संविधान सभा का सुझाव दिया जिसमें सभी प्रमुख समूहों के प्रतिनिधि शामिल हों। कैबिनेट मिशन ने सोचा यह था कि व्यस्क मताधिकार के आधार

पर चुनाव के माध्यम से इसे बनाना ही एक आदर्श तरीका होगा, लेकिन उसके लिए वक्त ही नहीं था। उससे पूर्व उस वर्ष अन्तिम विधानमण्डलों का चुनाव एक सीमित मताधिकार और सामुदायिक निर्वाचन क्षेत्रों के आधार पर किया गया था। कैबिनेट मिशन का प्रस्ताव था कि संविधान सभा उन्हीं अन्तिम सभाओं द्वारा चुनी जाए।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) किसी संविधान सभा से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) 'कैबिनेट मिशन' क्या था और इसकी योजना क्या थी?

.....

.....

.....

.....

.....

5.4.2 संघीय सूत्र

कैबिनेट मिशन की धारणा थी कि, चूँकि मुस्लिम एक एकात्मक, हिन्दू-बहुल राज्य के प्रति आशंकित थे, संवैधानिक संरचना संघीय होनी चाहिए। प्रान्तों के पास अधिक-से-अधिक स्वायत्तता हो और केन्द्रीय सरकार कम-से-कम अधिकार रखे – जैसे कि विदेशी मामलों, रक्षा और संचार पर। यह संघ इस प्रकार के विषयों के कार्यान्वयन हेतु वांछित आवश्यक वित्तीय संसाधन जुटा सकता था। इस संघ में न सिर्फ ब्रिटिश भारतीय प्रान्त ही शामिल हों बल्कि वे राजसी राज्य भी हों जो अभी ब्रिटिश गवर्नमेंट की परम सत्ता के तहत ही थे। शेष सभी अधिकार – जो कि इस संघ को नहीं दिए गए थे – प्रान्तों और राज्यों के पास रहें।

इस संघ में एक कार्यपालिका और एक विधायिका हो जिनमें इन प्रान्तों और राज्यों के प्रतिनिधि शामिल हों। विधायिका में किसी बड़े साम्प्रदायिक मुद्दे को उठाते प्रश्न पर निर्णय लेने के लिए उपस्थित प्रतिनिधियों के बहुमत और दो प्रमुख सम्प्रदायों, यानि हिन्दू और मुस्लिम, में से प्रत्येक के मत की आवश्यकता होगी।

5.4.3 त्रि-पंक्ति संघ

कैबिनेट मिशन ने एक असाधारण प्रस्ताव रखा : 'प्रान्त कार्यपालिका और विधायिका के साथ गुटबन्दी के लिए स्वतन्त्र हों, और प्रत्येक गुट सामान्यत: लिए जाने वाले प्रान्तीय विषयों को निर्धारित कर सके।' इसे संघ और प्रान्तों के बीच सरकार की एक तीसरी पंक्ति की रचना करनी थी जो कि अब तक संघीय व्यवस्था के लिए अनजानी थी।

5.4.4 एक अनोखी प्रक्रिया

और तो और, कैबिनेट मिशन ने स्वयं ही संविधान सभा के लिए एक प्रक्रिया निर्धारित कर दी जिससे गुटों का बनना आवश्यक रूप से साम्प्रदायिक तरीके से ही होना था। उस प्रक्रिया के अनुसार प्रान्तों को मिशन द्वारा निर्धारित तीन वर्गों में बैठना था। इन वर्गों में से दो मुस्लिम-बहुल होते और तीसरा वर्ग हिन्दू-बहुल होता। हिन्दू-बहुल वर्ग – वर्ग 'अ'– में होते मद्रास, बम्बई, यूनाइटिड प्रोविन्सिज़ (अब उत्तर प्रदेश : यू.पी.), बिहार, सेंट्रल प्रोविन्स (अब मध्य प्रदेश : एम.पी.) और उड़ीसा के प्रांत। वर्ग 'ब' में होते पंजाब, बलूचिस्तान, उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रान्त और सिन्ध। वर्ग 'स' बनता असम और बंगाल से। असम स्वयं कोई मुस्लिम-बहुल प्रान्त नहीं था। लेकिन बंगाल और असम एक साथ एक मुस्लिम-बहुल वर्ग (वर्ग 'स') होते।

तीसरी असाधारण घटना थी – साम्प्रदायिक निषेधाधिकार का आंशिक प्रयोग। दो प्रमुख सम्प्रदायों (सामान्य एवं मुस्लिम) के सदस्यों के बहुमत की सहमति के बगैर संविधान सभा में किसी खास साम्प्रदायिक मुद्दे पर फैसला नहीं लिया जा सकता था। यह सिद्धान्त, हालांकि, उन वर्गों पर लागू नहीं होता जहाँ एक साधारण बहुमत ही किसी निर्णय को लेने के लिए पर्याप्त था।

5.4.5 गुट से निष्क्रमण निषिद्ध

चौथी असाधारण घटना थी वह फार्मूला जिसके तहत किसी वर्ग द्वारा एक गुट-संविधान बनाये जाने के बाद कोई भी प्रान्त उस गुट से, जिसमें वह है, बाहर जाने को स्वतन्त्र नहीं होता। कोई प्रान्त किसी गुट को केवल उस स्थिति में छोड़ सकता था जबकि पहला आम चुनाव उस गुट के संविधान के तहत हो चुका हो।

5.5 'गुटीय' विवाद

परिणामत:, ये गुट सरकार के सबसे महत्त्वपूर्ण स्तर होते। यह गुट-संविधान प्रभावी रूप से प्रान्तीय के साथ-साथ संघीय संविधान का भी महत्त्वपूर्ण स्थान ले लेता। ये वर्ग संघीय संविधान बनाने के लिए एक साथ बैठने से पूर्व प्रान्तीय संविधान और अपने निजी संविधान रचते। इस प्रकार प्रान्तीय "स्वतन्त्रता" एक ढोंग थी। ये प्रान्त केवल कैबिनेट मिशन द्वारा पूर्व-निर्धारित गुटों में शामिल होने के लिए ही स्वतन्त्र थे। वे गुट को छोड़ने के लिए तभी स्वतन्त्र थे यदि गुट-संविधान ने इसके लिए गुंजाइश छोड़ी हो।

काँग्रेस पार्टी को भय था कि ये गुट निर्वाचन नियम इस प्रकार बनाएँगे कि, चुनावों के बाद, प्रान्तीय विधानमण्डल ऐसे गठित किए जायें ताकि इस प्रकार की निकासी असंभव हो। इससे मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग पूरी होती और यह उन प्रान्तों के लिए न्यायसंगत नहीं होता जहाँ काँग्रेस का प्रभुत्व था, जैसे असम और उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रान्त।

5.6 प्रस्तावित संविधान सभा का संयोजन

राज्यपालों (Governors) के प्रान्तों को उनकी जनसंख्या-बल के अनुसार 292 संविधान-सभा सीटें आबंटित की गईं। मुख्य आयुक्तों (Chief Commissioners) के प्रान्तों का प्रतिनिधित्व चार सदस्यों द्वारा होना था। 566 राजसी राज्यों को 93 सीटें आबंटित हुईं। बाद में संविधान सभा की मोल-तोल समितियों और राजाओं के बीच यह समझौता हुआ कि राजसी राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यों में से आधे निर्वाचित होंगे और शेष राजाओं द्वारा नामांकित।

5.7 अंतरिम सरकार

कैबिनेट मिशन ने प्रस्ताव रखा कि, जबकि संविधान-निर्माण कार्य चलता रहे, मुख्य दलों के प्रतिनिधियों की मदद से सरकार गवर्नर-जनरल द्वारा चलाई जानी चाहिए। अंतरिम सरकार के गठन को लेकर काँग्रेस और मुस्लिम लीग में कुछ मतभेद थे। लेकिन वे दूर कर दिए गए। पहले अधिकतर काँग्रेस सदस्यों को लेकर एक नई कार्यकारी परिषद् गठित हुई फिर इसमें मुस्लिम-लीगियों को भी शामिल कर लिया गया।

5.8 संविधान सभा और 'विभाजन'

संविधान सभा के लिए गुटीय योजना पर मतभेद, बहरहाल, दूर नहीं हो सका। काँग्रेस इन वर्गों में बैठने को राजी थी लेकिन उसने उन गुटों में शामिल होने से इंकार कर दिया जिन्हें ये वर्ग तय करते। मुस्लिम लीग संविधान सभा में शामिल नहीं होती जब तक कि कैबिनेट मिशन प्लान द्वारा दी गई गुटीय व्यवस्था से काँग्रेस सहमत नहीं होती। आखिरकार, जब 9 दिसम्बर 1946 को गवर्नर-जनरल, लार्ड माउण्टबेटन द्वारा संविधान सभा संयोजित की गई, मुस्लिम लीग के सदस्य अनुपस्थित थे। वे संविधान सभा में तब तक शामिल नहीं हुए जब तक कि ब्रिटिश भारत के विभाजन का निर्णय नहीं ले लिया गया। 14 जुलाई 1947 को जब यह हुआ, भारतीय संविधान-सभा में मात्र 23 मुस्लिम-लीगी पहुँचे। अन्य पाकिस्तानी संविधान-सभा में चले गए।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अंत में दिए आदर्श उत्तरों से करें।

1) अंतरिम सरकार पर 'कैबिनेट मिशन प्लान' का क्या प्रस्ताव था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) मुस्लिम लीग का संविधान सभा से क्या संबंध था?

.....

.....

.....

.....

.....

5.9 संविधान सभा में दल

विभाजन ने, वास्तव में, भारतीय संविधान सभा की शक्ति को लगभग एक-तिहाई घटा दिया। सभी दलों ने अपने सदस्य गँवाए यद्यपि काँग्रेस बल आनुपातिक रूप से बढ़ा। पाकिस्तान से शरणार्थियों के आगमन के बाद फिर कुछ और सदस्य जुड़ गए। राजसी राज्यों के प्रतिनिधियों में से अधिकतर भारतीय संविधान-सभा में शामिल हो गए।

5.9.1 काँग्रेस का प्रभुत्व

इस संविधान सभा में काँग्रेस का भारी बहुमत था। लेकिन काँग्रेस पार्टी ने अनेक सदस्यों का नामांकन पार्टी की तह के बाहर से किया था। उनमें से कई विधि-विशेषज्ञ और पूर्ववर्ती ब्रिटिश भारतीय विधायिकाओं में अग्रणी विधिकर्ता थे। सर बी.एन. राव के नेतृत्व में ब्रिटिश भारतीय सरकार के अनेक प्रतिभाशाली पदाधिकारी संविधान सभा के कार्य हेतु प्रस्तावित किए गए। बाहर के विशेषज्ञों से निरन्तर सलाह-मिशविरा किया जाता था। विदेशी संविधानों के उदाहरणों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया गया।

5.9.2 संविधान सभा का नेतृत्व

संविधान सभा में नेतृत्व के दो मुख्य प्रकार थे : (1) राजनीतिक और (2) तकनीकी। काँग्रेस पार्टी के पूर्व-प्रभाव के कारण राजनीतिक नेतृत्व स्वाभाविक रूप से उसी के नेताओं में निहित था। इस नेतृत्व के शीर्ष पर थे – पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद। ग्रैनविले ऑस्टिन ने नेहरू-पटेल-आज़ाद-प्रसाद की टोली को 'अल्पतंत्र' कहा है।

इस स्तर से नीचे थे – केन्द्र में कैबिनेट मंत्रिगण, प्रान्तीय प्रधान मंत्रिगण, पट्टाभि सीतारमैया जैसे पूर्व काँग्रेस अध्यक्ष तथा के.एम. मुंशी, ठाकुरदास भार्गव, ए.वी. ठक्कर और श्री प्रकाश जैसे महत्त्वपूर्ण काँग्रेस नेतागण।

इस पार्टी के अंकुश से बाहर थे – उस समय के विधि पंडितगण और उदारवादी परम्परा के राजनेता जैसे – अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर, एम. गोपालस्वामी अयंगर, भीमराव अम्बेडकर, के.एम. पणिकर, पंडित हृदयनाथ कुंजरु (जो इस संविधान सभा के सदस्य नहीं थे) और, आरंभ के दिनों में, बी.एल. मित्र। इन नेताओं में से के.एम. मुंशी ने काँग्रेस में रहकर और भीमराव अम्बेडकर ने बाहर से अपनी व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञता को तकनीकी प्रतिभा के साथ सम्मिश्रित किया जैसा कि के. संतानम और टी.टी. कृष्णमाचारी जैसे कुछ काँग्रेसीजनों ने किया जो अधिक समय तक इस

पार्टी से सम्बद्ध नहीं रहे। वास्तव में, कृष्णमाचारी जो प्रारूप-संविधान के कुछ पहलुओं के आलोचक थे, को 1948 के अंत में प्रारूप समिति में शामिल कर लिया गया था।

5.9.3 संविधान सभा में प्रतिपक्ष

इस सभा में विपक्ष का आकार, बहरहाल, अस्थिर था। कैबिनेट मिशन ने भारतीयों को तीन समुदायों में बाँट दिया था – सामान्य, मुस्लिम और सिख। 'सामान्य' वर्ग में काँग्रेस पार्टी का भारी प्राबल्य था और उसका सिख *अकाल पंथ* के साथ समझौता भी हो गया था। इसने कुछेक राष्ट्रवादी मुस्लिमों को भी नामांकित किया था, जैसे अबुल कलाम आज़ाद और रफ़ी अहमद किदवई।

विभाजन के बाद मुस्लिम लीग की शक्ति प्रभावी रूप से क्षीण हो गई। इसकी क्षतिपूर्ति करने के लिए, गाँधी जी की शहादत के बाद, भारत में मुस्लिम लीग ने खुद का विलय कर लिया और इसके अधिकतर सदस्य काँग्रेस पार्टी में शामिल हो गए। उनमें से सर मौहम्मद सादुल्ला को संविधान सभा की प्रारूपण समिति में शामिल कर लिया गया। मुस्लिम लीग की केवल मद्रास इकाई ने अपनी पहचान बनाए रखने का निर्णय किया और एक सुसंगत परन्तु नगण्य प्रतिपक्ष के रूप में कार्य किया।

संविधान-सभा के एकमात्र कम्यूनिस्ट सदस्य, सोमनाथ लाहिरी, ने बंगाल विभाजन के बाद अपनी सदस्यता गँवा दी। ऐसा ही अनुसूचित जाति संघ के नेता, भीमराव अम्बेडकर के साथ हुआ, जो पहले बंगाल से संविधान-सभा के लिए निर्वाचित हुए थे। उनको फिर काँग्रेस द्वारा बम्बई से उदारवादी हिन्दू महासभावादी, एम.आर. जयकर के त्यागपत्र से खाली हुए स्थान पर नामांकित किया गया। वह बाद में प्रारूपण समिति के अध्यक्ष हो गए।

5.9.4 बाड़-आसन्न जन

काँग्रेस ने न सिर्फ हिन्दू महासभा के दो नेताओं – एम.आर. जयकर और श्यामाप्रसाद मुखर्जी – को ही नामांकित किया बल्कि दो समाजवादियों और फॉर्वर्ड ब्लॉक सदस्यों को भी किया। 1948 के प्रारम्भ में, समाजवादियों और फॉर्वर्ड ब्लॉक ने काँग्रेस से अपने संबंद्ध विच्छेद कर लिए और अपने सदस्यों को संविधान सभा से त्यागपत्र देने का निर्देश दिया। इन सदस्यों ने इसे अस्वीकार कर दिया और संविधान-सभा में बने रहे।

अनेक काँग्रेसीजनों जैसे कई लोग संविधान के अनेक पहलुओं के आलोचक थे, लेकिन उन्हें सुसंगत 'विपक्षी' नहीं कहा जा सकता। संविधान-सभा की कार्य-समाप्ति पर उनमें से अधिकतर ने संतोष जताया। कुछ मुस्लिम-लीगी और अकाली सदस्य, सरदार हुकुम सिंह, बहरहाल, इस संविधान के प्रबल आलोचक ही रहे कि इसमें मुस्लिमों और सिखों के लिए अल्पसंख्यकों के राजनीतिक महत्त्व को नकारा गया है।

5.10 संविधान सभा का कार्य

संविधान-सभा ने प्रक्रियात्मक और यथार्थपरक विषयों पर एक बड़ी संख्या में समितियाँ गठित कीं। इन समितियों में से कुछ, मुद्दों पर समग्र रूप से विचार-विमर्श करने के अलावा बाहर के लोगों से भी मशविरा करती थीं। प्राथमिक कार्यों की समाप्ति और समितियों की रिपोर्टों पर संविधान-सभा में विचार-विमर्श हो चुकने के बाद, वे 'प्रारूप संविधान' में इन सिफ़ारिशों के समावेशन हेतु प्रारूपण समिति को अग्र-चालित कर दी जाती थीं। प्रारूप संविधान संविधान-सभा में प्रस्तुत किया जाता था।

सभी विधानों की तर्ज पर इस प्रारूप संविधान के तीन पाठन होते थे। कुछ प्रारूप प्रस्तावों पर बार-बार विचार-विमर्श होता था। यह बहस समग्र और गहन होती थी। लगभग तीन वर्षों के परिश्रम के बाद भारतीय संविधान सभा ने विश्व के वृहदतम लिखित संविधान को जन्म दिया। यह 2 नवम्बर 1949 को संविधान-सभा अध्यक्ष, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा अधिप्रमाणित किया गया और 26 जनवरी 1950 को प्रभाव में आया। इसी बीच, 554 राजसी राज्यों का एक गणतन्त्र भारत में विलय हो गया।

5.11 संविधान सभा का महत्त्व

संविधान सभा के अध्यक्ष द्वारा संविधान का अधिप्रमाणन एक महान् विधिसम्मत उपादेयता रखता था। संविधान सभा कोई संप्रभु संकाय के रूप में नहीं गठित की गई थी। संविधान का प्रारूप ब्रिटिश सरकार के द्वारा विधिकरण के लिए तैयार किए जाने की आशा थी। 'विभाजन' अँग्रेज़ों द्वारा संविधान सभा को एक संप्रभु संकाय के रूप में माने जाने से इंकार करने का परिणाम था। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 ने भारत के गवर्नर-जनरल को उक्त संविधान को सम्मति दिए जाने के लिए प्राधिकृत किया। संविधान सभा ने वह भी नहीं किया और उक्त संविधान को अपने स्वयं के अध्यक्ष द्वारा अधिप्रमाणित कराया। यह संविधान सभा के संप्रभुता प्राधिकार का अभिकथन था।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अंत में दिए आदर्श उत्तरों से करें।

1) संविधान सभा में कितने प्रकार के नेतृत्व थे? चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) 'कैबिनेट मिशन प्लान' द्वारा भारतीयों को कितने समुदायों में बाँटा गया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5.12 सारांश

संविधान सभा लोगों का एक संकाय है जो किसी देश के आधारभूत कानून बनाता है। भारतीय संविधान सभा का आगाज़ ब्रिटिश गवर्नर-जनरल द्वारा किया गया। संविधान-सभा की शक्तियों की मर्यादाएँ ब्रिटिश भारत के विभाजन द्वारा समाप्त हो गईं। अधिकतर राजसी राज्य भारतीय संविधान सभा में शामिल हो गए। संविधान-सभा पर वस्तुत: नेहरू, पटेल, आज़ाद और राजेन्द्र प्रसाद के नेतृत्व वाली काँग्रेस पार्टी का प्रभुत्व था। लेकिन संविधान की मौलिक संरचना पर बहुधा मतैक्य था। इस संविधान सभा ने समितियों और सामान्य सत्रों के माध्यम से लगभग पूरे तीन साल कार्य किया। इसने विश्व के वृहदतम संविधान को जन्म दिया। यह संविधान संविधान-सभा के अध्यक्ष द्वारा अधिप्रमाणित किया गया।

5.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आस्टिन, ग्रैनविले, *दि इंडियन कॉन्सटीट्यूशन : कॉर्नरस्टोन ऑव ए नेशन*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966.

चौबे, शिबानी किंकर, *कॉन्स्टीट्यएण्ट एसेम्बली ऑव इण्डिया : स्प्रिंगबोर्ड ऑव रेवलूशन*, नई दिल्ली, मनोहर, 2000.

चौबे, शिबानी किंकर, *कलोनीअलिज़्म, फ्रीडम स्ट्रगल एण्ड नैशनलिज़्म इन् इण्डिया*, दिल्ली, बुक लैण्ड, 1996.

5.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) संविधान सभा विद्वानों की उस समिति को कहते हैं जो किसी देश के संविधान को बनाती है।

2) यह ब्रिटिश मंत्रिमंडल की समिति थी। इसका उद्देश्य भारत में राजनीतिक स्थिति का मूल्यांकण करके उसके संविधान निर्माण के लिए परियोजना बनाना था।

बोध प्रश्न 2

1) इसने सुझाव दिया था कि जब संविधान निमार्ण की प्रक्रिया चल रही होगी, उस समय भारत में एक अंतरिम सरकार बनाई जाए इस अंतरिम सरकार में राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि होंगे तथा इसका मुखिया गवर्नर जनरल होगा।

2) मुस्लिम लीग ने संविधान सभा में हिस्सा नहीं लिया।

बोध प्रश्न 3

1) दो प्रकार के नेतृत्व : (1) राजनीतिक एवं (2) तकनीकी।

2) तीन समुदायों से - सामान्य, मुस्लिम और सिख।

इकाई 6 प्रमुख अभिलक्षण

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 भारत सरकार अधिनियम, 1935
6.3 संविधान सभा
6.4 प्रमुख अभिलक्षण
  6.4.1 संप्रभु, लोकतांत्रिक, गणतन्त्र
  6.4.2 राज्यों का संघ
  6.4.3 मौलिक अधिकार
  6.4.4 राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्त
  6.4.5 मौलिक कर्तव्य
  6.4.6 संघ : कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका
6.5 आपात्काल प्रावधान
  6.5.1 सामान्य आपात्स्थिति
  6.5.2 संवैधानिक आपात्स्थिति की घोषणा
  6.5.3 वित्तीय आपात्काल
6.6 संघवाद
  6.6.1 केन्द्र-राज्य सम्बन्ध
6.7 आपेक्षिक सुनम्यता
6.8 सारांश
6.9 शब्दावली
6.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
6.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम भारतीय संविधान के विशिष्ट लक्षणों की चर्चा उन सम्बद्ध घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में करेंगे जोकि संविधान के लागू होने से पूर्व घटित हुईं। इस यूनिट के अध्ययन के बाद आप इस योग्य होंगे कि:

- भारतीय संविधान के अनिवार्य लक्षणों को सूचीबद्ध कर सकें; और
- प्रमुख अभिलक्षणों की महत्ता को बता सकें।

6.1 प्रस्तावना

भारतीय संविधान देश की जनता की आकांक्षा है। यह प्रशासन के विस्तृत सक्रियात्मक मापदण्ड तय करता है। यह संविधान संविधान-सभा में उन दीर्घ मन्त्रणाओं के बाद तैयार किया गया जो 6 दिसम्बर 1946 को आरम्भ हुईं और यह 26 जनवरी 1950 को लागू हो गया।

6.2 भारत सरकार अधिनियम, 1935

भारतीय संविधान का अग्रदूत था – 1935 का भारत सरकार अधिनियम, जिसे प्राय: अधिनियम 1935 से जाना जाता है। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 ने माना कि जब तक कोई नया संविधान लागू न हो, अधिनियम 1935 ही भारत की संवैधानिक विधि-संहिता रहे।

अधिनियम 1935 एक संयुक्त निर्वाचित समिति (Joint Select Committee) की उस रिपोर्ट का परिणाम था जिस पर, 2 अगस्त 1935 को इसे अन्तत: महारानी की सम्मति मिलने से पूर्व, ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में विचार-विमर्श हुआ था। अधिनियम 1935 की कुछ विशिष्टताएँ, परिवर्तनों के साथ, यद्यपि, भारतीय संविधान में बाद में समाहित की गईं। इनमें शामिल हैं – एक संघ सरकार और राज्य सरकार(रों) के रूप में एक [संघीय संरचना केन्द्र और राज्य (एक/अनेक)] और उनके बीच सत्ता-शक्तियों का विभाजन (संघ सूची, राज्य सूची एवं समवर्ती सूची); द्विसदनी विधायिका – निम्न सदन और उच्च सदन (संघ स्तर पर लोकसभा एवं राज्य सभा, तथा राज्य स्तर पर राज्य विधान-सभा एवं विधान-परिषद्); संघीय न्यायालय (सर्वोच्च न्यायालय)।

6.3 संविधान सभा

एक संविधान लिखे जाने के उद्देश्य से एक संविधान सभा संयोजित की गई। संविधान बनाना कोई आसान काम नहीं था। इस संविधान को उन लोगों की आकांक्षाओं को पूरा करना था जो कई शताब्दियों से अन्याय, सामाजिक शोषण और भेदभाव, साथ ही दो शताब्दियों से औपनिवेशिक शासन को झेलते आ रहे थे। इसके अतिरिक्त, यदि यह विविध धार्मिक, राजनीतिक एवं क्षेत्रीय वर्गों के लिए अनुप्रयोज्य और स्वीकार्य होता, यह उनके हितों को मूर्तरूप देता। वह आदर्श-वाक्य जिसको लेकर इस संविधान-निर्माण की कवायद का उपक्रम किया जा रहा था, वह था 'सर्वसम्मति', बजाय 'बहुमत सिद्धान्त' के। इसमें भिन्न-भिन्न विचारधाराओं की पृष्ठभूमि वाले, और उनमें भी अनेक कानून-संबंधी पृष्ठभूमि वाले प्रतिनिधियों ने मिलकर काम किया। इस कवायद के शीर्ष पर थे डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, एक वयोवृद्ध स्वतन्त्रता आन्दोलनकारी जिन्होंने बाद में लगातार दो कार्यकाल तक भारत के राष्ट्रपति का कार्यभार संभाला, और पथ-प्रदर्शक ज्योति थे स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री, जवाहरलाल नेहरू। इस सभा के सुपरिचित सदस्यों में शामिल थे – टी.टी. कृष्णमाचारी, डॉ० भीमराव अम्बेडकर, अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर और गोपालस्वामी अयंगर, यामा प्रसाद मुखर्जी, जे. बी. कृपलानी, वल्लभभाई पटेल तथा पट्टाभि सीतारमैया।

इस संविधान सभा में 381 सदस्य होने थे। ये विभिन्न राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व करते थे और काँग्रेस पार्टी, भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी, प्रजा पार्टी, कृषक प्रजा पार्टी, अनुसूचित जाति संघ, नॉन-कांग्रेस सिख्स, यूनियनिस्ट मुस्लिम्स तथा मुस्लिम लीग के सदस्य थे। इसके अलावा, स्वतन्त्र सदस्य और गवर्नर के प्रान्तों और राजसी राज्यों के प्रतिनिधि भी इस सभा में प्रतिनिधित्व करते थे। सभासदों की यह पूरी संख्या कभी नहीं रही।

इस सभा में उसके विचारार्थ प्रस्तुत किए जाने से पूर्व संविधान के प्रावधानों पर उन अनेक समितियों में विस्तृत रूप से वाद-विवाद किया जाता था जो इसी उद्देश्य से गठित की गई थीं। सभा में हुए विचार-विमर्श के आधार पर, प्रारूपण समिति जो 29 अगस्त 1947 को गठित की गई, ने संविधान का प्रारूप मूल-पाठ तैयार किया। डॉ. भीमराव अम्बेडर इस प्रारूपण समिति के अध्यक्ष थे। अन्तिम दस्तावेज पर, प्रारूप संविधान में रद्दोबदल किए जाने के बाद, 26 नवम्बर 1949 को हस्ताक्षर किए

गए, और दो माह बाद यह लागू हो गया। हम संविधान-निर्णय की कवायद की जाँच अधिक विस्तार से खंड 2 की इकाई 5 में कर चुके हैं।

वास्तव में, यह प्रशंसायोग्य है कि संविधान तैयार करने की कवायद संविधान सभा के सदस्यों ने तीन वर्ष की अवधि के भीतर ही समाप्त कर ली और दस्तावेज पर अपने हस्ताक्षर भी कर दिए जबकि अन्य देशों को अपना प्रथम संविधान बनाने में कहीं अधिक वर्ष लगे थे। तथापि, इसका श्रेय देश को ही जाता है और यह संविधान-निर्माताओं की बृहद् दृष्टि का प्रमाण है कि भारतीय संविधान का कभी निराकरण नहीं हुआ, न ही कोई नया लाया गया। भारतीय संविधान जब से लागू लागू हुआ है इस पर कभी कोई गंभीर सवाल नहीं उठाया गया। संविधान में प्रभावी संशोधनों के माध्यम से परिवर्तनशीलता वांछनीयताओं पर बेशक ध्यान दिया गया है जबकि इसके अनिवार्य अभिलक्षण बरकरार रहे; यद्यपि उन पर अक्सर दवाब बना।

6.4 महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण

भारतीय संविधान के अनिवार्य अभिलक्षण इस प्रकार हैं : यह संविधान सर्वोच्च है; भारत की संप्रभुता को अभिभूत अथवा प्रत्याभूत नहीं किया जा सकता है; भारत एक गणतन्त्र है और किसी राजतन्त्र में नहीं बदला जा सकता है; लोकतन्त्र जीवन की एक दिशा है न कि मात्र वयस्क मताधिकार की व्यवस्था; धर्मनिरपेक्षता और स्वतन्त्र न्यायपालिका इस लोकतन्त्र की दो पीठिकाएँ हैं। हम इनमें से कुछ अभिलक्षणों पर चर्चा करेंगे।

6.4.1 संप्रभु, लोकतांत्रिक, गणतन्त्र

संविधान की 'प्रस्तावना' यह घोषित करती है कि इस देश के वासी संप्रभु हैं। अन्य शब्दों में, 'संप्रभुता' लोगों में निहित है और उन संस्थाओं के माध्यम से व्यवहृत है जो इसी उद्देश्य से सृजित की गई हैं। देश की संप्रभुता प्रतिभूत नहीं की जा सकती, यानी, भारत को किसी अन्य देश के उपनिवेश अथवा पराश्रितता में नहीं बदला जा सकता है। स्वतन्त्रता आन्दोलन की संपूर्ण प्रक्रिया संप्रभुता के इसी सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त पर थी।

'प्रस्तावना' में यह भी कहा गया है कि देश एक गणराज्य होगा और सरकार के लोकतान्त्रिक स्वरूप का पालन करेगा। एक गणराज्य में किसी राजतन्त्र के लोगों पर शासन करने की कोई सम्भावना नहीं होती, वरन् लोग स्वयं देश पर अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन करते हैं।

6.4.2 राज्यों का संघ

हमारे संविधान का एक महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण यह है कि इसने भारत को राज्यों के एक संघ के रूप में गठित किया है (अनु. 1)। संविधान में नए राज्यों के सृजन के साथ-साथ नए राज्यों को शामिल करने का भी प्रावधान है। इनके उल्लेखनीय उदाहरण हैं – 1956 में पहली बार एक भाषायी आधार पर तत्कालीन राज्यों में से कुछ का द्विभाजन करके बनाये गए राज्य – आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक और केरल। अभी हाल ही में, वर्ष 2000 में, तीन नए राज्य – उत्तरांचल, छत्तीसगढ़ और झारखण्ड – बनाए गए। भारतीय संघ में नए राज्यों के प्रवेश का एक उदाहरण है– 1975 में सिक्किम का संघ में शामिल होना, जो कि अब तक भारत का एक संरक्षित राज्य था। नए राज्यों को शामिल करने का प्रावधान इस सन्दर्भ में भी समझा जाना चाहिए कि राजसी राज्यों में से कुछ इसके बावजूद भी भारत का अंग बनने को राजी नहीं थे कि यह संविधान लागू होने ही

वाला था। हैदराबाद के निजाम का राज्य एक ऐसा ही उदाहरण है। और इसके अलावा, फ्रांसीसी और पुर्तगाली उपनिवेश थे – पांडिचेरी और गोवा जो भारत के साथ एकीकृत बने रहे। यह संविधान, इस प्रकार नए राज्यों के सृजन और नए राज्य-क्षेत्रों के लिए स्थान रखने की व्यवस्था देता है। एक बार भारत का अंग बन जाने के बाद उन्हें फिर पृथक् होने का अधिकार नहीं है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) उत्तर अपने शब्दों में देने का प्रयास करें।

1) वह कौन-सा सिद्धान्त था जिसने भारत में संविधान निर्माण की कवायद को सूचित किया?

.....

.....

.....

.....

.....

2) वह कौन-सा राज्य था जो भारतीय संघ में 1975 में शामिल किया गया?

.....

.....

.....

.....

.....

3) गणतन्त्र सरकार का वह स्वरूप है जिसमें –

.....

.....

.....

.....

.....

6.4.3 मौलिक अधिकार

मौलिक अधिकार, जिनकी व्यवस्था इस संविधान में दी गई, को इस रूप में संक्षेपित किया जा सकता है : समानता का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धर्म का अधिकार, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार और संवैधानिक प्रतिविधानों का अधिकार। संपत्ति का अधिकार चवालीसवें संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम एक विधिसम्मत अधिकार बना दिया गया था,

और तब से, यह एक मौलिक अधिकार नहीं है। देश के बृहद्तर हितों को देखते हुए, किसी भी व्यक्ति से सम्बन्धित सम्पत्ति को उसका 'मुआवजा' अदा करके अधिगृहीत किया जा सकता है।

मौलिक अधिकारों को संविधान के भाग-3 में स्थान दिया गया है और उनके परिपालन की सर्वोच्च न्यायालय द्वारा गारण्टी दी गई है। अन्य शब्दों में, मौलिक अधिकार वाद योग्य हैं। वास्तव में, मौलिक अधिकारों में से कुछ, यह गौरतलब है, केवल देश के नागरिकों के लिए प्रयोज्य हैं और विदेशियों के लिए नहीं। अनुच्छेद 20, अनुच्छेद 21 और अनुच्छेद 22, बहरहाल, सभी के लिए प्रयोज्य हैं। यहाँ यह भी अच्छी तरह समझ लिया जाना चाहिए कि जो प्रयोज्य है वह अधिकार की 'सीमा' में है।

एक 'आपात् स्थिति' को छोड़कर, मौलिक अधिकार कभी भी निलम्बित नहीं किए जा सकते हैं। हालाँकि, आपात्स्थिति के दौरान भी अनुच्छेद 20 एवं अनुच्छेद 21 की बहाली नहीं रोकी जा सकती। संविधान में चवालीसवें संशोधन अधिनियम के द्वारा संशोधन किया गया और अनुच्छेद 359-1A के माध्यम से यह बताया गया कि अनुच्छेद 20 और अनुच्छेद 21 निलम्बित नहीं किए जा सकते बेशक उस समय आपात्स्थिति की घोषणा लागू हो।

स्वतन्त्रता का अधिकार

संविधान अनुच्छेद 19 से 22 के तहत स्वतन्त्रता का अधिकार भी सुनिश्चित करता है। अनुच्छेद 19 इनका वचन देता है – भारत और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, शान्तिपूर्ण सभा करने का अधिकार, परिषदें बनाने का अधिकार, देश के किसी भी भाग में जाने और बसने का अधिकार और अपने धर्म के प्रकटन और आचरण का अधिकार। ये अधिकार भी, उन सभी तर्काधारित प्रतिबंधों के अधीन हैं जो राज्य द्वारा अनुच्छेद 19 के उपवाक्य 2 से 6 के तहत लगाए जा सकते हैं।

अनुच्छेद 20 इनका वचन देता है – किसी भी व्यक्ति को उन कानूनों के आधार पर दण्डित नहीं किया जाएगा जो कि अपराध किए जाने के बाद अधिनियमित किए गए हों (*एक्स पोस्ट फैक्टो* कानूनों से संरक्षण), एक ही अपराध के लिए एक से अधिक बार दण्डित किए जाने से संरक्षण (दोहरे संकट से संरक्षण) और व्यक्ति को स्वयं के विरुद्ध मुकदमा चलाये जाने से संरक्षण (आत्म-दोषारोपण से संरक्षण)। अनुच्छेद 21 'व्यक्तिगत जीवन और स्वतंत्रता' के संरक्षण को सुनिश्चित करता है। अन्य शब्दों में, राज्य को कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के माध्यम को छोड़कर, अन्यथा किसी व्यक्ति के जीवन को छीनने का अधिकार नहीं है, अनुच्छेद 22 बिना मुकदमा चलाये किसी व्यक्ति को नज़रबंद किए जाने को निषिद्ध करता है। हालाँकि, किसी व्यक्ति की तीन माह तक, कुछ मामलों में इससे भी अधिक, संरक्षात्मक हिरासत की अनुमति है।

समानता का अधिकार

अनुच्छेद 14, कानून के समक्ष 'समानता के अधिकार' और 'कानूनों के समान संरक्षण के अधिकार' का वचन देता है। दूसरे शब्दों में, यह अनुच्छेद सुनिश्चित करता है कि किसी व्यक्ति पर मुकदमा केवल न्यायिक अदालत में ही चलाया जाएगा और हर व्यक्ति न्याय के लिए न्यायालय जा सकता है और यह कि, कानूनों के अनुप्रयोजन में किसी व्यक्ति से दूसरों की अपेक्षा बुरा व्यवहार नहीं किया जाएगा, न ही कोई व्यक्ति विशेष प्राधिकारों और अनुग्रह-प्रदर्शन के लिए दावा करेगा। अनुच्छेद 15 'धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग अथवा जन्म-स्थान' के आधार पर भेदभाव से रक्षा का वचन देता है, और इस प्रकार समान प्रवेश और फिर इस प्रकार भेदभाव के विरुद्ध अधिकार की व्यवस्था देता है। यह, यद्यपि, स्पष्टत: यह भी बताता है कि राज्य (लोगों की कुछ श्रेणियों, जैसे सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से पिछड़े वर्गों और अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों, के

उत्थान के लिए विशेष उपबंध बना सकता है। इस संदर्भ में एक उदाहरण है – समाज के अलाभान्वित वर्गों के लिए शैक्षिक संस्थाओं में और सार्वजनिक सेवाओं में की गई आरक्षण व्यवस्था। एक टीकाकार की टिप्पणी है – "अल्पसंख्यकों के संरक्षण हेतु विशेष प्रावधानों के माध्यम से कुछ मामलों में, मौलिक अधिकारों का वचन देकर अनेकत्व की वास्तविकता को स्वीकारते हुए भी भारतीय संविधान के रचयिताओं ने भारतीय पहचान के ऊपर मेहराब बनाने की कोशिश की है।'' अनुच्छेद 16 रोजगार में अवसर की समानता के अधिकार की व्यवस्था देता है। सभी नागरिकों के लिए समानता सुनिश्चित करने की अभिलाषा के साथ कायम संविधान ने 'अस्पृश्यता', जिसका व्यवहार अनुच्छेद 17 के तहत अपराध है, का भी उन्मूलन किया जबकि अनुच्छेद 18 ने 'उपाधियों' का उन्मूलन किया।

6.4.4 राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्त

राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्त (नीति-निदेशक सिद्धान्त) आयरलैण्ड के संविधान का रूपांतरण है। ये वो दिशा-निर्देश हैं जो कानूनों का अधिनियमन करते समय और उनके परिपालन में ध्यान में रखने होते हैं। मौलिक अधिकारों से भिन्न, नीति-निदेशक सिद्धान्त वाद योग्य नहीं है। सरल रूप में समझने के लिए, नीति-निदेशक सिद्धान्त 'कल्याण' अर्थबोधक हैं। संविधान उनका वचन दिए जाने की व्यवस्था नहीं देता है और, इसीलिए, उनको लागू किए जाने हेतु किसी न्यायालय में सवाल नहीं उठाया जा सकता है।

मौलिक अधिकार और नीति-निदेशक सिद्धान्त "एक साथ, न कि पृथक् रूप से'' संविधान के मर्म– "अकूट अन्त:करण'' का निर्माण करते हैं। नीति-निदेशक सिद्धान्त निर्धारित करते हैं कि राज्य सुनिश्चित करेगा – (क) सभी के लिए जीवन-यापन के पर्याप्त साधन, (ख) समृद्धि के संकेन्द्रण की बजाय उसका सार्वजनिक हित में वितरण और उस पर नियन्त्रण, (ग) स्त्री और पुरुष दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन, (घ) सभी तरह के कर्मचारियों के स्वास्थ्य का दुरुपयोग रोकना और (ङ) देश के बच्चों का शोषण से प्रतिरक्षण और एक स्वतन्त्र और गौरवमय वातावरण में उनका विकास।

6.4.5 मौलिक कर्तव्य

संविधान में दिए गए मौलिक कर्तव्यों का अभिप्राय है कि सब नागरिक सभी के सर्वमान्य हित के लिए अथक प्रयास करने को वचनबद्ध हैं। उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे संविधान, राष्ट्रीय तिरंगा और राष्ट्रीय-गान को सम्मान दें। उनका आह्वान किया जाता है कि वे देश की एकता और अखण्डता को कायम रखें और सभी अलगाववादी प्रवृत्तियों को त्यागकर एक सद्भावपूर्ण समाज के लिए काम करें। भारत के नागरिकों का कर्तव्य है कि वे देश के प्राकृतिक एवं भौतिक, दोनों ही संसाधनों की रक्षा करें और उपलब्धि के ऊँचे-से-ऊँचे क्षितिजों की दिशा में काम करें।

6.4.6 संघ : कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका

जैसा कि राजनीति शास्त्र के सभी विद्यार्थी जानते हैं, सरकार के तीन अंग अथवा शाखाएँ हैं, यानी, कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका। इन तीनों के बीच सामञ्जस्यपूर्ण रूप से कार्य-सम्पादन करना देश के विकास हेतु अत्यावश्यक है।

अपनी स्वतन्त्रता के समय भारत ने सरकार के एक संसदीय रूप को अपनाया जाना चुना। इस प्रकार की सरकार में, राष्ट्रपति राज्य का मुखिया होता है जबकि वास्तविक कार्यकारी शक्ति का

प्रयोग सरकार के मुखिया, प्रधानमंत्री, द्वारा उसकी मन्त्रिपरिषद् के सहयोग से किया जाता है। ये मन्त्री संसद के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं।

कार्यपालिका

भारत में, विधायिका और कार्यपालिका एक-दूसरे से ही निष्कर्षित हैं जबकि न्यायपालिका एक स्वतन्त्र निकाय है। विधायिका में होते हैं – लोक सदन (लोक सभा), राज्य परिषद् और भारत का राष्ट्रपति। संघीय मन्त्रिपरिषद् का सदस्य आवश्यक रूप से किसी भी सदन – लोक सभा अथवा उच्च सदन, राज्य सभा – का सदस्य होता है।

राष्ट्रपति

संसद के दोनों सदन और राज्यों के विधान-मंडल राष्ट्रपति को एक 'एकल हस्तांतरणीय मत' के द्वारा चुनते हैं। राष्ट्रपति कार्यालय, उसके प्रकार्य, शक्तियाँ, कार्यकाल, चुनाव-विधि और पुनर्निर्वाचन, महाभियोग, और पदभार सम्भालने हेतु वांछित योग्यताएँ अनुच्छेद 52 से 62 में व्यक्त हैं। राज्य की सभी गतिविधियाँ राष्ट्रपति के नाम की जाती हैं क्योंकि कार्यकारी अधिकार राष्ट्रपति में ही निहित हैं (अनुच्छेद 52)। संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति, भारत में भी, राष्ट्रपति सशस्त्र सेनाओं का सर्वोच्च कमाण्डर होता है। राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों की बैठक बुलाता है और उसके संयुक्त सत्र को सम्बोधित करता है। उसे दण्डादेश में छूट देने और मृत्युदण्ड-स्थगन प्रदान करने का अधिकार है। वह राज्य के सभी महत्त्वपूर्ण कार्यकर्ताओं की नियुक्ति करता है; जैसे प्रधानमंत्री और मन्त्रिपरिषद्, सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, महान्यायवादी, राज्यों के राज्यपाल, भारतीय चुनाव आयोग जैसे आयोगों के अध्यक्ष और भारत के मुख्य लेखा-नियन्ता एवं लेखा-परीक्षक (सी. एण्ड ए. जी.) जैसे संस्थानों के प्रमुख।

प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद्

प्रधानमंत्री सरकार का मुखिया होता है और संघीय मन्त्रिपरिषद् की बैठक की अध्यक्षता करता है। यह ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि मन्त्रिमण्डल और मन्त्रिपरिषद् में अन्तर है; मन्त्रिमण्डल में कैबिनेट स्तर के मंत्री और राज्य-मंत्रीगण होते हैं, जबकि परिषद् में उप-मन्त्री भी शामिल होते हैं। मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। मन्त्रियों की गतिविधियाँ संसदीय सत्र के प्रत्येक दिवस के आरम्भ में दो घण्टे तक चलने वाले 'प्रश्न काल' के दौरान प्रतिपक्ष द्वारा की जाने वाली संवीक्षा के अन्तर्गत आती हैं। मन्त्रिपरिषद् राष्ट्रपति को अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करती है, जो देश के मामलों में राष्ट्रपति को 'मदद और सुझाव' देने के रूप में जानी जाती हैं। सिफारिशों में महत्त्वपूर्ण, जो हमें पता रखनी चाहिए, हैं – लोकसभा के भंग किए जाने, युद्ध की घोषणा किए जाने अथवा 'आपात् स्थिति' की घोषणा किए जाने से संबंधित सिफारिशें।

विधायिका/संसद

भारतीय संसद देश का सर्वोच्च विधि-निर्माण निकाय है। यह एक द्वि-सदनी विधायिका है जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य, संयुक्त राज्य अमेरिका एवं अन्य कई देशों में है।

उच्च सदन को हिन्दी में 'राज्य सभा' और अँग्रेजी में 'कौन्सिल ऑव स्टेट्स' के नाम से जाना जाता है। इसमें होते हैं – अध्यक्ष, जो भारत का राष्ट्रपति भी होता है; निर्वाचित सदस्य और 12 नामांकित सदस्य, जिनमें प्रत्येक का कार्यकाल छह वर्ष का होता है, साथ ही सदन के एक-तिहाई सदस्य प्रत्येक दो वर्ष बाद कार्यमुक्त हो जाते हैं।

राज्य सभा और इसके समकक्ष, अमेरिकन सीनेट का एक महत्त्वपूर्ण पहलू और उनके बीच अन्तर-बिन्दु है प्रत्येक की सदस्यता। यहाँ सीनेट अपनी जनसंख्या के अनुपात में होती है, जबकि राज्य सभा के सदस्यों को विधान सभा चुनती है। इस प्रकार, भारतीय संघ के सभी राज्य प्रतिनिधियों को एक समान संख्या में नहीं भेजते।

संसद में निचला सदन लोक सदन होता है, और सटीक शब्दों में– लोक सभा। इसके सदस्य क्षेत्रीय रूप से सीमांकित चुनाव-क्षेत्रों से 'सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार' के माध्यम से सभी योग्य मतदाताओं द्वारा सीधे-सीधे पाँच वर्ष अथवा कम की एकल अवधि के लिए चुने जाते हैं।

धन विधेयकों पर राज्य सभा का अधिकार कम ही है। ये राज्य सभा में पेश नहीं किए जा सकते। यह ऐसे विधेयकों को अपनी सिफारिशों के साथ 14 दिनों के भीतर लोक सभा को लौटा देता है, और उसकी सिफारिशों को स्वीकार करना अथवा उनमें से किसी को अस्वीकार करना लोकसभा पर है। लोक सभा और राज्य सभा के बीच किसी गैर-धन विधेयक पर गतिरोध की स्थिति में, राष्ट्रपति विधेयक पर बहस और मत व्यक्त किए जाने के लिए दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक बुलाता है।

कोई विधेयक राष्ट्रपति की सहमति मिलने के बाद ही एक अनुच्छेद का रूप लेता है। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित किए गए किसी विधेयक पर सहमति देने से रोक ले अथवा उसे अपने सुझावों के साथ संसद को भेज दे। ऐसे अवसर कम ही आए हैं जब राष्ट्रपति ने अपनी सहमति को रोका हो, वो भी वस्तुतः, इस आधार-वाक्य के रूप में कि वह विधेयक 'आम राय' के साथ असंगत रूप में था। ऐसा ही एक उदाहरण था – 'डाक विधेयक' जो कि लोगों के निजी जीवन में अतिक्रमण के रूप में लिया गया।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) उत्तर अपने शब्दों में देने का प्रयास करें।

1) अनुच्छेद 20 और 21 में कौन-से अधिकार दिए गए हैं? क्या ये अधिकार प्रतिबंधित अथवा अस्थायी रूप से निलम्बित किए जा सकते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारतीय संविधान में दिए गए मौलिक कर्त्तव्य कौन-कौन से हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) संघीय मन्त्रिमण्डल में होते हैं–

अ) प्रधानमंत्री, कैबिनेट स्तर के मंत्री और राज्य मंत्री।

ब) कैबिनेट स्तर के मन्त्री और राज्य मंत्री।

स) प्रधानमंत्री और कैबिनेट स्तर के मंत्री।

न्यायपालिका

सरकार का तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है– न्यायपालिका। पुनर्विचार के लिए प्रार्थना करने की उच्चतम अदालत है – सर्वोच्च न्यायालय। सर्वोच्च न्यायालय के पास अपील संबंधी और मौलिक, दोनों अधिकार क्षेत्र हैं, जैसा कि उच्च न्यायालयों के पास अपने-अपने राज्यों में होता है।

सर्वोच्च न्यायालय संविधान का अभिरक्षक है। विधायिका द्वारा अधिनियमित कानून सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित किए जा सकते हैं, यदि उसका मत है कि वे संविधान के प्रावधानों से मेल नहीं खाते। इस शक्ति को 'न्यायिक पुनरावलोकन' अधिकार के रूप में जाना जाता है। इसके अलावा, सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय सरकार और उसके अभिकर्त्ताओं को परमादेश जारी कर सकते हैं। एक सुपरिचित उदाहरण हैं – *बंदी प्रत्यक्षीकरण* का परमादेश। ऐसे परमादेश को जारी किए जाने के लिए दलील देकर एक आवेदक सर्वोच्च न्यायालय से निवेदन किए जाने के लिए दलील देकर एक आवेदक सर्वोच्च न्यायालय से निवेदन करता है कि संबंधित पुलिस प्राधिकारियों को निर्देश दिया जाए कि वे अदालत के सामने उस व्यक्ति को पेश करें जो गुम है और माना जाता है कि उनके अभिरक्षण में है।

भारत का राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के सभी न्यायाधीशों और मुख्य न्यायाधीशों को नियुक्त करता है। संविधान यह भी स्पष्टत: बताता है कि न्यायाधीशों पर महाभियोग के लिए क्या प्रक्रिया है और सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश पर केवल संसद ही महाभियोग लगा सकती है। किसी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश पर महाभियोग प्रारंभ करने की घटना सिर्फ एक बार हुई, जब न्यायविद् के. रामास्वामी पर महाभियोग लगाये जाने के लिए पूछताछ हुई, लेकिन इस प्रस्ताव को सफलता नहीं मिली।

सर्वोच्च न्यायालय और संसद के बीच रस्साकशी का अवसर भी आया है। अंतत: इसका हल संविधान संशोधन अधिनियम की मदद से निकाला गया जिसमें कहा गया है कि कोई अधिनियम संविधान के प्रावधानों से मेल खाता है अथवा नहीं, सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार सिर्फ बताने भर का है।

6.5 आपात्काल प्रावधान

आपात्काल प्रावधान अनुच्छेद 352 से 360 के तहत संविधान के भाग-XVIII में दिए गए हैं। तीन प्रकार की आपात्स्थितियाँ हैं जो घोषित की जा सकती हैं:

6.5.1 सामान्य आपात्स्थिति

आपात्स्थिति की उद्घोषणा तब की जा सकती है जब देश की सुरक्षा को खतरा हो अथवा वह युद्ध-काल अथवा बाह्य आक्रमण अथवा सशस्त्र विद्रोह के दौरान शत्रु देशों की किसी धमकी से

संकटग्रस्त हो। (अनुच्छेद 352)। इस प्रावधान के तहत आपात्काल की घोषणा पहली बार 26 अक्तूबर, 1962 को चीन से साथ युद्ध के चलते की गई थी। यह 10 जनवरी, 1968 तक जारी रही। आपात्स्थिति की एक अन्य उद्घोषणा, भारत-पाकिस्तान युद्ध के चलते, 2 दिसम्बर, 1971 को हई। इसके जारी रहते, एक तीसरी आपात्स्थिति की घोषणा 25 जून, 1975 को की गई। यह 1977 में निरस्त हुई। आलोचकों का तर्क है कि तीसरी आपात्स्थिति की घोषणा का उद्देश्य श्रीमती इंदिरा गाँधी को कुछ और समय सत्ता में बनाए रखना था, न कि कोई वास्तविक खतरा। भारतीय लोकतन्त्र का यह सर्वाधिक अन्धा युग था जबकि दीर्घीकृत समयावधि के लिए मनमानी नज़रबंदी हुईं और मौलिक अधिकारों के व्यापक उल्लंघन के इल्ज़ाम लगाए गए।

6.5.2 संवैधानिक आपात्स्थिति की घोषणा

सर्वाधिक विवादास्पद और दुष्प्रयुक्त आपात्काल प्रावधान है – अनुच्छेद 356। यदि राष्ट्रपति को किसी राज्य के राज्यपाल से इस आशय की कोई रिपोर्ट मिलती है कि संवैधानिक व्यवस्था-तन्त्र भंग हो चुका है अथवा राज्य का प्रशासन भारतीय संविधान में दिए गए प्रावधानों के अनुसार अब नहीं चलाया जा सकता है, उस राज्य में आपात्स्थिति घोषित की जा सकती है। राष्ट्रपति ऐसा तब भी कर सकता है यदि उसे किसी राज्य में संवैधानिक गड़बड़ी का अन्यथा निश्चय हो। यह प्रावधान राज्य-सरकार को भंग किए जाने और इसे राष्ट्रपति-शासन अथवा केन्द्रीय-शासन के तहत लाने की अनुमति देता है। ऐसी स्थिति में राज्य का राज्यपाल सभी प्रकार्यों का उत्तरदायित्व लेता है और राज्य में प्रशासन राष्ट्रपति की ओर से चलाता है, यानी संघीय मन्त्रिपरिषद् की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त अपने सलाहकारों की मदद से केन्द्र की ओर से।

ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब अनुच्छेद 356 को विभिन्न राज्यों में लागू किया गया। अनुच्छेद 356 का वास्ता देकर किसी राज्य सरकार को भंग करने की पहली घटना 1959 में हुई जबकि उस सरकार को राज्य विधान-मंडल का विश्वासमत हासिल था; केरल में, तत्कालीन कम्यूनिस्ट सरकार बर्खास्त कर दी गई। इसने एक बड़े विवाद को जन्म दिया और यह तर्क दिया गया कि यह एक गलत निर्णय था क्योंकि राज्य विधान सभा में सरकार के पास बहुमत था। दूसरी ओर, इस निर्णय के समर्थक यह मानते थे कि सरकार और उसकी नीतियों के विरुद्ध आन्दोलन के रूप में व्यक्त जन-असंतोष ही यह तय करने के लिए पर्याप्त कारण था कि वहाँ, वास्तव में, कानून-व्यवस्था भंग हो चुकी थी, और इसीलिए, राष्ट्रपति-शासन लागू करना उचित था।

अन्य उदाहरणों में शामिल है – दो बार राज्य सरकारों का सामूहिक रूप से निलम्बन, 1977 के आम चुनावों में जनता पार्टी की आसान जीत के बाद और उसके बाद 1979 में जब काँग्रेस पार्टी सत्ता में लौटी। अन्य विवादास्पद अवसर, जिन पर इस प्रावधान का वास्ता फिर दिया गया, हैं– 1984 में आन्ध्र प्रदेश और उसके बाद कर्नाटक में जब एस.आर. बोम्मई सरकार को बर्खास्त किया गया, और उसके बाद तुरन्त ही न्यायालय ने कहा कि यह निर्णय अनुचित था।

6.5.3 वित्तीय आपात्स्थिति

वित्तीय आपात्स्थिति की घोषणा अनुच्छेद 360 के तहत उन दशाओं में की जा सकती है जिनमें देश अथवा देश के किसी भाग की वित्तीय स्थिरता अथवा साख को खतरा हो। हालाँकि, जैसी कि चवालीसवें संविधान संशोधन अधिनियम, 1979 में व्यवस्था दी गई है, इस प्रकार की उद्घोषणा के लिए आवश्यक है कि इस आशय की उद्घोषणा की तिथि से दो माह के भीतर इसे लोक सभा और राज्य सभा, दोनों की स्वीकृति मिलनी चाहिए, अथवा, यदि उस समय लोकसभा भंग है, इसके (नए सदन) पुनर्गठन की तिथि से 30 दिनों के भीतर।

6.6 संघवाद

स्वतन्त्रताप्राप्ति के समय देश की विविधता इस प्रकार की थी कि संविधान-निर्माताओं ने सोचा कि इसे एक संघीय संरचना के भीतर एक सशक्त संघीय सरकार (केन्द्र) प्रदान करना उपयुक्त रहेगा। केन्द्र-राज्य संबंधों से संबंधित प्रावधान संविधान के भाग-XI में उल्लिखित हैं। भारतीय संविधान सरकार के लिए विभिन्न राज्यों में विशिष्ट अधिकारों को भी व्यवस्था देता है। भारत का संविधान इस प्रकार केन्द्रीकृत और विकेन्द्रीकृत, दोनों ही अभिलक्षणों वाला है।

स्वतन्त्रता के बाद डेढ़ दशक से भी अधिक तक, केन्द्र और राज्यों के बीच प्राय: कोई समस्या नहीं थी। विद्वजन इसका श्रेय इन बातों को देते हैं – केन्द्र के साथ-साथ देश में अधिकतर राज्यों में कांग्रेस सरकारों का अस्तित्व, तत्कालीन प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू का कीर्तिमय व्यक्तित्व, और केन्द्र के साथ-साथ राज्यों में नेतृत्व भी, जो विच्छेदोन्मुखी कम, बल्कि आदर्शवाद-निर्देशित अधिक था।

उस समय संबंधों में संतुलन केन्द्र के पक्ष में अधिक अभिनत रहा जब इन्दिरा गाँधी देश की प्रधानमन्त्री थीं। ऐसा केवल आपात्स्थिति की वज़ह से नहीं था जो 1975 में लगाई गई थी, बल्कि राज्य-स्तर पर कमज़ोर नेताओं के कारण भी था जिनका राजनीतिक सत्ता में अस्तित्व इस आघात पर निर्भर था यदि वे केन्द्र-स्तर पर शक्ति-प्रयोग कर सकते थे।

नब्बे के दशक तक कम-से-कम कुछ राज्य तो केन्द्र के समकक्ष अधिक शक्ति-प्रयोग करने ही लगे। उस केन्द्रीय सरकार, जिसके पास संसद में पूर्ण बहुमत का अभाव था, को अपने संश्रितों के समर्थन पर निर्भर करना पड़ा – तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कषगम और ऑल-इण्डिया अन्ना मुनेत्र कषगम, आन्ध्र प्रदेश में तेलुगुदेशम्, महाराष्ट्र में शिव सेना, जम्मू-कश्मीर में नैशनल कॉन्फ्रेंस, असम में असॅम गण परिषद् और पूर्व जनता पार्टी के अभी हाल ही के विछिन्न गुट जिन्होंने स्वयं को विभिन्न राज्यों में स्थापित कर लिया था।

6.6.1 केन्द्र-राज्य सम्बन्ध

साठ के दशकांत में, केन्द्र-राज्य संबंधों में समस्याएँ गैर-कांग्रेस सरकारों के इन अनेक राज्यों में सत्ता में आने के बाद सामने आयीं – उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, केरल, पंजाब, उत्तरप्रदेश और बिहार।

वित्तीय संबंध

एक अन्य विवादास्पद विषय है– केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय संसाधनों का बँटवारा और विभिन्न राज्यों को केन्द्रीय अनुदानों का आबंटन। जबकि राज्य एक लम्बे समय से बृहद्तर भागों के आबंटन की माँग करते रहे हैं, एक नया सुझावित प्रस्ताव है – 'निष्पादन के आधार' पर आबंटन।

राज्यपाल का शासन

पुन: एक अन्य भेद-बिन्दु है – किसी राज्य पर 'राज्यपाल-शासन का लागू होना' और कार्यालय में रहते, उसकी अप्रत्याशित पदच्युति के अतिरिक्त भी उसकी भूमिका। राज्यपाल सामान्यत: संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री के संगमन में ही नियुक्त किए जाते हैं, और 1988 में सरकारिया आयोग ने भी

इसी की सिफारिश की थी। इस सिफारिश का, यद्यपि इसी रूप में हमेशा पालन नहीं किया गया है। सरकारिया आयोग ने सहकारी संघवाद की घोषणा करने का प्रयास किया। बहरहाल, आयोग की अधिकतर सिफारिशों के अमल में आने की प्रतीक्षा है।

6.7 आपेक्षिक सुनम्यता

भारतीय संविधान संशोधनों को स्थान देता है। इस संदर्भ में, कुछ अन्य देशों से भिन्न, यह संविधान कठोर नहीं है । जैसा कि अनेक विद्वजनों ने गौर किया है, संविधान कोई जीवित दस्तावेज नहीं होता और, इसलिए, इससे परिवर्तनशील समय-काल प्रतिबिम्बित होना चाहिए। 'प्रस्तावना' में संशोधन ने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को संविधान का एक अभिन्न अभिलक्षण बना दिया।

जब किसी संविधान को संशोधित किया जाता है तो यह आशा की जाती है कि यह बेहतरी के लिए कोई परिवर्तन लायेगा। अन्य शब्दों में, यह 'कुछ छीनने' की बजाय 'कुछ और देगा'। अनुच्छेद 368, अन्य अनुच्छेदों के साथ, संसद को संविधान में संशोधन करने की शक्ति प्रदान करता है। वास्तव में, संविधान के जो मौलिक अभिलक्षण हैं उन पर बहस का अवसर तभी पैदा हुआ जब संविधान में कुछ संशोधन किए गए। संविधान में दी गई संशोधन प्रक्रिया विभिन्न अनुच्छेदों के लिए कठोर और कोमल, दोनों है। जबकि कुछ को मात्र एक साधारण बहुमत की आवश्यकता होती है, अधिकतर को संसद के दोनों सदनों में उपस्थित और मतदान में भाग लेने वालों के दो-तिहाई बहुमत और राष्ट्रपति की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। कठोरतम निर्धारित संशोधन प्रक्रिया में, उपस्थित और मतदान करने वालों के दो-तिहाई की वांछनीयता के अतिरिक्त, देश में राज्य विधान-मण्डलों की कुछ संख्या के कम-से-कम आधों की सहमति भी आवश्यक होती है। और इससे भी आगे, इसे राष्ट्रपति की स्वीकृति की आवश्यकता होती है।

सर्वाधिक प्रबल रूप से विवादित पहलुओं में से दो थे – एक, संसद के प्रभुत्व पर संविधान के किसी भी अनुच्छेद पर संशोधन स्वयं लागू करना और दो, किसी संशोधन पर निर्णय लेने की सर्वोच्चता किसके पास है?

जबकि भारतीय संसद इस बात पर कायम थी कि यह सर्वोच्च सत्ता उसी के पास है और, इसीलिए, संविधान में किसी भी अनुच्छेद में संशोधन का उसे अधिकार है, इसके आलोचकों ने कहा कि सर्वोच्च संसद नहीं बल्कि संविधान है, और संसद किसी अन्य संस्था की भाँति ही उसकी एक रचना मात्र है। अन्तिम विश्लेषण में, यह मान लिया गया कि संसद संविधान में संशोधन हेतु वैध रूप से प्राधिकृत है, लेकिन वहीं तक कि यह 'संविधान के आधारभूत अभिलक्षणों' को संशोधित न करे। इसके अतिरिक्त, सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार है कि यह निर्णय करे कि संविधान में कोई संशोधन, वास्तव में, संविधान के आधारभूत अभिलक्षणों के विरुद्ध है अथवा नहीं।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) उत्तर अपने शब्दों में देने का प्रयास करें।

1) बन्दी-प्रत्यक्षीकरण क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारतीय संविधान में संशोधन करने हेतु संसद की शक्ति की जाँच करें।

.....

.....

.....

.....

.....

3) क्या भारतीय संसद संविधान की आधारभूत संरचना को बदल सकती है?

.....

.....

.....

.....

.....

6.8 सारांश

भारतीय संविधान एक सफल दस्तावेज है और इसने सर्वोत्तम लोकतान्त्रिक परम्परा के पालन का प्रयास किया है। इसके द्वारा स्थापित परम्परा में आवसरिक अनियमितताओं को सुधारने का लचीलापन था, जो स्वयं ही इसकी सफलता का प्रमाण है। संविधान संघवाद को समाविष्ट करता है, देश के लोगों के मौलिक अधिकारों, एक जाँच-प्रक्रिया, का वचन देता है और राष्ट्रपति, मन्त्रिपरिषद्, संसद और सर्वोच्च न्यायालय के संस्थानों के माध्यम से संतुलन कायम रखता है।

6.9 शब्दावली

अधिकारों का संवैधानिक वचन : राज्य द्वारा उल्लंघन किए जाने से वह संरक्षण जो संविधान सुस्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है।

अधिनियमन बिन्दु जिस पर एक कानून, जैसा कि एक संसद-अधिनियम में व्यक्त है, प्रभाव में आ जाता है।

कार्यपालिका सरकार के भीतर से वे, जो नीति को परिभाषित और लागू करते हैं, और जो

		अपने प्रशासन के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं।
कार्योत्तर	:	पश्च क्रिया, अथवा बाद में किए गए कार्य से अथवा द्वारा; एक तुरन्त बाद किए गए कार्य के परिणामस्वरूप; पश्चोन्मुख।
द्विसदनी	:	संसद जिसमें दो सदन होते हैं (एक उच्च सदन और एक निम्न सदन)।
मन्त्रिपरिषद्	:	इसमें होते हैं – प्रधानमंत्री, कैबिनेट मन्त्री, राज्य मन्त्री और उप-मन्त्रीगण।
संशोधन	:	संविधान परिवर्तन की एक निर्णायक और औपचारिक प्रक्रिया।

6.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ऑस्टीन, ग्रैनविल : *दि इण्डियन कॉन्सटीट्यूशन : कॉर्नरस्टोन ऑव ए नेशन,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1996.

बक्शी, पी.एम., *दि कॉन्सटीट्यूशन ऑव इण्डिया* (लेखक द्वारा विशेष टिप्पणियों के साथ), यूनिवर्सिटी लॉ पब्लिशिंग हाउस, 1999.

6.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) सर्वसम्मति पर आधारित निर्णय।

2) सिक्किम।

3) लोग स्वयं अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन करते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) अनुच्छेद 20 निष्पक्ष न्याय-विचार मुकदमे का वचन देता है और अनुच्छेद 21 सभी व्यक्तियों के जीवन और स्वतंत्रता की रक्षा करता है। जबकि कुछ परिस्थितियों के अन्तर्गत अधिकतर मौलिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं, 44वाँ संशोधन बताता है कि अनुच्छेद 20 और अनुच्छेद 21 किसी आपात्स्थिति के दौरान भी प्रतिबन्धित नहीं किए जा सकते हैं।

2) नागरिक इन बातों के लिए बाध्य हैं – सभी के सर्वमान्य हित के लिए संघर्षरत रहना, देश की एकता और अखण्डता को बनाए रखना, एक सद्भावपूर्ण समाज के लिए काम करना और देश के संसाधनों की रक्षा करना।

3) अ।

बोध प्रश्न 3

1) यह अदालत द्वारा उसके सामने 'निकाय अथवा या व्यक्ति को प्रस्तुत' करने के लिए राज्य प्राधिकारियों द्वारा दिया गया परमादेश है।

2) संसद संविधान के कुछ अनुच्छेदों को एक साधारण बहुमत से संशोधित कर सकती है, लेकिन अधिकतर संशोधनों के लिए उपस्थित और वोट कर रहे सदस्यों के दो-तिहाई की सहमति और राष्ट्रपति की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। कुछ को इसके अतिरिक्त राज्य-विधानमण्डलों के कम-से-कम आधों की सम्मति भी आवश्यक होती है।

3) चूँकि संविधान और न कि संसद सर्वोच्च है, संसद संविधान के आधारभूत अभिलक्षण को संशोधित अथवा परिवर्तित नहीं कर सकती है।

इकाई 7 सामाजिक रूपांतरण का अवलोकन

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 एक लिखित संविधान की उपादेयता

- 7.2.1 संविधान एक निरपेक्ष कानून के रूप में
- 7.2.2 इसका संविदात्मक स्वभाव
- 7.2.3 संविधान का अभिदर्शन
- 7.2.4 संविधान और न्याय

7.3 संविधान की प्रस्तावना : इसका उद्देश्य

7.4 भारतीय अभिदृष्टि

- 7.4.1 साम्राज्यवाद-विरोधी विरासत
- 7.4.2 सामाजिक न्याय के लिए आंदोलन
- 7.4.3 राष्ट्रवादी कार्यक्रम

7.5 राष्ट्रवादी कार्यक्रम के सारतत्त्व के रूप में अधिकार

- 7.5.1 समाजवाद का प्रभाव
- 7.5.2 गरीबी, राहत और योजना
- 7.5.3 वामपंथी गुटों की भूमिका
- 7.5.4 जाति-उत्पीड़न का विरोध

7.6 सैद्धांतिक सीमाएँ

- 7.6.1 भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का वर्ग-चरित्र
- 7.6.2 राजनीति पर दबाव

7.7 कांग्रेस में सर्वसम्मति

- 7.7.1 संसदीय परम्परा
- 7.7.2 संघवाद
- 7.7.3 कल्याणवाद

7.8 सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम का प्रकटन

- 7.8.1 रणनीति
- 7.8.2 विशिष्ट उद्देश्य

7.9 संविधान के उद्देश्यों पर कांग्रेसी संकल्प

7.10 संविधान सभा के "उद्देश्य संकल्प"

7.11 संरचनात्मक सीमाएँ

7.12 सारांश

7.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के नेता सामाजिक रूपांतरण का सपना देखते थे। समाज के विभिन्न समूहों का प्रतिनिधित्व करती संविधान सभा ने इस स्वप्न को भारतीय संविधान में शामिल कर दिया। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद, आप इस योग्य होंगे कि यह समझ सकें:

- भारतीय संविधान का दृष्टिकोण और अभिदर्शन;
- भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं के विचार व स्वप्न;
- किस तरीके से वे सुस्पष्ट किए गए; और
- सर्वसम्मति के साथ-साथ विवाद का विस्तार जिसने भारतीय संविधान के निर्माता के पीछे काम किया।

7.1 प्रस्तावना

इकाई 6 में हमने देखा – स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारत में एक संविधान सभा की अवधारणा का कम विकास और यह तरीका जिससे भारत के नेताओं ने एक संविधान रचा। यह संविधान न सिर्फ़ विश्व का वृहदतम संविधान है, यह एक ऐसे संप्रभु लोकतान्त्रिक गणतंत्र के रूप में भारत के भविष्य हेतु एक महान् दृष्टिकोण भी प्रतिबिम्बित करता है जहाँ न्याय, स्वतंत्रता और समानता देश की एक सुदृढ़ एकता और अखण्डता का निर्माण करेंगे।

7.2 एक लिखित संविधान की उपादेयता

किसी लिखित संविधान के विषय में चार बातें आती हैं :

7.2.1 संविधान एक निरपेक्ष कानून के रूप में

कोई संविधान अपने प्राधिकारों की व्युत्पत्ति स्वयं से ही करता है। यह, इसीलिए, भविष्योन्मुखी है। सर्वोच्च विधि-संहिताओं के एक निकाय के रूप में संविधान को न सिर्फ़ अन्य सभी कानूनों के ऊपर बल्कि अन्य सभी प्रथाओं, परम्पराओं व मतों के ऊपर भी वरीयता प्राप्त है। ऐसी प्रथाएँ व परम्पराएँ आदि वहीं तक वैध हैं जहाँ तक वे इस संविधान से विचार वैभिन्न नहीं रखतीं। अन्य शब्दों में, संविधान के किसी भी प्रावधान को इस दलील पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि यह पहले ही से विरासत में मिली परम्परा, विश्वास व मत से मेल नहीं खाता।

7.2.2 इसका संविदात्मक स्वभाव

इससे अलावा, लोकतांत्रिक संविधान लोगों के बीच अथवा, कम-से-कम, अधिकांश लोगों के बीच एक प्रकार की संविदा है। यह सर्वसम्मति पर आधारित है – यह सर्वसम्मति अनेक व्यक्तियों व समूहों के बीच मोलतोल का परिणाम है। इस प्रकार की संविदा सभी लोगों की पूरी तरह संतुष्ट नहीं कर सकती। लेकिन यह उनमें से अधिकतर को अंशत: अवश्य संतुष्ट करती है। अन्य शब्दों में, यह बहुसंख्यक लोगों का एक प्रकार का सर्वमान्य अल्पतम कार्यक्रम है जो अल्पसंख्यक-हितों को हानि वहीं पहुँचाता।

7.2.3 संविधान का अभिदर्शन

प्रत्येक लोकतांत्रिक संविधान में होता है– एक अभिदर्शन और एक अभिदृष्टि, जिनको कुल मिलाकर *स्थिरता* के साथ *विकास* कह सकते हैं। ये दोनों संकल्पनाएँ अंतर्संबंधित हैं। बिना विकास के स्थिरता को सुनिश्चित नहीं किया जा सकता है और स्थिरता के बग़ैर विकास को उपार्जित नहीं किया जा सकता है।

7.2.4 संविधान और न्याय

विकास और स्थिरता की संकल्पना से ही अभिन्न रूप से जुड़ी है – न्याय की संकल्पना। कोई भी अनुचित प्रणाली लोगों को खुश नहीं कर सकती। और एक अप्रसन्न जनता न तो देश की स्थिरता के लिए और न ही उसके विकास के लिए काम कर सकती है।

7.3 संविधान की प्रस्तावना : इसका उद्देश्य

सभी लिखित लोकतांत्रिक संविधानों में एक प्रस्तावना दी गई होती है जो भविष्य के लिए एक अभिदृष्टि प्रस्तुत करती है। ऐसी सभी अभिदृष्टियाँ इस प्रवृत्ति को लिए होती हैं कि पिछली सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था के दोषों व पूर्वाग्रहों को निरस्त करना है और एक ऐसा भविष्य बनाने का वचन देते हैं जो न्यायसंगत, सुखद और गौरवमय हो। लोकतंत्र अनिवार्य रूप से रूपांतरणीय है। सामाजिक रूपांतरण की अभिदृष्टि, जैसा कि भारतीय संविधान की प्रस्तावना में प्रतिबिम्बित होती है, नीचे दी गई है:

" हम भारत के लोग, एतत् द्वारा

अपनी संविधान सभा में; आज नवम्बर; 1949 के छब्बीसवें दिवस,

भारत को एक संप्रभु समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणंतत्र के रूप में

गठित करने और इसके सभी नागरिकों हेतु न्याय, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक;

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, मत और पूजा की स्वतंत्रता;

पद की और अवसर की समानता सुनिश्चित करने; और

इन सभी के बीच ...

व्यक्तिजनों के गौरव और देश की एकता और अखण्डता का

आश्वासन देते हुए भाईचारे को प्रोत्साहन देने का

विधिपूर्वक संकल्प करते हुए

इस संविधान को अंगीकार करते हैं, इसका विधिकरण करते हैं और इसे

स्वयं को सौंपते हैं।''

7.4 भारतीय अभिदृष्टि

रूपांतरण की इस प्रकार की अभिदृष्टि लोकप्रचलित आकांक्षाओं में निहित है। वह ऐतिहासिक रूप से विकसित होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान को अभिदृष्टि उदाहरण के लिए, 1776 के स्वतंत्रता के युद्ध से विकसित हुई जो, घूम-फिरकर, अठारहवीं शताब्दी के उदारवादी लोकतांत्रिक पर्यावरण से उत्पन्न हुई।

7.4.1 साम्राज्यवाद-विरोधी विरासत

भारत में यह अभिदृष्टि उसके अंग्रेज़ी साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष से विकसित हुई और विकसित विश्व में उदारवादी लोकतांत्रिक विचार द्वारा पोषित हुई। इसे सबसे पहले उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में औपनिवेशिक शासन के आलोचकों तथा दादाभाई नौरोजी, एम.जी. रानाडे और आर.सी. दत्त जैसे लोगों द्वारा अभिव्यक्त किया गया। साम्राज्यवाद का अंत भारत को प्रगति की आधारभूत पूर्व-शर्त के रूप में देखा गया। बीसवीं सदी में ये आलोचक स्वतंत्रता आंदोलन के रूप में उभरे।

7.4.2 सामाजिक न्याय के लिए आंदोलन

साथ-ही-साथ, इस विस्तृत साम्राज्य-विरोधी संघर्ष के साथ पैदा हुई सामाजिक न्याय के लिए माँगे। ज्योतिबा फूले ने उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध के राजाराम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और दयानन्द सरस्वती जैसे विचारकों और कार्यकर्त्ताओं की सामाजिक सुधार कार्यावली को और विस्तार दिया।

7.4.3 राष्ट्रवादी कार्यक्रम

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का जन्म भारतीयों के सभी वर्गों को एकीकृत करने के एक आधुनिक प्रयास के माध्यम से हुआ यद्यपि, मौलिक रूप से, यह आभिजात्यवादी थी। बीसवीं शताब्दी में इसका साम्राज्य-विरोधी सूचीपत्र धीरे-धीरे खोला गया। इसी समय, उसने न केवल साम्प्रदायिक एकता पर बल्कि भारत राष्ट्र में सामाजिक व आर्थिक न्याय की आवश्यकता पर भी जोर दिया। भारतीय राष्ट्रवाद इन सभी दबावों का परिणाम था।

7.5 राष्ट्रवादी कार्यक्रम के सारतत्त्व के रूप में अधिकार

उन मौलिक अधिकारों पर किया गया दृढ़ संकल्प जो 1931 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के कराची सत्र में पारित किए गए, स्वतंत्रता आंदोलन के सामाजिक व आर्थिक लक्ष्यों का पहला विस्तीर्ण, यद्यपि संपूर्ण नहीं, कथन था।

7.5.1 समाजवाद का प्रभाव

बोल्शेविक क्रांति (1917) से ही समाजवाद का विचार भारतीयों की अभिकल्पना को आकर्षित कर रहा था। काँग्रेस के भीतर इसके प्रबल समर्थ थे जवाहरलाल नेहरू जिन्होंने, हालाँकि, सोवियत नीति की सत्तावादी प्रवृत्ति को स्वीकृति नहीं दी। गाँधीजी ने वर्ग-संघर्ष के इस समाजवादी सिद्धांत को स्वीकृति नहीं दी लेकिन सामाजिक व आर्थिक न्याय के लिए काम किया।

7.5.2 गरीबी, राहत और योजना

भारत सरकार अधिनियम, 1935 की घटना के बाद, अनेक प्रांतीय सरकारों ने गरीब खेती हारों को राहत देना स्वीकार किया। काँग्रेस अध्यक्ष ने एक राष्ट्रीय योजना आयोग नियुक्त किया। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद काँग्रेस ने जमींदारी उन्मूलन को शामिल कर भूमि-सुधार कार्यक्रम अपनाया।

7.5.3 वामपंथी गुटों की भूमिका

तीस के दशक में काँग्रेस के भीतर और इसके बाहर वामपंथी दलों और गुटों का उदय हुआ। ये समाजवाद और भूमि सुधार के प्रबल समर्थक थे। जबकि बंगाल की कृषक प्रजा पार्टी और ऑल-इण्डिया मुस्लिम लीग का एक वर्ग भी समाजवाद और भूमि सुधार के समर्थक थे।

7.5.4 जाति-उत्पीड़न का विरोध

डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर समाजवाद और भूमि-सुधार में अंशत: विश्वास तो रखते थे लेकिन जाति-प्रथा द्वारा दमित लोगों के कल्याण और प्रगति से ज़्यादा वास्ता रखते थे।

संक्षिप्त में, भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय तक, न्याय के साथ विकास के सिद्धांतों की रूपरेखा सुस्पष्ट हो चुकी थी।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारत में सामाजिक रूपांतरण को अभिदृष्टि कैसे विकसित हुई?

.....

.....

.....

.....

.....

2) सामाजिक रूपातंरण की अभिदृष्टि पर पहला विस्तीर्ण कथन क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारतीय अभिकल्पना पर समाजवाद के प्रभाव पर टिप्पणी लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

7.6 सैद्धांतिक सीमाएँ

इस प्रकार की अभिदृष्टि के साकार होने में, बहरहाल, दो सीमाबंधन हैं।

7.6.1 भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का वर्ग-चरित्र

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस जिसका भारतीय संविधान सभा पर प्रभुत्व था, कोई समाजवादी पार्टी नहीं थी। न ही यह जाति-प्रथा के उन्मूलन को समर्पित कोई सामाजिक सुधार वाली पार्टी थी। ऐसे विचार भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के उस प्राथमिक कार्य के सामने गौण थे, जो था राजनीतिं स्वतंत्रता।

7.6.2 राजनीति पर दवाब

भारतीय संविधान सभा भारत सरकार के लिए एक संविधान तैयार करने में जुटी थी। इस संविधान को, अनिवार्य रूप से, एक राजनीतिक दस्तावेज होना था। वस्तुतः, जब संविधान सभा के दो सदस्यों ने (सय्यद हसरत मोहानी, एक मुस्लिम लीगी, और के.टी. शाह, एक कांग्रेसी) भारतीय संविधान की प्रस्तावना में 'समाजवाद' शब्द को शामिल करने का प्रस्ताव रखा, प्रारूपण समिति ने इसे इस दलील के साथ निरस्त कर दिया कि एक संविधान को किसी सामाजिक धारणा को पोषित करने की आवश्यकता नहीं है। डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर, अध्यक्ष प्रारूपण समिति, ने यही मत संविधान सभा के मंच पर व्यक्त किया।

7.7 कांग्रेस में सर्वसम्मति

संविधान के विषय में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के मुख्य विचारों को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता था

अ) एक संसदीय सरकार;

ब) एक राजनैतिक रूप से केन्द्रीकृत लेकिन सांस्कृतिक रूप से वैविध्यपूर्ण संघीय राज्य; और

स) एक सक्रिय सामाजिक व्यवस्था।

7.7.1 संसदीय परम्परा

संसदीय सरकार की परम्परा 1919 में मोन्टैग्यू–चैम्सफोर्ड सुधारों के पदार्पण साथ ही विकसित होने लगी थी। यद्यपि काँग्रेस ने इसमें भाग नहीं लिया, पर उदारवादियों ने लिया। 1923 में

स्वराज्य पार्टी के माध्यम से काँग्रेस द्वारा उनमें एक अपरोक्ष भागीदारी भी हुई फिर भी स्वराज्य पार्टी ने कभी कोई पद स्वीकार नहीं किया। मुस्लिम लीग का भी 1919 सुधारों के साथ इसी प्रकार का अनुभव था। भारत सरकार अधिनियम, 1935 के तहत काँग्रेस और मुस्लिम लीग, दोनों ने सहज ही पद स्वीकार कर लिए। उस समय तक उदारवादी अपना प्रभाव खो चुके थे और अधिकतर काँग्रेस में शामिल में शामिल हो चुके थे। संविधान सभा में बहुत ही थोड़े सदस्य सरकार की अध्यक्षीय प्रणाली चाहते थे।

7.7.2 संघवाद

किसी संघ का विचार भारत सरकार अधिनियम, 1935 द्वारा शक्तियों की सुपुर्दगी से भी जन्मा। 1928 का सर्वदलीय सम्मेलन देश के धार्मिक और भाषायी विविधता को नियंत्रित करने के लिए सरकार के संघीय रूप का सुझाव पहले ही दे चुका था। विभाजन ने आर्थिक आधार पर संघवाद के प्रकरण को कमज़ोर कर दिया। लेकिन काँग्रेस कम-से-कम 1920 से ही भाषायी प्रांतवाद के लिए वचनबद्ध थी। संघवाद का विचार, इसीलिए, नहीं छोड़ा गया था।

7.7.3 कल्याणवाद

भारतीय स्वंतत्रता आन्दोलन एक जन-आंदोलन था और उसे ऐसे जनसमूहों के विशालतम् वर्ग की भागीदारी की आवश्यकता थी जो ग़रीब, अशिक्षित और पिछड़े लोगों से मिलकर बने हों। जन-कल्याण का विचार, हालाँकि, राजनीतिक नेतृत्व के व्यक्ति-व्यक्ति और वर्ग-वर्ग के अनुसार भिन्न-भिन्न था। यहाँ ही थे वैचारिक भेद।

7.8 सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम का प्रकटन

एक बड़ी आम सोच थी कि आज़ादी सामाजिक-आर्थिक सम्पन्नता के द्वार खोलेगी। 1946 के शुरू में होने वाले प्रांतीय-सभा चुनावों के लिए जारी काँग्रेस पार्टी के घोषणा-पत्र में यह वायदा किया गया

उद्योग एवं कृषि, सामाजिक सेवाओं और जनोपयोगी सेवाओं को अवश्य ही प्रोत्साहित, आधुनिकीकृत एवं तेज़ी से विस्तीर्ण किया जाना है।

7.8.1 रणनीति

इस उद्देश्य से काँग्रेस ने आवश्यक रणनीति का सुझाव दिया जिसके लक्ष्य थे :

अ) सभी क्षेत्रों में सामाजिक उन्नति की योजना बनाना और समन्वय करना;

ब) धन और सत्ता का संचय कुछ ही हाथों में होने से रोकना;

स) समाज को बढ़ते निहित विद्वेषपूर्ण स्वार्थों से बचाना; और

द) खनिज संसाधनों, परिवहन के साधनों और भूमि, उद्योग व अन्य राष्ट्रीय गतिविधि के विभागों में उत्पादन और वितरण की प्रमुख पद्धतियों का सामाजिक नियंत्रण।

7.8.2 विशिष्ट उद्देश्य

काँग्रेस के घोषणा-पत्र में उल्लिखित विशिष्ट उद्देश्य थे :

अ) राज्य और कृषकवर्ग के मध्य से बिचौलियों को हटाने – न्यायोचित क्षतिपूर्ति के भुगतान पर– के लिए भूमि, प्रणाली के सुधार की तत्काल आवश्यकता।

ब) शिक्षा संबंधी अवसरों और स्वास्थ्य सेवाओं का संवर्धन किए जाने की आवश्यकता।

स) उद्योग में कर्मचारियों की दशा में सुधार और ग्रामीण ऋणग्रस्तता के निराकरण का वायदा।

द) अंतरराष्ट्रीय सहयोग और मैत्री की ओर पार्टी की आशापूर्ण दृष्टि।

7.9 संविधान के उद्देश्यों पर कांग्रेसी संकल्प

लोकतांत्रिक समाजवाद का पुट लिए यह विशाल लोकोपकारी और कल्याणकारी कार्यक्रम धीरे-धीरे साकार किया गया। कांग्रेसी नेतागण अवगत थे कि संविधान मौलिक रूप से एक राजनीतिक दस्तावेज है। इसलिए उसे सबसे पहले राजनीतिक संरचना की अभ्युक्ति करनी चाहिए। इस संरचना की विस्तीर्णतम रूपरेखा संविधान सभा की बैठक से बीस दिन पूर्व, 20 नवम्बर 1946 को, संविधान के उद्देश्यों पर काँग्रेस के संकल्प में स्पष्ट की गई।

इस संकल्प के अनुसार, काँग्रेस एक ऐसे स्वतंत्र संप्रभु गणतंत्र का समर्थन करती थी जिसमें सभी शक्तियाँ और प्राधिकार जनता से ही व्युत्पन्न हों। इसके अलावा, वह एक ऐसा संविधान चाहती थी जिसमें सामाजिक उद्देश्य भारत के सभी लोगों के लिए स्वतंत्रता, प्रगति और समान अवसर के बलवर्धन हेतु को अर्पित हों। इससे यह प्राचीन देश विश्व में अपना न्यायोचित और सम्मानजनक स्थान प्राप्त कर सकेगा और अपना संपूर्ण योगदान विश्व-शांति के प्रोत्साहन और मानवजाति की प्रगति और कल्याण हेतु कर सकेगा।

7.10 संविधान सभा के "उद्देश्य संकल्प"

'उद्देश्य संकल्प' जो 13 दिसम्बर, 1946 को संविधान सभा में जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत किए गए, ने सामाजिक रूपांतरण के लक्ष्य को और अधिक स्पष्ट किया। इस संकल्प के अनुसार, संविधान भारत के सभी लोगों को इनका वचन दे:

1) न्याय, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक;

2) कानून के सामने पद की और अवसर की समानता;

3) विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास,. मत, पूजा, व्यवसाय, सम्मिलन और कार्य की स्वतंत्रता, बशर्ते कानून और सार्वजनिक सदाचार के तहत हो; और

4) अल्पसंख्यकों, पिछड़े व जनजातीय क्षेत्रों, तथा पद-दलित व अन्य पिछड़े वर्गों के लिए पर्याप्त सुरक्षा।

अपने क्रियान्वित किए जाने के लिए लगभग तीन वर्षों के भीतर संविधान सभा ने एक ऐसा संविधान निश्चित किया जिसमें सामाजिक रूपांतरण के इन उद्देश्यों को इनमें प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया था – प्रस्तावना, मौलिक अधिकार, राज्य-नीति के निदेशक सिद्धांत तथा लोगों के पिछड़े व अलाभान्वित वर्गों के लिए अनेक विशेष प्रावधान। यह प्रक्रिया संविधान के बनने पर रुकी नहीं। संशोधन किए गए हैं और इन उद्देश्यों को आगे बढ़ाये जाने की प्रत्याशा की जाती है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) सामाजिक रूपांतरण की अभिदृष्टि के कार्यान्वयन में सीमाबद्धता की पहचान करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत सरकार अधिनियम, 1935 के साथ संघवाद की संकल्पना का क्या संबंध है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) "उद्देश्य संकल्प" में कौन-से लक्ष्यों का उल्लेख है?

.....

.....

.....

.....

.....

7.11 संरचनात्मक सीमाएँ

कोई संविधान सभा ऐसे रूपांतरण को केवल आकार ही दे सकती है जिसको एक सामाजिक अथवा राजनीतिक क्रांति द्वारा जन्म दिया गया हो। एक संविधान सभा आमूल परिवर्तन नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त, एक उदारवादी लोकतांत्रिक संविधान स्वयं ही मूलभूत सामाजिक रूपांतरण की व्यवस्था नहीं कर सकता। वह मात्र एक लोकतांत्रिक *राजनीतिक संरचना* की व्यवस्था करता है।

एक समाजवादी राज्य की स्थापना न तो संविधान सभा की शक्तियों में था, न ही उसकी यह मंशा थी। यह तर्क दिया गया कि एक संविधान कोई आर्थिक तंत्र नहीं रखता है। लेकिन यह एक निश्चित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के निर्माण की अनुमति दे सकता है। वस्तुतः, नेतृत्व द्वारा यह अनुभव किया गया कि संविधान के सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हुई। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० भीमराव

अम्बेडकर व अन्य ने यह चेतावनी दी कि यदि ये उद्देश्य शीघ्र ही पूरे नहीं हुए तो संविधान सभा द्वारा रचित राजनीतिक संरचना स्थिर नहीं रहेगी।

7.12 सारांश

संविधान एक सकारात्मक विधि-संहिता है जो भविष्योन्मुखी है। यह देश के भविष्यत् कार्यों का निर्देश देता है और अन्य सभी कानूनों, रिवाजों व विश्वासों से ऊपर है। यह जनसाधारण के बीच एक संविदा है। यह अंशत: प्रत्येक को संतुष्ट करता है। प्रत्येक लोकतांत्रिक संविधान हेतु एक अभिदर्शन है – स्वतंत्रता, विकास और न्याय सुनिश्चित करना। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन ऐसे लक्ष्यों के प्रति वचनबद्ध रहा। संविधान का प्राथमिक व्यवसाय राजनीति है। अभी तक, वह प्रस्तावना और मौलिक अधिकारों के निकाय में एक राजतंत्र हेतु ऐसे लक्ष्य निर्धारण करता है। भारतीय संविधान ने दोनों ही को रखा, जबकि विस्तृत रूप से रखा। इसमें, इनके अलावा, शामिल किया गया राज्य-नीति के निदेशक सिद्धांतों को।

7.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ऑस्टीन, ग्रैनविल, *दि इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन : कॉर्नरस्टोन ऑव ए नेशन*, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1966.

चौबे, शिबानी किंकर, *कॉन्स्टीट्यूशन एसैम्बली ऑव इण्डिया : स्प्रिंगबोर्ड ऑव रिवल्यूशन*, नई दिल्ली, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, 1973.

चौबे, शिबानी किंकर, *कॉलोनिअलिज़्म, फ्रीडम स्ट्रगल एण्ड नैशनलिज़्म इन इण्डिया*, दिल्ली, बुक लैण्ड, 1996.

7.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) यह ब्रिटिश शासन के विरोध से उत्पन्न हुई तथा इसको दुनिया के विकसित देशों की उदारवादी प्रजातांत्रिक सोच द्वारा विकसित किया गया।
2) यह सबसे पहले दादा भाई नौरोजी, एम.जी.रानाडे, एवं आर.सी.दत्त जैसे लोगों द्वारा औपनिवेशिक शासन की आलोचना में अभिव्यक्त हुआ।
3) इसके प्रभाव से कांग्रेस के अंदर एक समाजवादी गुट का उदय हुआ।

बोध प्रश्न 2

1) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वर्ग चरित्र तथा राजनीति पर दबाव।
2) यह भारत सरकार के 1935 अधिनियम में निहित सत्ता के विकेन्द्रीकरण से उत्पन्न हुआ।
3) मुख्यत: समाज के सभी वर्गों के लिए न्याय, समानता एवं स्वतन्त्रता।

इकाई 8 अधिकार और नागरिकता

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 नागरिकता क्या है?

8.2.1 नागरिकता और व्यक्तिवाद

8.2.2 नागरिकता और बहु-संस्कृतिवाद

8.3 भारतीय संविधान में नागरिकता

8.3.1 भारत के नागरिक कौन हैं?

8.3.2 भारतीय नागरिकता में सम्प्रदाय को मान्यता

8.3.3 राज्य-नीति के निदेशक सिद्धांत

8.3.4 अधिकार और मताधिकार

8.3.5 नागरिकता के कर्त्तव्य

8.4 नागरिकता में तनाव

8.4.1 नागरिकता और लिंग

8.5 नागरिकता की राहें

8.6 सारांश

8.7 शब्दावली

8.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

भारतीय संविधान अधिकार और नागरिकता के विषय में विवरण देता एक विस्तीर्ण दस्तावेज है। इस इकाई को पढ़ चुकने के बाद आप नागरिकता के वैध-रीतिक पहलुओं को समझ सकेंगे जैसे कि वे भारतीय संविधान के भाग-II में समाविष्ट हैं। इसे संविधान के भाग-III, IV व IVA के साथ, जो क्रमश: मौलिक अधिकारों, निदेशक सिद्धांतों व मौलिक कर्त्तव्यों पर हैं, पढ़कर आप नागरिकता के स्वभाव को पूरी तरह से समझ सकेंगे जैसा कि संविधान-निर्माताओं द्वारा समझा गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप स्पष्ट कर सकेंगे:

- नागरिकता का अर्थ;
- भारत में नागरिकता का विशिष्ट स्वभाव;
- भारत के संविधान में नागरिकता और अधिकार;
- नागरिकता के तत्त्व;
- नागरिकता की राहें;
- नागरिकता के विरोधाभास/तनाव और आलोचनाएँ।

8.1 प्रस्तावना

नागरिकता विषयों और प्रश्नों की एक शृंखला प्रस्तुत करती है नामतः, नागरिकता क्या है? क्या यह कोई कानूनी पदवी है जो कुछ निश्चित अधिकारों के उपभोग की स्वीकृति देती है अथवा इसमें कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व भी शामिल हैं? नागरिकता के मूल सिद्धांत क्या हैं? एक नागरिक कौन है? नागरिकता और राज्य के बीच क्या संबंध है? ये व अन्य प्रश्न उसके सारभाग-केन्द्र में रहे हैं जिसे 'नागरिकता का सिद्धांत' कहा जा सकता। यह भली-भाँति समझ लिया जाना चाहिए कि जहाँ नागरिकता समानता सुनिश्चित करने का लक्ष्य रखती है, लिंग, वर्ग, जाति, प्रजाति, राष्ट्रीयता आदि की सामाजिक-आर्थिक श्रेणियाँ यह निर्धारित करती हैं कि किस सीमा तक हम नागरिकता के अपने अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं, अपने व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास के लिए अनिवार्य विभिन्न शर्तों तक पहुँच सकते हैं, आगे वह सीमा भी जहाँ तक हम नागरिकता के अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकते हैं। जहाँ तकनीकी उन्नति और भूमण्डलीकरण विश्व और राज्यों के भीतर के लोगों को समीपतर ले आए हैं, उनके बीच सांस्कृतिक भेदों के प्रति जागरूकता भी बढ़ रही है। विश्व में राष्ट्र-राज्यों के बीच और लिंग, वर्ग, जाति, न जाति, राष्ट्रीयता आदि की सीमा-रेखाओं के साथ-साथ उनके भीतर असमानता से संबंधित महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए हैं। जहाँ व्यक्ति इस सोच के साथ ही बड़ा होता है कि नागरिकता व्यक्तिगत अधिकारों व कर्त्तव्यों का पालन भर है, यह धारणा बढ़ रही है कि सांस्कृतिक/धार्मिक सम्प्रदाय, आम राष्ट्रीय जीवन में भागीदारी निभाते हुए, अपनी निजी संस्कृतियों को कायम रखने का अधिकार भी रखते हैं। नागरिकता के अधिकारों को इसीलिए, विशिष्ट सांस्कृतिक समूहों की आवश्यकताओं की जिम्मेदारी लेनी पड़ती है। साम्प्रदायिक अधिकारों के प्रश्न इस प्रकार नवीन प्रज्ञता और नीति-निर्णयों में काफी महत्त्व अर्जित कर चुके हैं। अन्य पाठांशों की ओर बढ़ते समय हमें यहाँ उठाए गए प्रश्न दिमाग़ में आवश्यक रखने चाहिए नामतः, व्यक्ति और सम्प्रदाय अधिकारों के प्रश्न और वे विभिन्न कारक जो अधिकारों के उपभोग को निश्चित करते हैं, अन्य शब्दों में, जाति, वर्ग, लिंग, न जाति व राष्ट्रीय पहचान से नागरिकताओं का संबंध।

8.2 नागरिकता क्या है?

नागरिकता की शायद सर्वाधिक व्यापक रूप से स्वीकृत परिभाषा है – 'एक राजनीतिक समुदाय में पूर्ण और समान सदस्यता'। यह परिभाषा अंग्रेज समाजशास्त्री टी.एच. मार्शल द्वारा 1949 में लिखी गई उनकी पुस्तक *सिटीज़नशिप एण्ड सोशल क्लास* में दी गई है। इस परिभाषा के तात्त्विक मूल यूनानी और रोमन संकल्पनाओं – *मनुष्य एक सामाजिक प्राणी के रूप में* और नागरिकता *शासन करने और शासित होने के रूप में* – में तलाशे जा सकते हैं। जबकि पहली राजनीतिक समुदाय (शहर-राज्य) में सक्रिय भागीदारी की आवश्यकता वाले नागरिक (केवल मुक्त जन्मजात-जन्मे मनुष्यों हेतु प्रतिबन्धित) के रूप में एक मनुष्य की पहचान प्रदान करने वाली पूर्व-श्रेष्ठता की द्योतक है, रोमन परम्परा ने नागरिकता की धारणा को कानून के समक्ष समानता का संकेत देती एक कानूनी/न्यायिक पदवी के रूप में प्रस्तुत किया। जनता की लोकप्रचलित सभाओं में (*सभाएँ* व *समितियाँ*) भागीदारी निभाती निर्णय लेने की अपनी अनूठी व्यवस्था के साथ प्राचीन भारत के *जनपद* जो कुछ दृष्टांतों में राजा भी चुनते थे, यूनानी नागरिकता के घटक-तत्त्वों से इस बात में सम्बद्धता दर्शाते हैं कि दोनों ही समुदाय के प्रशासन में नागरिकों की सक्रिय भागीदारी की आवश्यकता वाले स्वायत्त, स्व-शासी समुदायों से जुड़े हैं।

8.2.1 नागरिकता और व्यक्तिवाद

यह, तथापि, फ्रांसीसी क्रांति और 'मनुष्य और नागरिकों के अधिकारों की घोषणा' थी जिसने उन सभी निर्णयों के लेने में भागीदारी के हकदार एक 'मुक्त और स्वायत्त व्यक्ति' के रूप में नागरिक के द्योतन को, उसके द्वारा नागरिकता के पारम्परिक द्योतनों को व्यक्तिवाद से मिलाते हुए, स्थापित किया जिनकी आज्ञा-पालन में आवश्यकता होती है। उन्नीसवीं शताब्दी में पूँजीवादी विपणन संबंधों के विकास और उदारवाद के बढ़ते प्रभाव के साथ, निजी व परस्पर विरोधी हितों के साथ व्यक्तियों के रूप में नागरिकों के द्योतन ने धीरे-धीरे पूर्व-श्रेष्ठता प्राप्त कर ली। एक प्राथमिक रूप से नगरीय गतिविधि, जन-स्फूर्ति और समकक्षों के एक समुदाय में सक्रिय राजनीतिक भागीदारी के रूप में नागरिकता के विचार अब बीते काल के तादीयत्व के रूप में देखे जा रहे थे।

8.2.2 नागरिकता और बहु-संस्कृतिवाद

बीसवीं सदी के अधिकांश वर्षों तक उदारवादी सिद्धांत के अधिकतर में, व्यक्तिवादी नागरिक के पक्ष में पूर्वाग्रह जारी रहा और नागरिकता अधिकारों के स्वामित्व का संकेत करती उस कानूनी पदवी के रूप में देखी गई जो प्रत्येक नागरिक अन्यों के साथ समान रूप से रखता था। नागरिकता के प्रबल उदारवादी आदर्श की हालाँकि, इन्हीं आधारों पर असंदिग्ध आलोचना हुई है। यह विचार कि (प्रत्येक) नागरिक अधिकारों का उपभोग कर सकता है चाहे वह किसी भी समुदाय से सम्बन्ध रखता/रखती हो, प्रश्नों के घेरे में रहा है। माना कि आधुनिक समाज बहु-सांस्कृतिक हैं, नागरिकों के विशिष्ट प्रसंग, सांस्कृतिक, धार्मिक, न जातीय, भाषायी, इत्यादि, सार्थक तरीकों से नागरिकता निश्चित करने के रूप में देखे जा रहे हैं। अधिकांश पाश्चात्य समाजों में न जातीय, धार्मिक व प्रजातीय समुदायों ने उन अधिकारों के लिए दबाव डाला है जो उनकी विशेष आवश्यकताओं पर विचार करे और उसके द्वारा नागरिकता की औपचारिक समानता को प्रमाणित करे। लोगों के बीच सांस्कृतिक भेदों को उचित महत्त्व देकर नागरिकता को पुन:परिभाषित करने और देश के नागरिक को एक सार्वजनिक राजनीतिक पहचान बनाते हुए बहुसंख्यक सांस्कृतिक, धार्मिक, न जातीय, भाषायी पहचानों के बीच एक संतुलन कायम करने का प्रयास बढ़ रहा है। 'विभेदीकृत नागरिकता' के द्योतन ने इसीलिए विशिष्ट सांस्कृतिक समूहों की आवश्यकताओं के समायोजन हेतु लोकप्रियता हासिल कर ली है।

8.3 भारतीय संविधान में नागरिकता

इस पाठांश में हम भारत में नागरिकता की परिभाषा, प्रकृति और कार्यक्षेत्र का अध्ययन करेंगे। 26 जनवरी 1950 को संविधान के *प्रवर्तन* ने भारत के लोगों की सामाजिक स्थिति का एक महत्त्वपूर्ण विभेदीकरण किया। वे अब अंग्रेजों के अधीन नहीं थे, बल्कि भारत गणराज्य के नागरिक थे और उन्होंने यह स्थिति उस संविधान से व्युत्पन्न की थी जो उन्होंने भारत की *'जनता'* के रूप में अपनी सामूहिक क्षमता से (संविधान सभा में अपने 'प्रतिनिधियों' के माध्यम से) अधिनियमित, अंगीकार की थी और स्वयं को सौंपा था। प्रस्तावना में निर्विवाद है – अपने सभी नागरिकों के लिए न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा – वे आदर्श *सुनिश्चित* करना, जो नागरिकता को वास्तविक अर्थ प्रदान करने हेतु आधार निश्चित करते हैं।

8.3.1 भारत के नागरिक कौन हैं?

संविधान के भाग-II (अनुच्छेद 5 से 11), शीर्षक *नागरिकता,* ने 26 नवम्बर 1949 को, यानी जिस तिथि को संविधान उस संविधान सभा द्वारा *अंगीकृत* किया गया, संविधान के प्रारंभ होने के

समय 'भारत का नागरिक कौन है?' प्रश्न का उत्तर दिया है। जबकि संविधान पूरे प्रभाव में 26 जनवरी 1950 को ही आया, नागरिकता से जुड़े प्रावधान (अनुच्छेद 5 से 9), इसके प्रारंभ होने की तिथि से ही लागू हो गए। भारतीय नागरिक और अनागरिक (विदेशी) के बीच अंतर इस प्रकार इस तिथि से प्रभावी हो गया। जबकि एक नागरिक कुछ निश्चित अधिकारों का उपभोग और कर्त्तव्यों का पालन करता/करती है जो उसे एक विदेशी से अलग करते हैं, दूसरे के पास 'वैयक्तिकता' के निश्चित अधिकार हैं जिनपर इस तथ्य पर कोई ध्यान दिए बगैर उसका स्वामित्व है कि वह एक नागरिक नहीं है। संविधान के अनुच्छेद 5 से 8 से तहत लोगों की निम्नलिखित श्रेणियाँ संविधान के प्रारंभ होने की तिथि से भारत की नागरिक बन गईं:

क) वे अधिवासी और भारत में जन्मे हैं;

ख) वे अधिवासी जो भारत में नहीं जन्मे, लेकिन उसके माता-पिता में से कोई एक भारत में जन्मा था;

ग) वे अधिवासी जो भारत में ही जन्मे, लेकिन पाँच वर्ष से अधिक से भारत में सामान्यत: निवासी हैं।

घ) वे भारत में निवासी, जो 1 मार्च 1947 के बाद पाकिस्तान प्रवास कर गए थे और बाद में पुनर्वास अनुज्ञा पर लौटे;

ङ) वे पाकिस्तान में निवासी, जो 19 जुलाई 1948 से पूर्व भारत में आप्रवासी थे अथवा वे जो उसके बाद आए लेकिन 6 माह से अधिक रहे और अपना पंजीकरण कराया;

च) वे जिनके माता-पिता और दादा-दादी भारत में जन्मे लेकिन भारत से बाहर रह रहे थे।

अनुच्छेद 11 के माध्यम से संविधान ने अपने प्रारंभ में ही संसद को नागरिकता के उपार्जन और अवसान से संबंधित कानूनों को बनाने हेतु प्राधिकृत कर दिया। नागरिकता अधिनियम (1955 का LVII) ने इस बात का विशेष उल्लेख करते हुए विस्तृत प्रावधान रखे कि नागरिकता किस प्रकार जन्म, वंशज, पंजीकरण, नागरिकीकरण अथवा भू-भाग के सम्मिलन द्वारा अर्जित की जा सकती है। यह अधिनियम 1986 में संशोधित हुआ ताकि बंगलादेश, श्रीलंका और कुछ अफ्रीकी देशों से वृहद्-स्तर पर प्रवसन पर कार्यवाही की जा सके। संयुक्त राज्य अमेरिका (यू.एस.ए.) से भिन्न, जहाँ नागरिकों के पास दोहरी नागरिकता है – राष्ट्रीय नागरिकता और उस संघीय इकाई (राज्य) की, भारतीयों के पास राज्यों की अलग नागरिकता नहीं है। कुछ देशों से भिन्न, जो अपने नागरिकों को एक ही वक़्त दो देशों की नागरिकता रखने की स्वीकृति देते हैं, एक भारतीय नागरिक अपनी नागरिकता खो देता/देती है यदि वह किसी अन्य देश की नागरिकता प्राप्त कर लेता/लेती है।

8.3.2 भारतीय नागरिकता में सम्प्रदाय को मान्यता

पूर्व पाठांश में हमने चर्चा की कि नागरिकता का द्योतन जैसा कि उन्नीसवीं सदी में प्रचलित था और उसके बाद समझा गया, वृहद् रूप से अधिकारों और दायित्वों की एक ऐसी व्यवस्था थी जिसने राज्य-राष्ट्रों और उनके *वैयक्तिक* सदस्यों के बीच संबंध को परिभाषित किया। इस संबंध को परिभाषित करते मानदण्ड समानता और स्वतंत्रता द्वारा स्थापित किए गए। समानता ने विशिष्टता और एकरूपता को परोक्ष रूप से प्रजाति और जाति के आरोपित अधिक्रमण पर आधारित अन्यायपूर्ण व्यवस्थाओं के विरुद्ध बताया। तब समानता के साथ स्वतंत्रता का अर्थ होता – अपनी भरपूर पारिस्थितिक क्षमताओं से वैयक्तिक लक्ष्यों और महत्त्वाकांक्षाओं की प्राप्ति-प्रयास हेतु ऐसी स्वतंत्रता जहाँ सामाजिक भेद अस्वीकार अथवा न्यूनतम कर दिए गए हों। उदारवादी सिद्धांत में नागरिक इस

प्रकार अपने सामाजिक संदर्भ के सभी लक्षणों से वंचित 'चलायमान व्यक्ति' था/थी। यहाँ, यद्यपि, ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है कि नागरिकता को परिभाषित करते ये सिद्धांत उस प्रकार के सामाजिक संबंधों से मेल खाते नहीं देखे गए जो ग़ैर-पाश्चात्य समाजों में विद्यमान थे, जैसे भारत, जहाँ धर्म और जाति सामाजिक जीवन के आधार के रूप में देखे जाते थे। पश्चिम और पूर्व में सामाजिक संरचनाओं के संगठन में यह तथाकथित 'भेद' उपनिवेशकों द्वारा उपनिवेशित जनता को साम्राज्यिक शासन के अधीन करने के लिए औचित्य-साधन के रूप में लिया गया। हमने यह भी देखा कि अस्सी के दशक में उदारवादी सिद्धांत उत्तरोत्तर रूप से पश्चिम में बहु-सांस्कृतिक समाजों में स्वयं को समायोजित करने के तरीकों की तलाश में है और यह बोध किया कि समुदाय सदस्यता उस वैयक्तिक सदस्य की आवश्यकताओं और क्षमताओं के एक महत्त्वपूर्ण निर्णायक कारक का रूप ले लेती है।

भारतीय नागरिकों के मौलिक अधिकारों की गणना करते भारतीय संविधान के भाग-III का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि व्यक्ति और समुदाय, दोनों ही को इन अधिकारों का विषय बनाया गया है। इसीलिए यह कहा जा सकता है संविधान में अधिकारों की दो भाषाएँ अस्तित्वपरक हैं, एक वैयक्तिक नागरिक को समझती है और दूसरी समुदाय को। सामान्यत: अनुच्छेद 14 से 24 वैयक्तिक नागरिकों को समानता और स्वतंत्रता के विभिन्न अधिकार देते जान पड़ते हैं जबकि अनुच्छेद 25 से 30, धार्मिक-सांस्कृतिक समुदायों की विशिष्ट आवश्यकताओं को समझते लगते हैं। कुछ गहराई से पढ़ने पर ये अनुच्छेद, यद्यपि, दर्शाएँगे कि वास्तव में यहाँ कोई खाना-विभक्तिकरण नहीं है और स्पष्टत: कुछ वैयक्तिक-समझवाले अधिकार समुदाय अधिकारों के प्रति वचनबद्धता के साथ गुँथे-बुने हैं। यदि, उदाहरण के लिए, हम अनुच्छेद 14 व 15 पर नज़र डालें तो पाएँगे कि ये प्रत्येक नागरिक हेतु कानून के समक्ष समानता का आश्वासन देते हैं और जाति, धर्म, प्रजाति आदि पर आधारित भेद को प्रतिबंधित कर, इस प्रकार सामाजिक परिस्थितियों द्वारा प्रदत्त भेदों को प्रशामित करते हुए, इस समानता को सुदृढ़ करते हैं। ये अनुच्छेद, यद्यपि, राज्य के लिए सामुदायिकता के प्रति वचनबद्धता, दूसरे शब्दों में, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों व अन्य पिछड़े वर्गों के पक्ष में निश्चित अधिकार प्रदान करने की शर्त रखते हैं। इस प्रकार अनुच्छेद 15 व्यवस्था देता है कि 'राज्य किसी भी नागरिक से केवल धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें किसी भी आधार पर भेद-भाव नहीं बरतेगा' और उपबन्ध-4 में राज्य के लिए इस अधिकार हेतु शर्त रखता है कि 'वह नागरिकों के सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े किन्हीं भी वर्गों की उन्नति अथवा अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई विशेष प्रावधान रखे।' इसी प्रकार अनुच्छेद 16 जो सार्वजनिक रोज़गार के मामलों में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समानता का वचन देता है, निश्चित समुदायों के पक्ष में प्रतिकारी विवेक हेतु भी व्यवस्था देता है।

अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता, अनुसूचित जातियों पर उन्हें दुर्बल करती एक स्थिति, का उन्मूलन करता है। अनुच्छेद 25 से 30 अपने को धर्म की स्वतंत्रता और अन्त:करण की स्वतंत्रता, धार्मिक संस्थानों को स्थापित करने व उनका अनुरक्षण करने तथा 'धर्म के विषयों में अपने निजी मामलों को संचालित करने', सम्पत्ति का अर्जन और प्रबंध करने, धार्मिक शिक्षा प्रदान करने, अपनी भाषा, लिपि, संस्कृति आदि को बनाए रखने का आश्वासन देते अल्पसंख्यक अधिकारों से जोड़ते हैं। यह अधिकार-समूह सुव्यक्त रूप से धार्मिक व सांस्कृतिक समुदायों तथा अल्पसंख्यक समूहों के अधिकारों से व्यवहृत है और यह उनके लिए अपने निजी 'वैयक्तिक कानूनों' द्वारा नागरीय मामलों में स्वयं प्रबंध करने हेतु धार्मिक समुदायों के अधिकारों का आधार भी बनाता है। इस अधिकार-समूह में एक महत्त्वपूर्ण कारक भारतीय राज्य को प्रदत्त वह कार्यक्षेत्र है जिसमें वह इन समुदायों व संस्थानों का नियंत्रण, सुधार और कुछ मामलों में प्रबंध कर सकता है।

इस प्रकार, जबकि उदारवादी सिद्धांत का (वैयक्तिक) नागरिक अधिकारों के एक विषय के रूप में डटा है, संविधान व्यक्तियों के जीवन की परिस्थितियों को निर्धारित करती एक सुसंगत सामूहिक इकाई के रूप में समुदाय को महत्त्व देता है। भारत संविधान ने इस प्रकार नागरिकों के बीच विभेदन के लिए समुदाय सदस्यता को एक सम्बद्ध विचाराधार बनाया है। इसने इस प्रकार एक 'विभेदीकृत-नागरिकता' की प्रस्तावना की है ताकि निश्चित किया जा सके कि वे समुदाय (उदाहरणार्थ, अनुसूचित जातियाँ अथवा दलितजन) जो अतीत में सामाजिक विभेदीकरण के शिकार रहे और अलाभान्वित ही रहे, शेष समाज के साथ समान रूप से प्रतिस्पर्धा कर सकें। सामाजिक समानता को भी यह आश्वासन देते हुए दृढ़ता प्रदान की गई कि जबकि प्रत्येक समुदाय के सांस्कृतिक रूप से भिन्न होने के दावों का परिरक्षण किया जा सकता है, उसी के साथ समुदायों के बीच एकरूपता अथवा समानता का आश्वासन हो। अपनी सांस्कृतिक विरासत के अनुरक्षण हेतु विभिन्न समुदायों के अधिकारों को अत: संविधान में मान्यता प्रदान की गई और राज्य को अभेदीकरण का वचन देना था। इस प्रकार, सामाजिक और धार्मिक समुदायों को सांस्कृतिक रूप से भिन्न रहने का अधिकार दिया गया और उनकी भिन्नता के परिरक्षण में राज्य को सहायता करनी थी। यहीं, सामाजिक समानता के द्योतन की भी अपेक्षा थी कि ऐतिहासिक अशक्तता की प्रतिपूर्ति की जाए और अवसरों की समानता का आश्वासन देकर समानता को सुदृढ़ किया जाए। इस प्रकार अतीत के विभेदीकरण और संपृथकन की प्रतिपूर्ति जातीय समुदायों को राज निकाय में समान नागरिकों के रूप में शामिल करके की गई। इस समानता का आश्वासन उन्हें पारिस्थितिक अशक्तताओं से उबरने हेतु विशेष प्रावधान देकर दिया गया। सार्वजनिक रोज़गार में आरक्षण की नीति पर इसीलिए विचार किया गया। (गुरप्रीत महाजन, *आइडेण्टिटीज़ एण्ड राइट्स : एसपैक्ट्स ऑव लिबरल डिमोक्रेसी इन इण्डिया,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998, अध्याय – इण्ट्रोडक्शन : निगोशिएटिंग डिफरैंसिस विद्इन लिबरेलिज़्म)।

8.3.3 राज्य-नीति के निदेशक सिद्धांत

संविधान के भाग-IV, शीर्षक 'राज्य-नीति के निदेशक सिद्धांत', में निश्चित ग़ैर-न्यायिक अधिकारों को दिया गया है। ये अधिकार, पूर्व पाठांश में दिए गए अधिकारों से भिन्न, न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं, लेकिन विधि-निर्माण हेतु अनुस्मारकों वा निदेशकों के रूप में हैं, उन शर्तों का उद्घाटन करने हेतु जिनके तहत पिछले पाठांश में परिगणित अधिकार अधिक सार्थक हो जाते हैं। पिछले ही पाठांश की भाँति, यद्यपि, इस पाठांश में भी अधिकार 'सामुदायिक-ता' और 'नागरिक-ता', दोनों ही के प्रति, दूसरे शब्दों में, समुदाय और वैयक्तिक नागरिक, दोनों ही के प्रति, एक 'युगपत् वचनबद्धता' दर्शाते हैं। अनुच्छेद-38, उदाहरणार्थ, राज्य को यह वचन देने का निर्देश देता है कि एक ऐसी 'सामाजिक व्यवस्था' को प्रोत्साहित कर 'लोगों के कल्याण को बढ़ावा दे' जिसमें 'न्याय, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक, राष्ट्रीय जीवन के सभी संस्थानों को सूचित करे'। इसकी प्राप्ति के लिए राज्य को कहा गया है कि 'आय की असमानताओं को कम-से-कम कर देने हेतु प्रयास करे' और यह भी कि 'पद, सुविधाओं और अवसरों में असमानताओं को दूर करे'। महत्त्वपूर्ण अनुस्मारक, बहरहाल, यह है कि इस न्याय और समानता को 'न सिर्फ व्यक्तियों के बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले अथवा विभिन्न व्यवसायों में लगे लोगों के समूहों के बीच भी उपलब्ध कराना है'। इसी प्रकार अनुच्छेद 46 राज्य को आदेश देता है कि 'वह लोगों के कमजोरतर वर्गों, और विशेषत: अनुसूचित जातियों व जनजातियों, के शैक्षिक और आर्थिक हितों को विशेष जिम्मेदारी के साथ बढ़ावा दे' और 'उनकी सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के उत्पीड़न से रक्षा करे'। साधारणतया ये निदेशक सिद्धांत जीवन-यापन के पर्याप्त साधन; समान कार्य के लिए समान वेतन; कर्मचारियों की तंदरुस्ती व शक्ति; कर्मचारियों की निर्वाह-मज़दूरी; कार्य-शर्तों के न्यायोचित व मानवोचित प्रावधान; काम से, शिक्षा के, जन-सहयोग के, समान न्याय के अधिकार; और मुफ्त कानूनी सहायता तक

पहुँच से लेकर पर्याप्त पोषण व स्वास्थ्य आदि तक सामाजिक रूप से उत्कर्षक अथवा कल्याणकारी अधिकारों की एक शृंखला की व्यवस्था करने में राज्य की एक सक्रिय भूमिका की कल्पना करते हैं।

निदेशक सिद्धांतों का अनुच्छेद 44 राज्य को आदेश देता है कि 'वह भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र में सभी नागरिकों के लिए एक समान-व्यवहार संहिता सुनिश्चित करे'। इस अनुच्छेद पर विशेष ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है क्योंकि यह उसका परिसंपुटन करता है जिसका ज़िक्र हम वैयक्तिक और सामुदायिक अधिकारों के प्रति संविधान की 'युगपत् वचनबद्धता' के रूप में पहले ही कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त, यह उन तनावों में एक वातायन प्रस्तुत करता है जो नागरिकता, और कुछ स्थितियों में, खासकर नारी-अधिकारवादियों द्वारा, उसकी आलोचना को सूचित करते हैं। निम्नलिखित पाठांश में हम इस अनुच्छेद और इसके निहितार्थों को विस्तार से समझेंगे।

8.3.4 अधिकार और मताधिकार

संविधान के इन भागों में दिए गए प्रावधानों के अलावा, उसके अन्य खण्ड भी उन प्रावधानों में यहाँ-वहाँ दिए गए हैं जो नागरिकता को दृढ़ता प्रदान करते हैं। औपनिवेशिक, शासन के तहत राजनीतिक अधिकारों के वंचन के लम्बे इतिहास के प्रसंग में 'चुनावों' और 'मताधिकार' से संबंधित प्रावधान खासतौर पर महत्त्वपूर्ण हैं। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि संविधान ने लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनावों में 'सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार' को आधार बनाया। संविधान के अनुच्छेद 326 ने 21 वर्ष की आयु से (1 अप्रैल 1989 से प्रभावी, यह 61वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1988 द्वारा बदलकर 18 वर्ष कर दी गई) ऊपर सभी नागरिकों को मत देने का अधिकार प्रदान किया। यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि संविधान ने सम्पत्ति और शिक्षा की कोई कसौटी नहीं रखी। महिलाओं को भी, जो अधिकतर पश्चिमी देशों में केवल वर्तमान सदी में ही मताधिकार सम्पन्न थीं, पुरुषों के साथ समान आधार पर मताधिकार-सम्पन्न बनाया गया।

8.3.5 नागरिकता के कर्त्तव्य

नागरिकता और अधिकारों के संवैधानिक प्रावधानों पर अभी तक जो चर्चा हुई उससे यह विश्वास होने लगता है कि नागरिकता सिर्फ़ एक कानूनी पदस्थिति है जो यह परिभाषित करती है कि भारत के नागरिक कौन हैं और उनके अधिकार अथवा वे शर्तें जिनमें इन अधिकारों का उपभोग किया जा सकता है, क्या हैं। विद्वजनों का एक पनपता निकाय, यद्यपि, यह विश्वास करता है कि पदस्थिति के रूप में इस प्रकार का वैध-वैधानिक वैचारीकरण 'नागरिक कौन है' प्रश्न का केवल अंशत: उत्तर देता अधिक-से-अधिक अनुकूल स्थिति में एक निष्क्रिय द्योतन है। वे चाहते हैं हम उन 'आधारिक संरचनाओं' (समानता और सामाजिक न्याय की) से परे निकल चलें जो कि संविधान स्थापित करने के प्रयास में है, ताकि नागरिकता के द्योतन पर हम एक 'उत्तरदायी' भागीदारी की प्रक्रिया के रूप में भी ध्यान केन्द्रित कर सकें। नागरिकता तब, एक सक्रियता का भी गुण बनने के लिए अपने निष्क्रिय संकेतार्थ से उबरकर आगे निकल जाएगी। एक राष्ट्रीय समुदाय से सम्बद्ध नागरिक होने का भावाधार, तब उत्तरदायित्व की उन प्रवृत्तियों और सद्गुणों से आएगा जो उसे एक 'उत्तम' नागरिक के रूप में पहचान देंगे। उत्तरदायी भागीदारी फिर इन विभिन्न सामाजिक स्थितियों में खुद-ब-खुद व्यक्त होगी, नामत: राष्ट्रीय, क्षेत्रीय, नृजातीय, वा धार्मिक पहचानों के प्रच्छन्न प्रतियोगितापूर्ण रूपों में नागरिक क्या दृष्टिकोण रखते हैं और कैसा आचरण करते हैं; अपने से भिन्न लोगों को सहन करने और उनके साथ मिलकर काम करने की उनकी कुशलता; लोकहित को बढ़ावा देने और राजनीतिक प्राधिकारियों की जवाबदेही तय करने हेतु राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी करने की उनकी इच्छा; खुद के स्वास्थ्य और पर्यावरण आदि को प्रभावित करने वाली अपनी आर्थिक माँगों और व्यक्तिगत विकल्पों में आत्म-संयम और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व दर्शाने की

उनकी तत्परता। नागरिकता के ऐसे गुण, कहा जाता है, एक स्थिर और प्रशासन योग्य लोकतंत्र का निर्माण करते हैं। विद्यालयों, पर्यावरणीय समूह, संघ व परिषदों समेत समाजों के भीतर विभिन्न स्वयंसेवी संस्थाओं और संगठनों को यह माना जाता है कि नागरिकता के इन गुणों का अन्तर्निवेशन करते हैं। एक संशोधन के द्वारा (42वाँ संशोधन अधिनियम, 1976) भारतीय नागरिकों के मौलिक कर्त्तव्यों की एक सूची भाग-IVA में अधिनियम 51A के रूप में संविधान में अन्तर्निविष्ट की गई। नागरिकों को सम्बोधित मौलिक कर्त्तव्यों की कानूनी स्थिति बिल्कुल राज्य को सम्बोधित निदेशक सिद्धांतों की भाँति ही है, वह इस भाव में कि उनके परोक्ष प्रवर्तन हेतु कोई प्रावधान नहीं है। यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है, हालाँकि, सर्वोच्च न्यायालय ने मौलिक कर्त्तव्यों को स्वभावत: अनिवार्य रखा है और यद्यपि उनके प्रवर्तन हेतु संविधान में कोई प्रावधान नहीं है, उनको लागू करने के प्रयास वाला कोई भी नियम कानून के अंतर्गत 'युक्तिसंगत' हो सकता है। कर्त्तव्यों की सूची, जिसमें 10 नग हैं, फिर भी, उस पर अन्तर्दृष्टि डालती है जिसे 'उत्तम' नागरिकता के संघटक के रूप में देखा जा सकता है। नागरिकों को 'उत्कृष्टता' के लिए संघर्षरत रहने, 'वैज्ञानिक मन:स्थिति' विकसित करने अथवा 'सार्वजनिक सम्पत्ति' की रक्षा करने का आदेश देते उनमें से कुछ सामान्यत: ईमानदारी और उत्तरदायित्व की शिक्षा देते लगते हैं। एक सामान्य अभिनति, बहरहाल, राष्ट्रीय जन-साधारण के भाव को अन्त:शोषित करने की दिशा में है। इस प्रकार यह भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रीय एकता के प्रतीकों का सम्मान करे, जैसे राष्ट्रीय ध्वज, संविधान और राष्ट्रीय-गान तथा लोक विरासत के उद्‌गम जैसे 'स्वतंत्रता हेतु राष्ट्रीय संघर्ष' और 'मिली-जुली संस्कृति' की परम्परा। नागरिकों से यह भी अपेक्षा की जाती है कि वे देश की 'सम्प्रभुता' और 'एकता' की रक्षा न सिर्फ़ देश की 'प्रतिरक्षा' करने और 'राष्ट्रीय सेवा' पेश करने हेतु प्रतिबद्धता द्वारा ही करें बल्कि 'लोक बंधुत्व' की भावना के प्रसार द्वारा भी करें।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) नागरिकता क्या है? नागरिकता की आधुनिक धारणा की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) संविधान ने व्यक्तिगत और व्यष्टिगत अधिकारों को संतुलित करने का किस प्रकार प्रयास किया है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) गैर-न्यायिक अधिकार क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.4 नागरिकता में तनाव

इस बात पर अक्सर ध्यान आकर्षित किया जाता रहा है कि आर्थिक और सामाजिक न्याय के आदर्शों द्वारा सम्पूरित और दृढ़िकृत प्रस्तावना, मौलिक अधिकार और निदेशक सिद्धांत स्वतंत्रता और समानता के मूल्य को मूर्त रूप प्रदान करते हैं। विभिन्न मोर्चों से आती आलोचनाएँ, यद्यपि, इस ओर ध्यान दिलाती हैं कि भारतीय संविधान में नागरिकता का स्वभाव और जिस भाँति यह गत वर्षों में प्रकट हुआ है, ने यह दर्शाया है कि स्वतंत्रता और समानता के मूल्य बड़े भ्रामक हैं। संविधान के अंतर्गत नागरिकों की शक्तिसम्पन्नता के स्वभाव का अध्ययन करते हुए, ए.आर. देसाई, एक मार्क्सवादी विद्वान, संविधान में अधिकारों के संदिग्ध स्वभाव की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। वह ज़ोर देकर कहते हैं कि लोगों के लिए अधिकार न सिर्फ़ *अनारक्षित* हैं, उनको पहले से प्रत्याभूत मौलिक अधिकारों के लिए भी सुरक्षा नहीं है। संविधान स्वयं ही राज्य द्वारा उनके संशोधन और अवहेलना किए जाने को अनुमति देता है और प्रक्रिया सुझाता है। इसके अलावा, निदेशक सिद्धांत लोगों को सम्बोधित नहीं हैं, जिसका अर्थ है कि लोग उन शर्तों के पालन हेतु सरकार को निर्देश दिए जाने के लिए न्यायालय नहीं जा सकते जिनके तहत उनके अधिकार और अधिक सार्थक बनाए जा सकते थे।

पुनः, देसाई निश्चयपूर्वक कहते हैं, जबकि राज्य के लिए उत्तरदायित्व की यहाँ कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं दिखाई पड़ती, लोगों को कुछ 'मौलिक कर्त्तव्य' सौंप दिए गए हैं। देसाई यह अनुभव करते हैं कि राज्य के लिए इस प्रकार की किसी बाध्यता के अभाव में, मौलिक कर्त्तव्यों से संबंधित प्रावधान नागरिकों के मौलिक अधिकारों का संक्षेपण करते हैं। अन्ततः, यह तथ्य कि काम, आश्रय, शिक्षा व चिकित्सा सुविधाओं जैसे निश्चित बुनियादी हक़ मौलिक अधिकार नहीं हैं, संविधान-निर्माताओं के वर्ग और लिंग पूर्वाग्रहों को दर्शाता है। इस प्रकार की परिस्थितियों के अधीन 'मुश्किल से गुज़ारा

करते, उन नागरिकों का एक बड़ा वर्ग जो सामाजिक व आर्थिक रूप से, महिलाओं समेत, अल्प-लाभांवित हैं, उन दशाओं में रहने को बाध्य है जिनमें नागरिकों के रूप में उनकी शक्तिसम्पन्नता अपरिणत ही रही है।

8.4.1 नागरिकता और लिंग

महिलाओं के नागरिकता अधिकारों से मुत्तालिक़ एक ख़ास कमी इस तथ्य में समाहित है कि महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव के उन्मूलन से संबंधित एक निर्णायक प्रावधान, शर्तें जिनमें महिलाओं द्वारा यथेष्ठ नागरिकता अधिकारों का उपयोग किया जा सकता है, केवल निदेशक सिद्धांतों के रूप में सूचीबद्ध है। अनुच्छेद 39, उदाहरण के लिए, व्यवस्था देता है कि राज्य निम्नलिखित को 'सुनिश्चित करने की दिशा में अपनी नीतियाँ' बताएगा : (अ) कि नागरिक, पुरुष और महिलाएँ समान रूप से, जीवन-यापन के एक पर्याप्त साधन का अधिकार रखते हैं; और (ब) कि पुरुषों और महिलाओं, दोनों के लिए समान कार्य के लिए समान वेतन है। यद्यपि न्यायालयों ने समान कार्य के लिए समान वेतन दिए जाने हेतु कुछेक मामलों में हस्तक्षेप किया है, महिलाओं के लिए वास्तविक आर्थिक समानता भ्रान्तिजनक ही रही है।

कानूनी रूप से भी, महिलाएँ अनेक अशक्तताओं का सामना करती हैं। राज्य को 'नागरिकों के लिए भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र में एक समान-आचरण संहिता सुनिश्चित करने' का सुझाव देते निदेशक सिद्धांतों के अनुच्छेद 44 के प्रावधान हाल के वर्षों में फ़ोकस में रहे हैं। विभिन्न महिला समूहों ने माँग की है कि यह निदेश विवाह, दहेज़, तलाक, मात पितृत्व, अभिभावकता, अनुरक्षण, उत्तराधिकार, दायाधिकार आदि से संबंधित मामलों में महिलाओं की गौण स्थिति को सुधारने के लिए लागू किए जाएँ, जोकि वर्तमान में विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदायों के 'निजी कानूनों' द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। यद्यपि महिला-समूहों के बीच मतभेद हैं, उन्होंने कुल मिलाकर, लिंग-संगत नियमों की एक व्यवस्था की माँग की है जो उन्हें अपनी अन्त:शक्ति को नागरिकों के रूप में साकार करने में मदद करे।

8.5 नागरिकता की राहें

आरंभ में हमने नागरिकता को एक ऐसे समुदाय में 'पूर्ण' और 'समान' सदस्यता के रूप में परिभाषित किया, जो कि आधुनिक प्रसंग में राष्ट्र-राज्य के रूप में समझा जाता है। हम देख चुके हैं कि सामाजिक/आर्थिक संदर्भ (जाति, लिंग, वर्ग, धर्म) वे महत्त्वपूर्ण कारक हैं जो इस सीमा को निर्धारित करते हैं जहाँ तक कि कोई व्यक्ति इस 'पूर्ण' और 'समान' सदस्यता को चरितार्थ कर सकता है। संविधान, जैसा हमने देखा, दौर्बल्योन्मुखी परिस्थितियों को दूर कर अथवा सक्षमोन्मुखी दशाएँ प्रदान कर, जनता के सभी वर्गों के लिए उक्त की परिणति सुनिश्चित करने का वचन देता है। पूर्व पाठांश ने, यद्यपि, यह भी दर्शाया कि किसी भी प्रदत्त क्षण, नागरिकता के कार्यान्वयन में परस्पर विसंगत अथवा समूहों के विरोधी गुट में भी, वर्ग, लिंग, धर्म, जाति आदि द्वारा मध्यस्थता की जाती है। राज्य स्वयं नागरिकता के कार्यान्वयन हेतु संसाधन उपलब्ध कराने के वायदे से चूक सकता है और वैकल्पिक रूप से, वह अपने संस्थाओं के माध्यम से नागरिक अधिकारों के प्रति आक्रामक और उल्लंघनकारी रुख़ भी अख़्तियार कर सकता है। इसका, बहरहाल, यह मतलब नहीं है कि नागरिकता एक निश्चल श्रेणी है। पदानुक्रम और आरोप्य असमानताओं के विरुद्ध समानता के एक सिद्धांत के रूप में नागरिकता के उद्गम के इतिहास ने यह दर्शाया है कि नागरिकता हमेशा से एक संघर्षों की पच्चीकारी रही है। जन-आंदोलन ऐतिहासिक रूप से नागरिकता अधिकारों की संवृद्धि हेतु प्रेरक रहे हैं। पश्चिमी देशों में मताधिकार आंदोलन महिलाओं के लिए वोट देने का

अधिकार प्राप्त करने में सफल हुए। विश्व-व्यापी कर्मचारी आंदोलनों ने औद्योगिक कर्मचारियों के लिए कार्य-समयावधि निर्धारण, कार्य-दशा सुधार और कल्याणकारी कदमों की दिशा में योगदान दिया है। नागरिकता को पुनर्परिभाषित करने अथवा उसकी सीमाएँ बढ़ाने के प्रयास में लोकप्रचलित आंदोलनों और संघर्षों की एक शृंखला भी भारत में जब-तब रही है। उनमें लगभग सभी की जड़ें स्थानीय स्थितियों में थीं लेकिन मुद्दे जो उन्होंने उठाए कहीं और भी उठाए गए इसी प्रकार के मुद्दों से जुड़े थे और, इन्होंने कहीं अधिक लोगों को विचारोत्तेजित किया। महिला-आंदोलन, दलित-आंदोलन, पर्यावरण आंदोलन, कृषक आंदोलन आदि न सिर्फ़ उस तरीके को प्रकाशित करते हैं जिनसे नागरिकता क्षयग्रस्त होती है बल्कि उनका नागरिक-अधिकारों के तात्पर्य और स्वभाव की परिभाषा पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव है। सरकार सरोवर बाँध के निर्माण के विरुद्ध नर्मदा घाटी के लोगों द्वारा किए जा रहे संघर्ष, उदाहरण के लिए, सरकार के हाथों उनको हाशिये पर धकेल दिए जाने के विरुद्ध प्रतिकार करने के अधिकार हेतु नर्मदा घाटी के लोगों के दावों पर प्रकाश डालते हैं। इस संघर्ष के मूलाधार में, यद्यपि, घाटी के लोगों द्वारा अपनी पहचान, अपना इतिहास, अपनी संस्कृति व जीवकोपार्जन के साधनों को छोड़ देने का वह अविरोधी इंकार भी है जो वे इस क्षेत्र में एक स्व-पोषित समुदाय के रूप में जीवन बिताते पीढ़ियों से प्राप्त कर लाए हैं। यह संघर्ष इस प्रकार राज्य की विकास-नीतियों द्वारा लोगों के अधिकारों का अपरदान रोकने की अभिलाषा रखता है और उन सामाजिक प्रतिबंधों के प्रावधान की माँग भी करता है जो उनके अधिकारों को सार्थकता प्रदान करें।

अनेक सरकारी संस्थानों ने भी नागरिक-अधिकारों के कार्य-क्षेत्र को विस्तृत करने की दिशा में वर्षों योगदान किया है। हाल के वर्षों में सर्वोच्च न्यायालय ने ग़ैर-सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.) अथवा संबद्ध व्यक्तियों द्वारा लाए गए सामाजिक कार्यवाही वाद (एस.ए.एल.)/ जन-हित वादों (पी.आई.एल.) का सकारात्मक रूप से प्रत्युत्तर नागरिक-अधिकारों में कई पहलू जोड़ते हुए दिया है। न्यायालयों के फैसलों ने नानाविध तरीकों से कुछेक हाशिये के तबकों को अधिकारों के दायरे में लाने हेतु नागरिकता के द्योतन को बढ़ावा भी दिया है। सत्तर के दशक के उत्तरार्ध से, उदाहरण के लिए, सर्वोच्च न्यायालय ने क़ैदियों के लिए प्रचलित कानूनी अभिवृत्ति को बदल डाला है ताकि उन्हें 'उनकी दण्डाज्ञा की शर्तों द्वारा स्पष्ट रूप से छीन लिए गए अधिकारों के सिवा, स्वतंत्र नागरिकों द्वारा उपभोग किए जाने वाले शेष सभी अधिकार' मिलें। *(चार्ल्स शोभराज बनाम अधीक्षक, केन्द्रीय कारागार, तिहाड़, ए.आई.आर.,* 1978, एस.सी., 1514)।

इसी प्रकार, एक संसदीय अधिनियम (राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम, 1990) के तहत, 1992 में गठित, राष्ट्रीय महिला आयोग ने विस्तृत क्षेत्र वाली अन्वेषी व अनुशंसा-शक्तियों के माध्यम से स्वयं को संविधान के अंतर्गत महिला अधिकारों से संबंधित मसलों से और महिलाओं की सामाजिक-आर्थिक दशाओं, स्वास्थ्य व उनके प्रति हिंसा की समस्याओं से संबद्ध रखा है। गत वर्षों यह आयोग महिलाओं के प्रति हिंसा, यंत्रणा व उत्पीड़न के मामलों (छेड़छाड़, बलात्कार, दहेज-संबंधी हिंसा, हिरासत में बलात्कार और मौत, परिवार के भीतर, कार्य-स्थल पर यंत्रणा और उत्पीड़न समेत), और अन्वेषण और उद्धार हेतु महिलाओं के कानूनी और राजनीतिक अधिकारों के मुद्दों पर व्यस्त रहा है। लोगों के अधिकारों के उल्लंघनों की जाँच हेतु एक संसदीय अधिनियम (राष्ट्रीय मानवाधिकार अधिनियम, 1993) द्वारा स्थापित एक अन्य संस्था 'राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग' है। अपने प्रभावशाली रूप से उपयोग अथवा लोगों के दबाव द्वारा राष्ट्रीय महिला आयोग और राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग जैसी संस्थाएँ नागरिकता को प्रमाणित करने की दिशा में योगदान दे सकती हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) महिलाओं व अन्य अल्प-लाभांवित वर्गों के नागरिकता अधिकारों से संबंधित भारतीय संविधान की मुख्य सीमाबद्धताएँ क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) राष्ट्रीय महिला आयोग और राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग जैसे संस्थान हमारे नागरिकता अधिकारों की संवृद्धि में किस प्रकार मदद करते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.6 सारांश

भारतीय संविधान वैयक्तिक नागरिक और समुदाय दोनों को ही अधिकार प्रदान करता है। यह इस प्रकार स्वतंत्र और समान (वैयक्तिक) नागरिक का सृजन करता है और सांस्कृतिक समुदायों की पहचान को भी सुरक्षित करने का यत्न करता है। प्रायः, यद्यपि, सामुदायिक अधिकार कुछ वर्षों के नागरिकता अधिकारों को वस्तुतः सीमित कर सकते हैं, मुख्यतः महिला वर्ग के। वैयक्तिक नागरिकों के विशेष संदर्भ (जाति, वर्ग, लिंग आदि) महती रूप से सीमा-शर्त वहीं तक रखते हैं जहाँ तक कि अधिकारों का लोगों द्वारा उपभोग किया जा सकता है। नागरिकता, बहरहाल, कोई निश्चल श्रेणी नहीं है और ऐसे विविध तरीके हैं जिनसे इन अधिकारों के कार्य-क्षेत्र और सार्थकता को, लोकप्रचलित/ वैयक्तिक पहल और संघर्ष के माध्यम से अथवा न्यायालयों और जन-शिकायतों को समझने वाली संस्थाओं की शरण लेकर, बढ़ावा दिया जा सकता है।

8.7 शब्दावली

अधिवास : अधिवास सामान्यत: किसी व्यक्ति के आमतौर पर एक स्थायी और कानूनी रूप से मान्य निवास को इंगित करता है। संविधान अधिवास की परिभाषा नहीं दी गई है। सन् 1966 में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय (मौ० रज़ा बनाम बम्बई राज्य, ए.आई.आर, 1966, एम.पी. 1436) से एक कानून पास हुआ कि एक स्थायी निवास और वहाँ रहने की मन्शा निश्चित रूप से अधिवास के दो प्रमुख संघटक हैं।

आरोपात्मक : वह पदानुक्रम जो असमानता के पिरैमिडी तंत्र को इंगित करता है – यानी ऊर्ध्वाकार रूप से संगठित ढाँचा – जहाँ शीर्षस्थ शेष पर प्रभुत्व रखते हैं। आरोपात्मक पदानुक्रम उन व्यवस्थाओं के संदर्भ में आता है जहाँ जन्म-पदस्थितियाँ लोगों के पदानुक्रमिक संगठन को निर्धारित करती हैं। जाति-व्यवस्था आरोपात्मक पदानुक्रम का एक उदाहरण है।

जनपद : प्राचीन भारत में लोगों के भू-भागीय रूप से निर्धारित वे समुदाय जो न जाति, बोली, सामाजिक प्रथाएँ, भौगोलीय स्थिति और सामाजिक-राजनीतिक पदस्थिति के आधार पर विकसित हुए थे। पुराणिक स्रोतों के अनुसार, सात क्षेत्रों में छितरे 165 जनपद प्राचीन भारत में अस्तित्व में थे।

नागरिक : नागरिक उस राजनीतिक समुदाय के पूर्ण और समाज सदस्य हैं, जोकि वर्तमान राजनीतिक तंत्र के प्रबल भूमण्डलीय रूप से राष्ट्र-राज्य है।

नागरिकता : अन्योन्य अधिकारों, कर्त्तव्य के बंधनों पर आधारित व्यक्ति और राज्य के बीच एक संबंध।

न जाति : न जाति सामान्यत: मूल्यों व परम्पराओं को अपने में समेटती एक विभेद्य सांस्कृतिक पहचान के रूप में समझी जाती है। इसमें किसी जनसमुदाय, सांस्कृतिक समूहों अथवा भू-भागीय क्षेत्र के प्रति निष्ठा का मनोभाव शामिल होता है।

प्रजाति : वैज्ञानिक और राजनैतिक रूप से विवादित एक श्रेणी, प्रजाति का तात्पर्य उन जैविक (आनुवंशिक) प्रभेदों से है जो तथाकथित रूप से लोगों के एक समूह को दूसरे से भिन्न करते हैं। काफी समय से, लोगों के बीच सांस्कृतिक भिन्नताओं, और सभ्यतापरक

निकृष्टता और कुछ के मुकाबले पिछड़ापन व दूसरों के मुकाबले उत्कृष्टता की व्याख्या करने के लिए प्रजाति का प्रयोग किया जाता रहा है।

प्रस्तावना (संविधान के प्रति) : एक दस्तावेज़ जो उन आदर्शों, लक्षणों व उद्देश्यों को निर्दिष्ट करता है जिनको संविधान-निर्माता संविधान के माध्यम से साकार करने की आकांक्षा रखते थे।

भूमण्डलीय : इसका तात्पर्य उन स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय घटनाओं, प्रक्रियाओं व निर्णयों के बीच अन्तर्सम्बन्धों के जाल/ अन्योन्याश्रिता से है जो विश्व भर में व्यक्तियों के जीवन को अनुकूल बनाता है।

मताधिकार : वोट देने, अथवा उस अधिकार को प्रयोग करने का अधिकार।

राजनीतिक समुदाय : एक राजनीतिक समुदाय अपने भीतर सांस्कृतिक/ भावप्रबल पहचान की अपेक्षा राजनीतिक अनुषक्तियों और नागरिक निष्ठाओं पर ज़ोर देता है। नागरिकता को प्राय: इस अनुषक्ति के आविर्भाव के रूप में देखा गया है जो लोगों को नागरिकों के रूप में एक साझा पहचान में जोड़ता है।

लिंग : उस लिंग से भिन्न जो जैविक भेद को इंगित करता है, यहाँ लिंग का अभिप्राय पुरुषों और महिलाओं के बीच सामाजिक और सांस्कृतिक भेद से है। नारी अधिकारवादियों के अनुसार, लिंग भेद तब किया जाता है जब जैविक भेद महिलाओं के लिए भिन्न, पराश्रित और वशवर्ती सामाजिक भूमिकाओं और दशाओं हेतु आधार बन जाते हैं।

विभेदीय नागरिकता : यह संकल्पना निश्चित (सांस्कृतिक) समूहों के सदस्यों के न सिर्फ़ व्यक्तियों के रूप में बल्कि समूहों के सदस्यों के रूप में भी समावेश की वकालत करती है, जबकि उनके अधिकार अंशत: उनकी विशेष जरूरतों को समझती इस समूह-सदस्यता पर निर्भर करते हैं।

समुदाय : साहचार्य, निष्ठा, कर्त्तव्य के बंधनों पर आधारित एक सशक्त सामूहिक पहचान के साथ-साथ भावनात्मकता और बंधता के बंधनों द्वारा पहचाना जाने वाला एक लोक-संग्रह अथवा सामाजिक समूह।

8.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कश्यप, सुभाष, *सिटीज़न्स एण्ड दि कॉन्सटीट्यूशन*, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली, 1997

जयाल, नीरजा गोपाल, *डिमोक्रेसी एण्ड दि स्टेट*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1999 (अध्याय-4, खण्ड-IV : सिटीज़नशिप इन दि नर्मदा वैली)।

बसु, डी.डी., *इण्ट्रोडक्शन टु दि कॉन्सटीट्यूशन ऑव इण्डिया*, वधवा एण्ड कम्पनी, नागपुर, नवीनतम संस्करण (सिटीज़नशिप, फण्डामेण्टल राइट्स और डायरेक्टिव प्रिंसिपल्स से संबंधित अध्याय)।

देसाई ए.आर., आभा अवस्थी सं० *सोशल एण्ड कल्चरल डाइवर्सिटीज़, डी.पी. मुकर्जी इन मैमारियम* में 'इम्पॉवरिंग दि सॅवरेन सिटीज़नं ऑव इण्डिया : सम कन्सटीट्यूशनल ऑब्सटैकल्स' रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1997।

महाजन, गुरप्रीत, *आइडेण्टिटीज़ एण्ड राइट्स, एस्पैक्ट्स ऑव लिबरल डिमोक्रेसी इन इण्डिया*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, दिल्ली, 1998, (अध्याय : इण्ट्रोडक्शन : निगोशिएटिंग डिफरैन्सिज़ विद्इन लिबरैलिज़्म)।

8.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) • शासन करने तथा शासित होने की क्षमता।
   • "स्वतंत्र एवं स्वायत्त व्यक्ति" जिसको निर्णय-निर्माण में हिस्सा लेने का हक़ हो।
2) ऐसे प्रवाविधान देकर जो व्यक्तियों के अधिकारों के साथ-साथ विशेष धार्मिक एवं सांस्कृतिक समुदायों के अधिकारों की भी रक्षा करें।
3) राज्य के नीति निदेशक सिद्धांत।

बोध प्रश्न 2

1) नागरिकों के अधिकार, विशेषकर समाज के कमजोर वर्गों के, ठीक प्रकार से सुरक्षित नहीं होते हैं।
2) वे महिलाओं एंव अन्य नागरिकों के अधिकारों से सम्बन्धित विषयों को विभिन्न तरीको जैसे जनहित याचिका वादों एवं सामाजिक कार्यवाही वादों द्वारा उठाते हैं।

इकाई 9 एक संसदीय लोकतंत्र होने का अर्थ

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 क्रम-विकास

9.2.1 सरकार की संसदीय प्रणाली के अभिलक्षण

9.3 भारत में संसदीय प्रणाली

9.4 सारांश

9.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

संसदीय प्रणाली – संस्थाएँ और प्रक्रियाएँ – ब्रिटेन में विकसित हुई और अनेक देशों द्वारा परिष्कृत कर अपनायी गई है। यह इकाई भारत के विशेष संदर्भ के साथ एक संसदीय प्रणाली के अभिलक्षणों की जाँच करती है। इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप इस योग्य होंगे कि

- एक संसदीय लोकतंत्र का अर्थ स्पष्ट कर सकें;
- सरकार की संसदीय प्रणाली के विकास का सूत्रबद्ध वर्णन कर सकें;
- सरकार की संसदीय प्रणाली के अभिलक्षणों को पहचान सकें; और
- भारत में विद्यमान संसदीय प्रणाली का मूल्यांकन कर सकें।

9.1 प्रस्तावना

संसदीय प्रणाली शब्द-पद दो मुख्य अर्थों में प्रयोग किया जाता है। एक विस्तृत अर्थ में, यह उन सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं को इंगित करती है जहाँ वित्त-प्रबंध समेत विधि-निर्माण हेतु उत्तरदायित्व संभाले हुए जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की एक सभा विद्यमान होती है। 'संसद' शब्द अंग्रेजी के 'पार्लिअॅमॅन्ट' शब्द का अनुवाद है जो फ्रैंच शब्द 'पार्ले' से निकला है जिसका अर्थ है बात करना अथवा संधि-वार्ता करना। यह शब्द सम्मेलनों का वर्णन करने में भी प्रयुक्त होता था, जैसे 1245 में फ्रांस सम्राट् तथा पोप के बीच होने वाले विचार-विमर्श। धीरे-धीरे यह शब्द उन व्यक्तियों के निकाय के लिए प्रासंगिक हो गया जो सरकारी नीतियों एवं वित्त-साधनों पर चर्चा करने व उन्हें स्वीकृति प्रदान करने हेतु एकत्रित होते हैं। सरकार के अन्य दो अंगों की अपेक्षा जनता व जनमत के अधिक करीब रहने वाली संसद जनता की परम इच्छा का प्रतिनिधित्व करने का दम भरती है। अधिक सर्वमान्य रूप से, शब्द-पद संसदीय प्रणाली अथवा 'संसदीय सरकार' एक ऐसी व्यवस्था को इंगित करती है जो अध्यक्षीय प्रणाली वाली सरकार से भिन्न होती है। अध्यक्षीय प्रणाली वाली सरकार से भिन्न, जो शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत पर आधारित होती है, संसदीय प्रणाली में सरकार के कार्यकारी तथा विधायी अंगों का संयोग होता है। एक संसदीय सरकार के अभिलक्षणों की जाँच-परख करने से पहले चलिए देखते हैं कि ब्रिटेन में संसदीय प्रणाली कैसे विकसित हुई।

9.2 क्रम-विकास

ब्रिटिश संसद की जड़ें तेरहवीं शताब्दी में तलाशी जा सकती हैं जब ग्रेट ब्रिटेन के किंग जॉन ने कर उगाही की आवश्यकता और उनके तरीकों पर उसे सलाह देने के लिए कुछ विचारशील नाइटों व अन्य भद्रजनों की सभा बुलाई। ये सभाएँ सार्वजनिक महत्त्व के विशिष्ट विषयों पर सम्राट को सलाह देने के लिए भी प्रयोग की जाती थीं। इन सभाओं को पार्लियामेण्ट (*पार्लिअॅमॅण्ट*) कहा जाता था। एडवर्ड प्रथम के शासन के दौरान, एक प्रतिरूप संसद बुलाई गई। इसको प्रतिरूप इसलिए कहा गया क्योंकि यह ब्रिटिश समाज के एक प्रतिनिधित्व समूह को प्रतिरूप प्रदान करती थी। पोप तथा स्पेन के राजाओं के विरुद्ध अपने संघर्ष में, ट्यूडर वंश ने अपनी कार्रवाइयों को वैध ठहराने के लिए पार्लियामेण्ट की स्वीकृति माँगी। इस प्रक्रिया के दौरान, नियमों, क़रों, धार्मिक व विदेश-नीतियों के लिए पार्लियामेण्ट की स्वीकृति लेने की प्रथा को व्यापक स्वीकृति मिली। स्टुअर्ट शासन के दौरान, धार्मिक व विदेश नीतियों पर राजाओं तथा पार्लियामेण्ट के बीच एक संघर्ष छिड़ा जिसने एक गृह-युद्ध की ओर प्रवृत्त किया जो राजद्रोह के लिए किंग चार्ल्स (1649) को प्राणदण्ड तथा रक्तहीन क्रांति (1688) में किंग जेम्स द्वितीय के अपदस्थ होने में परिणत हुआ। राजाओं को मानना पड़ा कि पार्लियामेण्ट की सहमति के बग़ैर कोई कानून पास नहीं किया जा सकता है न ही कर लगाया जा सकता है, और यह भी कि राजा का ताज पार्लियामेण्ट की वजह से ही है।

अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में किंग जोर्ज प्रथम के शासन के दौरान, मंत्रिमण्डल की व्यवस्था साकार होने लगी। जर्मन मूल के होने के कारण किंग जोर्ज अंग्रेजी नहीं बोल पाते थे और ब्रिटिश राजनीति में उनकी दिलचस्पी नहीं थी। उसकी प्रवृत्ति शासन के वास्तविक कार्यों को अपने मुख्यमंत्रियों अथवा प्रशासकों पर डाल देने की थी जो राजा को सलाह देने के लिए नियमित रूप से मिलने लगे। ये मंत्री पार्लियामेण्ट के सदस्यों से चुने जाते थे ताकि वे उस निकाय को चला सकें और करों के लिए आवश्यक नियम अथवा प्रस्ताव पास करा सकें। उन्होंने स्वयं को एक परिषद् में एकजुट किया जिसे आज कैबिनेट अथवा मंत्रिपरिषद् के रूप में जाना जाता है यानी एक प्रकार का संघ सदृश कार्यकारी समूह। पार्लियामेण्ट के सदस्यों को कैबिनेट द्वारा निर्देश व सलाह देने का कार्य किया जाता था, और शीघ्र ही *पार्लियामेण्ट तथा कैबिनेट मिलकर* ब्रिटेन की सरकार बन गए। किंग जोर्ज द्वितीय भी चूँकि जर्मन मूल के थे, ने भी उस प्रथा को जारी रखा। जब किंग जोर्ज तृतीय, एक जन्मजात ब्रिटिश तथा अंग्रेजी भाषी ने सिंहासन सम्भाला, यह संसदीय प्रणाली भली भाँति स्थापित हो गई।

कैबिनेट के भीतर, कैबिनेट सभाओं की अध्यक्षता करने तथा उसके निर्णयों को स्वयं तक पहुँचाने के लिए राजा एक व्यक्ति विशेष पर भरोसा करने लगा जिसे प्राइम मिनिस्टर अर्थात् प्रधानमंत्री कहा जाता था। सर रॉबर्ट वालपोल (1721-42) प्रधानमंत्री के पद को सुशोभित करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। इस पद की पूर्व-प्रतिष्ठा पिट द एल्डर, पिट द यंग, डिज़रायली तथा ग्लैडस्टोन जैसे प्रधानमंत्रियों की योग्यताओं द्वारा सुदृढ़ की गई। एक ओर 1832 के सुधारों के बाद राजनीतिक बलों के पुनर्गठजोड़ के उपरांत लिबरल (उदारवादी) तथा कन्ज़र्वेटिव (रूढ़िवादी) पार्टियों के उदय से और दूसरी ओर मताधिकार के प्रसार से प्रधानमंत्री की स्थिति मज़बूत हो गई। प्रधानमंत्री देश का नेता तथा सरकार का मुखिया बन गया।

वैस्टमिन्सटर गवर्नमेण्ट के नाम से भी विख्यात (चूँकि पार्लियामेण्ट वैस्टमिन्सटर, लन्दन में स्थित है), ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के कुछ अनूठे अभिलक्षण हैं। प्रथम, ऐसा कोई एक भी दस्तावेज़ नहीं है जिसका संदर्भ संविधान के रूप में लिया जा सके। व्यवस्थाएँ व प्रथाएँ औपचारिक समझौतों के माध्यम से विकसित हुई हैं। दूसरे, किसी लिखित संविधान के अभाव में इसमें कोई भी विशेष संशोधन प्रक्रिया नहीं है। ब्रिटिश संसद में काफी लचीलापन है। अक्सर संसदीय सर्वोच्चता के रूप

में व्याख्यायित, ब्रिटिश संसद के पास किसी कानून को बनाने अथवा किसी बने हुए कानून को संशोधित करने का, न्यायपालिका द्वारा मान्य, अपरिमित अधिकार है। किसी भी अन्य निकाय अथवा न्यायालय को इसके विधान को नाजायज़ ठहराने अथवा रद्द करने का अधिकार नहीं है। यद्यपि, ब्रिटिश प्रणाली के अनुसार प्रतिरूपित विधायिकाओं को मिलाकर, विश्व की कुछ ही विधायिकाएँ सभी संवैधानिक मर्यादाओं के इस अर्थ में स्वतंत्र हैं। वैस्टमिन्सटर गवर्नमेण्ट की तर्ज पर प्रतिरूपित संसदीय लोकतंत्रों के क्या अभिलक्षण हैं? एक संसदीय लोकतंत्र होने का क्या अर्थ है?

9.2.1 सरकार की संसदीय प्रणाली के अभिलक्षण

एक संसदीय लोकतंत्र अथवा संसदीय प्रणाली होने से क्या अभिप्राय है? इस प्रणाली वाली सरकार के क्या मुख्य अभिलक्षण हैं? संसदीय लोकतंत्र एक स्वतंत्र निकाय में कार्यकारी तथा विधायी शक्तियों के संयोग द्वारा अभिलक्षित है। यह कार्यकारिणी, कैबिनेट मंत्रिगण, संसद-सदस्यों के रूप में बैठते हैं और कार्यकारी तथा विधायी शक्ति विलयीकरण में एक दोहरी भूमिका निभाते हैं। वे जो विधान को कैबिनेट सदस्यों के रूप में उपयुक्त बताते हैं, इसी विधान को शासी विधायिका के सदस्यों के रूप में भी बहुमत से स्वीकार करते हैं। आदर्शरूपत:, कैबिनेट तथा संसद में बहुमत दल अथवा दल-गठजोड़ के शेष सदस्य ही सरकार हैं। सरकार के पास, एक अर्थ में, एक स्वचल बहुमत होता है और अधिकतर निर्णय इन्हीं समूहों के बीच से ही किए जाते हैं। चूँकि कार्यकारिणी संसद में बहुमत समर्थन के आधार पर चुनी जाती है न कि सीधे चुनी जाती है, सरकार केवल संसद के प्रति जवाबदेह होती है।

दूसरे, सरकार की कार्यकारी शाखा राज्य के एक प्राय: औपचारिक मुखिया (राजा) और सरकार के मुखिया (प्रधानमंत्री) के बीच बँटी है जो अधिकांश कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग करता है और संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। राज्य-प्रमुख का काम शासन करना नहीं बल्कि यह देखना है कि कोई सरकार अवश्य हो। जब कोई संकट खड़ा होता है, किसी गठबन्धन सरकार के गिर जाने से अथवा किसी राष्ट्रीय आपात्स्थिति से, राज्य-प्रमुख की जिम्मेदारी है कि सरकार बनाने का किसी व्यक्ति को चुने और शासी कारोबार आगे बढ़ाए। प्रधानमंत्री सरकार-प्रमुख होता है, जिसका कार्य है नीति बनाना और अपने मातहतों के माध्यम से कानून सुझाना। प्रधानमंत्री कैबिनेट का नेतृत्व करता है और इसी कारण सरकार का भी। राज्य-प्रमुख 'बागडोर सम्भालता है परन्तु शासन नहीं करता'।

संसदीय लोकतंत्र का अर्थ है – कॅलीजियल यानी संघ-सदृश्य कार्यकारिणी। यद्यपि प्रधानमंत्री मुख्य कार्यकारी होता है, वह कोई असाधारण कार्यकारी नहीं होता। संघ-सदृश्य कार्यकारिणी मंत्रियों (कैबिनेट) का एक समूह होता है जिनको एक गुट्ट के रूप में निर्णय लेने चाहिए और विधान के उपयुक्त बताए जाने अथवा नीतियाँ प्रस्तावित किए जाने से पूर्व आम सहमति बनानी चाहिए। मंत्रिगण अपनी कार्रवाइयों के लिए संसद के प्रति वैयक्तिक तथा सामूहिक, दोनों रूप से उत्तरदायी होते हैं।

संसदीय लोकतंत्र का अर्थ दलगत उत्तरदायित्वाधारित एक लोकतंत्र भी है। जैसा कि हमने देखा, बहुमत दल अथवा संसद में बहुमत-उच्च दलों का एक गठजोड़ सरकार बनाता है। एक संसदीय प्रणाली में राजनीति दल एक स्पष्टत: परिभाषित घोषणा-पत्र रखते हैं और विस्तृत विषय-वैविध्य के सम्बन्ध में पार्टी की स्थिति क्या है, बताई गई होती है। पार्टी घोषणा-पत्र का यथासंभव सामञ्जस्य के साथ अनुपालन किया जाता है। यदि कैबिनेट विधान का कोई ऐसा अंश सुझाती है जो पार्टी घोषणा-पत्र में दिए गए किसी वचन का पालन करता है, बहुमत दल घोषणा-पत्र के सभी सदस्यों को उस विधि विशेष हेतु मतदान करना होगा। ऐसा न करना पार्टी के रोष को आमंत्रण देना और

तदोपरांत उस पार्टी का टिकट लेकर अगले चुनाव में नामांकित किए जाने से वंचित किया जाना होगा। एक संसदीय प्रणाली में सरकार, इसीलिए अधिकांश विषयों पर एक सुदृढ़ बहुमत और अपनी अभिलाषा को सामान्यत: अभिभावी रखती है। अल्पमत दल इन विषयों, कानूनों व प्रस्तावों पर बहस कर सकते हैं। और सुझाए गए संशोधनों के माध्यम से वे छुट-पुट परिवर्तन कराने में सफल भी हो सकते हैं। बहरहाल, अल्पमत बहुमत द्वारा लाए गए किसी विधेयक को तब तक निष्फल बिल्कुल भी नहीं कर सकता जब तक पार्टी उत्तरदायित्व का नियम लागू रहता है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) संसदीय प्रणाली वाली सरकार का एकमात्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) 'संघ-सदृश्य कार्यकारिणी' शब्द-पद का क्या अर्थ है?

.....

.....

.....

.....

.....

9.3 भारत में संसदीय प्रणाली

जब भारत उपनिवेशवाद से सभी रिश्ते तोड़कर एक स्वाधीन लोकतांत्रिक गणतंत्र बनने की तैयारी कर रहा था, लगभग उसी समय राज्य के ऐसे प्रतिरूप यानी मॉडल की तलाश शुरू हुई जिस पर हमारे संस्थागत ढाँचे खड़े किए जाने थे और राजनीति प्रक्रियाओं को चालू करवाया जाना था। विविध हितों व अभिलाषाओं को लिए विभिन्न वर्ग, जाति-समूह, प्रजातीय तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों को प्रतिबिम्बित करती हमारी सामाजिक वास्तविकता के जटिल स्वभाव के कारण यह खोज मुश्किल बन गई थी।

उस समय के लगभग सभी विचारक और कार्यकर्त्ता एक ऐसी राज्य-व्यवस्था विकसित करने के प्रति उत्सुक थे जो भारतीय समाज के सभी वर्गों के हितों व आकांक्षाओं के अनुरूप हो। जयप्रकाश

नारायण ने, उदाहरण के लिए, भारतीय राज्य के पुनर्निर्माण हेतु दलील पेश करते हुए एक ऐसे युक्तिसंगत एवं वैज्ञानिक आदर्श की आवश्यकता पर ज़ोर दिया जो भारतीय परिस्थितियों तथा यथार्थताओं के अनुरूप हो। दूसरे शब्दों में, उन्होंने एक ऐसे समन्वयात्मक आदर्श हेतु तर्क प्रस्तुत किया, जो उस प्राचीन भारतीय राज्य की प्रथाओं को यथोचित सम्मान दे जो, निरे पाश्चात्य आदर्श से भिन्न, मनुष्य के सामाजिक स्वभाव तथा समाज के वैज्ञानिक संघटन के साथ सुरबद्ध हो संगठित था। उन्होंने एक ऐसे सामाजिक व राजनीतिक जीवन हेतु तर्क दिया जो मानवीय मूल्यों की संरक्षा सुनिश्चित करे।

बड़े राज्य प्राधारों को अस्वीकृत करते हुए, महात्मा गाँधी ने ऐसे विकेन्द्रीकृत ढाँचों की स्थापना का पक्ष लिया जिनके सामाजिक व राजनीतिक नियम आचार-संहिता द्वारा सूचित होते हों। उन्होंने अनुभव किया कि हम जिसे संसदों की जननी मानते हैं, समष्टि रूप में अंग्रेजी समाज हेतु कुछ भी भला करने में नैतिक रूप में लाचार है। यह संसद, गाँधी जी के अनुसार, उन मंत्रियों के नियंत्रण में रहती है जो निरंतर बदलते रहते हैं। इसके अतिरिक्त, गाँधीजी के लिए, दलीय प्रणाली के विकास तथा एक भीड़ के मनोविज्ञान, वाग्मितापूर्ण रूप से पुकारे जाने वाले पार्टी अनुशासन, द्वारा परिचालित पार्टी सदस्यों द्वारा विषयों के मूल्यांकन ने संसद की बर्बादी की ओर प्रवृत्त किया है। बहरहाल, अंग्रेजी संसद का यह उपहास स्वभावत: संसद की व्यवसथा के प्रति गाँधीजी की उदासीनता को इंगित नहीं करता है। वह चाहते थे कि लोग एक ऐसी संसद चुनें जिसके पास वित्त-प्रबंध, सशस्त्र बलों, न्यायालयों तथा शैक्षणिक संस्थाओं पर सम्पूर्ण अधिकार हो। संक्षेप में, वह भारत की जनता की इच्छाओं व आवश्यकताओं के अनुसार संसदीय स्वराज की कामना करते थे।

यद्यपि, आर्थिक विकास की लाचारियाँ "जनता" की एक संघबद्ध सामूहिकता के तहत विविध तत्त्वों तथा हितों के राजनीतिक एकीकरण को सुनिश्चित करने की आवश्यकता से जुड़ीं, हमारे नेतागण विस्तृत ढाँचों, संस्थाओं तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं वाले एक विशाल आधुनिक राज्य-निर्माण की कार्यसूची पर सहमत हुए। एक ऐसी लोकतांत्रिक सरकार जो लोगों की इच्छाओं के प्रति जवाबदेह रहे और उनकी विविध आकांक्षाओं का यथायोग्य रूप से प्रतिनिधित्व करे, की अपनी खोज में हमारे आधुनिक राज्य-निर्माताओं ने विभिन्न देशों तथा उनके राजनीतिक अनुभवों पर निर्भर रहना चुना। किसी संघीय संसदीय प्रणाली को चुना जाना एक औपनिवेशिक विरासत तथा अनुभव का परिणाम था। अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में औपनिवेशिक शासन की शुरुआत से ही विधायी अनुभव का, आगामी वर्षों में प्रतिनिधित्व के तरीके व स्वभाव में परिवर्तन के साथ, शासन की हमारी स्वतंत्रोत्तर प्रणाली के नियामक प्राचार को अभिव्यक्त करने में एक गहन प्रभाव था।

स्वाधीन भारत में, एक संसदीय स्वरूप वाली सरकार ऐसी सांस्थानिक युक्ति के रूप में अंगीकार की गई जिसके माध्यम से लोकतांत्रिक विचारधारा को साकार करने का प्रयास किया गया। इस सांस्थानिक प्राधार का नेतृत्व राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है, जो राज्य व कार्यपालिका का मुखिया होता है; कार्य-निष्पादन प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता है, जो सरकार का मुखिया होता है; तथा न्यायपालिका का सर्वोच्च न्यायालय द्वारा, जबकि संसद को विधायी शक्तियों का व्यवहार कार्य सौंपा जाता है। ये संस्थान सरकार के विधायी तथा कार्यकारी स्कंधों के संयोग पर आधारित संसदीय सरकार के ढाँचे के अंतर्गत कार्य करते हैं। कार्यपालिका, प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद्, विधायिका से आती है और उसके प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। अन्य शब्दों में, संसद-सदस्यों के माध्यम से ही भारत की जनता कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

लोकतंत्र के इस स्वरूप के मुख्य सिद्धांत हैं – वयस्क मताधिकार पर आधारित आवधिक चुनावों के माध्यम से सरकार पर एक सार्वजनिक नियंत्रण की विद्यमानता; उसके नागरिकों को स्वतंत्रताओं का अनुदान; और उन स्वतंत्रताओं की रक्षार्थ एक स्वतंत्र न्यायपालिका की मौजूदगी। सरकार

अनिराकरणीय नहीं है और उन सभी के लिए आवधिक रूप से खुली है जो जनता का समर्थन प्राप्त कर लेते हैं और इसमें एक व्यक्ति के रूप में अथवा किसी दल के सदस्य के रूप में प्रवेश करते हैं। चुनाव-विधि अनुनय, संभाषण, तथा मानस परिर्वतन के माध्यम से प्रभावित होती है; राय परिवर्तन गुप्त मत-पत्र के माध्यम से किया जाता है। इसके अतिरिक्त, हमारे संसदीय लोकतंत्र की निहित अभिधारणा है – उदार लोकतांत्रिक तथा वैयक्तिवादी सिद्धांतों के प्रति आस्था।

इस विस्तृत संसदीय प्राधार को सुचारू बनाने की प्रक्रिया उन राजनीतिक दलों पर निर्भर करती है जो सरकार के किसी संसदीय स्वरूप में निर्णायक तत्त्वों को अंगीभूत करते हैं। बहरहाल, राज्य-व्यवस्था में सभी रंगों व विचारधाराओं वाले, कभी-कभी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की विरोधी व भिन्न संकल्पनाओं वाले, राजनीतिक दलों का विद्यमान होना हमारी संसदीय प्रक्रियाओं की सुचारुता को मुश्किल बना देता है। इस प्रकार, संविधान द्वारा बनाए गए विभिन्न कार्यालयों के बीच संबंध को नियमित करने हेतु बिना किसी टिकाऊ प्रथा अथवा नियम वाले एक देश में संसदीय लोकतंत्र की व्यवहार्यता और आर्थिक भ्रष्टता वाली परिस्थितियों के चलते एक कल्याणकारी राज्य के रूप में कार्य करने में असमर्थता के विषय में प्रश्न उत्तरोत्तर रूप से उठाए जा रहे हैं। ये प्रश्न सरकार के कैबिनेट स्वरूप के स्थान पर अध्यक्षीय प्रणाली की भाँति सरकार के वैकल्पिक स्वरूपों हेतु प्रस्तावों के साथ आगे बढ़ाए जा रहे हैं। तथापि, हमें याद रखना चाहिए कि कुछ संशोधनों के साथ 'वैस्टमिन्सटर मॉडल' चुनने में, संविधान-निर्माताओं को एक उत्तरदायी सरकार के लिए प्रेरित किया गया ताकि अध्यक्षीय प्रणाली वाली सरकार में एक टिकाऊ सरकार स्थापित की जा सके।

यद्यपि अभीष्टत: किसी भी लोकतांत्रिक कार्यपालिका को स्थिरता और उत्तरदायित्व की शर्तें पूरी करनी होती हैं, व्यवहार्य परिस्थितियों में दोनों के बीच संतुलन रखना मुश्किल रहा है। एक ग़ैर-संसदीय सरकार सत्ता में रहने के लिए किसी संसदीय बहुमत पर अपनी निर्भरता द्वारा नहीं अधिदेशित नहीं होती है। एक निश्चित कार्यकाल सुनिश्चित कर, एक ग़ैर-संसदीय प्रणाली उत्तरदायित्व की बजाय स्थिरता को बहुमूल्य समझने की प्रवृत्ति रखती है। संसदीय बहुमत पर सरकार की निर्भरता संसदीय सरकार पर इसे अवश्यकरणीय बना देती है कि यह अपने कार्यों के प्रति ज़िम्मेदार रहे। हमारे संसदीय लोकतंत्र में, संसद राष्ट्रीय बहस के लिए मंच के रूप में एक अत्यावश्यक मंत्रणात्मक भूमिका अदा करती है जिसके द्वारा वह सरकार के प्रभुत्व तथा कार्यों पर एक सार्वजनिक नियंत्रण स्थापित करती है। संसद तथा विपक्ष के विशिष्ट सदस्य प्रश्नकाल, संशोधन प्रक्रियाओं तथा आम बहसों के दौरान, पर्याप्त रूप से संसद के मंत्रणात्मक महत्त्व का प्रदर्शन कर चुके हैं। इसके अलावा, सरकारी गतिविधियों तथा नीतियों पर नियंत्रण अविश्वास प्रस्तावों, कटौती प्रस्तावों, स्थगन प्रस्तावों तथा ध्यानाकर्षण प्रस्तावों को लाकर बनाए रखा जाता है। इस प्रकार, हमारी राजनीतिक व्यवस्था में संसद का सार्वजनिक प्रभुत्व सरकारी उत्तरदायित्व के सतत् तथा आवधिक, दोनों मूल्यांकनों के माध्यम से सुदृढ़ किया जाता है। इसका संसद-सदस्यों द्वारा निरंतर तथा आम चुनावों के दौरान जनता द्वारा आवधिक रूप से मूल्यांकन किया जाता है। यह इन अध्यक्षीय प्रणालियों में विद्यमान अभिलक्षण से भिन्न है जहाँ यह मूल्यांकन केवल आवधिक होता है और कार्यकारिणी के कार्यकाल द्वारा सीमांकित होता है, जो सामान्य काल में विधायिका को अक्षरश: निष्प्रभावी बना देता है। इस प्रकार, स्थिरता पर उत्तरदायित्व को अधिक आँकने के लिए हमारी संसदीय प्रणाली की प्रभाविता के किसी भी मूल्यांकन में इसके निर्माताओं की अभिलाषाओं को संज्ञान लिया जाना चाहिए।

संसदीय प्राधार को राज्यों के स्तर पर दोहराया भी गया है जो उनकी स्वायत्तता तथा उस संघीय चेतना का सम्मान करता है जो संघ के ऐक्य को वैध ठहराता है। फलस्वरूप, राज्यों के स्तर पर हम विस्तृत प्राधार रखते हैं जो अपने नेताओं के चुने जाने तथा सरकारी गतिविधियों की देख-रेख करने में संसदीय चेतना को बनाए रखता है। विशाल संघीय राज्यों की आवश्यकताओं हेतु संसदीय

प्रणाली के अंगीकरण का अभिप्राय है कि संसद की विधायी शक्तियाँ सीमित हैं। चूँकि संघीय व राज्य सरकारों के पास पृथक, विधि-निर्माण अधिकार है जो संविधान से व्युत्पन्न है, भारतीय परिस्थिति का अभिलक्षण है – संवैधानिक सर्वोच्चता, न कि संसदीय सर्वोच्चता। संविधान की सर्वोच्चता को उस संवैधानिक प्रावधान द्वारा और सुदृढ़ किया गया है जो मौलिक अधिकारों की गारण्टी देता है तथा इन अधिकारों के एक परिरक्षक के रूप में कार्यवाही करने की शक्ति के साथ न्यायपालिका को अधिकार देता है।

संक्षेप में, हमारे संसदीय लोकतंत्र में, शासन करने की वैधता संसद में निहित है, जो उसे उस 'जनता' की स्वैच्छिक सहमति से प्राप्त होती है जो निर्वाचन-क्षेत्र बनाती है। संसद का सामूहिक व्यक्तित्व ही व्यक्तियों तथा राजनीतिक दलों, दोनों के आचार-व्यवहार हेतु संहिता लागू करता है; संसद ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा भारतीय कानूनों की बुनियाद की संरक्षक है।

हमारी संसदीय प्रणाली का एक महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण अन्य संसदीय लोकतंत्रों की भाँति ही, यह है कि राज्य-प्रमुख तथा सरकार-प्रमुख की स्थिति तथा शक्तियों को यह स्पष्टतया सीमांकित करती है। इससे एक प्रकार से दोहरी कार्यकारणियाँ स्थापित होती हैं। सरकार-प्रमुख उस दल अथवा दलों के गठबंधन से नियुक्त किया जाता है जिसके पास संसदीय सीटों का बहुमत होता है। प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद् संसद के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धांत सरकार में जवाबदेही का विचार प्रस्तुत करता है और सरकार को ऐसे निर्णय लेने से रोकता है जिनको वह संसद के सामने न्यायसंगत सिद्ध नहीं कर सकती है। यह विचार न सिर्फ़ यह इंगित करता है कि संसदीय प्रणाली की प्रामाणिकता एक ऐसी सरकार है जो सामूहिक है, बल्कि यह भी दर्शाता है कि कार्यकारी शक्तियाँ स्वभावत: समूहयुक्त हैं जो मतों के उस बहुवाद को बनाए रखने में मदद करता है जो सत्तावाद के विरुद्ध दीवार खड़ी करता है। इसके अतिरिक्त, वैस्टमिन्सटर मॉडल से भिन्न, भारत में राज्य-प्रमुख निर्वाचित होता है और अपनी शक्तियाँ संविधान के स्पष्ट प्रावधानों के तहत ही व्यवहार में लाता है। वह कोई नाममात्र का मुखिया भी नहीं होता। संविधान संसद को यह शक्ति प्रदान करता है कि वह संविधान के उल्लंघन के लिए राष्ट्रपति पर महाभियोग लगा सके। इसका अर्थ है कि राष्ट्रपति अपने बूते कुछ ऐसे काम करने में समर्थ है जिसके लिए वह उत्तरदायी है। राष्ट्रपति संसद का भी एक अभिन्न भाग होता है और संविधान प्रदत्त ऐसी शक्तियों से लैस होता है जो उस स्थिति में संसदीय अनौचित्य पर नियंत्रण रखने में उसकी मदद करती हैं जब किसी समय संसदीय बहुमत सुनिश्चित करने में राजनीतिक दल असमर्थ रहते हैं अथवा बहुमत खो देते हैं। राष्ट्रपत्य अधिकार का महत्त्व संसद के सामने आए संकट के अनेक मौकों पर देखा गया है। उदाहरण के लिए 1979 में, राष्ट्रपति ने मोरारजी देसाई के उस आग्रह को ठुकरा दिया जो उन्होंने प्रधानमंत्री पद से इस्तीफ़ा देने के बाद सरकार बनाने के लिए किया था। 1979 में ही राष्ट्रपति ने देसाई के उत्तरवर्ती, चरणसिंह से संसद का विश्वास हासिल करने का आग्रह किया था। विश्वास प्राप्त करने में चरणसिंह की असफलता ही तदोपरांत चुनावों में परिणत हुई। यद्यपि राष्ट्रपति के उपर्युक्त कार्य विवादों में घिरे रहे, प्रतिष्ठित न्यायविदों तथा लेखकों द्वारा यह निश्चयपूर्वक कहा जाता है कि राष्ट्रपति ने वही किया जो संसदीय परम्पराओं के अनुकूल था। इसी प्रकार 1987 में, राष्ट्रपति ने भारतीय डाकघर (संशाधन) अधिनियम संसद को वापस भेज देने के लिए अपने संवैधानिक अधिकार का प्रयोग किया। इस प्रकार, भारत का राष्ट्रपति प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद् तथा निर्वाचित नेतृत्व के लिए एक शक्तिमत्त राजनीतिक प्रतितोलक-भार यानी तराजू का दूसरा पलड़ा है।

भारतीय संसदीय प्रणाली में, अन्य संसदीय प्रणालियों की ही भाँति, सरकार ही संसद में तथा उसके माध्यम से उसी के द्वारा विधायी तथा कार्यकारी शाखाओं का विलय करके शासन करती है। भारतीय संविधान अनुच्छेद 75 (5) में इस निराले विलय पर यह व्यवस्था देते हुए ज़ोर देता है कि यदि कोई

मंत्री छह महीने की अवधि के भीतर किसी भी सदन का सदस्य नहीं बनता है, उसे मंत्री पद छोड़ना होगा। दूसरे शब्दों में, केवल संसद, जो कि विधायी निकाय है, का कोई सदस्य ही सरकार का मंत्री अथवा कार्यकारिणी का सदस्य बन सकता है। मंत्रिपरिषद् को इसीलिए योजक कहा जाता है, जो राज्य की विधायी शाखा से लेकर कार्यकारी शाखा तक सेतु बनाती है।

एक संसदीय प्रणाली में, जिसे कभी-कभी 'प्रधानमंत्री स्वरूप' अथवा 'मंत्रिमण्डलीय स्वरूप' वाली सरकार कहा जाता है, प्रधानमंत्री के नेतृत्व में कुछ अग्रणी मंत्रियों वाला मंत्रिमण्डल ही सभी महत्त्वपूर्ण नीतिगत निर्णय लेता है। मंत्रिमण्डल के सदस्य नीतिगत दिशा-निर्देश प्रस्तुत किए जाने में महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका निभा सकते हैं परन्तु पूरी तरह प्रधानमंत्री के पर्यवेक्षण तथा साक्ष्य में रहकर ही। तथापि, लाल बहादुर शास्त्री के समय से ही, प्रधानमंत्री कार्यालय अर्थात् पी.एम.ओ. मंत्रिमण्डलीय शक्ति के एक महत्त्वपूर्ण वैकल्पिक स्रोत के रूप में उभरा है। पी.एम.ओ. का अधिकार तदोपरांत श्रीमती इंदिरा गाँधी के तत्त्वावधान में पुनर्प्रवर्तित किया गया और उसकी भूमिका वास्तविक निर्णयन् में विस्तीर्ण की गई। मंत्रिमण्डल अथवा पी.एम.ओ. के इस अधिकार ने कुछ हद तक संसदीय विशेषाधिकारों तथा उसकी विधायी प्रक्रिया का अतिक्रमण किया है, सर्वाधिक विशेष रूप से, राष्ट्रपति के नाम से जारी अध्यादेश द्वारा विधि-निर्माण के प्रायिक अधिनियमन द्वारा। आज पी.एम.ओ. राजनीतिक प्राधार में एक महत्त्वपूर्ण प्रभुत्व केन्द्र है, जो न सिर्फ़ वास्तविक निर्णयन् में अपने प्रभुत्व पर बल्कि सरकार के अन्य मंत्रालयों द्वारा नीति-क्रियान्वयन के अनुश्रवण तथा समन्वयन पर भी ज़ोर देता है।

तथापि, शासन उस संस्थागत प्राधार द्वारा सिर्फ़ अधिदिष्ट ही नहीं है, जो स्थापित है बल्कि उन संस्थानों तथा राजनीतिक संस्कृति की अन्तर्क्रिया की द्वन्द्वात्मक पद्धति है जहाँ हरेक का दूसरे पर प्रभाव है। स्वतंत्रता के तुरन्त बाद, एकमात्र प्रबल राजनीतिक दल की विद्यमानता, जिसे बहुत छोटे विपक्ष का सामना करना पड़ा, ने उस राजनीतिक बहुवाद के सिद्धांत को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया जो संसदीय ढाँचे का आधार हो। उस परिस्थिति में जहाँ सरकार में किसी दल का बहुमत था, विधायिका एक 'बोलने वाली कार्यशाला' बन गई थी। संसदीय प्रक्रियाओं पर जवाहरलाल नेहरू का चमत्कार छाया हुआ था जो आशीष नन्दी के अनुसार, स्वयं ही विपक्ष बन गए थे जो दोषों के लिए अपने मंत्रियों की आलोचना और विकास हेतु नीतियाँ लागू करने के लिए उनकी प्रशंसा करते रहते थे। यद्यपि, इस अवधि के दौरान प्रधानमंत्री का प्रभुत्व भारतीय राजनीतिक प्रणाली में सर्वोच्चता तथा प्रमुखता हासिल कर चुका था, संसदीय लोकतंत्र के सारतत्त्व तथा एक संघ की आवश्यकताओं ने प्राय: स्वायत्त रहते हुए राज्य तथा केन्द्रीय राजनीति के साथ अच्छा काम किया। इस काल के दौरान, राजनीति-शास्त्री पॉल ब्रास के अनुसार, एक परस्पर सौदाकारी स्थिति में, सशक्त राज्यों के साथ एक सशक्त केन्द्रीय सरकार सह-अस्तित्व में थी। इसके अतिरिक्त, इस चरण के दौरान, सेना पर असैनिक नियंत्रण की मज़बूत पकड़ का प्रबलता से दावा किया जाता था और संसद के प्रति ज़िम्मेदार एक राजनीतिक कार्यकारिणी स्पष्ट और प्रभावशाली नीति-निर्देश प्रदान करती थी।

नेहरू की मृत्यु और कांग्रेस, भारतीय राजनीति में पूर्व-प्रतिष्ठित प्रभुत्व रखने वाली एक पार्टी, के भीतर सत्ता-संघर्षों के बाद, संसदीय लोकतंत्र से जुड़े मूल्यों का ह्रास हुआ और संघीय विचारधारा भीतर से दुर्बल बना दी गई। उस प्रभावशाली स्थिति को बरकरार रखने में कांग्रेस पार्टी के प्रयासों ने पार्टी के भीतर केन्द्रीकरण करती प्रवृत्तियों और यहाँ तक कि उसके अधिरोपण की ओर अग्रसर किया जिसे श्रीमती इन्दिरा गाँधी की सरकार के तत्त्वावधान में 'वैकल्पिक तानाशाही' का नाम दिया जा सकता है। बहरहाल, इस विधि के दौरान भी संसद की महत्ता और आवश्यकता प्रदर्शन रूपी न्यायसंगत थीं। कांग्रेस पार्टी में संकट और सत्ता-संघर्ष 1969 में पार्टी के बीच एक सीधी दरार में परिणत हुए जो भारत के राष्ट्रपति पद हेतु कांग्रेस नामित व्यक्ति और राष्ट्रपति के रूप में श्रीमती

गाँधी के प्रत्याशी वी.वी. गिरि के निर्वाचन पर उठ खड़े हुए थे। श्रीमती गाँधी को कांग्रेस पार्टी से निष्कासित कर दिया गया, परन्तु इस निष्कासन का प्रधानमंत्री के रूप में स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि उन्होंने संसद में और संसद-सदस्यों के बीच अपना समर्थन कायम रखा। इस प्रकार, संसद में बहुमत रखने वाले दल में एक नेतृत्व संकट ने सरकार की प्रकार्यात्मकता को प्रभावित नहीं किया जिसने प्रभावशाली ढंग से संसदीय प्रक्रियाओं के महत्त्व को दर्शाया। संसदीय प्रक्रिया का यह महत्त्व 1979 में फिर प्रदर्शित हुआ, जब संसद में जनता पार्टी-सदस्यों के वर्ग ने मोरारजी देसाई के साथ असंतुष्टि व्यक्त की, जो देसाई के त्याग-पत्र में परिणत हुआ।

तथापि, श्रीमती गाँधी के शासनकाल में संसदीय वैधता और पवित्रता को अत्यधिक चुनौतियों का सामना करना पड़ा। 1973-74 में, उदाहरण के लिए, श्रीमती गाँधी द्वारा कार्य-प्रणाली के उच्चरूप से वैयक्तिक तथा सत्तावादी तरीके से जुड़े खाद्यान्न की कमी, चढ़ती कीमतों ने परिणामस्वरूप देश के अनेक भागों में बड़े राजनीतिक प्रदर्शन हुए। इसको एक न्यायालय के अभिनिर्णय से हवा मिली जिसमें श्रीमती गाँधी का 1971 का चुनाव अवैध ठहराया गया था। श्रीमती गाँधी ने कुछ इस तरह प्रत्युत्तर दिया जिससे कि संसदीय लोकतंत्र को एक प्रकार से क्षति पहुँची। अभिव्यक्ति की स्वतंत्र, नागरिक स्वच्छंदताओं का उपभोग, एक स्वतंत्र प्रैस तथा विपक्ष जैसे संसदीय लोकतंत्र के मौलिक सिद्धांतों पर अनुच्छेद 352 के तहत आपात्स्थिति लागू करके प्रतिबंध लगा दिया गया। इसके अतिरिक्त, संसदीय सर्वोच्चता का तर्क संसदीय मूल्यों तथा प्रक्रियाओं के दुर्बलीकरण को न्यायोचित ठहराने के लिए प्रयोग किया गया। यह सब उन कानूनों को प्रतिलंघित करते नए चुनावी कानूनों को अधिनियमित करते हुए किया गया जिनके तहत इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने श्रीमती गाँधी के चुनाव को अवैध ठहराया था। संसद के इस कृत्य से वैधानिक पुनरावलोकन की उस प्रक्रिया को भीतरी रूप से क्षति पहुँची जिसका काम है संसदीय सत्तावाद के विरुद्ध रक्षात्मक आड़ बनकर रहना। यह अतिशय कार्यकारी शक्ति तथा वैधानिक स्वतंत्रता की भितरघात प्रमाणित मूल्यों व प्रक्रियाओं हेतु आदर के बग़ैर शासक राजनीतिक दल के प्रति दृढ़-प्रतिज्ञ मुख्य न्यायाधीशों तथा न्यायाधीशों के पसंद के साथ, इस काल में जारी रही।

वस्तुत:, श्रीमती गाँधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस पार्टी की 1977 के आम चुनावों में हार ने भारत के संसदीय लोकतंत्र की मज़बूत व गहरी जड़ों को प्रतिबिम्बित किया। भारत की 'जनता' ने किसी पार्टी-विशेष में निहित अपने जनादेश व निष्ठा के उत्क्रमण द्वारा आवधिक रूप से अपने मताधिकार का प्रयोग करने में काफ़ी परिपक्वता दर्शायी है। उदाहरण के लिए, राजीव गाँधी, 1985 में संसद में लगभग 80 प्रतिशत सीटें सुनिश्चित करके जो कांग्रेस पार्टी को एक विशालकाय विजय की ओर ले गए थे, को 1989 में एक अपमानजनक पराजय का सामना करना पड़ा।

भारतीय संसदीय प्रणाली ने 1975 में एक अल्पकालीन अन्तराल के लिए अपना टूटना देखा, 1977 में वह पूर्वावस्था में लौटी फिर 1979 में जनता सरकार के पतन और श्रीमती गाँधी के सत्ता में लौटने तक उसने उत्तरीजीविता बनाए रखी। 1985 में राजीव गाँधी द्वारा हासिल अभूतपूर्व बहुमत के बाद कांग्रेस की हार हुई और 1989 में वी.पी. सिंह सरकार की और उसके बाद 1990 में चन्द्रशेखर की सरकार की स्थापना हुई। 1991 के आम चुनावों में पी.वी. नरसिम्हाराव के तत्त्वावधान में कांग्रेस सरकार की वापसी देखी गई, जो उन तरीकों से अपने कार्यकाल तक टिकी रही जिनकी अब विधायिका द्वारा जाँच की जा रही है। फलस्वरूप रिश्वत मामले की सुनवाई ने कुछ सवालों के साथ हमारी संसदीय प्रक्रियाओं के समक्ष चुनौतियाँ खड़ी की हैं, जैसे संसद के दायरे में हुए कार्य न्यायिक विवृत्ति के शासनाधीन हैं अथवा नहीं।

1996 के आम चुनावों के विभंजित अभिनिर्णय ने प्रारम्भत: अटल बिहारी वाजपेयी की एक 13-दिनी सरकार की स्थापना, 13 माह की देवेगौड़ा की और 1997 में इंद्रकुमार सरकार की

स्थापना की ओर अग्रसर किया। 1998 के उपचुनाव फिर से एक विभंजित अभिनिर्णय में परिणत हुए जो वाजपेयी सरकार के उस गठन की ओर ले गए जिसने एक गठबंधन-सदस्य द्वारा समर्थन वापस लिए जाने के बाद, शीघ्र ही अपना बहुमत खो दिया। ऐसी स्थिति में जब कोई भी राजनीतिक दल सरकार गठित करने हेतु दावा करने की स्थिति में नहीं था, संसद भंग कर दी गई और आम चुनावों की घोषणा कर दी गई। 1999 के आम चुनावों ने निर्वाचक की ध्रुवीकृत मानसिकता और संसद में स्पष्ट बहुमत सुनिश्चित करने में किसी भी दल की असमर्थता को प्रतिबिम्बित किया। इसने राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन (एन.डी.ए.), वाजपेयी के नेतृत्व में तेरह विभिन्न दलों के एक गठजोड़ के निर्माण और सरकार बनाने के लिए उसके दावे की ओर प्रवृत्त किया।

बहरहाल, यद्यपि इन सब घटनाओं ने सरकारी कार्यप्रणाली में अस्थिरता की ओर प्रवृत्त किया, इसका राजनीतिक सत्ता के अवस्थान्तर गमन पर कोई नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा। सरकारी कार्यप्रणाली की अस्थिरता ने अस्थायित्व अथवा सरकार के अन्य अंगों द्वारा संसदीय प्रभुत्व के अनाधिकार ग्रहण अथवा किसी प्रकार के सत्तावाद के स्थापन हेतु उग्र राजनीतिक दावों के अभिकथन को प्रवृत्त नहीं किया। यह दर्शाता है कि संसदीय अन्तरात्मा हमारी राज्य व्यवस्था में सभी कर्ताओं की राजनीतिक संचेतना में गहरे निहित है जिसके द्वारा हमारे संसदीय लोकतंत्र की आवश्यकता और महत्ता को बढ़ावा मिलता है।

भारतीय संसदीय प्राधार इस प्रकार जाँचों और विपत्तियों से गुज़रते परिपक्व हुआ, एकमात्र दल द्वारा शासित एक संस्थान् से चलकर एक उच्च रूप से ध्रुवीकृत राजनीतिक मतों व जनादेश वाले विभंजीकृत राज्य के उद्गमन तक। यद्यपि, हम एक संसदीय राज्य-व्यवस्था के रूप में अस्थिर तथा बारंबार बदलती सरकारों के साथ बहुत-से संकटों से गुजरे हैं, हमारे संसदीय प्राधारों का प्रभाव तथा तर्कसंगतता इस प्रक्रिया में परिपक्व ही हुए हैं। यद्यपि राजनीतिक प्राधार की पुनर्संरचना हेतु माँगों को इन अस्थिर क्षणों के कारण गति मिली है, इसको आकस्मिक रूप से अत्यधिक विपरीतता ही मिली है। यह विपरीतता इन दावों के आधार पर न्यायसंगत है कि राजनीतिक व्यवस्था में कोई भी परिवर्तन सत्तावाद की प्रक्रिया को बढ़ाएगा ही, जो कि राजनीतिक बहुवाद की वास्तविक प्रकार्यात्मकता को न सिर्फ़ हानि पहुँचाएगा बल्कि विविध धर्मों, नृजाति, जनजातीय अथवा अन्य संबंधों को सम्मान देती हमारी उदारता के आधार को भी प्रभावित करेगा।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) संसदीय सरकार स्थिर सरकार की अपेक्षा एक उत्तरदायी सरकार अधिक है। स्पष्ट करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) वे दो कारक क्या हैं जो भारत में संसदीय सर्वोच्चता की अपेक्षा संवैधानिक सर्वोच्चता को स्थापित करते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

9.4 सारांश

सरकार के मंत्रिमण्डलीय स्वरूप अथवा प्रधानमंत्रीय स्वरूप में भी जाने जाने वाली संसदीय प्रणाली ने ऐतिहासिक रूप से सार्वजनिक अधिकारों के लिए राजाओं के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व किया। हमने देखा कि यद्यपि संसदीय सरकार का उद्‌भव ब्रिटेन में हुआ, यह अनेक देशों द्वारा अपनायी गई है – समुचित परिवर्तनों के साथ विकासशील तथा विकसित, दोनों देशों में। भारत में संसदीय प्रणाली के कुछ आधारभूत लक्षण निम्न प्रकार हैं :

- संसद में दल प्रतिनिधित्व अथवा गठबंधन शक्ति पर आधारित संसदीय चुनावों के परिणामस्वरूप बनी एक सरकार;
- इस प्रणाली का आधारभूत लक्षण है राजनीतिक बहुवाद जो एक विषमजातीय राज्य-व्यवस्था के हितों व आकांक्षाओं को प्रकट करती नानारूप विचारधाराओं तथा लक्ष्यों वाले प्रतिस्पर्धी राजनीतिक दलों की विद्यमानता को स्वीकृति देता है;
- मंत्रिगण अथवा वास्तविक कार्यकारिणी (सरकार) के सदस्य के संसद उन दलों से लिए जाते हैं जो संसद में बहुमत रखते हैं अथवा गठबंधन के घटक होते हैं;
- सरकार संसद के प्रति जिम्मेदार और जवाबदेह होती है, इस अर्थ में कि यह संसद के विश्वास पर टिकी होती है और उस विश्वास के अभाव में हटाई जा सकती है;
- सरकार संसद भंग करने की सिफ़ारिश कर सकती है और उस स्थिति में एक आम चुनाव करवा सकती है जब कोई भी दल सरकार बनाने की स्थिति में न हो, यानी कि चुनावीय शर्तें सामान्यत: एक अधिकतम सीमा की भीतर सुनम्य होती हैं;
- संसदीय कार्यपालिका सामूहिक होती है और शक्ति प्रसार की प्रकृति संघ स्वरूप होती है;
- सरकार-प्रमुख और राज्य-प्रमुख के पद अलग-अलग होते हैं जहाँ राष्ट्रपति संविधानसम्मत नाममात्र का अध्यक्ष और प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद् का अग्रणी, वास्तविक कार्यकारी होता है।

9.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ए.आर. देसाई, *स्टेट एण्ड सॉसाइटी इन् इण्डिया : एस्सेज़ इन् डिसेण्ट*, पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1975।

एन्थनी जे. पैरल **(Ti.),** *गाँधी – हिन्द स्वराज एण्ड अदर राइटिंग्स*, कैम्ब्रिज टैक्ट्स मॉडर्न पॉलिटिक्स, नई दिल्ली, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 19971

एण्ड्रयू हेवुड की कॉन्सैपट्स इन पॉलिटिक्स, मैकमिलन प्रैस लिमिटेड, ग्रेट ब्रिटेन, 2000।

जय प्रकाश नारायण, 'ए प्ली फॉर रिकंसट्रक्शन ऑव इण्डियन पॉलिटी', विमल प्रसाद (सं.) कृत *ए रिवल्यूशनरी'ज़ क्वैस्ट : सिलेक्टिड राइटिंग्स ऑव जे.पी. नारायण में,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली 1980।

पॉल ब्रास, *दि पॉलिटिक्स ऑव इण्डिया सिन्स इण्डिपेण्डेन्स,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस, प्रथम संशोधित भारतीय संस्थान, 1922।

9.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) संसदीय प्रणाली में सरकार का कार्यकारी तथा विधायी अंगों का विलय होता है जबकि अध्यक्षीय प्रणाली वाली सरकार सरकार के तीन अंगों के बीच शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित होती है।

2) इसका कार्य है कि कार्यपालिका एकाधिक है। प्रधानमंत्री कैबिनेट प्रमुख हो सकता है, परन्तु लिए गए निर्णयों को कैबिनेट का सामूहिक समर्थन प्राप्त होना चाहिए क्योंकि मंत्रीगण विधायिका के प्रति सिर्फ़ व्यक्तिगत रूप में नहीं बल्कि सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) संसद राष्ट्रीय बहस हेतु एक मंच की मंत्रणात्मक भूमिका निभाती है। यह स्वयं ही सरकारी प्राधिकरण पर नियंत्रण रखती है, यद्यपि विधायिका का विस्तृत होने के कारण सरकार विभिन्न संसदीय युक्तियों के माध्यम से सीधे जवाबदेह होती है। यह एक जिम्मेदार सरकार सुनिश्चित करता है, यद्यपि जरूरी नहीं कि एक स्थिर संख्या हो। ग़ैर-संसदीय प्रणाली जिम्मेदार नहीं हो सकती है, क्योंकि इसमें कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित होता है। इसके अलावा, चुनाव के दिनों में छोड़कर कार्यपालिका की जनता के प्रति जवाबदेही सुनिश्चित करना मुश्किल होता है।

2) एक है केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच विधि-निर्माण शक्तियों का संघीय विभाजन और दूसरा है संविधान में वे प्रावधान जो मौलिक अधिकारों का गारण्टी देते हैं।

इकाई 10 विधायिका

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 भारतीय विधायिका : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

10.3 संघीय विधायिका

10.3.1 राष्ट्रपति

10.3.2 संसद : लोक सभा

10.3.3 संसद : राज्य सभा

10.3.4 राज्य सभा की विशेष शक्तियाँ

10.4 पीठासीन अधिकारी

10.4.1 लोक सभा अध्यक्ष

10.4.2 राज्य सभा अध्यक्ष

10.5 विधायिक प्रक्रिया

10.5.1 वित्त विधेयक

10.6 संसदीय विशेषाधिकार

10.7 कार्यपालिका पर नियंत्रण हेतु संसदीय युक्तियाँ

10.7.1 संसदीय समितियाँ

10.8 राज्य विधायिका

10.9 विधायिका का पतन

10.10 सारांश

10.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारतीय संसद के उद्‌भव, प्राधार तथा कार्यप्रणाली की जाँच-पड़ताल है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि –

- भारत में आधुनिक विधायिका का उद्‌भव तलाश सकें;
- संसद के संगठन तथा प्रकार्यों पर चर्चा कर सकें; और
- संसदीय प्रक्रियाओं को स्पष्ट कर सकें।

10.1 प्रस्तावना

'विधायिका' अंग्रेजी शब्द 'लैजिस्लेचर' का अनुवाद है जो लैटिन शब्द लैक्स (Lex) से निकला है, जिसका अर्थ है–मुख्यत: सामान्य अनुप्रयोगार्थ वैधानिक नियम का एक विशिष्ट प्रकार। इस नियम को विधान नाम दिया गया है, और वह संस्था जो जनता की ओर से इसे अधिनियमित करती है,

विधायिका कहलाती है। अनिवार्यतः, विधायी प्राधार के दो प्रतिरूप होते हैं : संसदीय तथा अध्यक्षीय। संसदीय प्रतिरूप में कार्यकारिणी उसके अपने सदस्यों में से ही विधायिका द्वारा चुनी जाती है। इसी कारण, कार्यकारिणी विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। अध्यक्षीय प्रणाली सत्ता-पृथक्करण के सिद्धांत पर आधारित होती है और किसी भी व्यक्ति को एक ही समय कार्यकारिणी तथा विधायिका, दोनों में कार्य करने की अनुमति नहीं देती है।

भारतीय संसद, जो हमारे संविधान की रचना है, जनता का सर्वोच्च प्रतिनिधिक प्राधिकरण है। यही उच्चतम विधायी अंग है। यही जनमत की अभिव्यक्ति हेतु राष्ट्रीय मंच है।

10.2 भारतीय विधायिका : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय संसद रातोंरात नहीं प्रकट नहीं हुई; यह ब्रिटिश शासन के दौरान, विशेषकर 1858 से धीरे-धीरे तब उद्भूत हुई जब ब्रिटिश 'क्राउन' ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारत पर प्रभुसत्ता ग्रहण कर ली। भारत सरकार अधिनियम, 1858 द्वारा 'क्राउन' की शक्तियों का प्रयोग एक कौन्सिल ऑव इण्डिया की मदद से भारत हेतु राज्य-सचिव द्वारा किया जाना था। यह राज्य-सचिव, जो ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी था, उच्च सरकारी पदाधिकारियों वाली एक एक्जीक्यूटिव कौन्सिल की मदद से, गवर्नर-जनरल के मार्फ़त भारत पर शासन करता था। किसी प्रकार का कोई शक्ति-पृथक्करण नहीं था; सभी शक्तियाँ – विधायी, कार्यकारी, सैन्य तथा असैनिक – कौन्सिल में इस गवर्नर-जनरल में निहित थीं।

इण्डियन कौन्सिल एक्ट, 1861 ने थोड़ा-बहुत लोकप्रियता का पुट देना आरम्भ दिया क्योंकि इसने एक्ज़ीक्यूटिव कौन्सिल में कुछ अतिरिक्त *ग़ैर-राजकर्मचारियों* को शामिल किया था और उनको विधायी व्यवसाय के लेन-देन में भाग देने की अनुमति दे दी थी। लैजिस्लेटिव कौन्सिल न तो मंत्रणात्मक थी और न ही प्रतिनिधिक। इसके सदस्य, नामांकित होते थे और उनकी भूमिका गवर्नर-जेनरल द्वारा रखे गए विधायी प्रस्तावों पर मात्र विचार करने तक सीमित थी।

इण्डियन कौन्सिल एक्ट, 1892 ने दो महत्त्वपूर्ण सुधार किए। प्रथम, इण्डियन लैजिस्लेटिव कौन्सिल के ग़ैर-पदेन सदस्य अब से बंगाल चैम्बर ऑव कॉमर्स तथा प्रोविन्सिअल लैजिस्लेटिव कौन्सिलों द्वारा नामांकित किए जाने थे, जबकि प्रोविन्सिअल कौन्सिलों के ग़ैर-पदेन सदस्य विश्वविद्यालयों, ज़िला बोर्डों, नगरपालिकाओं जैसे कुछ स्थानीय निकायों द्वारा नामांकित किए जाने थे। दूसरे, ये कौंसिलें बजट पर चर्चा करने तथा एक्जीक्यूटिव से शंका-समाधान कराने में सक्षम बना दी गईं।

मॉरले-मिण्टो सुधारों पर आधारित इण्डियन कौन्सिल एक्ट, 1909 ने पहली बार प्रतिनिधिक के साथ-साथ लोकप्रिय अभिलक्षणों को भी प्रवेश दिया। केन्द्र में, लैजिस्लेटिव कौन्सिल में निर्वाचन शुरू किया गया यद्यपि पदाधिकारियों ने बहुमत अभी तक कायम रखा था। परन्तु प्रान्तों में, प्रोविन्सिअल लैजिस्लेटिव कौन्सिल का आकार निर्वाचित ग़ैर-पदेन सदस्यों को शामिल कर बढ़ा दिया गया ताकि ये पदाधिकारीगण आइंदा बहुमत न बनाएँ। इस अधिनियम ने लैजिस्लेटिव कौन्सिलों के मंत्रणात्मक प्रकार्यों को बढ़ावा दिया और उन्हें बजट तथा जनहित के किसी भी अन्य ऐसे मामले पर दृढ़-प्रतिज्ञता प्रस्तुत करने का अवसर दिया जो कुछ विशिष्ट विषयों, जैसे कि सशस्त्र बल, विदेश मामले तथा भारत राज्य आदि, को छोड़कर हो। भारत सरकार अधिनियम, 1915 ने सभी पूर्व अधिनियमों को समेकित किया ताकि कार्यकारिणी, विधायिका तथा वैधानिक प्रकार्य किसी एक ही अधिनियम से व्युत्पन्न किए जा सकें।

भारत सरकार अधिनियम, 1919 से उद्गमित विधायी सुधारों का अगला चरण प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार के रूप में कुछ और विधायी सुधार लेकर आया। केंद्र में विधायिका को द्विसदनी बना दिया गया और निर्वाचित बहुमत को दोनों सदनों में प्रविष्ट कराया गया। तथापि, उत्तरदायी सरकार का कोई भी घटक केन्द्र में प्रविष्ट नहीं किया गया। कौन्सिल में गवर्नर-जेनरल पहले की ही भाँति राज्य-सचिव के माध्यम से ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी बना रहा।

भारत सरकार अधिनियम, 1935 भारतीय राष्ट्रीय नेताओं और ब्रिटेन के बीच अनेक सन्धि-वार्ताओं के बाद अस्तित्व में आया। इसने ब्रिटिश भारतीय प्रांतों तथा देशज राज्यों वाले एक संघ की अपेक्षा की थी। इसने छह राज्यों में द्विसदनी विधायिकाओं को प्रारंभ किया। इसने तीन सूचियों – केन्द्रीय सूची, प्रान्तीय सूची और समवर्ती सूची, के माध्यम से केन्द्र व प्रान्तीय विधायी शक्ति को सीमांकित किया। बहरहाल, सैण्ट्रल एक्जीक्यूटिव को विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं बनाया गया। गवर्नर-जेनरल के साथ-साथ 'क्राउन' भी सैण्ट्रल लैजिस्लेचर द्वारा पारित विधेयकों को अस्वीकार (वीटो) कर सकता था। गवर्नर-जेनरल के पास अध्यादेश-प्रारूपण अधिकारों के अलावा विधि-निर्माण अथवा स्थायी अधिनियमों के स्वतंत्र अधिकार भी थे। इस प्रकार की सीमाएँ प्रोविन्सिअल लैजिस्लेचरों के मामले में भी विद्यमान थीं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य तथा भारत व ब्रिटेन में हालातों ने ब्रिटिश सरकार को स्वतंत्रता हेतु भारतीय दावे के एक असम-मुखरित स्वीकरण की ओर प्रवृत्त किया। भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947 दो स्वतंत्र उपनिवेश – भारत और पाकिस्तान, बना कर पास किया गया। प्रत्येक स्वतंत्र उपनिवेश को पूरी विधि-निर्माण स्वायत्तता रखनी थी। 1946 में बनी कॅन्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली द्वारा जो कुछ भी प्रतिबंध हो, स्वतंत्र उपनिवेश की विधायिका के अधिकार बिना किसी प्रतिबन्ध के व्यवहार्य थे। इस कॅन्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली ने भारतीय संविधान अंगीकार कर लिया, जिस पर 26 नवम्बर 1950 को राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हुए।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारत सरकार अधिनियम, 1919 के द्वारा शुरू किए गए महत्त्वपूर्ण वैधानिक सुधार हैं

.....

.....

.....

.....

2) केन्द्र तथा संघट्ट इकाई के बीच शक्ति-विभाजन पहली बार द्वारा शुरू किया गया।

.....

.....

.....

.....

10.3 संघीय विधायिका

अनुच्छेद 79 के प्रावधान के तहत्, भारत की संसद के मुख्य घटक हैं — राष्ट्रपति और दो सदन– निम्न सदन अथवा लोक सभा (जनता का सदन) तथा उच्च सदन अथवा राज्य सभा (राज्यों की परिषद्)। जबकि लोकसभा भंग किए जाने की विषयवस्तु है, राज्य सभा एक स्थायी विधि-निर्माण संस्था है जिसको भंग नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रपति पद भी कभी रिक्त नहीं रहता है।

10.3.1 राष्ट्रपति

जबकि अमेरिका का राष्ट्रपति विधायिका (कॉंग्रेस) का अंग नहीं होता, भारत का राष्ट्रपति भारतीय संसद का एक अभिन्न अंग होता है। तथापि वह दोनों सदनों में से किसी में भी न तो बैठ सकता है और न मंत्रणाओं में भाग ही ले सकता है।

भारत का राष्ट्रपति संसद की तुलना में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। राष्ट्रपति सदन को एक सत्र से दूसरे सत्र तक उपस्थित होने के लिए आदेश जारी करता है और सत्रावसान करता है। दोनों सदनों द्वारा पास किया गया कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की सहमति के बिना कानून नहीं बन सकता है। इसके अलावा कुछ विधेयक तभी लाए जा सकते हैं जब राष्ट्रपति की अनुशंसा प्राप्त हो जाए। जब दोनों ही सदनों की सत्रावसान स्थिति हो तो राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने का अधिकार भी है। ये अध्यादेश यद्यपि स्वभावत: अस्थायी होते हैं, संसद द्वारा पास किए गए किसी कानून जैसा ही प्रभाव और शक्ति रखते हैं। इकाई 12 में हम भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों का विस्तार से निरीक्षण करेंगे।

10.3.2 संसद : लोक सभा

निम्न सदन अथवा जनता के सदन को साधारणत: लोक सभा के रूप में जाना जाता है। इसके सदस्य जनता द्वारा सीधे चुने जाते हैं। चुने जाने वाले अधिकतम सदस्यों की संख्या जो संविधान द्वारा तय की गई थी, 500 थी। सातवें संविधान संशोधन (1956) द्वारा इसे बढ़ाकर 520 सदस्य और 42वें संविधान संशोधन (1976) बढ़ाकर 545 सदस्य कर दी गई। इसमें शामिल थे– अधिक-से-अधिक 525 ऐसे सदस्य जो राज्यों में क्षेत्रीय निर्वाचन-क्षेत्रों से सीधे चुनाव द्वारा चुने जाते थे, और अधिक-से-अधिक 20 ऐसे सदस्य जो केंद्रशासित प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करते थे। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति आंग्ल-भारतीय समुदाय के दो सदस्यों को नामांकित कर सकता है यदि वह समझता है कि उस समुदाय का लोक सभा में समुचित प्रतिनिधित्व नहीं है।

राज्यों के बीच सीटों का वितरण क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के सिद्धांत पर आधारित है जिसका अर्थ है प्रत्येक राज्य को सभी राज्यों की कुल जनसंख्या के अनुपात में उसकी आबादी के आधार पर सीटें आबंटित हैं। निर्वाचन के उद्देश्य से प्रत्येक राज्य निर्वाचन-क्षेत्र कही जाने वाली क्षेत्रीय इकाइयों में विभाजित है जो जनसंख्या के लिहाज से न्यूनाधिक एक ही आकार की होती है।

लोक सभा का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर कराया जाता है; प्रत्येक वयस्क जो 18 वर्ष की आयु पार कर चुका है, वोट देने के योग्य है। वह प्रत्याशी जो सबसे अधिक संख्या में वोट सुनिश्चित कर लेता है, निर्वाचित हो जाता है। संविधान चुनाव कराने के लिए चुनाव आयोग के नाम से जाने जाने वाले एक स्वतंत्र संगठन की व्यवस्था देता है। निम्न सदन का आमतौर पर जीवन पाँच साल है, यद्यपि राष्ट्रपति द्वारा इसे पहले भी भंग किया जा सकता है।

लोक सभा का सदस्य बनने के लिए व्यक्ति एक भारतीय नागरिक होना चाहिए, वह 25 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो और वे सभी अन्य अर्हताएँ रखता हो जो संसद के एक कानून द्वारा निर्धारित हैं। लोक सभा हेतु निर्वाचन के लिए प्रयास करता एक प्रत्याशी भारत में किसी भी राज्य से किसी भी संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र से चुनाव लड़ सकता है।

संविधान ने सदस्यता के लिए कुछ अनर्हताएँ भी रखी हैं। कोई भी व्यक्ति संसद के दोनों सदनों का सदस्य अथवा संसद व किसी राज्य विधानमंडल दोनों का सदस्य नहीं हो सकता है। प्रत्याशी अनेक सीटों से चुनाव लड़ सकता है, परंतु यदि वह एक से अधिक सीट पर निर्वाचित होता है तो उसको अपनी पसंद की एक सीट के अलावा बाकी सब छोड़ देनी पड़ती हैं। यदि कोई व्यक्ति राज्य विधानमंडल तथा संसद, दोनों का चुनाव जीतता है और यदि वह राज्य विधानमंडल से निर्धारित समयावधि में त्याग-पत्र नहीं देता है, वह संसद में अपनी सीट पर अधिकार खो देगा। वे जिन्हें संसद के किसी कानून द्वारा छूट है, को छोड़कर कोई भी व्यक्ति केंद्रीय अथवा राज्य सरकार के अंतर्गत लाभ का कोई पद नहीं रख सकता है, और वह किसी सक्षम न्यायालय द्वारा दीवालिया अथवा विक्षिप्त मस्तिष्क वाला घोषित न हो। कोई सदस्य तब भी अयोग्य करार दिया जाता है जब वह बिना पूर्वानुमति के सदन की सभाओं से 60 दिन की अवधि तक अनुपस्थित रहता है अथवा वह स्वेच्छापूर्वक किसी अन्य देश की नागरिकता गृहण कर लेता है अथवा वह किसी विदेशी राज्य के प्रति अनुषक्ति की किसी अभिस्वीकृति के अधीन है।

10.3.3 संसद : राज्य सभा

राज्य सभा अथवा राज्य परिषद् में अधिक-से-अधिक 250 सदस्य होते हैं जिनमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा उन व्यक्तियों के बीच से नामांकित किए जाते हैं जो 'साहित्य, विज्ञान, कला, व समाज-सेवा में विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव' रखते हैं। शेष सदस्य एकल हस्तांतरणीय वोट के माध्यम से आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार राज्य विधानसभाओं के सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं। इस प्रकार, लोक सभा से भिन्न, राज्य सभा परोक्ष निर्वाचन की विधि अपनाती है। इस चुनाव के उद्देश्य से प्रत्येक राज्य की सीटों की संख्या आबंटित की जाती है, मुख्यत: उनकी आबादी के आधार पर। राज्य सभा, इस प्रकार राज्यों अथवा संघ की इकाइयों के प्रतिनिधित्व द्वारा संघीय अभिलक्षण दर्शाता है। तथापि, वह सैकंड चैंबर, में राज्य प्रतिनिधित्व की समानता के अमरीकी सिद्धांत का अनुसरण नहीं करती है। जहाँ संयुक्त राज्य (अमेरिका) का प्रत्येक राज्य सेनिट में दो प्रतिनिधि भेजता है, भारत में राज्य सभा में राज्य-प्रतिनिधियों की संख्या एक (नागालैंड) से 34 (उत्तर प्रदेश) तक भिन्न-भिन्न है, जो राज्य-विशेष की जनसंख्या पर निर्भर होती है।

10.3.4 राज्य सभा की विशेष शक्तियाँ

राज्य सभा का उन मंत्रियों पर मुश्किल से ही कोई नियंत्रण होता है जो वैयक्तिक अथवा संयुक्त रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। यद्यपि उसको उन सभी मामलों पर सूचना प्राप्त करने का पूरा अधिकार है जो अनन्य रूप से लोक सभा के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं, उसको कोई अधिकार नहीं है जो कि मंत्रिपरिषद् में अविश्वास मत पारित करे। इसके अतिरिक्त, राज्य सभा का धन-विधेयकों के मामलों में कुछ अधिक बोलने का अधिकार नहीं है।

तथापि, संविधान राज्य सभा को कुछ विशेष अधिकार प्रदान करता है। राज्यों के अनन्य प्रतिनिधि के रूप में राज्य सभा के पास दो अनन्य शक्तियाँ हैं जो विशेष महत्त्व की हैं।

प्रथम, अनुच्छेद 249 के तहत्, राज्य सभा को यह घोषणा करने का अधिकार है कि, राष्ट्रीय हित में, संसद को राज्य सूची में उल्लिखित किसी विषय के संबंध में कानून बनाने चाहिए। यदि एक दो-तिहाई बहुमत से राज्य सभा इस आशय का एक प्रस्ताव पारित कर देती है, संघीय संसद एक वर्ष की अवधि के लिए पूरे भारत अथवा उसके किसी भाग के लिए कानून बना सकती है।

राज्य सभा की दूसरी अनन्य शक्ति अखिल भारतीय सेवाओं को संचालित करने के संबंध में है। यदि राज्य सभा उपस्थित तथा मतदान करते कम-से-कम दो-तिहाई सदस्यों द्वारा कोई प्रस्ताव पारित करती है, संसद को अधिकार है कि वह संघ और राज्यों को सर्वमान्य एक अथवा अधिक अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन हेतु कानून बनाए।

इस प्रकार, ये विशेष प्रावधान राज्य सभा को भारतीय विधायिका का एक महत्त्वपूर्ण घटक बनाते हैं, न कि इँग्लैंड के हाउस ऑव लॉर्ड्स की भाँति एक अलंकारिक द्वितीय सभा-गृह। संविधान-निर्माताओं ने इसे मात्र किसी उतावले विधान पर नियंत्रण रखने के लिए ही नहीं रचा है, बल्कि एक महत्त्वपूर्ण प्रभावशाली सलाहकार की भूमिका अदा करने की भी इससे अपेक्षा की जाती है। इसका सुसंबद्ध संयोजन तथा स्थायी अभिलक्षण इसे सातत्य और स्थिरता प्रदान करते हैं। चूँकि इसके अनेक सदस्य "ज्येष्ठ राजनेता" होते हैं राज्य सभा आदरणीयता की अधिकारिणी है।

10.4 पीठासीन अधिकारी

संसद के प्रतीक सदन में उसके अपने पीठासीन अधिकारी होते हैं। लोक सभा में उसके मुख्य पीठासीन अधिकारी के रूप में एक अध्ययन और उसकी मदद के लिए एक उपाध्यक्ष होता है जो उसकी अनुपस्थिति में पीठासीन अधिकारी के रूप में कार्य निभाता है। राज्य सभा का पीठासीन अधिकारी भी एक अध्यक्ष होता है, जिसकी मदद एक उपाध्यक्ष करता है। वह भी अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उसके कर्तव्यों तथा प्रकार्यों का निर्वहन करता है। पूर्ववर्ती 'लोक सभा अध्यक्ष/ उपाध्यक्ष' और परवर्ती 'राज्य सभा अध्यक्ष/उपाध्यक्ष' कहलाते हैं।

10.4.1 लोक सभा अध्यक्ष

लोक सभा अध्यक्ष की स्थिति न्यूनाधिक इँग्लैंड के हाउस ऑव कॉमन्स के 'स्पीकर' की भाँति होती है। अध्यक्ष पद उच्च गरिमा और प्राधिकार का प्रतीक होता है। एक बार इस पद हेतु चुने जाने के बाद अध्यक्ष अपनी पार्टी से संबंध तोड़ लेता है और एक निष्पक्ष रीति से कार्यारंभ करता है। वह सदस्यों के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों के अभिभावक के रूप में काम करता है।

सदन की कार्यवाही के एक व्यवस्थित और कुशल संचालन को सुनिश्चित करने के लिए अध्यक्ष को अनेक अधिकार प्रदान किए गए हैं। वह सदन की कार्यवाहियाँ संचालित करता है, सदन की व्यवस्था और मर्यादा को कायम रखता है और व्यवस्था-बिंदुओं को निर्धारित करता है, सदन के नियमों की व्याख्या करता है तथा लागू करता है। अध्यक्ष ही प्रमाणित करता है कि कोई विधेयक धन-विधेयक है अथवा नहीं और उसका निर्णय अंतिम होता है। अध्यक्ष ही अधिप्रमाणित करता है कि दूसरे सदन अथवा भारत के राष्ट्रपति को उसकी सहमति हेतु प्रस्तुत किए जाने से पूर्व उसका सदन विधेयक को पारित कर चुका है। सदन के नेता की सलाह से अध्यक्ष ही कार्यवाही का क्रम निर्धारित करता है। वह ही निर्धारित करता है प्रश्नों, प्रस्तावों तथा संकल्पों की ग्राह्यता। अध्यक्ष प्रथमदृष्टया वोट नहीं देगा, परंतु किसी बराबरी की स्थिति में वह अपने निर्णायक मत का प्रयोग कर सकता है।

किसी ठोस प्रस्ताव को छोड़कर, लोक सभा अध्यक्ष के आचरण पर सदन में चर्चा नहीं की जा सकती है। उसका वेतन और भत्ते भारतीय समेकित कोष से देय होते हैं ताकि पद का स्वतंत्र लक्षण कायम रहे।

अध्यक्ष पद का एक विशेष लक्षण है कि सदन भंग होने की स्थिति में भी अध्यक्ष अपना पद खाली नहीं करता है। नए सदन द्वारा एक अन्य अध्यक्ष चुने जाने तक वह अपने पद पर बना रहता है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष सदन की अध्यक्षता करता है।

10.4.2 राज्य सभा अध्यक्ष

भारत का उप-राष्ट्रपति ही राज्य सभा का पदेन अध्यक्ष होता है, परंतु किसी भी कालावधि में जब उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति की भूमिका निभाता है अथवा राष्ट्रपति के प्रकार्यों को निष्पादित करता है, वह राज्य सभा के पीठासीन अधिकारी के रूप में कर्तव्यपालन नहीं करता। उप-राष्ट्रपति का चुनाव एक संयुक्त बैठक में एकत्र संसद के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा किया जाता है। यह एकल हस्तांतरणीय वोट के माध्यम से आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार होता है और इस प्रकार के चुनाव में मतदान गुप्त मत-पत्र द्वारा होता है। उप-राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन का अथवा किसी भी राज्य विधानसभा का सदस्य नहीं होता वह अपने पद पर उस तिथि से जिस पर वह पदासीन हुआ, पाँच वर्ष की अवधि के लिए बना रहता है अथवा जब तक वह अपने पद से त्याग-पत्र देता है अथवा राज्य सभा सदस्यों के बहुमत और लोक सभा की सहमति द्वारा पारित किसी प्रस्ताव द्वारा अपने पद से हटा दिया जाता है। राज्य सभा अध्यक्ष के प्रकार्य और कर्तव्य बिलकुल लोक सभा अध्यक्ष जैसे ही हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारतीय संसद के एक सदस्य के लिए अहर्ताएँ एवं अनहर्ताएँ क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) लोक सभा अध्यक्ष की शक्तियाँ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

10.5 विधायिक प्रक्रिया

विधि-निर्माण ही विधायिका का प्राथमिक प्रकार्य है। चूँकि आधुनिक समाज स्वभावत: बहुत जटिल है, विधि-निर्माण भी एक जटिल प्रक्रिया हो गई है। भारतीय संविधान विधि-निर्माण प्रक्रिया के निम्नलिखित चरण सुझाता है :

विधि-निर्माण का प्रथम चरण है – एक विधेयक की पुरस्थापना जिसमें प्रस्तावित कानून अभिव्यक्त होता है और यह "प्रयोजनों तथा हेतुओं की अभ्युक्ति" के साथ होता है। विधेयक की पुरस्थापना को विधेयक का प्रथम पाठन भी कहा जाता है। विधेयक दो प्रकार के होते हैं : साधारण विधेयक तथा धन-विधेयक। धन अथवा वित्त विधेयक के अलावा कोई भी विधेयक संसद के किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है और राष्ट्रपति की सहमति हेतु प्रस्तुत किए जाने से पूर्व इसे दोनों सदनों में पारित किए जाने की आवश्यकता होती है। कोई विधेयक एक मंत्री अथवा किसी गैरसरकारी सदस्य द्वारा पेश किया जा सकता है। सदन में प्रस्तुत किया जाने वाला प्रत्येक विधेयक राजपत्र में प्रकाशित करवाना पड़ता है। सामान्यत: एक विधेयक को प्रस्तुत किए जाते समय कोई बहस नहीं होती। विधेयक प्रस्तुत करने वाला सदस्य विधेयक के उद्देश्य व प्रयोजनों को इंगित करता हुआ एक संक्षिप्त विवरण दे सकता है। यदि विधेयक का इस चरण में विरोध होता है, विधेयक का विरोध करने वाले सदस्यों में से एक को अपने तर्क देने के लिए अनुमति दी जा सकती है। इसके बाद प्रश्न मत व्यक्त करने हेतु रखा जाता है। यदि सदन विधेयक की पुरस्थापना के पक्ष में है, तब यह अगले चरण में जाता है।

दूसरे चरण में, चार वैकल्पिक प्रक्रियाएँ होती हैं। अपनी पुरस्थापना के बाद, एक विधेयक (क) विचारार्थ लिया जा सकता है; (ख) सदन की एक प्रवर समिति के पास भेजा जा सकता है; (ग) दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति के पास भेजा जा सकता है; (घ) जनमत माँगने हेतु घुमाया जा सकता है। जबकि पहले तीन विकल्प नियमित विधि-निर्माण के मामले में सामान्यत: अपनाए जाते हैं, अंतिम विकल्प की सहायता केवल तब ली जाती है जब प्रस्तावित विधान जनविवाद और उत्तेजना-प्रवण हो।

जिस दिन इन प्रस्तावों में से कोई कार्यान्वित किया जाता है, विधेयक के सिद्धांत और उसके सामान्य प्रावधानों पर चर्चा की जा सकती है। यदि विधेयक विचारार्थ लिया जाता है, विधेयक में संशोधन ओर विधेयक के प्रावधानों की एक-एक धारा दृढ़ता से कही जाती है। यदि विधेयक सदन की प्रवर समिति को भेजा जाता है, वह विधयेक पर विचार करता है और अपनी रिपोर्ट सदन को विचारार्थ पेश करता है। तब विधेयक की धाराएँ विचार किए जाने के लिए सार्वजनिक हो जाती हैं और संशोधन स्वीकार्य होते हैं। यही सर्वाधिक समय-व्ययी चरण है। एक बार धारा-दर-धारा विचार कार्य पूरा हो जाने और प्रत्येक धारा पर मत व्यक्त हो जाने के बाद विधेयक का दूसरा पाठन समाप्त हो जाता है।

तीसरे चरण में, प्रभारी सदस्य "पारित किए जाने वाले विधेयक" का प्रस्ताव रखता है। तीसरे पाठन पर विधेयक की प्रगति तीव्र होती है क्योंकि सामान्यत: केवल मौखिक अथवा नितांत औपचारिक संशोधन ही प्रस्तावित होते हैं और बहुत ही संक्षिप्त चर्चा होती है। एक बार संशोधनों का निपटारा होने के बाद, विधेयक अंतत: सदन में पारित हो जाता है। तदोपरांत, यह दूसरे सदन को उसके विचारार्थ प्रेषित कर दिया जाता है।

जब विधेयक दूसरे सदन के विचारार्थ आता है, उसको उन्हीं सभी चरणों से गुजरना पड़ता है जो आरंभिक सदन में थे। सदन के सामने तीन विकल्प होते हैं : (क) वह आरंभिक सदन द्वारा भेजे गए विधेयक को अंतिम रूप से वैसे ही पारित कर सकता है; (ख) यह विधेयक को पूर्ण निरस्त कर

सकता है अथवा आरंभिक सदन को वापस भेज सकता है; (ग) वह विधेयक पर कोई कार्रवाई नहीं भी कर सकता है और यदि विधेयक प्राप्ति-तिथि के बाद छः माह से अधिक पड़ा रहे, यह निरस्त माना जाता है।

आरंभिक सदन अब संशोधनों के आलोक में लौटाए गए विधेयक पर विचार करता है। यदि वह संशोधनों को मान लेता है, इस आशय का एक संदेश दूसरे सदन को भेजता है। यदि वह इन संशोधनों को स्वीकार नहीं करता है, तब विधेयक दूसरे सदन को इस आशय के एक संदेश के साथ लौटा दिया जाता है। ऐसी स्थिति में जब दोनों सदनों में कोई सहमति नहीं बनती, राष्ट्रपति दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक बुलाता है। उपस्थित एवं मतदान करते सदस्यों के एक साधारण बहुमत द्वारा यह विवादित प्रावधान अंतिम रूप से अंगीकार अथवा निरस्त कर दिया जाता है।

वह विधेयक जो अंतिम रूप से दोनों सदनों द्वारा पारित है, लोक सभा अध्यक्ष के हस्ताक्षर के साथ राष्ट्रपति को उसकी सहमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। यह सामान्यतः अंतिम चरण होता है। अगर राष्ट्रपति अपनी सहमति दे देता है, विधेयक अधिनियम बन जाता है और विधान-पुस्तिका में लिख दिया जाता है। यदि राष्ट्रपति अपनी सहमति नहीं देता है, विधेयक समाप्त हो जाता है। राष्ट्रपति इस पर फिर से विचार किए जाने के एक संदेश के साथ विधेयक सदनों में पुनर्विचार हेतु वापस भी कर सकता है। यदि फिर भी सदन विधेयक को संशोधन अथवा बिना संशोधन पारित कर देते हैं और विधेयक राष्ट्रपति को उसकी स्वीकृति हेतु दूसरी बार प्रस्तुत कर दिया जाता है, राष्ट्रपति को अपनी सहमति रोकने का कोई अधिकार नहीं है।

इस प्रकार, विधि-निर्माण एक लंबी, दुर्वह और समय-व्ययी प्रक्रिया है; एक थोड़े-से समय में कोई विधेयक पारित करना कठिन हो जाता है। विधेयक का समुचित प्रारूपण समय बचाता है और कुशलतापूर्वक विपक्ष का समर्थन माँगने के काम को आसान बनाता है।

10.5.1 वित्त विधेयक

किसी भी उस विधेयक को वित्त-विधेयक कहा जा सकता है जो राजस्व तथा व्यय से संबंधित हो। परंतु वित्त-विधेयक कोई धन-विधेयक नहीं होता है। अनुच्छेद 110 के अनुसार कोई भी विधेयक एक धन-विधेयक नहीं है जब तक वह लोकसभा अध्यक्ष द्वारा प्रमाणित न हो। एक धन-विधेयक को राज्य सभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। एक बार लोक सभा द्वारा पारित कर दिए जाने के बाद धन-विधेयक राज्य सभा को प्रेषित कर दिया जाता है। राज्य सभा किसी धन-विधेयक को निरस्त नहीं कर सकती है। इसको हर हाल में विधेयक की प्राप्ति-तिथि से चौदह दिनों की अवधि के भीतर, विधेयक को लोक सभा को लौटा देना होता है जो उसके बाद सभा अथवा किसी भी सिफ़ारिश को स्वीकार अथवा निरस्त कर सकता है। यदि लोक सभा किसी भी सिफ़ारिश को स्वीकार कर लेती है, धन-विधेयक को दोनों सदनों द्वारा पारित हुआ मान लिया जाता है। यदि लोक सभा किसी भी सिफ़ारिश को नहीं मानती है, धन-विधेयक को बिना किसी संशोधन के दोनों सदनों द्वारा पारित हुआ मान लिया जाता है। यदि लोक सभा द्वारा पारित और राज्य सभा को उसकी सिफ़ारिशों हेतु कोई धन-विधेयक चौदह दिनों भीतर उसको वापस नहीं किया जाता है, इसे मूल रूप में बताई गई अवधि की समाप्ति पर दोनों द्वारा पारित हुआ मान लिया जाता है।

10.6 संसदीय विशेषाधिकार

संसद-सदस्यों की स्वतंत्र और कुशल कार्यात्मकता हेतु यह आवश्यक है कि उनको कुछ विशेषाधिकार दिए जाएँ। संसद-सदस्यों के लिए दो प्रकार के विशेषाधिकार होते हैं : परिगणित और अगणित।

परिगणित श्रेणी के अंतर्गत आने वाले मुख्य विशेषाधिकार जो एक सदस्य को प्राप्त हैं, वे हैं : (क) संसद के प्रत्येक सदन में बोलने की स्वतंत्रता; (ख) कुछ भी कथित अथवा मत व्यक्त किए गए के संबंध में किसी भी न्यायालय में कार्रवाई से प्रतिरक्षण; (ग) किसी भी रिपोर्ट, कागज़ात, वोटों अथवा कार्यवाहियों की संसद के किसी भी सदन द्वारा अथवा उसके अधिकाराधीन प्रकाशन के संबंध में उत्तरदायित्व से प्रतिरक्षण; (घ) सत्र के पूर्व और पश्चात् 40 दिन की अवधि के दौरान असैनिक मामलों में गिरफ्तारी से मुक्ति; और (ङ) किसी न्यायालय में एक गवाह के रूप में उपस्थित होने से छूट।

अगणित श्रेणी में उसी प्रकार के विशेषाधिकार तथा प्रतिरक्षण आते हैं जो ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाउस ऑव कॉमन्स के सदस्यों को प्रदत्त हैं। हाउस ऑव कॉमन्स की ही भाँति, संसद की अवमानना के मामले में भारतीय संसद को किसी व्यक्ति को दंड देने का अधिकार है, चाहे वह सदस्य हो अथवा गैर-सदस्य।

10.7 कार्यपालिका पर नियंत्रण हेतु संसदीय युक्तियाँ

हमने देखा, संसद के महत्त्वपूर्ण कार्यों में से एक है – कार्यकारिणी को नियंत्रित करना। इस उद्देश्य से इसके लिए अनेक क्रिया-विधियाँ हैं।

संसद में कार्यवाही प्रक्रिया और प्रबंध के नियम व्यवस्था देते हैं कि जब तक पीठासीन अधिकारी अन्यथा निर्देश न दें, प्रत्येक बैठक प्रश्न-काल से आरंभ हो, जो कि प्रश्न पूछे जाने व उत्तर दिए जाने हेतु सुलभ है। प्रश्न पूछना सभी सदस्यों का एक अंतर्निहित संसदीय अधिकार है, वे चाहे किसी भी पार्टी से संबद्ध हों। प्रश्न पूछने में सदस्य का वास्तविक उद्देश्य होता है – प्रशासन की कमियों को उजागर करना, नीति-निर्धारण में सरकार के विचारों को सुनिश्चित करना और जहाँ नीति पहले से ही अस्तित्व में है, उस नीति में समुचित परिवर्तन करना।

ऐसी स्थिति में जब किसी प्रश्न का उत्तर प्रश्नकर्ता सदस्य को संतुष्ट नहीं करता और यदि वह महसूस करता है कि 'जनहित में विस्तृत व्यवस्था' की आवश्यकता है, वह पीठासीन अधिकारी से एक चर्चा हेतु निवेदन कर सकता है। पीठासीन अधिकारी सामान्यत: बैठक के अंतिम आधे घंटे में चर्चा की इजाज़त दे सकता हैं।

सदस्यगण, पीठासीन अधिकारी की पूर्वानुमति से, सार्वजनिक महत्त्व के किसी भी मसले पर किसी मंत्री का ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं और उस मंत्री से उस विषय पर वक्तव्य देने का आग्रह कर सकते हैं। मंत्री या तो उसी वक्त एक संक्षिप्त वक्तव्य दे सकता है अथवा एक-आध घंटे बाद अथवा अगले दिन वक्तव्य देने का समय माँग सकता है।

मंत्रिगण सरकार को कार्यस्थगन प्रस्ताव की शरण लेने से उत्पन्न गंभीर परिणाम वाली चूक अथवा आचरण के किसी हाल में निर्णय के लिए फटकार लगा सकते हैं। इस प्रस्ताव का अभिप्राय किसी ऐसे मसले पर सदन का ध्यान खींचना होता है जिसके देश के लिए गंभीर परिणाम हो सकते हैं और जिसके संबंध में कोई समुचित अधिसूचनागत प्रस्ताव अथवा संकल्प बहुत विलंबित कदम होगा। कार्यस्थगन प्रस्ताव एक असाधारण प्रक्रिया है जो यदि स्वीकृत हो जाए तो सार्वजनिक महत्त्व के एक निश्चित मसले पर चर्चा हेतु सदन की सामान्य कार्यवाही को एक तरफ रख देना होता है। किसी कार्यस्थगन प्रस्ताव का स्वीकरण सरकार के अभिवेचन के बराबर है।

इन युक्तियों के अतिरिक्त, संसद विभिन्न सदन समितियों के माध्यम से कार्यकारिणी पर नियंत्रण शक्ति का प्रयोग करती है।

10.7.1 संसदीय समितियाँ

कार्यकारिणी की संसद के प्रति उत्तरदेयता और कार्यकारी प्रकार्यों की कार्य-विधि के पर्यवेक्षण तथा संवीक्षण के संसद के अधिकार को स्वयंसिद्ध के रूप में स्वीकार किया जाता है। परंतु व्यवहार में कुछ अपरिहार्य कारकों, जैसे कि संसद पर दवाब और उसकी व्यवहार्य प्रक्रियाओं की वजह से एक निकाय के रूप में संसद के लिए यह मुश्किल होता है कि वह दिन-प्रति-दिन प्रशासन तथा उसके वित्तीय लेन-देनों की संवीक्षा के बहुआयामी तथा जटिल ब्यौरों का कार्यभार अपने ऊपर ले। संसद ने यह समस्या सरकार के विभिन्न विभागों के कामकाज की संवीक्षा के आवश्यक अधिकार रखने वाली समितियों की एक शृंखला स्थापित करके हल की है।

सरकार के कार्यों, विशेषकर सार्वजनिक वित्तादि के क्षेत्र में, संवीक्षा करने वाली मुख्य समितियों में दो समितियाँ उल्लेखनीय हैं : सार्वजनिक लेखा समिति और आकलन समिति। इन व अन्य समितियों से अपेक्षा की जाती है कि वे कार्यकारिणी को अपने शिकंजे में रखें। वे इन सभी प्रस्तावित नीतियों की एक प्रभावी तथा विशद परीक्षा सुनिश्चित करती हैं। बहुधा, ये समितियाँ जनप्रचार की कोप-दृष्टि से दूर, एक पक्षनिरपेक्ष रीति से विवादास्पद तथा संवेदनशील मामलों पर चर्चा करने के लिए एक आदर्श संदर्भ प्रस्तुत करती हैं। वे उस अनुभव तथा योग्यता के सदुपयोग हेतु एक उपयोगी मंच प्रस्तुत करती हैं जो अन्यथा अप्रयोज्य ही रहें। वे भावी मंत्रियों तथा पीठासीन अधिकारियों हेतु एक बहुमूल्य प्रशिक्षण आधार तैयार करती हैं।

10.8 राज्य विधायिका

कई लिहाज से राज्य विधायिकाएँ भारतीय संसद की भाँति ही होती हैं। तथापि, एक सदनीयता अथवा द्विसदनीयता की पसंद राज्यों पर छोड़ दी गई थी, इस बात निर्भर करते हुए कि सभा-गृह को चलाने में आने वाली लागत की तुलना में वे किस प्रकार उसके प्रकार्यों को आंकते हैं। किंचित मात्र राज्यों ने ही विधान सभा (लैज़िस्लेटिव असेंबली) और विधान परिषद् (लैज़िस्लेटिव कौन्सिल) वाली द्विसदनी विधायिका का विकल्प चुना है।

प्रत्येक राज्य की विधान सभा में प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों से वयस्क मताधिकार के आधार पर सीधे मतदान द्वारा चुने गए सदस्य होते हैं। सभा का आकार कम-से-कम 40 और अधिक-से-अधिक 500 संख्या के बीच भिन्न-भिन्न होता है। विधान सभा का कार्यकाल पाँच वर्ष होता है।

विधान परिषद् की सदस्यता 40 से कम नहीं परंतु सभा की कुल सदस्यता के एक-तिहाई से अधिक नहीं होगी। सदन में अंशत: निर्वाचित तथा अंशत: नामांकित सदस्य होते हैं। सामान्यत: कुल सदस्यों के 1/6 राज्यपाल द्वारा नामांकित होते हैं और शेष स्नातकों, शिक्षकों तथा सभा-सदस्यों वाले पेचीदा फार्मूले पर परोक्ष रूप से चुने जाते हैं।

परिषद् की स्थिति सभा से निम्नतर होती है – इतनी निम्न कि इसको अनावश्यकप्राय ही समझा जाता है। (क) विधान परिषद् की नितांत प्रकृति ही इसकी स्थिति को कमजोर बनाती है; यह अंशत: निर्वाचित होती है और अंशत: नामांकित, और विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करती है। (ख) इसका जीवनकाल सभा की इच्छा पर ही निर्भर होता है, क्योंकि सभा को एक प्रस्ताव पारित कर द्वितीय सभा-गृह को समाप्त करने का अधिकार है। (ग) मंत्रिपरिषद् केवल सभा के प्रति उत्तरदायी होती है और परिषद् के प्रति नहीं। (घ) सभा में उठने वाले किसी साधारण विधेयक के संबंध में, परिषद् की स्थिति बहुत कमजोर है क्योंकि वह इस पर स्वीकृति एक सीमित समय तक ही स्थगित कर सकती है। इस प्रकार राज्य विधायिका का द्वितीय सभा-गृह कोई सुधारकारी निकाय नहीं, बल्कि मात्र एक विलंबकारी निकाय है।

एक महत्त्वपूर्ण अपवाद के साथ, राज्य विधानसभा में विधायी प्रक्रिया संसद की ही भाँति होती है। राज्यपाल राष्ट्रपति के विचारार्थ राज्य विधायिका द्वारा पारित किसी भी विधेयक को रोक रख सकता है। विशेषत: एक मामले में विधेयक को रोक रखना राज्यपाल के लिए बाध्यकर है, यथा जब विधेयक उच्च न्यायालय की शक्तियों के प्रति अनादरपूर्ण हो। यदि राष्ट्रपति राज्यपाल को पुनर्विचार हेतु विधेयक वापस भेजने का निर्देश देता है, विधायिका को छ: माह के भीतर विधेयक पर पुनर्विचार करना होता है और यदि यह फिर पारित हो जाता है, विधेयक राष्ट्रपति को पुन: प्रस्तुत किया जाता है। परंतु राष्ट्रपति के लिए यह बाध्यकर नहीं है कि वह अपनी स्वीकृति दे ही। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि एक बार राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के लिए कोई विधेयक रोक रखने के बाद राज्यपाल की उसमें कोई भूमिका नहीं होती है। चूँकि संविधान राष्ट्रपति हेतु कोई समय-सीमा निर्धारित नहीं करता है कि वह अपनी सहमति घोषित करे अथवा रोके रखे, राष्ट्रपति अपने इरादे को व्यक्त किए बग़ैर एक अनिश्चित काल तक विधेयक को ठंडे बस्ते में डाले रख सकता है।

10.9 विधायिका का पतन

वर्तमान में, विधायिका और पालिका के अनुकूल शक्तिवर्धन में ह्रास को इंगित करती एक सशक्त प्रवृत्ति विद्यमान है। संसद की प्रतिष्ठा और प्रकार्यात्मकता के इस ह्रास में अनेक कारकों का योगदान है।

संसद निस्संदेह विधायी उपायों के ब्यौरों में अपना पूरा समय नहीं लगा सकती है। यह अधिक-से-अधिक विस्तृत नीति निर्धारित कर सकती है और शेष को कार्यकारिणी द्वारा हाथ में लिए जाने हेतु छोड़ सकती है। इस प्रकार, सभी विधेयकों में आवश्यक विनियम तथा उप-नियम रचने हेतु सरकार को अधिकार देता एक अनुच्छेद होता है। इस प्रकार, प्रतिनियुक्त विधायिका संसद के अधिकार काफी हद तक छीन लेती है, परिणाम होता है संसद की प्रतिष्ठा का पतन।

भारत में सर्वदा-परिवर्तनशील राजनीतिक तथा नैतिक परिस्थितियाँ भी संसद के प्रतिष्ठा पतन हेतु जिम्मेदार हैं। पार्टी प्राबल्य, पार्टी संगठन का अभाव, राजनीतिक दल-बदल की घबराहट, भ्रष्टाचार तथा राजनीतिज्ञों का गिरता मनोबल सभी ने संसद की प्रतिष्ठा के अपक्षय में योगदान किया है। भारत में संसद के सामने एक बड़ा खतरा सभी राजनीतिक दलों में विविध तथा विभाजक बलों की बढ़वार द्वारा खड़ा किया गया है। सत्तारूढ़ व विपक्षी दल, दोनों विचारधारा की बजाय विचार के औचित्य और राजनीतिक प्रयोजन द्वारा अधिक प्रेरित होते हैं। विपक्ष की प्रभावहीनता और एक सशक्त सुस्पष्ट जनमत के अभाव ने प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली कार्यकारिणी की तुलना में संसद की स्थिति को अधिक कमज़ोर किया है। सिद्धांतत: हमारे यहाँ संसदीय प्रणाली है जहाँ कार्यप्रणाली को विधायिका द्वारा नियंत्रित किया जाता है, परंतु वास्तव में, विधायिका के अधिकार कार्यकारिणी के हाथों में आ गए हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) 'प्रश्न-काल' क्या होता है?

.....

.....

.....

2) 'स्थगन प्रस्ताव' का महत्त्व बताएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

10.10 सारांश

भारतीय संसद, देश में सर्वोच्च विधायी अंग, की एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। ईस्ट इण्डिया के दिनों में, जबकि विधायिका किसी रूप में अस्तित्व में आ गई, तभी कम्पनी के शासन के स्थान पर 'क्राउन' का शासन हो गया और यूनियन लैजिस्लेटिव की शक्तियों के साथ-साथ इसका लोकतांत्रिक आधार भी धीरे-धीरे बढ़ने लगा।

संसद में होते हैं – राष्ट्रपति, लोक सभा तथा राज्य सभा। संसद हेतु चुने जाने के लिए संविधान व संसद द्वारा निर्धारित कुछ अर्हताएँ पूरी करनी होती हैं। संसद-सदस्यों को बेहतर प्रकार्यात्मक हेतु कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं। सदन की सभाओं का संचालन करने और सदन की प्रतिष्ठा और मान की रक्षार्थ प्रत्येक सदन का अपना एक पीठासीन अधिकारी होता है।

संसद का प्राथमिक कार्य है कानून बनाना। इसके अतिरिक्त, यह अपनीं नीतियों के लिए मंत्रिपरिषद् को उत्तरदायी ठहराती है और जहाँ कहीं भी आवश्यक हों, नीतियों की आलोचना करती है। इसके पास संविधान संशोधित करने और राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की शक्तियों हैं। प्रभावी प्रकार्यात्मकता भी हेतु इसके सदस्यों के बीच से अनेक समितियाँ नियुक्त की जाती हैं। सरकार पर नियंत्रण रखने के लिए प्रश्न-काल, स्थगन प्रस्ताव, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव, आदि संसद को उपलब्ध हैं। बजट पारित करना, संसद का एक महत्त्वपूर्ण प्रकार्य, उसे सरकार की गतिविधियों की सूक्ष्म जाँच करने का अवसर प्रदान करता है।

सम्पूर्ण विश्व में विधायिका की स्थिति में एक अधोमुखी प्रवृत्ति व्याप्त है। प्रतिनियुक्त विधान, सरकार के अन्य अंगों पर कार्यकारिणी का आधिपत्य, सशक्त दल प्रणाली का उदय, आदि इस प्रवृत्ति हेतु कुछ कारण हैं। इन प्रवृत्तियों के बावजूद, संसद अब भी शासन की अधिकारिणी है और सरकार के अन्य अंगों की तुलना में अपनी स्थिति बरकरार रखने में सक्षम है।

10.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ग्रैनविले, ऑस्टिन, *इण्डिया'ज़ कॅन्स्टीट्यूशन – कॉर्नरस्टोन ऑव ए नेशन*, आक्सफॉर्ड यूनीवर्सिटी प्रैस, 1964।

बसु, दुर्गा दास, *कमेण्ट्री ऑन दि कॅन्स्टीट्यूशन ऑव इण्डिया*, प्रेण्टिस हॉल, नई दिल्ली, 1983।

मुखर्जी, हिरेन, *पोर्ट्रेट ऑव पार्लियामेण्ट : रिफ़्लेक्शन्स एण्ड रीकलेक्शन्स*, विकास, नई दिल्ली, 1978।

10.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) केन्द्र में द्विसदन विधायिका – पहली बार, निर्वाचित बहुमत विधायिका में स्थापित किया गया।

2) भारत सरकार अधिनियम, 1935 जिसने भारत में संघवाद की पुरस्थापना की।

बोध प्रश्न 2

1) सदस्य बनने के लिए, व्यक्ति 25 वर्ष (लोक सभा के लिए) अथवा 30 वर्ष (राज्यसभा के लिए) का हो तथा संसद द्वारा निर्धारित अन्य अर्हताएँ रखता हो। यदि कोई सदस्य 60 दिन से अधिक बिना अनुमति सभाओं से अनुपस्थित रहे, यदि वह भारत सरकार के तहत कोई लाभ का पद ग्रहण किए हो, यदि वह अस्वस्थ मस्तिष्क वाला है, यदि दिवालिया घोषित है अथवा किसी अन्य देश का नागरिकता ग्रहण कर लेता है अथवा किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा रखने की स्वीकृतिअधीन है, वह अयोग्य घोषित हो जाता है। राज्य विधानसभा हेतु चुना गया सदस्य, यदि वह एक निर्दिष्ट अवधि के भीतर राज्य विधानसभा से त्याग-पत्र नहीं देता है, संसद से अपनी सदस्यता खो देता है।

2) उसके पास व्यापक और विस्तीर्ण शक्तियाँ हैं – लोकसभा की बैठक की अध्यक्षता करना, कानूनी कार्यवाहियाँ संचालित करना, सदन में व्यवस्था बनाए रखना और सदन में कार्यवाहियों का क्रम निर्धारित करना – सदन के प्रवक्ता के रूप में काम करना – सदन के नियमों की व्याख्या करना और लागू करना – विधेयकों को अधिप्रमाणित करना – धन-विधेयक को प्रमाणित करना – आदि।

बोध प्रश्न 3

1) किसी सदन की बैठक का पहला घण्टा जो प्रश्नों के पूछे जाने और उत्तर दिए जाने हेतु उपलब्ध होता है।

2) यह बेहद महत्त्वपूर्ण और पूरे देश को प्रभावित करके किसी मसले की ओर सदन का ध्यान आकृष्ट करने की असाधारण क्रिया-प्रणाली है। इस प्रस्ताव पर चर्चा करने के लिए सामान्य कार्यवाही एक तरफ़ रखी जाती है। और इस प्रस्ताव का स्वीकरण सरकार की निन्दा के बराबर होता है।

इकाई 11 कार्यपालिका

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 परिचय

11.2 भारत का राष्ट्रपति

- 11.2.1 अर्हताएँ
- 11.2.2 चुनाव-विधि
- 11.2.3 राष्ट्रपति का कार्यकाल तथा पदच्युति

11.3 राष्ट्रपति की शक्तियाँ

- 11.3.1 आपात्कालीन शक्तियाँ

11.4 प्रधानमंत्री

- 11.4.1 मंत्रिपरिषद् तथा मंत्रिमण्डल
- 11.4.2 सामूहिक उत्तरदायित्व

11.5 मंत्रिमंडल तथा संसद

- 11.5.1 प्रधानमंत्री की शक्ति तथा प्रभाव के स्रोत

11.6 राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री

11.7 सारांश

11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

सभी संसदीय प्रणालियों की ही भाँति, भारत में भी एक नाममात्र की तथा वास्तविक, दोनों प्रकार की कार्यकारिणी है। इस इकाई में भारत के राष्ट्रपति पद तथा प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद् की जाँच-परख है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों का वर्णन कर सकें;
- भारत के राष्ट्रपति की निर्वाचन-प्रक्रिया को स्पष्ट कर सकें;
- मंत्रिपरिषद् के संयोजन तथा प्रकार्यों का वर्णन कर सकें;
- प्रधानमंत्री की शक्ति एवं प्रभाव के स्रोतों को पहचान सकें; और
- भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री की स्थिति पर चर्चा कर सकें।

11.1 परिचय

भारत सरकार की कार्यकारी शक्ति भारत के राष्ट्रपति में निहित है, जो औपचारिक राज्य-प्रमुख तथा देश का प्रतीक, दोनों होता है। भारतीय संविधान, तथापि, समुचित शासनाधिकार दिए बिना राष्ट्रपति पद को प्रभुत्व और प्रतिष्ठा प्रदान करता है। जबकि राष्ट्रपति अनिवार्यत: एक औपचारिक भूमिका ही निभाता है। प्रधानमंत्री वास्तविक कार्यकारी शक्ति का प्रयोग करता है। जबकि राष्ट्रपति

राज्य प्रमुख होता है, प्रधानमंत्री सरकार प्रमुख होता है। राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की मदद और सलाह से ही सरकार के वास्तविक कार्य संपादित करता है। एक राजनीति-शास्त्री के अवलोकनानुसार, औपचारिक पद में निहित कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग करना राष्ट्रपति के लिए देश के उच्चतम पदाधिकारी में रखी जाने वाली आस्था का दुरुपयोग और अपमान करना ही होगा। कार्यकारिणी के इन दो महत्त्वपूर्ण पदों के पदाधिकारी किस प्रकार मनोनीत किए अथवा चुने जाते हैं? भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री की क्या स्थिति है? भारत विद्यमान जैसी एक संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका तथा विधायिका के बीच क्या संबंध है? ये कुछ प्रश्न हैं जिनका उत्तर हम इस इकाई में तलाशेंगे।

11.2 भारत का राष्ट्रपति

यह निगरानी करने के लिए कि राष्ट्रपति यानी राज्य-प्रमुख, एक औपचारिक मुखिया है और यह भी कि उसने किसी वास्तविक शक्ति को अनाधिकार स्वयं नहीं अपनाया है, संविधान में विस्तृत प्रावधान रखे हैं। राष्ट्रपति पाँच वर्ष की अवधि हेतु परोक्षत: चुना जाता है और संसद द्वारा उसके विरुद्ध प्रस्तुत महाभियोग कार्रवाइयों के आधार पर ही उसे हटाया जा सकता है। संविधान एक उप-राष्ट्रपति के पद की भी व्यवस्था देता है; वह भी परोक्षत: चुना जाता है और राष्ट्रपति की अक्षमता अथवा मृत्यु की दशा में राज्य-प्रमुख के रूप में कार्य करता है।

11.2.1 अर्हताएँ

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 58 व 59 भारत के राष्ट्रपति पद हेतु अर्हताएँ निर्धारित करते हैं। राष्ट्रपति पद हेतु प्रत्याशी भारत का नागरिक हो, 35 वर्ष आयु पूरी कर चुका हो और वे सब योग्यताएँ रखता हो जो एक लोकसभा का सदस्य बनने के लिए आवश्यक हैं। वह चुनाव के समय न तो संघ, राज्य अथवा स्थानीय सरकारों के तहत कोई लाभ का पद ग्रहण किए हो, न ही वह संसद अथवा राज्य विधानसभा के किसी सदन का सदस्य/ की सदस्या हो। इसके अलावा, प्रत्याशी के पास वे अन्य योग्यताएँ भी हों जो संसद द्वारा समय-समय पर निर्धारित की गई हों।

11.2.2 चुनाव-विधि

हमारा संविधान आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर और एकल हस्तांतरणीय वोट द्वारा एक निर्वाचन मंडल (संसद के मनोनीत सदस्यों और राज्य विधानसभाओं के मनोनीत सदस्यों से मिलकर बना) के माध्यम से एक परोक्ष निर्वाचन विहित करता है। राज्यों के बीच एकरूपता और केंद्र व राज्यों के बीच तुल्यता के सिद्धांतों को प्रणाली पर आधारित, यह चुनाव-विधि एक विश्वस्त रूप से राष्ट्रपति प्रत्याशी के चुनाव को ही सुनिश्चित करने के लिए निर्दिष्ट है।

राज्यों के बीच एकरूपता सुनिश्चित करने के लिए निर्वाचित राज्य विधानसभा सदस्यों के वोटों का मूल्य राज्य-विशेष की कुल आबादी के आधार पर आंका जाता है। एक राज्य मतदाता के वोट का मूल्य राज्य की कुल आबादी को सभा में कुल निर्वाचित सदस्य-संख्या से विभाजित कर परिकलित किया जाता है। राष्ट्रपति चुनाव में सभा के प्रत्येक सदस्य के वोट का मूल्य आंकने के लिए प्राप्त भागफल को 1000 से विभाजित कर दिया जाता है। एक संसद-सदस्य के वोट का मूल्य संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या द्वारा राज्य विधानसभाओं के सभी निर्वाचित सदस्यों को दिए गए कुल वोटों की संख्या से विभाजित करके आकलित किया जाता है।

मतदान एकल हस्तांतरणीय वोट द्वारा होता है; निर्वाचक प्रथम तथा द्वितीय वरीयता के अनुसार मतदान करते हैं। प्रत्याशी जो निर्वाचक मंडल द्वारा डाले गए वोटों का स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर लेता

है, विजित घोषित कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में जब प्रथम गणना में कोई भी प्रत्याशी स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर पाता है, निम्नतम मतदान प्रत्याशी के द्वितीय वरीयता मत अन्य शेष प्रत्याशियों को उतने तक हस्तांतरित किए जाते हैं जहाँ तक कि एक प्रत्याशी डाले गए वोटों के 50 प्रतिशत की सीमा पार कर जाता है।

चुनाव की यह विधि केंद्र व राज्यों के बीच राजनीतिक संतुलन बनाने हेतु राष्ट्रपति चुनाव को व्यापक आधार वाला बनाने से अभिप्रेत थी। परिणामतः राष्ट्रपति न सिर्फ संघ बल्कि राज्यों का भी प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा भारतीय राज्य व्यवस्था के संघीय अभिलक्षण के प्रति सद्भाव बनाए रखने के लिए है।

11.2.3 राष्ट्रपति का कार्यकाल तथा पदच्युति

भारत के राष्ट्रपति पद का कार्यकाल पाँच वर्ष होता है। उसका कार्यकाल भारत के मुख्य न्यायाधीश के तत्त्वावधान में एक शपथ-ग्रहण के उपरांत उसके पदभार ग्रहण करने की तिथि से आरंभ होता है। यद्यपि संविधान कुछ नहीं कहता, राष्ट्रपति दूसरा कार्यकाल पाने की चेष्टा भी कर सकता है। उदाहरण के लिए, राजेंद्र प्रसाद, राष्ट्रपति के रूप में दोबारा फिर चुने गए, यद्यपि प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू राजेंद्र प्रसाद के दूसरे कार्यकाल के पक्ष में नहीं थे। परंतु परवर्ती को बड़ी संख्या में काँग्रेसी नेताओं का समर्थन प्राप्त था।

राष्ट्रपति अपने पद पर तब तक रहता है जब तक उसका उत्तराधिकारी पदभार ग्रहण नहीं कर लेता। तथापि, यदि राष्ट्रपति पद छोड़ना चाहता है, वह अपना त्याग-पत्र उपराष्ट्रपति को भेज सकता है। यदि राष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाता है, उप-राष्ट्रपति कार्यभार संभालता है। परंतु राष्ट्रपति पद हेतु चुनाव पद रिक्त होने की तिथि के छः माह के भीतर करा लिए जाने चाहिए।

अनुच्छेद 56 व 61 में भारत के राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने हेतु प्रक्रिया उल्लिखित है। इस संबंध में, संविधान पदच्युति हेतु आधार के रूप में 'संविधान का उल्लंघन' निर्धारित करता है। महाभियोग की प्रक्रिया संसद के किसी भी सदन में आरंभ की जा सकती है और जिस सदन में यह प्रस्तावित है उसकी कुल सदस्य-संख्या के कम-से-कम दो-तिहाई द्वारा पारित होना चाहिए। यदि दूसरा सदन अभियोग की छानबीन करता है और उस सदन का दो-तिहाई बहुमत उसको दोषी पाता है, तब राष्ट्रपति प्रस्ताव पारित होने की तिथि से अपने पद से महाभियोग का सामना करता है। इस प्रकार, राष्ट्रपति को हटाने की प्रक्रिया मुश्किल है और संसद द्वारा इस अधिकार के दुरुपयोग से बचने के लिहाज से ऐसी बनाई गई है। आज तक किसी भी राष्ट्रपति पर महाभियोग नहीं लगाया गया है।

11.3 राष्ट्रपति की शक्तियाँ

अनुच्छेद 53 में भारत के राष्ट्रपति की कार्यकारी शक्तियों का उल्लेख है। राष्ट्रपति की शक्तियाँ मोटेतौर पर दो प्रकारों में विभाजित हैं, नामतः सामान्य और आपातकालीन शक्तियाँ। राष्ट्रपति की सामान्य शक्तियाँ कार्यकारी, विधायी, वित्तीय तथा न्यायिक शक्तियों के रूप में वर्गीकृत की जा सकती है।

संघ की कार्यकारी शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित है। अनुच्छेद 53 उसमें सभी कार्यकारी शक्तियाँ विहित करता है और इन शक्तियों को सीधे स्वयं द्वारा अथवा उसके अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से प्रयोग करने हेतु उसे सक्षम बनाता है। अनुच्छेद 75 प्रधानमंत्री से अपेक्षा करता है कि

वह संघीय मंत्रिपरिषद् के सभी निर्णय राष्ट्रपति को ज्ञात कराए। अनुच्छेद 77 व्यवस्था देता है कि संघीय सरकार की सभी कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग राष्ट्रपति के नाम से किया जाए।

राष्ट्रपति के पास प्रशासनिक तथा सैन्य, दोनों शक्तियाँ होती हैं। राष्ट्रपति को ही राज्य के उच्च पदाधिकारियों को नियुक्त करने तथा पदमुक्त करने का अधिकार है। राष्ट्रपति ही प्रधानमंत्री, और उसी की सलाह पर, मंत्रिपरिषद्, महान्यायवादी, सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, विशेष आयोगों के सदस्यों (जैसे संघ लोक सेवा आयोग तथा चुनाव आयोग); और राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति करता है। प्रधानमंत्री का चुना जाना राष्ट्रपति का कोई विवेकाधीन परमाधिकार नहीं है परंतु वह सामान्यत: लोकसभा में आने वाले एक नायक बहुमत दल द्वारा अभिप्रेरित होता है।

भारत का राष्ट्रपति रक्षा बलों का प्रधान सेनापति भी होता है। वह ही थल सेनाध्यक्ष, जल सेनाध्याक्ष तथा वायुसेनाध्यक्ष की नियुक्ति करता है। उसको युद्ध की घोषणा करने तथा शांति-निर्णय लेने का अधिकार है। परंतु ये सब शक्तियाँ उसके द्वारा संसद के अनुसमर्थन के अधीन ही व्यवहार्य हैं। पुनरुल्लेखनीय है कि वह सभी कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग केवल प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद् की मदद तथा सलाह से ही करता है।

हालाँकि राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होता है, फिर भी अनुच्छेद 79 कहता है कि राष्ट्रपति संघीय संसद का एक अभिन्न अंग है। जैसा कि हमने इकाई 10 में देखा, राष्ट्रपति को संसद के दोनों सदनों को सभादि हेतु बुलाने, राज्य सभा के बारह सदस्यों को नामांकित करने का अधिकार है, उसे किसी भी समय किसी भी सदन अथवा उनके संयुक्त सत्र को संबोधित करने का अधिकार तथा लोकसभा भंग करने का अधिकार है। संसद में प्रस्तुत किए जाने वाले सभी धन-विधेयकों पर राष्ट्रपति की सिफ़ारिश आवश्यक होती है। इस प्रकार की पूर्व-अनुशंसा नए राज्यों को गठन, विद्यमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं, नामों में रद्दोबदल से संबंधित आदि विधेयकों को लाने हेतु भी आवश्यक है। अंतत:, संसद द्वारा कोई जब काई विधेयक पारित कर दिया जाता है, यह एक अधिनियम तभी बन सकता है जब जब इसको राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाए। राष्ट्रपति संसद के पुनर्विचार हेतु किसी ग़ैर-धन-विधेयक को रोक रख अथवा लौटा सकता है। बहरहाल, यह विधेयक यदि दोनों सदनों द्वारा परिवर्तनों के साथ अथवा बिना किसी परिवर्तन के पारित हो जाता है और राष्ट्रपति को लौटा दिया जाता है, परवर्ती अपनी स्वीकृति देने को बाध्य है।

जब संसद का सत्रावसान होता है, राष्ट्रपति जनहित में अध्यादेश जारी कर सकता है। इन अध्यादेशों की संसद द्वारा पारित कानूनी जैसी ही वैधता और मान्यता होती है। बहरहाल, उन्हें संसद के पुनर्सत्रारंभ के दिन से छ: माह की अवधि के भीतर ही संसद के समक्ष रखना होता है। संसद की अनुमति के बगैर अध्यादेश अवैध हो जाएगा।

अनुच्छेद 254 राष्ट्रपति को संसद तथा राज्य विधायिकाओं द्वारा पारित कानूनी और समवर्ती सूची में शामिल विषयों के बीच विसंगतियों को दूर करने हेतु समर्थ बनाता है। एक अन्य विधायी कार्य जो राष्ट्रपति राज्यों के संबंध में करता है, वह है कि किसी राज्य का राज्यपाल राज्य विधायिकाओं द्वारा पारित कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रख सकता है।

भारत के राष्ट्रपति की न्यायिक शक्तियों में शामिल हैं – सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति, और जीवनदान देने, दंडादेश स्थगन, निलंबन, क्षमा अथवा न्यायालय के दंड अथवा निर्णय के लघुकरण का अधिकार। जीवनदान देने की ये शक्तियाँ राष्ट्रपति को आपराधिक कानूनों में अत्यधिक कठोरता दूर करने तथा मानवीय आधार पर लोगों की रक्षा करने हेतु दी गई हैं। राष्ट्रपति को कुछ महत्त्वपूर्ण संवैधानिक, वैधानिक तथा कूटनीतिक मामलों पर

सर्वोच्च न्यायालय की सलाह माँगने का भी अधिकार है। 1977 में, राष्ट्रपति ने आपात्कालीन ज्यादतियों पर विचार करने के लिए विशेष अदालतें गठित किए जाने हेतु सर्वोच्च न्यायालय की सलाह माँगी थी।

11.3.1 आपात्कालीन शक्तियाँ

भारतीय संघ की संप्रभुता, स्वतंत्रता और अक्षुण्णता की रक्षा करने के अभिप्राय से, संविधान भारत के राष्ट्रपति को आपात्कालीन शक्तियाँ प्रदान करता है। राष्ट्रपति को तीन प्रकार की आपात्स्थितियों की घोषणा करने का अधिकार है, नामत: (क) युद्ध, बाह्य आक्रमण अथवा सशस्त्र विद्रोह से उत्पन्न राष्ट्रीय आपात्स्थिति; (ख) राज्यों में संवैधानिक कार्यप्रणाली के ठप्प होने से उत्पन्न आपात्स्थिति; और (ग) वित्तीय आपात्स्थिति।

राष्ट्रपति यदि पक्के तौर पर मानता है कि भारत अथवा देश के किसी भाग की सुरक्षा को युद्ध, बाह्य आक्रमण अथवा सशस्त्र विद्रोह से खतरा है तो वह किसी भी समय राष्ट्रीय आपात्स्थिति की घोषणा कर सकता है। यह उद्घोषणा संसद के समक्ष उसके विचारार्थ तथा स्वीकृति हेतु रखी जानी चाहिए। इसको संसद के दोनों सदनों में दो-तिहाई सदस्यों द्वारा एक माह के भीतर स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। यदि संसद उद्घोषणा विधेयक को पारित करने में विफल रहती है, इसकी व्यवहार्यता समाप्त हो जाती है। यदि स्वीकृत हो जाता है, यह छह माह की अवधि तक जारी रहती है। तथापि, यदि राष्ट्रपति उद्घोषणा को छ: माह तक स्वीकृत कर दे तो यह कितने भी समय तक जारी रह सकती है। संसद को, बहरहाल, लोकसभा के कुल सदस्यों के कम-से-कम एक दशांश द्वारा रखे गए और उपस्थित तथा मतदान में भाग लेते एक साधारण बहुमत द्वारा स्वीकृत एक प्रस्ताव द्वारा किसी भी समय आपात्स्थिति को वापस लेने का अधिकार है। अनुच्छेद 352 के तहत् राष्ट्रीय आपात्स्थिति पहली बार 1962 में उद्घोषणा की गई थी, जब चीन ने आक्रमण किया था। दूसरी उद्घोषणा 1971 में बंगलादेश युद्ध के दौरान की गई थी। 26 जून 1975 को पहली बार राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री की सलाह पर आंतरिक सुरक्षा को गंभीर खतरा का वास्ता देकर आपात्स्थिति की घोषणा की थी।

जब राज्य में संवैधानिक क्रियाप्रणाली भंग हो जाती है तो राष्ट्रपति उस स्थिति में आपात्स्थिति लागू कर सकता है। अनुच्छेद 356 यह व्यवस्था देता है कि यदि राष्ट्रपति, किसी राज्य के राज्यपाल से अथवा अन्यथा रिपोर्ट मिलने पर, यह मान लेता है कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिसमें राज्य सरकार संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती है, वह राज्य में संवैधानिक आपात्काल की घोषणा कर सकता है। वह राजकीय आपात्स्थिति की घोषणा भी कर सकता है यदि राज्य सरकार केंद्रीय सरकार द्वारा दिए गए कुछ दिशा-निर्देशों को कार्यान्वित करने से इंकार कर देती है अथवा उसमें विफल रहती है।

इस प्रकार की आपात्स्थिति की घोषणा, राष्ट्रपति शासन के नाम से प्रसिद्ध, छ: माह की अवधि तक प्रभावी रह सकती है। 44वें संशोधन के अनुसार, संसद एक बार के लिए छ: माह की अवधि के लिए राजकीय आपात्स्थिति की मियाद बढ़ा सकती है। साधारणतय: ऐसी आपात्स्थिति की मीआद तब तक एक वर्ष के लिए नहीं बढ़ाई जा सकती है जब तक कोई राष्ट्रीय आपात्स्थिति प्रभावी न हो। बहरहाल, राजकीय आपात्स्थिति की मीआद तीन वर्ष से अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती है।

राष्ट्रपति वित्तीय आपातस्थिति लागू कर सकता है। अनुच्छेद 360 के अनुसार, यदि राष्ट्रपति पक्के तौर पर यह मान लेता है कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है कि अब भारत अथवा देश की किसी भाग की वित्तीय स्थिरता अथवा साख को खतरा है, वह वित्तीय आपात्स्थिति की घोषणा कर सकता है।

राष्ट्रीय आपात्स्थिति की ही भाँति, इस प्रकार की घोषणा को भी संसद के समक्ष उसकी स्वीकृति हेतु रखना पड़ता है।

इसके प्रत्यक्ष मूल्य पर कहा जा सकता है कि राष्ट्रपति के पास दुर्जेय शक्तियाँ हैं। वास्तविकता में बहरहाल, वह प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद् की मदद और सलाह पर अग्रणी शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। इस लिहाज से, राष्ट्रपति की स्थिति संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की बजाय ब्रिटिश सम्राट् की स्थिति से अधिक मिलती-जुलती है। जबकि भारत का राष्ट्रपति राज्य-प्रमुख हो सकता है, सरकार-प्रमुख प्रधानमंत्री ही है।

बोध प्रश्न 1

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारतीय गणतंत्र का राष्ट्रपति कैसे चुना जाता है, तीन वाक्यों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत के राष्ट्रपति की विधायी शक्तियाँ क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) राष्ट्रपति की आपात्कालीन शक्तियों के क्या प्रभाव होते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.4 प्रधानमंत्री

संविधान के तहत वास्तविक कार्यकारी शक्ति अपने शीर्ष पर प्रधानमंत्री के साथ मंत्रिपरिषद् में निहित है। राष्ट्रपति इस मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार ही काम करने को बाध्य है, जो कि शब्द के असली अर्थ में, राष्ट्रपति नहीं वरन् लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है।

ब्रिटेन की भाँति ही, प्रधानमंत्री सामान्यत: संसद के निचले सदन का एक सदस्य होता है। 1966 में जब श्रीमती इंदिरा गाँधी प्रधानमंत्री के रूप में चुनी गईं, वह राज्य सभा की सदस्या थीं। लोक सभा के लिए चुने जाते ही, उन्होंने निचले सदन के एक सदस्य के रूप में ही प्रधानमंत्री की परिपाटी को दृढ़ता प्रदान की।

प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। तथापि, राष्ट्रपति के पास प्रधानमंत्री को चुनने का अधिकार नाममात्र को ही है। वह सिर्फ लोकसभा में बहुमत दल के नेता, अथवा उस व्यक्ति को, जो सदन में बहुमत का विश्वास जीतने की स्थिति में है, आमंत्रित ही कर सकता है। प्रधानमंत्री राष्ट्रपति की इच्छानुसार ही पद पर रहता है। इस लिहाज से राष्ट्रपति की 'इच्छा' उस अटल बहुमत समर्थन से संबंधित है जो एक प्रधानमंत्री को लोकसभा से प्राप्त होता है।

राष्ट्रपति ही प्रधानमंत्री की सलाह पर मंत्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों को नियुक्त करता है। कोई मंत्री किसी भी सदन से चुना जा सकता है और उसे दूसरे सदन की कार्यवाही में बोलने तथा भाग लेने का अधिकार होता है, यद्यपि वह उस सदन में ही मतदान कर सकता है जिससे वह संबद्ध है। वह व्यक्ति भी जो संसद के किसी भी सदन का सदस्य नहीं है, मंत्री के रूप में नियुक्त किया जा सकता है, परंतु छह माह की अवधि के भीतर ही किसी सदन हेतु चुने जा कर अथवा नामांकित किए जाकर उसके लिए अर्हता प्राप्त करनी होती है।

11.4.1 मंत्रिपरिषद् तथा मंत्रिमंडल

'मंत्रिमंडल' अथवा 'कैबिनेट' शब्द का प्रयोग मंत्रिपरिषद् के प्रर्याय के रूप में बहुधा किया जाता है। परंतु वे परस्पर भिन्न हैं। स्वतंत्रताप्राप्ति के समय, भारत में इस प्रकार की कोई प्रथा नहीं थी। तब अस्तित्व में थी – कार्यकारी परिषद्। 15 अगस्त 1947 को कार्यकारी परिषद् एक मंत्रालय अथवा मंत्रिपरिषद् में रूपांतरित हो गई जो संसद के प्रति उत्तरदायी होती है।

'मंत्रिमंडल' शब्द का प्रयोग तदोपरांत मंत्रिपरिषद् के एक विकल्प के रूप में किया गया। इस अवस्था में, मंत्रालय अथवा मंत्रिमंडल के सभी सदस्य प्रधानमंत्री के सिवा, एक-सी ही पदस्थिति रखते थे। परंतु एक बार कनिष्ठ मंत्रियों की मंत्रिपरिषद् हेतु नियुक्त किए जाने के बाद स्थिति बदल गई। 1950 में, गोपालस्वामी अय्यंगर की रिपोर्ट की सिफारिशों पर आधारित, मंत्रालय की एक त्रि-पंक्ति प्रणाली शुरू की गई : शीर्ष पर मंत्रिमंडल अथवा कैबिनेट मंत्रिगण; मध्य में राज्य-मंत्रिगण तथा निम्नतम पायदान पर उप-मंत्रीगण।

उन 'वरिष्ठतम मंत्रियों' से गठित **मंत्रिमंडल'** यानी कैबिनेट प्रशासन के संपूर्ण क्षेत्र में विभागीय सीमाओं से बढ़कर है, एक छोटी-सी सभा है और सरकार में सर्वाधिक शक्तिशाली निकाय है। मंत्रिमंडल तीन मुख्य कार्य निभाता है : (क) यही वह निकाय है जो संसद में प्रस्तुत्य सरकारी नीति निर्धारित करता है; (ख) यह सरकारी नीति लागू करने के लिए जिम्मेदार है; और (ग) यह अंतर्विभागीय समन्वय और सहयोग कायम रखता है।

मंत्रिमंडल की सभा नियमित होती है क्योंकि यह एक निर्णयन निकाय है। इसका सहयोग मंत्रिमंडल सचिवालय द्वारा ही किया जाता है, जिसका अग्रणी होता है – असैनिक सेवाओं का एक वरिष्ठ सदस्य कैबिनेट सचिव। सामने आने वाले काम के ढेर और जटिलताओं को संभालने के कैबिनेट सदस्यों ने स्थायी तथा तदर्थ समितियाँ विकसित की हैं। ऐसी चार स्थायी समितियाँ हैं जो स्वभावत: चिरस्थायी हैं। ये हैं – रक्षा समिति, आर्थिक समिति, प्रशासनिक संगठन समिति तथा संसदीय व विधि-कार्य समिति। तदर्थ समितियाँ समय-समय पर गठित की जाती रहती हैं।

पद-पंक्ति में तदंतर हैं **राज्य-मंत्रिगण** जो विशिष्ट मंत्रालयों का स्वतंत्र प्रभार रखते हैं और एक कैबिनेट मंत्री की भाँति समान प्रकार्यों को निभाते हैं और समान शक्तियों का प्रयोग करते हैं। एक राज्यमंत्री और एक कैबिनेट मंत्री के बीच एकमात्र अंतर यह है कि पूर्ववर्ती मंत्रिमंडल का सदस्य/सदस्या नहीं होता/होती है, परंतु मंत्रिमंडल की सभाओं में तभी उपस्थिति होता/होती है जब उसके प्रभाराधीन विषय के संबंध में उससे ऐसा करने हेतु उसको विशेषरूप से आमंत्रित किया जाता है। अन्य राज्य मंत्री होते हैं जो कैबिनेट मंत्रियों के अधीन प्रत्यक्षत: कार्य करते हैं।

पदानुक्रम में सबसे नीचे हैं – **उप-मंत्रिगण**, जिनके पास कोई विशिष्ट प्रशासनिक उत्तरदायित्व नहीं हैं। बल्कि उनके कर्तव्यों में शामिल हैं : (1) संबद्ध मंत्रियों की ओर से संसद में उत्तर देना और विधेयकों के मार्गदर्शन में मदद करना; (2) नीतियाँ तथा कार्यक्रम जनसाधारण को स्पष्ट करना और संसद-सदस्यों, राजनीतिक दलों तथा प्रैस से संपर्क बनाए रखना; और (3) विशिष्ट समस्याओं के विशेष अध्ययन तथा छान-बीन का काम हाथ में लेना जो कि उन्हें विशिष्ट मंत्री द्वारा समनुदेशित की जा सकती है।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि मंत्रिमंडल ही मंत्रिपरिषद् का केंद्र है। असंदिग्धत: यही कारण है कि वाल्टर बेजहॉट मंत्रिमंडल को 'विधायिका की महानतम समिति' कहते हैं। यही 'कार्यकारी तथा विधायी शक्ति के बीच सेतु' है।

11.4.2 सामूहिक उत्तरदायित्व

मंत्रिपरिषद् सामूहिक दायित्व के सिद्धांत पर कार्य करती है। इस सिद्धांत के अधीन, सभी मंत्री सरकार के प्रत्येक कार्य के लिए समान रूप से उत्तरदायी हैं। यथा, सामूहिक नेतृत्व के अंतर्गत प्रत्येक मंत्री मंत्रिमंडल के सभी निर्णयों के लिए दायित्व स्वीकार करता है और अपनी भागीदारी हेतु सहमत होता है। शंकाएँ तथा असहमतियाँ मंत्रिमंडल-कक्ष की गोपनीयता तक परिसीमित हैं। एक बार निर्णय लिए जाने के बाद, इसको निष्ठापूर्वक समर्थन दिया जाना होता है और पूरी सरकार के निर्णय के रूप में मान लिया जाना होता है। यदि मंत्रिपरिषद् का कोई सदस्य-संसद में अथवा पूरे देश में सरकारी नीति को समर्थन देने में असमर्थ होता है, तब वह सदस्य मंत्रिपरिषद् से पद-मुक्त होने को नैतिक रूप से बाध्य है।

यदि मंत्रिपरिषद् विभिन्न राजनीतिक देलों के एक गठजोड़ के फलस्वरूप गठित हुई हो तो भी मंत्रालय की संहति को बनाए रखने के लिए एक न्यूनतम सर्वमान्य कार्यक्रम आवश्यक हो जाता है, और गठबंधन सरकार का गठन करने वाले विभिन्न राजनीतिक दलों को उस कार्यक्रम का अनुगामी होना पड़ता है। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं, मंत्रिमंडल बना नहीं रह सकता। मंत्रिपरिषद्, के भीतर एका का होना मात्र इसकी उत्तरजीविता हेतु आवश्यक नहीं है, बल्कि यह उसकी दक्षता तथा प्रभावोत्पादकता हेतु भी आवश्यक है, जिनके आधार पर ही वह जनता का विश्वास निरंतर जीत सकती है। जयप्रकाश नारायण द्वारा शुरू किए गए जन-आंदोलन को काबू करने की सरकारी नीति से सार्वजनिक विसम्मति के कारण 1975 में राज्य मंत्री, मोहन धारिया को मंत्रिपरिषद् से निलंबित कर दिया गया था। 1979 में सार्वजनिक नीति के मसलों पर जनता सरकार के सदस्यों के बीच खुली कलह उस सरकार के विध्वंस का ही पूर्वरंग था।

11.5 मंत्रिपरिषद् और संसद

संसदीय सरकार का सार-तत्त्व है – संसद के प्रति प्रधानमंत्री तथा मंत्रिमंडल की उत्तरदेयता। संसद शासन नहीं करती वरन् सरकार की नीतियों तथा कार्यों की आलोचनात्मक रूप से जाँच करती है, और जनता के प्रतिनिधि के रूप में उन्हें स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करती है। प्रधानमंत्री तथा मंत्रिपरिषद् का नितांत अस्तित्व तथा उत्तरजीवन संसद में उनको मिलने वाले समर्थ पर निर्भर करता है। जैसा कि हमने देखा, मंत्रिपरिषद् संसद के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। इस प्रकार, आम धारणा यह है कि संसद कार्यपालिका को नियंत्रित करती है। परंतु वस्तुत: अपने बहुमत समर्थन के साथ प्रधानमंत्री ही संसद की वास्तविक कार्यवाही पर नियंत्रण रखता है।

11.5.1 प्रधानमंत्री की शक्ति एवं प्रभाव के स्रोत

यद्यपि संविधान प्रधानमंत्री की शक्तियों तथा प्रकार्यों को परिकलित नहीं करता है, व्यवहार्यत: प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद् तथा लोक सभा के नेता के रूप में शक्तियों की एक विस्तृत शृंखला का उपभोग करता है।

मंत्रालय को संघटित करने, पुनर्संघटित करने और उसमें फेर-बदल के साथ-साथ सभाओं की अध्यक्षता करने का प्रधानमंत्री का विशेषाधिकार उसके पद को संसद-सदस्यों पर यथेष्ट प्रभाव प्रदान करता है। यह तथापि ग़ौरतलब है कि अपने सहयोगियों को चुनने का प्रधानमंत्री का अधिकार पार्टी के भीतर उसकी अपनी स्थिति पर निर्भर है। उदाहरण के लिए, भारत के प्रथम प्रधानमंत्री नेहरू, सरदार पटेल की अनदेखी नहीं कर सके जो कि काँग्रेस पार्टी में बहुत प्रभावशाली थे। इसी कारण उन्हें उप-प्रधानमंत्री एवं गृहमंत्री के रूप में नियुक्त किया गया। पटेल के कुछ अनुयायी भी मंत्रालय के सदस्य बनाए। इसी प्रकार, श्रीमती इंदिरा गाँधी की अपने पद-ग्रहण करने के आरंभिक वर्षों में अपने मंत्रालय में पार्टी के प्रभावशाली नेताओं को समायोजित करना पड़ा। 1971 के मध्यावधि चुनावों के बाद एक सर्व-शक्तिशाली नेता के रूप में उभरते हुए, उन्हें मंत्री चुनने तथा फेर-बदल करने की पूरी आज़ादी थी। गठबंधन सरकारों में, प्रधानमंत्रीगण मंत्रीय सहयोगी चुनने में ज्यादा विकल्प नहीं रखते थे। जनता सरकार में मोरारजी देसाई के पास अनेक मंत्री ऐसे थे जिनको वे पहले कभी नहीं जानते थे। हरदनहल्ली देवेगौड़ा और उसके बाद इंद्रकुमार गुजराल सरकारों के मामले में, मंत्रीगण प्रधानमंत्री द्वारा नहीं बल्कि उन 14 क्षेत्रीय दलों के नेताओं द्वारा चुने गए जिन्होंने संयुक्त मोर्चा गठित किया था।

प्रधानमंत्री शक्ति व प्रभाव इस तथ्य से भी प्राप्त करता/करती है कि वही बहुमत दल का नेता होता है और कभी-कभी पार्टी के संसदीय स्कंध का भी नेता होता है। लोकसभा के एक नेता के रूप में, प्रधानमंत्री का संसदीय गतिविधियों पर अत्यधिक नियंत्रण होता है। संसद का सत्र बुलाने अथवा सत्रावसान पर प्रधानमंत्री राष्ट्रपति को सलाह देता है। लोकसभा की कार्यसूची को अंतिम रूप देने के लिए लोकसभा अध्यक्ष प्रधानमंत्री की सलाह लेता है। संसद के समक्ष अधिकांश विधेयकों को मंत्रिपरिषद् के समर्थन की वजह से और संसद के समक्ष विधेयक प्रस्तुत करने हेतु रणनीतियाँ तय करते प्रधानमंत्रियों की वजह से, विधायिका के ऊपर प्रधानमंत्री का प्रभाव दृढ़ीकृत हो जाता है। इसके अतिरिक्त, प्रधानमंत्री के पास सत्रावसान की स्थिति में प्रवर्तन हेतु राष्ट्रपति को अध्यादेशों की अनुशंसा करने के रूप में विपुल विधायी शक्ति भी है। परंतु संसद के संबंध में प्रधानमंत्री का सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार लोकसभा भंग करने की सिफारिश करना है। राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री की सलाह माननी पड़ती है क्योंकि परवर्ती के पास लोक सभा के बहुमत का समर्थन होता है। यही वह शक्ति है जिसके द्वारा प्रधानमंत्री विपक्ष पर भी नियंत्रण रखता है।

सरकार-प्रमुख के रूप में प्रधानमंत्री सरक्षक की शक्ति का उपभोग करता है। केन्द्रीय सरकार की सभी मुख्य नियुक्तियाँ राष्ट्रपति के नाम से प्रधानमंत्री द्वारा की जाती हैं, जिनमें शामिल है - सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति तथा न्यायाधीश, महान्यायवादी, थल, जल तथा वायु सेनाओं के प्रमुख, राज्यपाल, राजदूत तथा उच्चायुक्त, मुख्य चुनाव आयुक्त तथा आयोग के सदस्य, आदि। इसके अतिरिक्त, प्रधानमंत्री का प्रशासन पर नियंत्रण, गुप्तचर एजेंसियों तथा सरकार के अन्य प्रशासनिक स्कंधों समेत, अन्य संसद-सदस्यों तथा प्रशासन पर उसके प्रभाव को बढ़ाते हैं।

इन प्राधारिक कारकों से परे अन्य कारक भी हैं जो प्रधानमंत्री की शक्ति और प्रभुत्व को बढ़ाते हैं। आरंभत:, द्वितीय विश्वयुद्धोपरांत, कार्यकारिणी का उदय एक सार्वभौमिक चमत्कारिक घटना रही है, राजनीतिक प्रणाली चाहे जो हो। इसके अतिरिक्त अधिकांश लोकतांत्रिक प्रणालियों में आम चुनाव वस्तुत: एक नेता का चुनाव बन गए हैं, और इसी को एक लोकप्रिय जनाधार के रूप में निर्वाचित किया जा रहा है। कभी-कभी कोई नेता/नेत्री अपने चमत्कार से शक्ति अर्जित करता है। जवाहरलाल नेहरू तथा इंदिरा गाँधी जैसे नेताओं का अपने चमत्कार के कारण ही निर्विवादित नियंत्रण था। इसने उन्हें उन राष्ट्रीय मुद्दों पर विपुल शक्ति व प्रभाव का प्रयोग करने में मदद की जो कि संविधान में स्पष्टत: अभिकल्पित नहीं थे। इन कारकों, संचयी प्रभाव ने निरर्थक प्रधानमंत्री पद की शक्ति और प्रतिष्ठा को बढ़ाने में योगदान दिया है।

बोध प्रश्न 2

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) किसी कैबिनेट के तीन सबसे महत्त्वपूर्ण प्रकार्य क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

2) सामूहिक उत्तरदायित्व क्या होता है?

.....

.....

.....

.....

3) संसदीय प्रणाली में प्राधारिक कारक होते हैं जो प्रधानमंत्री की शक्ति व प्रभाव में योगदान देते हैं। इन कारकों को पहचानें।

.....

.....

.....

.....

11.6 राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री

अनुच्छेद 78 प्रधानमंत्री के कर्तव्य परिकलित करता है। प्रधानमंत्री से अपेक्षा होती है : (क) संघीय मामलों के प्रबंध तथा विधान हेतु प्रस्तावों से संबंधित मंत्रिपरिषद् के सभी निर्णयों से राष्ट्रपति को अवगत कराना; (ख) संघीय मामलों के प्रबंध तथा विधान हेतु प्रस्तावों से संबंधित ऐसी सूचना राष्ट्रपति के पास लाना जो अपेक्षित हो; और (ग) यदि राष्ट्रपति ऐसा चाहता है, ऐसे किसी मामले को मंत्रिपरिषद् के विचारार्थ प्रस्तुत करना जिस पर किसी मंत्री द्वारा निर्णय लिया गया है परंतु वह परिषद् द्वारा नहीं माना गया है। प्रधानमंत्री के ये कर्तव्य यह जताते लगते हैं कि राष्ट्रपति ही अपार शक्तियों के साथ वास्तविक कार्यकारी है। परंतु जैसा हमने देखा, राष्ट्रपति अपनी शक्तियाँ सिर्फ मंत्रिपरिषद् की मदद और सलाह से ही प्रयोग कर सकता है। प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद् का नायक, इसीलिए वास्तविक कार्यकारी है। राष्ट्रपति औपचारिक भूमिका निभाता एक संवैधानिक प्रमुख ही है। तथापि, ऐसे अवसर आए हैं जब राष्ट्रपति के सरकार की नीतियों पर प्रधानमंत्री के साथ मतभेद रहे।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति, राजेंद्र प्रसाद, ने ब्रिटिश परंपरा से यह बताने का प्रयास किया कि राज्य-प्रमुख प्रधानमंत्री तथा मंत्रिमंडल की सलाह द्वारा मानने को हमेशा बाध्य नहीं है। उदाहरण के लिए, हिन्दू पर्सनल लॉ में सुधार करने के नेहरू सरकार के प्रयास से वह प्रसन्न नहीं थे। पुन: 1959 में, उन्होंने केरल में राजकीय आपात्स्थिति को अपनी सहमति देने से इंकार कर दिया। इन मामलों में, भारतीय परिस्थितियों में भी वह उस परंपरा को अंत में स्वीकार करने को सहमत थे। एक अवसर पर (28 नवंबर 1960, भारत विधि संस्थान, नई दिल्ली के संबोधन में) उन्होंने टिप्पणी की, "संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो इतने सारे शब्दों में यह बात रखता हो कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार ही काम करने को बाध्य है।" कुछ दिनों पश्चात् प्रधानमंत्री नेहरू ने एक संवाददाता सम्मेलन में यह उत्तर दिया, "राष्ट्रपति ने हमेशा एक संवैधानिक प्रमुख के रूप में काम किया है। हमने अपना संविधान संसदीय प्रणाली पर प्रतिरूपित किया है न कि एक अध्यक्षीय प्रणाली पर, यद्यपि हमने संयुक्त राज्य के प्रावधानों की नकल की अथवा उन्हें अपनाया है, क्योंकि प्रणाली संघीय है। अनिवार्यत: हमारा संविधान यू.के. संसदीय प्रतिरूप पर आधारित है। यही मूल बात है। वास्तव में, यह कहा जाता है कि जब कभी यह कुछ भी स्पष्टतया नहीं कहती है, हमें यू.के. में हाउस ऑव कॉमन्स की प्रथा का अनुसरण करना चाहिए।"

साठ के दशक में, स्वतंत्र राष्ट्रपति पद की परिकल्पना को कुछ आधार मिला। के.एम. मुन्शी जिन्होंने यह परिकल्पना विकसित की, का तर्क था कि भारतीय संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो स्पष्टत: यह व्यवस्था देता हो कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह द्वारा बाध्य है। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति संसद के साथ-साथ राज्य विधान-मंडलों द्वारा भी चुना जाता है। अत: उससे राज्यों के हितों की रक्षा की अपेक्षा की जाती है। वह संविधान की रक्षा करने, सुरक्षित रखने और संरक्षण देने की शपथ भी लेता है। अन्य शब्दों में, वह सरकार समेत किसी संभाग से उल्लंघन तथा अतिक्रमण से संविधान के प्रावधानों की हिफ़ाजत करता है। ऐसे ही विचारों को आधार प्राप्त करने से बचाने के लिए ही शायद 42वीं संशोधन अधिनियम पारित किया गया जिसने अनुबद्ध किया कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह मानने को बाध्य होगा। इस प्रकार स्वतंत्र राष्ट्रपति पद के बारे में सभी आशंकाओं का अंत हो गया। तथापि, जनता सरकार के दौरान पारित किए गए 44वें संशोधन अधिनियम ने पूर्वस्थिति पुनर्संचित की। इसके अलावा, इसमें यह भी कहा गया कि राष्ट्रपति किसी मसले पर मंत्रिपरिषद् की सलाह पर उसे पुनर्विचार करने हेतु कहने का अधिकारी है।

1987 में, एक राजनीतिक कोलाहल पैदा हुआ जब राष्ट्रपति ज़ैलसिंह ने भारतीय डाक (संशोधन) अधिनियम पर अपनी सहमति, इसे संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित होने के बावजूद रोके रखी। राष्ट्रपति महोदय ने एक ऐसे विधेयक पर अप्रसन्नता के खुले इज़हार द्वारा स्वयं और अपने पद हेतु जनसमर्थन पा लिया जो निजी पत्र-व्यवहार में हस्तक्षेप करने के लिए सरकार की शक्ति को अत्यधिक रूप से बढ़ा देता। यह विधेयक राष्ट्रपति के पुनर्विचार हेतु फिर कभी लौटकर नहीं आया।

इस तनाव हेतु कारणों में अंशत: एक था – खराब व्यक्तिगत संबंधों का प्रकरन। जबकि सभी प्रधानमंत्रियों ने राष्ट्रपति के प्रति औपचारिक रूप से सम्मानयुक्त रहकर नयाचार निभाने में बड़ी सतर्कता बरती, उदाहरण के लिए सरकारी मामलों की उसे नियमित सूचना दे कर राजीव गाँधी इस प्रकार का संप्रेषण बनाए रखने में चूक गए और राष्ट्रपति को ठेस पहुँचायी। जबकि प्रधानमंत्री महोदय ने राज्यसभा में निश्चयपूर्वक कहा कि वह राज्य के सभी महत्त्वपूर्ण मामले राष्ट्रपति को सूचित कर चुके हैं, राष्ट्रपति सिंह ने दावा किया कि उन्हें राजीव गाँधी द्वारा उपेक्षित और तिरस्कृत किया गया है और स्थापित संवैधानिक परंपराओं के उल्लंघन में अनेक महत्त्वपूर्ण राज्य मामलों के विषय में अँधेरे में रखा गया है। मार्च 1987 में जब लोकसभा अध्यक्ष ने सभा में इस विवाद की चर्चा की अनुमति देने से इंकार कर दिया, विपक्षी दलों ने एक हड़ताल का स्वांग किया। यद्यपि राजीव गाँधी ने ज़ैलसिंह के साथ अपने संबंध सुधार लिए और विवाद समाप्त कर दिया, इस प्रकार का सार्वजनिक संवैधानिक संकट राष्ट्रपति पद व प्रधानमंत्री पद की भूमिकाओं व अधिकार-क्षेत्र को परिभाषित करने के लिए डॉ० राजेंद्र प्रसाद तथा पंडित नेहरू के विच्छिन्न प्रयासों से प्रस्थान ही था।

यद्यपि राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री के बीच मतभेद रहे हैं, किसी संवैधानिक संकट में पराकाष्ठा पर पहुँचकर इन्होंने कोई गंभीर आयाम ग्रहण नहीं किए। जब कभी ऐसे मतभेद पैदा हुए उन्हें अनौपचारिक रूप से अथवा पार्टी कार्यकर्ताओं के माध्यम से दूर करने के प्रयास किए गए। कुल मिलाकर, राष्ट्रपति ने हमेशा सिर्फ संवैधानिक प्रभाव के रूप में कार्य किया है। ब्रिटेन की भाँति भारत में भी कुछ संवैधानिक परिपाटियाँ तथा प्रथाएँ केवल सरकार के विभिन्न हिस्सों के बीच लड़ाई के फलस्वरूप ही परिभाषित की गई हैं।

बोध प्रश्न 3

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तर से करें।

1) स्वतंत्र राष्ट्रपति का मत स्पष्ट करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.7 सारांश

ब्रिटिश वैस्टमिन्सटर मॉडल की रीति पर चलते हुए, भारत ने सरकार के संसदीय स्वरूप वाली अपनी निजी प्रणाली विकसित कर ली। भारत सरकार की कार्यकारी शक्ति भारत के राष्ट्रपति में निहित है, जो औपचारिक राज्य प्रमुख और राष्ट्र का प्रतीक, दोनों होता है। राष्ट्रपति समुचित शक्तियों के बग़ैर ही प्रभुत्व तथा प्रतिष्ठासंपन्न है। राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद् की मदद तथा सलाह से ही अपने अधिकार का प्रयोग कर सकता है। प्रधानमंत्री ही भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में वास्तविक कार्यकारी शक्ति का प्रयोग करता है। मंत्रिपरिषद्-प्रमुख, लोकसभा में बहुमत दल का नेता और प्राय: संसद का नेता यानी प्रधानमंत्री महत्त्वपूर्ण शक्ति व अधिकारों का उपभोग करता है। यद्यपि प्रधानमंत्री राष्ट्रपति द्वारा ही नियुक्त किया जाता है और उसकी इच्छा पर ही पद पर रहता है, प्रधानमंत्री वस्तुत: संसद के प्रति उत्तरदायी है। प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद् और अनौपचारिक मंत्रिमंडल सामूहिक दायित्व के सिद्धांत पर काम करते हैं। जैसा कि हमने देखा, राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री के बीच मतभेद रहे हैं, किसी संवैधानिक संकट में पराकाष्ठा पर पहुँचकर इन्होंने कोई गंभीर आयाम ग्रहण नहीं किए। राष्ट्रपति ने कुल मिलाकर एक संवैधानिक प्रमुख के रूप में ही कार्य किया है।

11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कश्यम, सुभाष, *हिस्ट्री ऑव दि पार्लियामेण्ट ऑव इण्डिया*, भाग-2, शिप्रा पब्लिकेशन्ज़, नई दिल्ली, 1995।

जैनिन्ग्स, सर, आइवर, *कैबिनेट गवर्नमेंट*, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस, कैंब्रिज, 1969।

दास, बी०सी०, *दि प्रैजिडॅण्ट ऑव इंडिया*, आर.आर. प्रिंटर्स, नई दिल्ली, 1977।

पटनायक, रघुनाथ, *पाउअर्स ऑव दि प्रैज़िडॅण्ट एण्ड गवर्नर्स ऑव इण्डिया*, दीप एण्ड दीप, नई दिल्ली, 1996।

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) राष्ट्रपति आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर निर्वाचक-मंडल के सदस्यों द्वारा और हस्तांतरणीय वोट के माध्यम से चुना जाता है। निर्वाचक-मंडल में होते हैं – संघीय संसद और राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य।

2) संसद की बैठक बुलाना और सत्र का अवसान करना – लोकसभा भंग करना – अध्यादेश जारी करने का अधिकार– संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाना और उसे संबोधित करना – ग़ैर धन-विधेयकों पर प्रतिषेधाधिकार – संसद के लिए सदस्यों को मनोनीत करने के अधिकार, आदि।

3) संसद को राज्य सूची में उल्लिखित समेत सभी विषयों पर कानून बनाने का अधिकार होगा – केन्द्रीय सरकार राज्य सरकार के लिए दिशा-निर्देश जारी कर सकती है – मौलिक अधिकारों से वंचित किया जा सकता है – लोकसभा की सामान्य अवधि एक वर्ष तक बढ़ाई जा सकती है, आदि।

बोध प्रश्न 2

1) (क) संसद के समक्ष प्रस्तुत किए जाने हेतु सरकारी नीति निर्धारित करना; (ख) सरकारी नीति लागू करना; और (ग) अंतर्विभागीय समन्वय तथा सहयोग कायम करना।

2) मंत्रिपरिषद् इसी सिद्धांत पर कार्य करती है। प्रत्येक सदस्य मंत्रिमंडल के सभी निर्णयों को स्वीकार करता है और दायित्व निभाने को सहमत होता है। दक्षता और प्रभावोत्पादकता के लिए तो यह आवश्यक है ही, सरकार की मंत्रिमंडलीय व्यवस्था की उत्तरजीविता हेतु भी आवश्यक है।

3) एक संसदीय प्रणाली में, प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद्-प्रमुख, निम्न सदन में बहुमत दल का नेता और सरकार-प्रमुख होता है।

बोध प्रश्न 3

1) यह मत के.एम. मुन्शी द्वारा अभिव्यक्त किया गया। उनका तर्क था कि संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो यह व्यवस्था देता हो कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह द्वारा बाध्य है। इसके अलावा, चूँकि संसद के साथ-साथ राज्य विधानमंडल भी राष्ट्रपति को चुनते हैं, उससे अपेक्षा की जाती है कि वह राज्यों के हितों की रक्षा करे। और, राष्ट्रपति संविधान की रक्षा करने, सुरक्षित रखने और संरक्षण देने की शपथ भी लेता है।

इकाई 12 न्यायपालिका

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 भारत में न्यायपालिका का उद्‌भव तथा विकास

12.3 सर्वोच्च न्यायालय

- 12.3.1 संयोजन तथा नियुक्तियाँ
- 12.3.2 कार्यकाल
- 12.3.3 वेतन
- 12.3.4 उन्मुक्तियाँ

12.4 सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र

- 12.4.1 मौलिक अधिकार-क्षेत्र
- 12.4.2 अपील संबंधी
- 12.4.3 सलाह संबंधी अधिकार-क्षेत्र
- 12.4.4 पुनरीक्षण अधिकार-क्षेत्र

12.5 उच्च न्यायालय

- 12.5.1 उच्च न्यायालय का संयोजन
- 12.5.2 अधिकार-क्षेत्र

12.6 अधीनस्थ न्यायालय

12.7 न्यायिक समीक्षा

12.8 न्यायिक सुधार

12.9 सारांश

12.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप पढ़ेंगे – भारतीय न्यायपालिका का प्राधार, संयोजन, अधिकार-क्षेत्र तथा प्रकार्य। इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप इस योग्य होंगे कि :

- भारत में न्यायिक प्रणाली के उद्‌भव को तलाश सकें;
- भारत में न्यायालयों के संयोजन का वर्णन कर सकें;
- सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय तथा अधीनस्थ न्यायालयों के प्रकार्य तथा अधिकार-क्षेत्र स्पष्ट कर सकें; और
- न्यायिक समीक्षा की संकल्पना और मौलिक अधिकारों के रक्षार्थ उनके महत्त्व को स्पष्ट कर सकें।

12.1 प्रस्तावना

संवैधानिक सरकार पर आधारित किसी राजनीतिक व्यवस्था में, नियम बनाने, नियम लागू करने और नियम की व्याख्या करने के प्रकार्य विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की तीन संस्थाओं में बाँट दिए गए हैं। एक न्यायाधिकरण जो कि विधायी तथा कार्यकारी शक्ति से स्वतंत्र है, और उनके मनमाने प्रयोग पर एक नियंत्रक की भूमिका निभाती है, एक संवैधानिक सरकार का अनिवार्य लक्षण है। न्यायाधिकरण इस संदर्भ में अन्तिम निर्णायक भी है जो कि स्वयं संविधान का अर्थ है। एक संघीय व्यवस्था में न्यायाधिकरण संघ व उसके घटना इकाइयों के बीच विवादों के अन्तिम निष्कर्ष हेतु एक न्यायालय की भूमिका भी निभाता है। चूँकि सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों की अत्यधिक अहम भूमिका तथा प्रकार्य हैं, न्यायाधिकरण की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न उपाय किए गए हैं। चलिए, पहले भारत में आधुनिक न्यायिक व्यवस्था के उद्‌भव को तलाशते हैं और फिर इसकी शक्तियों तथा प्रकार्यों से संबंधित विभिन्न संवैधानिक प्रावधानों की जाँच करते हैं।

12.2 भारत में न्यायपालिका का उद्‌भव तथा विकास

न्यायपालिका का विकास आमतौर पर आधुनिक राष्ट्र-राज्यों के विकास के साथ ही देखा जा सकता है। यही वह चरण था जब यह माना जाता था कि न्याय का अधिकार और उपयोग राज्य का विशेषाधिकार है।

प्राचीन काल में, न्याय का उपयोग राज्य का प्रकार्य नहीं माना जाता था क्योंकि यह धार्मिक कानून अथवा धर्म पर आधारित होता था। अधिकांश राजाओं के दरबार उस धर्म के अनुसार न्याय दिया करते थे जो था – 'जीवन के चार चरणों (आश्रमों) से निभाए जाने वाले वैयक्तिक कर्त्तव्य पर टिके शाश्वत नियमों और व्यक्ति की सामाजिक स्थिति (वर्ण) के अनुसार उसकी प्रतिष्ठा का एक समुच्चय।' राजा के पास कोई वास्तविक विधयी शक्ति, "अपनी ही पहल और इच्छा पर'' अध्यादेश जारी करने की शक्ति, नहीं थी। यदि कोई कानून आद्यनियमित और राजसी रूप से मान्यता प्रदान भी है, वह व्यक्ति जिस पर प्रथा व्यवहार्य है, इसकी अवज्ञा इस आधार पर कर सकता है कि वह धमदिश विरुद्ध है। ग्राम स्तर पर, स्थानीय/ग्राम/जन-अदालतें प्रथागत के अनुसार न्याय दिया करती थीं।

तथापि, मध्यकाल में, राजा स्वयं न्याय देने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अनाधिकार रूप से अपनाता था। वह देश में सर्वोच्च न्यायाधीश होता था।

भारत में ब्रिटिश शासन के आगमन के साथ हो, वर्ष 1661 के चार्ल्स द्वितीय के रॉयल चार्टर ने इंग्लैंड के कानून के अनुसार गवर्नर तथा कौन्सिल को नागरिक तथा आपराधिक, दो मामलों ने निर्णय देने का शक्ति प्रदान की। परन्तु रेगुलेटिंग एक्ट, 1973 के साथ ही भारत में प्रथम सर्वोच्च न्यायालय स्थापित होने लगा। कलकत्ता स्थित, इस सर्वोच्च न्यायालय 'क्राउन' द्वारा नियुक्त मुख्य न्यायाधीश तथा तीन न्यायाधीश (बाद में घटकर दो न्यायाधीश रह गए) होते थे और इसे कम्पनी की अदालत की बजाय एक राजा का दरबार बनाया गया था। जहाँ कभी भी सर्वोच्च न्यायालय स्थापित थे अदालत का "महामहिम के विषयों'' पर क्षेत्राधिकार था। तदोपरांत सर्वोच्च न्यायालय मद्रास तथा बम्बई में स्थापित किए गए।

इस काल में न्यायिक प्रणाली में दो व्यवस्थाएँ थीं – महाप्रान्तों में सर्वोच्च न्यायालय और प्रान्तों में सद्र अदालतें। जबकि पूर्ववर्ती इंग्लैंड के कानून और प्रक्रिया का अनुसरण किया, परवर्ती ने नियमन विधि और स्वीय विधि का अनुसरण किया।

तदोपरांत, हाई कोर्ट्स एक्ट, 1861 के अधीन इन दोनों व्यवस्थाओं का विलय हो गया। इस अधिनियम द्वारा कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के महाप्रान्त नगरों में सुप्रीम कोर्टों तथा देशज न्यायालयों (सद्र दीवानी अदालतें सद्र निजामत अदालत) का स्थान हाई कोर्टों ने ले लिया। पुनरावेदन की उच्चतम अदालत तथापि प्रीवी कौन्सिल की न्यायिक समिति थी।

भारतीय विधि-व्यवस्था के इस विकास-चरण में, एक एकीकृत न्यायालय प्रणाली के उद्‌गमन में एक नए युग का प्रारम्भ दृष्टिगोचर होता है।

1935 के अधिनियम द्वारा दिल्ली में फैडरल कोर्ट ऑव इण्डिया स्थापित किया गया। यह न्यायालय भारतीय संविधान की व्याख्या चाहने वाले मामलों के सम्बन्ध में उच्च न्यायालयों तथा प्रीवी कौन्सिल के बीच एक अध्यस्थ पुनरावेदनकर्त्ता के पास कुछ अन्य मामलों में सलाहकारी के साथ-साथ मौलिक क्षेत्राधिकार भी थे। इस न्यायालय ने 26 जनवरी 1950, भारतीय संविधान लागू होने के दिन ही से, कार्य करना शुरू कर दिया।

12.3 सर्वोच्च न्यायालय

सम्पूर्ण न्यायाधीश समुदाय तीन नि:श्रेणियों में बाँटा गया है। शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय है, इसके नीचे उच्च न्यायालय और सबसे निचले स्थान पर सत्र-न्यायालय होता है।

सर्वोच्च न्यायालय ही कानून का उच्चतम न्यायालय है। संविधान के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित कानून भारतीय राज्यक्षेत्र के भीतर सभी छोटी अदालतों पर बाध्यकर होगा। सर्वोच्च न्यायालय के नीचे राज्य स्थिति उच्च न्यायालय होते हैं। प्रत्येक उच्च न्यायालय के तहत ज़िला सत्र-न्यायालय, अधीनस्थ न्यायालय तथा लघु वाद न्यायालयों के नाम से, लघु क्षेत्राधिकार अदालतें होती हैं।

परिमित सरकार पर टिकी एक संघीय व्यवस्था में न्यायपालिका के महत्त्व के साथ, सर्वोच्च न्यायालय संविधान की व्याख्या में उसे अन्तिम प्राधिकरण बनाने हेतु अभिकल्पित किया गया। न्यायिक प्रावधान रखते समय संविधान सभा ने न्यायालयों की स्वतंत्रता, सर्वोच्च न्यायालय की शक्ति तथा न्यायिक पुनरीक्षण जैसे विषयों के प्रति काफ़ी ध्यान दिया।

12.3.1 संयोजन तथा नियुक्तियाँ

सर्वोच्च न्यायालय में होते हैं – भारत के मुख्य न्यायमूर्ति तथा अन्य न्यायाधीशों की वह संख्या जो कानून द्वारा दी गई हो। जब सर्वोच्च न्यायालय का उद्‌घाटन हुआ, इसमें मात्र आठ न्यायाधीश थे। यह संख्या बढ़कर अब पच्चीस हो गई है। भारत का राष्ट्रपति, जो नियुक्ति करने का एकमात्र अधिकारी है, ये नियुक्तियाँ प्रधानमंत्री तथा मंत्रिपरिषद् का सलाह पर करता है।

अनुच्छेद 124 (2) में संविधान शर्त रखता है कि राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के उन न्यायाधीशों से विचार-विमर्श के बाद, जिन्हें वह आवश्यक समझता है, अपने हस्ताक्षर व मुहर के अधीन ही सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को नियुक्त करेगा। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के ममले में,

राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से विचार-विमर्श करेगा जिन्हें वह आवश्यक समझता हो। इस स्पष्ट संवैधानिक प्रावधान के बावजूद, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का मामला एक राजनीतिक विवाद बन गया है। यहाँ वे मुद्दे स्मरणीय हैं जो कि 1973 में तब उठाए गए थे जब भारत सरकार ने पदच्युत होते मुख्य न्यायमूर्ति, एस.एम. सिकरी की सिफ़ारिशों के विरुद्ध, चार अन्य न्यायाधीशों को हटाकर भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में न्यायधीश एस.एस. रे को नियुक्त कर दिया।

न्यायाधीशों की नियुक्ति से राजनीति को दूर करने के लिए, ऊँची न्यूनतम अर्हताएँ निर्धारित की गई हैं। सर्वोच्च न्यायालय में नियुक्ति हेतु व्यक्ति भारत का नागरिक हो, वह कम-से-कम पाँच वर्ष उच्च न्यायालय का न्यायाधीश रहा हो, अथवा कम-से-कम दस वर्ष उच्च न्यायालय का वकील रहा हो अथवा भारत के राष्ट्रपति के विचार में एक विशिष्ट विधिवेत्ता रहा हो।

12.3.2 कार्यकाल

एक बार नियुक्त होने के बाद, न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक पद पर बना रहता है। सर्वोच्च न्यायालय का एक न्यायाधीश अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है और दुराचार अथवा अक्षमता के मामले में उसे हटाया जा सकता है। संविधान में उल्लिखित प्रक्रियानुसार, संसद के प्रत्येक सदन को उपस्थित तथा मतदान करने दो-तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित एक प्रस्ताव पारित करना होता है। 1991 में पहली बार संसद में किसी न्यायाधीश के विरुद्ध महाभियोग प्रस्ताव रखा गया। इसमें सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति वी.रामास्वामी शामिल थे। जब एक लेखा-परीक्षा रिपोर्ट ने यह उजागर किया कि पंजाब तथा हरियाणा उच्च न्यायालय के रूप में अपने कार्यकाल के दौरान न्यायाधीश महोदय द्वारा अनेक अनियमिताएँ बरती गईं, एक त्रि-व्यक्ति न्यायिक समिति गठित की गई जिसमें थे – सर्वोच्च न्यायालय का एक सेवारत तथा एक सेवा-निवृत्त न्यायाधीश और बम्बई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति। समिति ने निष्कर्ष निकाला कि सार्वजनिक राजकोष की लागत पर वास्तव में पद-स्थिति का एक ज्ञानकृत एवं अक्षम्य दुरुपयोग और साभिप्राय और आभ्यासिक अपव्यय हुआ था जो 'दुराचार' के बराबर था। न्यायमूर्ति रामास्वामी ने, बहरहाल, यह तर्क दिया कि प्रस्ताव की विज्ञप्ति, समिति के संविधान और उसकी प्रकार्यात्मकता में कार्यविधिक अनियमितताएँ थीं। मई 1993 में लाया गया यह महाभियोग प्रस्ताव इसके पक्ष में 401 में से 196 मतों के साथ गिर गया और 205 ने मतदान में भाग ही नहीं लिया। परन्तु वास्तविकता को स्वीकार करते हुए, न्यायाधीश महोदय ने तदोपरांत त्याग-पत्र दे दिया।

12.3.3 वेतन

एक अति महत्त्वपूर्ण घटक जो न्यायाधीशों की स्वतंत्रता निर्धारित करता है, वह है उनके द्वारा प्राप्त किया जाने वाला पारिश्रमिक। न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ते उनकी स्वतंत्रता, दक्षता और निष्पक्षता को सुनिश्चित करने के लिहाज से ऊँचे तय किए जाते हैं। वेतन के अतिरिक्त, प्रत्येक न्यायाधीश एक किराया-मुक्त सरकारी निवास का हकदार है। संविधान यह भी व्यवस्था देता है कि न्यायाधीशों के वेतनों को, वित्तीय आपात्स्थिति के समय छोड़कर, कभी भी उनके अहित न नहीं बदला जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के प्रशासनिक व्यय, न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते, आदि भारत की संचित निधि से चुकाए जाते हैं।

12.3.4 उन्मुक्तियाँ

न्यायाधीशों को राजनीतिक विवादों से बचाने के लिए, संविधान उन्हें अपने पद पर रहते किए गए निर्णयों तथा कार्रवाइयों के विरुद्ध आलोचनाओं से उन्मुक्ति प्रदान करता है। न्यायालय को उनके

विरुद्ध अवमानना कार्रवाई शुरू करने का अधिकार है जो न्यायाधीशों को उनके पदसंबंधी कर्त्तव्यों को निभाने में कारण आरोपित करते हैं। यहाँ तक कि संसद भी न्यायाधीश के आचरण पर चर्चा नहीं कर सकती है, सिवाय इसके कि जब उसके समक्ष उसको हटाने के लिए कोई प्रस्ताव होता है।

बोध प्रश्न 1

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए क्या अर्हताएँ वांछित हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश के हटाने के लिए क्या प्रक्रिया है?

.....

.....

.....

.....

.....

12.4 सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र

अनुच्छेद 141 घोषित करता है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अर्पित कानून भारतीय राज्य क्षेत्र के भीतर सभी अदालतों पर लागू होगा। वे विभिन्न श्रेणियाँ जिनमें सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र बाँटा गया है, निम्नलिखित हैं : (1) मौलिक अधिकार-क्षेत्र, (2) अपील संबंधी अधिकार-क्षेत्र, (3) सलाहकारी अधिकार-क्षेत्र, और (4) पुरावलोकन अधिकार-क्षेत्र।

12.4.1 मौलिक अधिकार-क्षेत्र

सर्वोच्च न्यायालय का एक संघीय न्यायालय के रूप में प्रथमत: मौलिक क्षेत्राधिकार है। एक संघीय प्रणाली में, जो भारत में है, संघ व राज्य सरकारें अपनी शक्तियाँ एक ही संविधान से व्युत्पन्न करती हैं और एक ही से परिमित हैं। शक्तियों के संघ-राज्य वितरण की व्याख्या में मतभेदों, अथवा राज्य सरकारों के बीच विवादों को सरकार के दोनों स्तरों से स्वतंत्र एक न्यायिक घटक द्वारा प्रामाणिक समाधान की आवश्यक होती है। अनुच्छेद 131 के तहत, सर्वोच्च न्यायालय को संघ व किसी राज्य के बीच अथवा एक अनन्य क्षेत्राधिकार दिया गया है। जब हम यह करते हैं कि भारत में किसी भी अन्य अदालत को ऐसे विवाद सुलझाने का अधिकार नहीं है। इसी प्रकार, सर्वोच्च न्यायालय के

मौलिक क्षेत्राधिकार का अर्थ होगा कि विवाद के वादी-प्रतिवादी संघ की इकाइयाँ होने चाहिए। आस्ट्रेलिया और संयुक्त राज्य में सर्वोच्च न्यायालयों से भिन्न, भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के पास विभिन्न राज्य निवासियों के बीच अथवा राज्य तथा दूसरे राज्य के निवासी के बीच विवादों को निपटाने का मौलिक क्षेत्राधिकार नहीं है।

सर्वोच्च न्यायालय के पास मौलिक अधिकारों के रक्षक के रूप में इतर-अनन्य मौलिक क्षेत्राधिकार भी है। संविधान का अनुच्छेद 32 नागरिकों को संविधान के भाग-III में परिकलित मौलिक अधिकारों में से किसी के भी बाध्यकारण हेतु सीधे सर्वोच्च न्यायालय जाने का अधिकार देता है। मौलिक अधिकारों के अभिभावक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय के पास बन्दी प्रत्यक्षीकरण, अधिकार पृच्छा, प्रतिषेधादेश, उत्प्रेषण-लेख, और परमादेश जैसे लिखित आज्ञा-पत्र जारी करने का अधिकार है। बन्दी प्रत्यक्षीकरण नामक लिखित आज्ञा-पत्र अवैध अभिरक्षा से किसी व्यक्ति को अदालत के समक्ष लाने हेतु न्यायालय द्वारा जारी किया जाता है। न्यायालय हिरासत की वैधता निर्धारित कर सकता है और यदि हिरासत अवैध पायी जाती है, उस व्यक्ति को रिहा कर सकता है। परमादेश का आज्ञा-पत्र प्रयोग कर, न्यायालय लोक-पदेन अधिकारियों को उनके वैधानिक कर्त्तव्यों के पालन हेतु आदेश दे सकता है। प्रतिषेधादेश नामक आज्ञा-पत्र किसी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण को उसके अधिकार के अतिक्रमण में कुछ भी करने से रोक सकता है। उत्प्रेक्षण-लेख नामक आज्ञा-पत्र द्वारा, न्यायालय सरकार, स्थानीय निकाय अथवा किसी वैधानिक निकाय के किसी भी पदेन अधिकारी द्वारा पारित किसी आदेश को रद्द कर सकता है। अधिकार पृच्छा नामक आज्ञा-पत्र उस व्यक्ति को, जो प्राधिकृत रूप से किसी सार्वजनिक पद पर है, उस पद से हट जाने के लिए जारी किया जाता है। इन आज्ञा-पत्रों को जारी करने के अतिरिक्त, सर्वोच्च न्यायालय को कार्यकारिणी के लिए समुचित निर्देश तथा आदेश जारी करने का अधिकार प्राप्त है।

12.4.2 अपील संबंधी

सर्वोच्च न्यायालय ही भारत राज्यक्षेत्र में सभी न्यायालयों से पुनरावेदन का उच्चतम न्यायालय है। यह संवैधानिक विषयों से सम्बद्ध मामलों; सम्पत्ति के ब्यौरेवार प्रारम्भिक मूल्यों अथवा किसी मृत्युदण्डादेश से सम्बद्ध नागरिक तथा आपराधिक मामलों; और विशेष पुनरावेदनों की विस्तृत-शृंखलाबद्ध शक्तियों में विशद पुनरावेदनकर्त्ता क्षेत्राधिकार-सम्पन्न है।

संविधान का अनुच्छेद 132, उस स्थिति में किसी उच्च न्यायालय की नागरिक, आपराधिक अथवा अन्य कार्यवाहियों में किसी न्यायालय के किसी निर्णय अथवा अन्तिम आदेश से सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष पुनरावेदन हेतु व्यवस्था देता है, यदि वह संविधान की व्याख्या के संबंध में कानून के किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न से सम्बद्ध है। यह पुनरावेदन पुनः इस बात पर निर्भर है कि क्या इसको उच्च न्यायालय प्रमाणित करता है, और यदि नहीं, तो सर्वोच्च न्यायालय पुनरावेदन के लिए विशेषानुमति प्रदान कर सकता है।

संविधान का अनुच्छेद 133 यह व्यवस्था देता है कि किसी उच्च न्यायालय के किसी भी निर्णय, आदेश अथवा नागरिक कार्यवाहियों से असैनिक मामलों में पुनरावेदन सर्वोच्च न्यायालय पर आता है। यह पुनरावेदन उस स्थिति में भी किया जा सकता है यदि मामला व्यापक महत्त्व वाले कानून के किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न से संबद्ध है अथवा यदि उच्च न्यायालय की राय में उल्लिखित प्रश्न को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्णीत किए जाने की आवश्यकता है।

अनुच्छेद 134 सर्वोच्च न्यायालय को किसी भी निर्णय, अन्तिम आदेश, अथवा किसी उच्च न्यायालय के दंडादेश से आपराधिक मामलों में अपील संबंधी क्षेत्राधिकार प्रदान करता है। इस क्षेत्राधिकार हेतु

मामलों की केवल तीन विभिन्न श्रेणियों में निवेदन किया जा सकता है : (क) यदि उच्च न्यायालय पुनरावेदन पर किसी दोषारोपित व्यक्ति और मृत्युदंडादेश के दोषमुक्ति आदेश को उलट देता है; (ख) यदि उच्च न्यायालय ने अपने अधिकाराधीन किसी अदालत से किसी मामले को विचारण हेतु अपने समक्ष प्रत्याहरित कर लिया है और इस प्रकार के न्याय विचार मुकदमे में दोषारोपित व्यक्ति को दोषी सिद्ध किया है और उसे मृत्युदण्डादेश दिया है; और यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करता है कि मामला सर्वोच्च न्यायालय में पुनरावेदन हेतु उपयुक्त है।

अन्ततः, सर्वोच्च न्यायालय के पास विशेष अपील संबंधी क्षेत्राधिकार है। उसे किसी भी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण द्वारा पारित किए गए अथवा बनाए गए केस अथवा मामले में किसी भी निर्णय, आज्ञप्ति दण्डादेश अथवा आज्ञा से, अपने विवेकानुसार, विशेषानुमति पुनरावदेन प्रदान करने का अधिकार है।

12.4.3 सलाह संबंधी अधिकार-क्षेत्र

सर्वोच्च न्यायालय किसी भी ऐसे तथ्य अथवा कानून के प्रश्न पर सलाहकारी मत प्रस्तुत करने हेतु अधिकार-सम्पन्न है जो उसे राष्ट्रपति द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की सलाहकारी भूमिका सामान्य अधिनिर्णयन से तीन अर्थों में भिन्न है : प्रथम, दो पक्षों के बीच कोई वाद नहीं होता; दूसरे, उक्त न्यायालय का सलाहकारी मत सरकार पर बाध्यकर नहीं है; अन्ततः यह किसी न्यायालय के निर्णय के रूप में निष्पादनीय नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय से सलाहकारी राय माँगने की प्रथा कार्यकारिणी को महत्त्वपूर्ण विषयों पर किसी ठोस निर्णय पर पहुँचने में मदद करती हैं। साथ ही, यह भारत सरकार को कुछ राजनीतिक रूप से कठिन विषयों पर एक सरल विकल्प प्रदान करती है। सरकार ने विवाद के पहलू सम्मति हेतु सर्वोच्च न्यायालय के पास भेजने का निश्चय किया। चूँकि समस्या में कोई भी वैध सारवस्तु नहीं थी, सर्वोच्च न्यायालय को भेजे जाने से उसे हल किए जाने की बजाय न्यायाधिकरण के राजनीतिकरण हेतु अधिक सम्भाव्यता थी, जो अनिवार्यतः एक राजनीतिक समस्या थी।

12.4.4 पुनरीक्षण अधिकार-क्षेत्र

सर्वोच्च न्यायालय को उसके अपने द्वारा सुनाए गए किसी भी निर्णय उसके द्वारा दिए गए आदेश के पुनरीक्षण का अधिकार है। इसका अर्थ है कि सर्वोच्च न्यायालय अपने ही निर्णयादेश का पुनरीक्षण कर सकता है।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय संयुक्त राज्य अमेरिका में अपने प्रतिरूप की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली है। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय मुख्य रूप से वे मामले देखता है जो संघीय संबंध की वजह से उभरते हैं अथवा जो कानूनों व संधियों की संवैधानिक वैधता से संबंध रखते हैं। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय संविधान की व्याख्या करने के अलावा असैनिक तथा आपराधिक केसों के मामलों में देश में पुनरावेदन न्यायालय के रूप में भी कार्य करता है। यह केवल किसी न्यायालय के ही नहीं वरन् भारतीय राज्यक्षेत्र के भीतर किसी भी न्यायाधिकरण के निर्णयों से अपने विवेक पर किसी भी प्रतिबन्ध के बिना पुनरावेदन स्वीकार कर सकता है। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का सलाहकारी क्षेत्राधिकार भी ऐसा विषय है जिसका अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के मुख्यांश में अभाव है।

इन शक्तियों के बावजूद, भारतीय सर्वोच्च न्यायालय संविधान की ही रचना है और इन शक्तियों के सातत्य हेतु उस संघीय विधायिका पर निर्भर करता है जो संविधान के संशोधन द्वारा उन पर

प्रतिबंध लगा सकता है। इसके अलावा, देश में जब कभी भी आपात्स्थिति की घोषणा हो इन सभी शक्तियों को निलम्बित अथवा स्थगित किया जा सकता है।

12.5 उच्च न्यायालय

हमारा संविधान एक उच्च न्यायालय को राज्य विधायिका के शीर्ष पर रखता है। भारतीय संविधान, भाग-VI के अध्याय-V में उच्च न्यायालय के संगठन तथा प्रकार्यों के संबंध में प्रावधान हैं। अनुच्छेद 125 के प्रावधान, जो कहता है, "प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय होगा", के अनुसार भारत के प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय है और इन न्यायालयों की एक संवैधानिक प्रतिष्ठा है।

संसद को दो अथवा अधिक राज्यों के लिए एक सर्वमान्य उच्च न्यायालय विहित करने का अधिकार है। उदाहरण के लिए, पंजाब और हरियाणा एक सर्वमान्य उच्च न्यायालय रखते हैं। इसी प्रकार असम, नागालैण्ड, मेघालय, मणिपुर और त्रिपुरा के लिए एक ही उच्च न्यायालय है।

केन्द्रशासित प्रदेशों के मामले में, संसद विधानानुसार एक उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को किसी भी केन्द्र-शासित प्रदेश तक बढ़ा सकती हैं, अथवा एक उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को किसी भी केन्द्रशासित प्रदेश से निकाल सकती है, अथवा किसी केन्द्रशासित प्रदेश के लिए एक उच्च न्यायालय बना सकती है। इस प्रकार, दिल्ली, एक केन्द्रशासित प्रदेश, अपना एक पृथक् उच्च न्यायालय रखता है जबकि, मद्रास उच्च न्यायालय पांडिचेरी पर, केरल उच्च न्यायालय लक्षद्वीप पर, मुम्बई उच्च न्यायालय दादरा व नागर हवेली पर, कालकता उच्च न्यायालय अण्डमान और नीकोबार द्वीपसमूह पर, पंजाब हरियाणा उच्च न्यायालय चण्डीगढ़ पर क्षेत्राधिकार रखता है।

12.5.1 उच्च न्यायालय का संयोजन

सर्वोच्च न्यायालय से भिन्न, उच्च न्यायालय के लिए न्यायाधीशों की कोई न्यूनतम संख्या नहीं है। राष्ट्रपति, समय-समय पर, प्रत्येक उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या तय करेगा। उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति तथा राज्य के राज्यपाल, जिसका वस्तुत: अर्थ है राज्य का वास्तविक कार्यकारिणी, की सलाह से राष्ट्रपति द्वारा चुना जाता है। न्यायाधीशों की नियुक्ति करने में, राष्ट्रपति से उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से विचार-विमर्श करने की अपेक्षा की जाती है। संविधान काम निपटाने के लिए अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति हेतु भी व्यवस्था देता है। बहरहाल, ये नियुक्तियाँ अस्थायी होती हैं जो दो वर्ष की अवधि से अधिक नहीं होतीं।

कोई न्यायाधीश सामान्यत: 62 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक पदासीन रहता है। वह त्याग-पत्र देकर, सर्वोच्च न्यायालय का एक न्यायाधीश नियुक्त होकर अथवा राष्ट्रपति द्वारा किसी अन्य उच्च न्यायालय को स्थानान्तरित होकर अपना पद खाली कर सकता है। एक न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा दुराचार अथवा अक्षमता के आधार पर हटाया जा सकता है, उसी प्रकार जैसे कि सर्वोच्च न्यायालय का एक न्यायाधीश हटाया जाता है।

12.5.2 अधिकार-क्षेत्र

एक उच्च न्यायालय के मौलिक क्षेत्राधिकार में शामिल हैं – मौलिक अधिकारों का बाध्यकरण, संघ व राज्य के चुनाव तथा राजस्व मामलों पर क्षेत्राधिकार से संबंधित विवादों का निपटारा। इसका पुनर्वादी क्षेत्राधिकार असैनिक व आपराधिक, दोनों मामलों तक विस्तीर्ण है। असैनिक मामलों में,

उच्च न्यायालय या तो पहला पुनरावेदन अथवा दूसरा पुनरावेदन न्यायालय होता है। आपराधिक मामलों में, किसी सत्र-न्यायाधीश अथवा किसी अतिरिक्त सम-न्यायाधीश के निर्णयों से पुनरावेदन किया जाता है, जहाँ कारावास का दण्डादेश सात वर्ष से अधिक ही व छोटे-मोटे अपराधों के अलावा अन्य उल्लिखित केस एक उच्च न्यायालय के पुनर्वादी क्षेत्राधिकार का संघटन करते हों। इन सामान्य मौलिक तथा पुनर्वादी क्षेत्राधिकारों के अलावा, संविधान उच्च न्यायालयों में चार अतिरिक्त शक्तियाँ निहित करता है। ये हैं :

- मौलिक अधिकारों के बाध्यकरण हेतु आज्ञा-पत्र अथवा आदेशों को जारी करने का अधिकार। दिलचस्प बात है कि एक उच्च न्यायालय का आज्ञा-पत्र क्षेत्राधिकार सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार से विस्तृत है। यह न सिर्फ़ मौलिक अधिकार भेजने के मामलों में बल्कि किसी साधारण वैधानिक अधिकार के मामलों में भी आज्ञा-पत्र जारी कर सकता है।
- सशस्त्र बल सम्बद्धों को छोड़कर अन्य सभी न्यायालयों तथा न्यायाधिकरणों के अधीक्षण का अधिकार। वह नियम बना सकता है और तीव्रतर तथा प्रभावी न्यायिक उपचार के लिए निदेशों के साथ समय-समय पर मार्गदर्शन हेतु निर्देश भी जारी कर सकता है।
- संविधान की व्याख्या से संबंधित मामलों को अधीनस्थ न्यायालयों से स्वयं को हस्तांतरित करने करने का अधिकार।
- उच्च न्यायालय के अधिकारियों व सेवाकर्मियों को नियुक्त करने का अधिकार।

कुछ मामलों में, उच्च न्यायालयों का क्षेत्राधिकार सीमित है। उदाहरण के लिए, उसका एक न्यायाधिकरण पर कोई क्षेत्राधिकार नहीं होता और एक केन्द्रीय अधिनियम अथवा संघ के किसी प्रशासनिक प्राधिकरण द्वारा बनाए गए किसी नियम, विज्ञप्ति अथवा आदेशों को भी अवैध करार देने का कोई अधिकार नहीं है, चाहे वह मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करता हो अथवा नहीं।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) सर्वोच्च न्यायालय का किन क्षेत्रों में मौलिक क्षेत्राधिकार है? कौन-सा क्षेत्र सर्वोच्च न्यायालय का एक अनन्य सुरक्षित क्षेत्र है?

.....

.....

.....

.....

2) एक उच्च न्यायालय का लेखाधिकार क्षेत्र सर्वोच्च न्यायालय के लेखाधिकार क्षेत्र से विस्तृत होता है और निम्न परमादेश जारी कर सकता है:

.....

.....

.....

12.6 अधीनस्थ न्यायालय

उच्च न्यायालय के अधीन, न्यायालयों का एक पदानुक्रम होता है जिन्हें भारतीय संविधान में अधीनस्थ न्यायालयों के रूप में जाना जाता है। चूँकि ये न्यायालय राज्य सरकार द्वारा अधिनियम के कारण अस्तित्व में आए हैं, उनकी नामावली और पदनाम राज्य-राज्य में भिन्न हैं। तथापि, मोटे तौर पर संगठनात्मक आधार के शब्दों में एकरूपता है।

राज्य ज़िलों में बँटा होता है और प्रत्येक ज़िलें में एक न्यायालय होता है जिसका उस ज़िले में एक पुनर्वादी क्षेत्राधिकार होता है। ज़िला न्यायालयों के अधीन, अतिरिक्त ज़िला न्यायालय, उप-न्यायालय, मुन्सिफ न्यायाधिकारी अदालत, द्वितीय-श्रेणी विशेष न्यायिक न्यायाधिकारी की अदालत, प्रथम-श्रेणी विशेष न्यायिक न्यायाधिकारी की अदालत, कारख़ाना अधिनियम तथा श्रम कानूनों के लिए विशेष मुन्सिफ न्यायाधिकारी की अदालत, आदि जैसी निचली अदालत होती हैं। अधीनस्थ न्यायालय पदानुक्रम के सबसे नीचे हैं – पंचायत अदालतें (न्याय पंचायत, ग्राम पंचायत, पंचायत अदालत, आदि) उन्हें, बहरहाल, आपराधिक न्यायालय क्षेत्राधिकार के प्रयोजन से अदालतों के रूप में नहीं लिया जाता है।

ज़िला न्यायालय का मुख्य कार्य अधीनस्थ न्यायालयों से पुनरावेदनों की सुनवाई करना है। तथापि, ये न्यायालय विशेष स्थिति के अन्तर्गत मौलिक विषयों का परिज्ञान भी ले सकते हैं; उदाहरण के लिए, भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, अभिभावक अधिनियम व संरक्षकता अधिनियम तथा भू-अधिग्रहण अधिनियम।

संविधान अधीनस्थ न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है। ज़िला न्यायालयों की नियुक्तियाँ राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय की सलाह से की जाती हैं। नियुक्ति हेतु अहर्त होने के लिए व्यक्ति सात वर्ष सम्मानित अधिवक्ता अथवा वकील रहा हो, अथवा संघ या राज्य की सेवा में एक अधिकारी रहा हो। किसी राज्य की न्यायिक सेवा हेतु ज़िला न्यायाधीशों के अलावा व्यक्तियों की नियुक्ति उच्च न्यायालय तथा राज्य लोक सेवा आयोग के साथ विचार-विमर्श करने के बाद राज्यपाल द्वारा, उसी के द्वारा उसके निमित्त बनाए गए नियमों के अनुसार, की जाती है।

उच्च न्यायालय, राज्य न्यायिक सेवा में संबंधित सभी व्यक्तियों की तैनाती, पदोन्नति तथा अवकाश-अनुमति जैसे मामलों में, ज़िला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण रखता है।

12.7 न्यायिक समीक्षा

यथार्थत: न्यायिक पुनरीक्षण के द्योतन का अर्थ है – एक प्रवर न्यायालय द्वारा किसी अवर न्यायालय की आज्ञप्ति अथवा दण्डादेश का संशोधन। न्यायिक पुनरीक्षण का सार्वजनिक कानून में अधिक तकनीकी महत्त्व है, विशेषत: परिमित सरकार की संकल्पना पर आधारित, एक लिखित संविधान रखने वाले देशों में। इस प्रकरण में न्यायिक पुनरीक्षण का अर्थ है कि विधि-न्यायालयों के पास संविधान के प्रावधानों के संदर्भ सहित वैधानिक के साथ-साथ अन्य सरकारी कार्यवाही की वैधता के परीक्षण का अधिकार है।

इंग्लैण्ड में, वहाँ कोई लिखित संविधान नहीं है। यहाँ संसद ही सर्वोच्च अधिकारप्राप्त है। वहाँ न्यायालयों को सर्वसत्ताक संसद द्वारा पारित कानूनों की पुनरीक्षा का अधिकार नहीं है। बहरहाल,

इंग्लिश न्यायालय कार्यकारिणी की कार्यवाहियों की वैधता का पुनरावलोकन करते हैं। संयुक्त राज्य में, विधायिका ने कार्यकारिणी के कार्यों की संवीक्षा तथा 'देय प्रक्रिया' (ड्यू प्रोसेस) के सिद्धांत द्वारा विधि-निर्माण की संवैधानिक वैधता की जाँच करने का अधिकार लिया। विषमत: भारत में, विधि-निर्माण अधिनियमों की अवैध घोषित करने का न्यायालय का अधिकार संविधान में स्पष्टतया अधिनियमित है। संविधान में परिगणित मौलिक अधिकार न्याय-योग्य बने हैं और संवैधानिक उपचार का अधिकार स्वयं ही एक मौलिक अधिकार बनाया गया है।

सर्वोच्च न्यायालय का न्यायिक पुनरीक्षण अधिकार संविधान संशोधनों के साथ-साथ विधायिकाओं, कार्यकारिणी तथा दूसरे सरकारी माध्यमों की अन्य कार्यवाहियों तक विस्तीर्ण है। तथापि, न्यायिक पुनरीक्षण संविधान संशोधनों के सम्बन्ध में विशेषकर महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद रहा है। अनुच्छेद 368 के तहत, संविधान में संशोधन संसद द्वारा किए जा सकते हैं। परन्तु अनुच्छेद 13 कहता है कि राज्य ऐसा कोई कानून नहीं बनाएगा जो मौलिक अधिकारों का हनन अथवा संक्षेपण करता हो और इस नियम का उल्लंघन करता बनाया गया कोई भी कानून अमान्य होगा। प्रश्न है कि क्या संविधान का संशोधन राज्य द्वारा बनाया गया एक कानून है? क्या मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण करता कोई कानून असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है? भारत के एक गणतंत्र बन जाने के बाद लगभग दो दशकों तक न्यायपालिका के सामने यह एक पहेली रही।

आरम्भिक वर्षों में, न्यायालय कहा करते थे कि संविधान में कोई संशोधन अनुच्छेद 13 के अभिप्राय से कानून नहीं है और इस कारण, यदि इसने किसी मौलिक अधिकार की उपेक्षा भी की है, इसे अमान्य करार नहीं दिया जाना चाहिए। परन्तु 1967 में, प्रसिद्ध गोलक नाथ केस में, सर्वोच्च न्यायालय ने एक पूर्णरूपेण विपरीत स्थिति अंगीकार की। यह कहा गया कि संविधान में कोई भी संशोधन कानून है और यदि संशोधन ने किसी मौलिक अधिकार का उल्लंघन किया है, इसे असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है। पूर्ववर्ती वे सभी संशोधन जो सम्पत्ति के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करते थे, असंवैधानिक पाए गए। जब कोई कानून एक लम्बे समय तक प्रभाव में रहता है, यह स्वयं स्थापित हो जाता है और समाज द्वारा उसका अनुपालन किया जाता है। यदि पिछले सभी संशोधन अवैध घोषित कर दिए जाते हैं, उन कार्यविवरणों की संख्या जो उन संशोधनों के अनुसरण में हुए, डाँवाडोल हो जाती है। यह बात आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था में अस्तव्यस्तता की ओर उन्मुख करेगी। इस स्थिति से बचने के लिहाज से और वास्तव में, कार्यविवरणों को कायम रखने के उद्देश्य से, पूर्व संशोधन अवैध बता दिए गए। सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट किया कि भविष्य में मौलिक अधिकारों के पूर्णरूपेण विपरीत कोई भी कार्यविवरण अथवा संशोधन अवैध होगा। पुराने कार्यविवरणों को वैध और भावी कार्यविवरणों को अवैध मानने की तकनीक को पुरोलक्षी प्रत्यादेश कहा जाता है। न्यायालय ने यह भी कहा कि संशोधनों वाले अनुच्छेद 368 में संविधान संशोधित करने की शक्ति निहित नहीं है, बल्कि वह केवल संशोधन करने की प्रक्रिया तय कर सकता है। इस व्याख्या ने मुश्किल पैदा कर दी। जब कभी भी संविधान के एक प्रावधान विशेष को संशोधित करने की आवश्यकता होती है, यदि इस संशोधन का मौलिक अधिकारों पर प्रभाव पड़ता है, ऐसा करना असंभव होगा।

1970 में, जब सर्वोच्च न्यायालय ने श्रीमती इंदिरा गाँधी के जनवादी कदमों में से कुछ को आघात पहुँचाया, जैसे कि भूतपूर्व राजाओं के प्रीवी पर्स का उन्मूलन और बैंकों का राष्ट्रीयकरण, प्रधानमंत्री महोदया ने संसद की सर्वोच्चता का दावा करना शुरू कर दिया। 1971 के आम चुनावों में दो-तिहाई बहुमत हासिल करने के बाद, वह अपनी इच्छाओं को कार्यरूप देने में सक्षम थीं। 1972 में संसद ने 25वाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया जिसने उस स्थिति में मौलिक अधिकारों के अतिक्रमण हेतु विधायिका को स्वीकृति दी दी, यदि वह राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांतों को कार्यरूप देने में अनुसारी बताया जाता है। किसी भी न्यायालय को ऐसी घोषणा पर प्रश्न करने की

अनुमति नहीं थी। 28वें संशोधन अधिनियम ने भारतीय राज्यों के भूतपूर्व शासकों को स्वीकृत मान्यता समाप्त कर दी और उनके प्रीवी पर्स समाप्त कर दिए गए।

इन संशोधनों को 1973 के प्रसिद्ध केशवानन्द भारती केस (अन्यथा मौलिक अधिकार केस के रूप में विदित) में सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गई। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि जबकि, संसद संविधान द्वारा प्रत्याभूत मौलिक अधिकारों को भी संशोधित कर सकती है, वह संविधान के 'मूल प्राधार' अथवा 'ढाँचे' को परिवर्तित करने में सक्षम नहीं है। 'मूल प्राधार' के नवोद्भूत सिद्धांत के तहत, संविधान में कोई संशोधन तभी वैध है यदि वह संविधान के मूल प्राधार की प्रभावित नहीं करता है। अनुच्छेद 31-सी का दूसरा भाग [अनुच्छेद 39 (बी) और (सी) में दिए गए निदेशक सिद्धांतों को लागू करने हेतु किसी घोषणा वाले किसी कानून पर कोई भी प्रश्न नहीं किया जाएगा] वैध नहीं ठहराया गया क्योंकि इस संशोधन ने न्यायिक पुनरीक्षण हेतु वह अवसर छीन लिया था जो संविधान के मूल अभिलक्षणों में से एक है। मूल अभिलक्षणों के सिद्धांत ने न्यायिक पुनरीक्षण के अधिकार को व्यापक विस्तीर्णता प्रदान की।

बाद का इतिहास संविधान संशोधनों के पुनरीक्षण में इस सिद्धांत द्वारा निभाई गई महत्त्वपूर्ण भूमिका को दर्शाता है। प्रधानमंत्री के पद पर आसीन किसी व्यक्ति के संसदीय चुनाव को चुनौती देने के लिए, 39वें संविधान संशोधन ने एक भिन्न प्रक्रिया बुझाई। चुनाव को केवल संसद द्वारा बनाए गए विशेष कानून के अधीन ही एक प्राधिकरण के समक्ष चुनौती दी जा सकती है और इस प्रकार के किसी कानून की वैधता पर प्रश्न में विचार नहीं किया जाएगा। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि यह संशोधन अवैध था क्योंकि यह संविधान वे निष्पक्ष चुनाव अनिवार्य हैं और किसी प्रत्याशी विशेष के चुनाव की निष्पक्षता की न्यायिक जाँच को निकाल देना उचित नहीं है और यह लोकतंत्र के उस आदर्श के विरुद्ध जाता है जो हमारे संविधान का आधार है।

एक परवर्ती केस, मिनर्वा मिल केस, में सर्वोच्च न्यायालय एक कदम और आगे बढ़ा। 1976 के 42वें संविधान संशोधन ने, अन्य बातों के लोच, न्यायिक पुनरीक्षण को किसी संविधान संशोधन से परे रखते हुए, अनुच्छेद 368 में एक उपवाक्य जोड़ा था। उक्त न्यायालय ने कहा कि न्यायिक पुनरीक्षण के सिद्धांत संविधान के एक मूल अभिलक्षण, के विरुद्ध था।

न्यायिक पुनरीक्षण पर प्रतिबंधों में से एकं अधिस्थिति का सिद्धांत रहा है। इसका अर्थ है कि केवल वही व्यक्ति जो किसी प्रशासनिक कार्यवाही द्वारा अथवा कानून के किसी अन्यायपूर्ण प्रावधान द्वारा व्यथित है, क्षतिपूर्ति हेतु न्यायालय जाने का अधिकारी होगा। 1982 में, तथापि, सर्वोच्च न्यायालय ने एशियाई खेलों के निर्माण-कर्मियों के लोकतांत्रिक अधिकारों पर एक निर्णय में 'लोकतांत्रिक अधिकार जनसंघ' को जनहित वाद (चाचिका) का अधिकार प्रदान किया। उस पत्रात्मक क्षेत्राधिकार का सहारा लेते हुए, जिसके तहत संयुक्त राज्य सर्वोच्च न्यायालय ने एक क़ैदी की ओर से मिले पोस्ट-कार्ड को याचिका माना था, भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि 'जन भावना से ओतप्रोत' कोई भी व्यक्ति या संगठन एक पत्र लिखकर भी न्यायालय जा सकता है। 1988 में, सर्वोच्च न्यायालय ने 'याचिका' के रूप में लिए जाने वाले मामलों को निरूपित किया। ये श्रेणियाँ हैं : बँधुआ मज़दूरों, उपेक्षित बच्चों से संबंधित मामले, क़ैदियों से याचिका, पुलिस के विरुद्ध याचिका, महिलाओं, बच्चों, अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों पर न शंसता के विरुद्ध याचिका, पर्यावरणीय मामले, दवाओं व खाद्य-पदार्थों में मिलावट, विरासत व संस्कृति का अनुरक्षण तथा जनहित के ऐसे ही अन्य मामले।

जब से जनहित याचिका का अधिकार मिला है, जो कि कुछ लोग भारत की जनता के पास एकमात्र बड़ा लोकतांत्रिक अधिकार होने, और संसद नहीं बल्कि न्यायपालिका प्रदत्त होने का दावा करते हैं,

अदालतें 'याचिकाओं' से भर गई हैं। जबकि ऐसे वाद (मुकदमों) की बाढ़ लोकतांत्रिक अधिकारों के वंचित दशा की व्यापक प्रकृति को दर्शाती है, वे उन न्यायालयों पर दवाब बढ़ने के खतरे को भी सामने रखते हैं जो पहले ही अतिभारित हैं।

12.8 न्यायिक सुधार

न्याय के प्रयोग के विरुद्ध सर्वाधिक आश्चर्यजनक निरनुमोदन है – लम्बित मामलों की विशाल संख्या और न्याय अवसर्जन में विलम्ब। नब्बे के दशकारम्भ में, विभिन्न अदालतों में दो करोड़ से अधिक मामले लम्बित थे। मामलों की बड़ी संख्या के अम्बार का कारण न्यायपालिका में प्राधारात्मक तथा प्रक्रियात्मक दोषों को माना जा सकता है। न्यायिक सोपान के विभिन्न चरणों पर बहुविधि उपायों की उपलब्धता भी न्यायिक प्रणाली के दुरुपयोग करने का अम्बार लगने के साथ-साथ अवसर्जन में विलम्ब की ओर भी प्रवृत्त करती हैं।

न्याय प्रणाली की अन्य कमज़ोरी है – क्लेश-प्रद क्रियाप्रणालियाँ और न्याय की अप्रीतिकर लागत। एक नई व्यवस्था साधिक करने और आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक न्याय के लिए न्यायिक सुधारों हेतु सुझाव आए हैं।

वास्तव में, दसवें विधि आयोग ने न्यायिक सुधारों हेतु सुझाव आमंत्रित किए थे। एक सुझाव भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का कार्यभार कम करना था, जो प्रतिवर्ष लगभग एक लाख रुपये मामले स्वीकार करता है (जबकि संयुक्त राज्य सर्वोच्च न्यायालय, पाँच हज़ार पंक्तिबद्ध में से केवल 100 से 150 केस ही स्वीकार करता है)। सर्वोच्च न्यायालय का कार्यभार घटाने के सुझावों में एक था– संवैधानिक मामलों के साथ अनन्य रूप से निबटने के लिए एक संवैधानिक न्यायालय की स्थापना करना, और दूसरा था – देश में क्षेत्रीय पुनरावेदन न्यायालय की स्थापना करना।

बोध प्रश्न 3

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) 1973 के केशवानन्द भारती केस का क्या महत्त्व है?

.....

.....

.....

.....

2) जनहित वाद (याचिका) क्या है?

.....

.....

.....

.....

12.9 सारांश

जैसा कि हमने देखा, भारत में विद्यमान न्याय-प्रबंध ब्रिटिश काल से ही तलाशा जा सकता है। चार्ल्स द्वितीय (1661) का रॉयल चार्टर, 1973 का रेग्यूलेटिंग एक्ट, 1861 का इंडियन हाई कोर्ट्स एक्ट और 1935 का एक्ट भारत में आधुनिक न्याय-प्रणाली के उद्भव में महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर है। भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय की अभिकल्पना कानून के उच्चतम न्यायालय के रूप में की है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित कानून सभी छोटे न्यायालयों पर बाध्यकर बनाया गया है, यथा उच्च न्यायालयों तथा अधीनस्थ न्यायालयों पर।

न्यायपालिका का महत्त्व संघीय न्यायालय की भाँति और नागरिकों के मौलिक अधिकारों के एक अभिभावक की भाँति तय कर, भारतीय संविधान के निर्माताओं ने न्यायालयों की स्वतंत्रता और न्यायिक पुनरीक्षा जैसे विषयों पर बड़ा ही ध्यान दिया है।

न्यायिक पुनरीक्षा एक तकनीक है जिसके द्वारा न्यायालय विधायिका, कार्यपालिका व अन्य सरकारी अभिकर्त्ताओं के कार्यों की जाँच करते हैं और निश्चित करते हैं कि क्या ये कार्य वेध हैं और संविधान द्वारा तय मर्यादाओं के भीतर हैं अथवा नहीं। न्यायिक पुनरीक्षा का आधार है : (अ) कि संविधान एक वैधानिक प्रपत्र है और (आ) कि यह कानून उस विधायिका द्वारा बनाये गए कानूनों से पद में बड़ा है जो स्वयं ही संविधान द्वारा स्थापित है। अब यह भारत में भली-भाँति प्रमाणित हो चुकी है कि न्यायिक पुनरीक्षा में भारतीय संविधान का मूल प्राधार अथवा अभिलक्षण निहित है।

12.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कृपाल, बी.एन., देसाई, सुब्रह्मण्यम, व अन्य (सं.), *सुप्रीम बट नॉट इन्फैलिबल : एस्सेज़ इन ऑनर ऑव दि सुप्रीम कोर्ट ऑव इण्डिया*, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2002।

बक्शी, उपेन्द्र, *सोसिऑलजि ऑव लॉ*, सातवाहन, 1976।

बाबू, डी.डी., *लिमिटिड गवर्नमेण्ट एण्ड जुडीशिल रिव्यू*, 1972।

लिन्गैट, रॉबर्ट, *दि क्लासीकल लॉ ऑव इण्डिया*, जे.डी.एम. डिरेट द्वारा अनुदित, थॉम्सन प्रैस, नई दिल्ली, 1973

स्टोक्स, एरिक, *दि इंग्लिश यूटिलिटेरिअन एण्ड इण्डिया*, कैम्बिज, लन्दन, 1959।

12.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किया जाने वाला व्यक्ति भारत का नागरिक हो, कम-से-कम पाँच वर्ष किसी उच्च न्यायालय में न्यायाधीश रहा हो, कम-से-कम दस वर्ष उच्च न्यायालय का अधिवक्ता रहा हो अथवा एक विशिष्ट विधिवेत्ता रहा हो।

2) केवल मौलिक अधिकार ही नहीं वरन् एक सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश दुराचार अथवा अक्षमता के कारण हटाया जा सकता है, संसद के प्रत्ययिक सदन को उपस्थित और मतदान करते दो-तिहई सदस्यों द्वारा समर्थित पारित किया करना होता है।

बोध प्रश्न 2

1) यह मौलिक अधिकारों के एक अभिभावक के रूप में और यह संघीय न्यायालय के रूप में, मूल क्षेत्राधिकार रखता है। एक संघीय न्यायालय के रूप में, इसके पास संघ तथा एक राज्य के बीच अथवा एक राज्य तथा अन्य राज्य के बीच, अथवा राज्यों के बीच विवादों में अनन्य क्षेत्राधिकारी है।

2) किसी भी कानूनी अधिकार को अमल करने में लाने के लिए।

बोध प्रश्न 3

1) सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के मूल प्राधार अथवा अभिलक्षणों को सिद्धांत उद्‌भूत किए जिन्होंने न्यायिक पुनरीक्षा के अधिकार को व्यापक विस्तीर्णता प्रदान की।

2) जनहित याचिका एक लोकतांत्रिक अधिकार है जो किसी भी 'जनभावना से ओतप्रोत' व्यक्ति अथवा संगठन को राज्य तथा समाज-बल पीड़ितों की ओर से न्याय माँगने हेतु न्यायालय जाने की मत स्वीकृति देता है।

इकाई 13 नौकरशाही

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 अर्थ एवं संकल्पना

13.3 अभिलक्षण

- 13.3.1 पदानुक्रम
- 13.3.2 आदेश-शृंखला
- 13.3.3 नियमों-विनियमों के प्रति निष्ठा
- 13.3.4 निर्वैयक्तिक/निर्मुख तथा अराजनैतिक

13.4 इतिहास

- 13.4.1 भारत की स्वाधीनता तथा नौकरशाही

13.5 भरती हेतु वैधानिक निकाय तथा अन्य संबंधित बातें

- 13.5.1 संघ लोक सेवा आयोग (यू०पी०एस०सी०)
- 13.5.2 वंचित वर्गों के लिए विशेष प्रावधान
- 13.5.3 आरक्षण नीति पर विवाद
- 13.5.4 राज्य लोक सेवा आयोग (एस०पी०एस०सी०)

13.6 स्वतंत्रोत्तर नौकरशाही – भूमंडलीकरण के आरंभ तक

- 13.6.1 1967 के राज्य विधानसभा चुनाव : एक जलभंजक
- 13.6.2 काँग्रेस पार्टी के भीतर मंथन
- 13.6.3 एक दृढ़-प्रतिज्ञ नौकरशाही की धारणा
- 13.6.4 नौकरशाह–राजनीतिज्ञ–व्यवसायी अंतर्संबंध

13.7 भूमंडलीकरण के युग में भारतीय नौकरशाही

- 13.7.1 भारतीय नौकरशाही की प्रवृत्ति

13.8 नौकरशाही से जुड़े कुछ विवाद/समस्याएँ

- 13.8.1 मंत्राल्य बनाम लोक सेवक
- 13.8.2 सार्वजन बनाम विशेषज्ञ
- 13.8.3 अल्पसंख्यकों का अपर्याप्त-प्रतिनिधित्व

13.9 सारांश

13.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में नौकरशाही पर चर्चा की गई है, विशेषकर भारत के प्रसंग में। इस इकाई के पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- नौकरशाही का अर्थ स्पष्ट कर सकें और उसके विशिष्ट लक्षणों पर चर्चा कर सकें;
- भारत में नौकरशाही के उद्‌भव को तलाश सकें;
- संघ लोक सेवा आयोग (यू०पी०एस०सी०) जैसी नौकरशाह भरती के वैधानिक निकायों के संयोजन, स्वभाव तथा कार्यप्रणाली पर चर्चा कर सकें;
- स्वतंत्रोत्तर भारत में भूमंडलीकरण के आरंभ होने तक नौकरशाही की प्रवृत्ति तथा कार्यप्रणाली का वर्णन कर सकें; और
- नौकरशाही पर भूमंडलीकरण के प्रभाव की चर्चा कर सकें।

13.1 प्रस्तावना

नौकरशाही सरकार की कार्यकारी भुजा है। सरकार के अंगों पर पारंपरिक शास्त्रीय साहित्य में हम विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का अध्ययन करते हैं जहाँ नौकरशाही को कार्यपालिका (जिसमें राजनीतिक संस्थापन तथा नौकरशाही आते हैं) में सम्मिलित माना जाता है। अब, हम पाते हैं कि नौकरशाही को पृथक् रूप से लिया जाता है और यह संकेत है कि इसके बढ़ते महत्त्व का। इस इकाई में हम भारत के विशेष प्रसंग के साथ नौकरशाही को स्पष्ट करेंगे।

13.2 अर्थ एवं संकल्पना

आप में से अधिकांश 'ब्यूरो' शब्द से परिचित होंगे, जिसका अर्थ है कार्यालय। 'नौकरशाही' या 'दफ़्तरशाही' इसी से निकले हैं। सारतत्त्वतः, नौकरशाही उन व्यक्तियों का एक संगठित निकाय है जो कार्यालयी प्रक्रियाओं, नियमों तथा विनियमों का पालन करते हैं। नौकरशाही को लोकप्रचलित रूप से सरकारी पदाधिकारी कहा जाता है। सामान्यतः, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जब कोई नौकरशाही की बात करता है, वह **असैनिक** नौकरशाही की बात करता है जिसे असैनिक सेवाएँ भी कहा जाता है (उस अर्थ में जिसमें नौकरशाही को इस इकाई में लिया गया है)। इस मुख्य बिंदु का उल्लेख इसलिए किया जा रहा है क्योंकि सेना में भी एक नौकरशाही होती है और समष्टिगत विश्व में भी एक होती है। वस्तुतः, नौकरशाही हरेक संस्थान में होती है। इसी कारण, इस तथ्य पर ही ध्यान केंद्रित किया जाना आवश्यक है कि इस पाठ में, जब हम नौकरशाही का उल्लेख करें, हम असैनिक नौकरशाही (असैनिक सेवाओं) को ही अपने मस्तिष्क में रखें।

13.3 अभिलक्षण

नौकरशाही कहीं भी हो, उसके कुछ पूर्ण साक्ष्ययुक्त लक्षण होते हैं। विकल्पतः, कोई संगठन नौकरशाह है यदि उसके ये अभिलक्षण हैं। कुछ सुपरिचित अभिलक्षण हैं : i) पदानुक्रम, ii) आदेश-शृंखला, iii) नियमों-विनियमों के प्रति निष्ठा, iv) निर्वैयक्तिक/निर्मुख तथा अराजनैतिक, v) उद्‌देश्य विशेष को लेकर बनाए गए वैधानिक निकायों के माध्यम से भरती इत्यादि। इन अभिलक्षणों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया गया है। हम यहाँ कहना चाहेंगे कि ये अभिलक्षण, सामान्यतौर पर, परस्पर रूप से अनन्य नहीं परंतु एक-दूसरे तक फैले हैं।

13.3.1 पदानुक्रम

अनिवार्यतः, नौकरशाही पदानुक्रमिक होती है। यह पद-स्थान पर आधारित होती है। प्रत्येक पद अथवा स्थिति किसी के अधीनस्थ होती है और किसी अन्य से उच्चस्थ। नीचे से ऊपर तक,

सामान्यत:, एक पिरैमिडी प्राधार बनता है जिसमें निचले पद तले पर संघनित होते हैं और उच्चतर पद शीर्ष पर।

13.3.2 आदेश-शृंखला

यह अभिलक्षण उपर्युक्त लक्षण से अंतरंगता से जुड़ा है। किसी भी पदानुक्रमिक निकाय में, अधस्तल से शीर्ष तक प्रवाहित एक आदेश-शृंखला होती है। सामान्यत:, आदेश-शृंखला को तोड़ा नहीं जाता है। भारतीय प्रसंग से एक उदाहरण देने के लिए, दिल्ली में केंद्रीय सरकार के एक विभाग में, आदेश-शृंखला इस प्रकार है :

सचिव → अतिरिक्त सचिव → संयुक्त सचिव → उप-सचिव →

अवर सचिव → विभागाधिकारी → अन्य निचले पद।

13.3.3 नियमों-विनियमों के प्रति निष्ठा

नौकरशाहियों का निरंतर एक श्रेष्ठ अभिलक्षण रहा है – नियमों तथा विनियमों के प्रति उनकी दृढ़ निष्ठा। इसने वस्तुत: 'नौकरशाह' विशेषण की ओर अग्रसर किया है जो नियमों, विनियमों तथा प्रक्रियाओं पर अत्यधिक ज़ोर देने वाले किसी भी व्यक्ति/संगठन के लिए गढ़ा गया है।

13.3.4 निर्वैयक्तिक/निर्मुख तथा अराजनैतिक

नौकरशाही निर्वैयक्तिक मानी जाती है। इसका मूल रूप से अर्थ है कि एक नौकरशाह से आशा की जाती है कि वह विभिन्न नीतिगत उपायों तथा दिशा-निर्देशों को लागू करने की प्रक्रिया में नियमों तथा विनियमों का पालन करते समय निष्पक्ष (न कि आत्मपरक) विचार से परिचालित होगा। दूसरे शब्दों में, एक नौकरशाह अथवा एक असैनिक सेवाकर्मी अथवा एक सरकारी पदाधिकारी – हम उसे किसी भी नाम से पुकारना पसंद करें – उससे ऐसी आशा की जाती है कि अपने कार्यालयी कर्त्तव्यों का निर्वहन करते समय वह अपने व्यक्तिगत वहमों तथा भ्रान्तियों, पूर्वग्रहों तथा पूर्वधारणाओं द्वारा परिचालित नहीं होगा।

जहाँ तक 'निर्मुख' पहलू का संबंध है, आप शायद इस तथ्य से अवगत होंगे कि कोई भी असैनिक नौकरशाही राजनीतिक कार्यकारिणी की अधीनस्थ होती है। राजनीतिक नेतृत्व का मुख होता है, जबकि नौकरशाही पर्दे के पीछे काम करती है। ऐसा वस्तुत: हमेशा नहीं होता परन्तु इसकी परिकल्पना ऐसे ही की गई है।

नौकरशाह को यथार्थ अराजनीतिक भी माना जाता है। यह मूल रूप से यह दर्शाता है कि यह नौकरशाह को अपनी कोई निजी राजनीतिक कार्य-सूची नहीं रखनी होती है, बल्कि समसामयिक सरकार नीतियों को निष्ठापूर्वक लागू करना होता है। इसका एक दूसरा और संभवत: अधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ भी है, और वह है : एक असैनिक सेवाकर्मी की स्वामिभक्ति और वचनबद्धता देश के संविधान के प्रति होनी चाहिए, न कि किसी भी राजनीतिक दल, राजनीतिज्ञ, आदि के प्रति।

बोध प्रश्न 1

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) नौकरशाही से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) नौकरशाही के विशिष्ट लक्षण गिनाएँ और किन्हीं दो अभिलक्षणों की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

13.4 इतिहास

अतीत काल से ही नौकरशाही एक न एक रूप में विद्यमान रही है। प्राचीन भारत में जब राजतंत्र ही सरकार का प्रबल स्वरूप था, दरबारियों की विभिन्न श्रेणियाँ ही नौकरशाही को संघटित करती थीं। एक स्वतंत्र, वैधानिक निकाय द्वारा संचालित एक निर्बन्ध सार्वजनिक प्रतियोगिता परीक्षा के माध्यम से भरती किए गए व्यक्तियों के एक निकाय के अर्थ में आधुनिक नौकशाही का श्रेय चीन जन गणतंत्र (पी.आर.सी.) को जाता है।

भारत में नौकरशाही जैसा कि हम इसे आज जानते हैं, को जन्म देने को श्रेय लॉर्ड कॉर्नवालिस को जाता है। भारतीय सिविल सेवा (आई.एस.सी.) उसी के द्वारा उठाये गए कदमों की पराकाष्ठा थी। इस सेवा के साथ-साथ औपनिवेशिक नौकरशाही की शाखाओं में, आरम्भ में, भारतीय सिर्फ निचले सोपानकों में रखे जाते थे। वे वस्तुत: उच्च स्थानों पर आसीन होने से रोके जाते थे 1850 के दशकोपरांत से, उच्च पदों के द्वार भारतीयों के लिए खोल दिए गए और उनमें से अनेक ने अपनी छाप छोड़ी। अन्य जिन्होंने आई.सी.एस. में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई, में सुभाषचन्द्र बोस, के. पी.एस. मेनन वरिष्ठ, टी.एन. कौल के नाम लिए जा सकते हैं। उनमें से कुछ तो वस्तुत: स्वतंत्रोत्तर भारत में एक निर्णायक भूमिका निभाने तक गए।

यह, बहरहाल, हमेशा याद रखा जाना चाहिए कि आई.सी.एस. अनिवार्यत: एक औपनिवेशिक उपज थी जो औपनिवेशिक हित साधने का ही इरादा रखती थी। यद्यपि आई.सी.एस. में भारतीय अक्सर 'देशवासियों' (भारतीय जनसाधारण) के प्रति सहानुभूति रखते थे, सामान्यत: वे अपने औपनिवेशिक स्वामियों की लय पर चलते थे। यह इसी कारण था कि ब्रिटिश शासन से आज़ादी हेतु लड़ रहा राष्ट्रवादी नेतृत्व उस 'ब्रिटिश साम्राज्य के लौह ढाँचे' द्वारा निभाई जा रही भूमिका का कटु आलोचक था, जो आई.सी.एस. (स्वर्गजात सेवा के नाम से भी विख्यात) का लोकप्रिय नाम था। जवाहरलाल नेहरू, विशेषत: इसके कट्टर आलोचक थे।

भारत में औपनिवेशिक नौकरशाही मुख्यत: जो कर्त्तव्य निभाती थी उन्हें 'अनुरक्षण' कार्य कहा जाता है, नामत:, कानून एवं व्यवस्था बनाए रखना, कर/राजस्व वसूली, आदि। विकासात्मक प्रशासन की संकल्पना का तब कोई अधिक प्रचार नहीं था। सिद्धांतत:, नौकरशाही एक पुलिसिया/कर-वसूली कार्यप्रणाली थी और एक नागरिक-मैत्र्य प्रशासन की भूमिका से हटकर बहुत दूर थी। औपनिवेशिक नौकरशाही को ब्रिटिशों द्वारा कई बार स्वतंत्रता आन्दोलन को कुचलने के लिए लगाया गया। भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय यही विस्तृत परिदृश्य था।

13.4.1 भारत की स्वाधीनता तथा नौकरशाही

भारत की स्वतंत्रता की ओर अग्रसर उस काल में, जहाँ तक नौकरशाही का सम्बन्ध है, प्रचलित हो रही स्थिति का ही वर्णन ऊपर किया गया है। ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, हस्तगत बड़ा मुद्दा था – किस प्रकार की असैनिक नौकरशाही नए-नए स्वतंत्र देश को रखनी चाहिए; यथा किस प्रकार का ढाँचा, भरतीय विधि तथा अन्य संबंधित प्रश्न/तत्कालीन आई.सी.एस. में भारतीय अफसरों की नियुक्ति जैसे कष्टकर विषय भी सामने थे। ये मुद्दे निम्न तरीके से सुलझाए गए : आई. सी.एस. की अपनी आलोचना के बावजूद, स्वतंत्रोत्तर नेतृत्व ने उन भारतीय अफसरों को 15 अगस्त 1947 के पश्चात् गठित असैनिक नौकरशाही में बने रहने दिया, जिनके सेवा-वर्ष अभी शेष थे। तथापि, नवगठित भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई.ए.एस.) – आई.सी.एस. की उत्तरवर्ती – में समाहित किए जाने की बजाय इन अफसरों में से कुछेक सीधे उस दूसरी नवगठित केन्द्रीय सरकार सेवा, नामत: आई.एफ.एस. (भारतीय विदेश सेवा) में अलग कर लिए गए जिसको भारत की गुटनिरपेक्ष विदेश-नीति को कार्यरूप देना था। उदाहरण के लिए, के.पी.एस. मेनन ज्येष्ठ तथा टी. एन. कौल ने विदेश सेवा कार्यग्रहण किया और विशिष्ट सेवा प्रदान करने हेतु विदेश गए।

जहाँ तक भरती का संबंध है, पूर्व की ही भाँति यह एक स्वतंत्र, स्वायत्त वैधानिक निकाय द्वारा आयोजित एक खुली प्रतियोगितात्मक परीक्षा के माध्यम से होनी थी। इसको संघ लोक सेवा आयोग (यू.पी.एस.सी.) बनना था जिसका मुख्यालय दिल्ली, देश की राजधानी में होना तय हुआ।

बोध प्रश्न 2

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) औपनिवेशिक काल के दौरान भारतीय नौकरशाही की प्रकृति पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.5 भरती हेतु वैधानिक निकाय तथा अन्य संबंधित बातें

13.5.1 संघ लोक सेवा आयोग (यू०पी०एस०सी०)

संघ लोक सेवा आयोग अथवा इसका लोकप्रिय अंग्रेजी संक्षिप्त रूप प्रयोग करें तो यू.पी.एस.सी., विभिन्न केन्द्रीय सरकार सेवाओं हेतु कर्मचारीगण (अधिकारी व अन्य पद) की भरती करने के लिए संविधान द्वारा बनाया गया एक स्वायत्त निकाय है। इस प्रकार, यह न सिर्फ़ वार्षिक असैनिक सेवा परीक्षा (आई.ए.एस., आई.एफ.एस., आई.पी.एस. समवर्गी सेवाएँ समूह अ तथा ब हेतु) आयोजित करता है बल्कि भारतीय वन सेवा, भारतीय आर्थिक सेवा तथा भारतीय अभियांत्रिकी सेवा जैसी अन्य केन्द्रीय – सरकार सेवाओं हेतु भी परीक्षाएँ आयोजित करता है। वास्तव में, यू.पी.एस.सी. भरती न सिर्फ़ असैनिक नौकरशाही हेतु आयोजित करता है, बल्कि देश की रक्षा सेवाओं हेतु भी करता है। इस प्रकार, यह राष्ट्रीय रक्षा अकादमी (एन.डी.ए.) तथा भारतीय सैन्य अकादमी (आई.एम.ए.) हेतु भी परीक्षाएँ आयोजित करता है। संघ लोक सेवा आयोग 1947 से ही विभिन्न परीक्षाएँ आयोजित करता आ रहा है। यह वस्तुत: भरती के लिए ही उत्तरदायी नहीं है, बल्कि यह भरती हो चुके कर्मचारीगण के सभी पेशागत मामलों के संबंध में एक सलाहकारी निकाय के रूप में भी कार्य करता है।

13.5.2 वंचित वर्गों के लिए विशेष प्रावधान

यह महत्त्वपूर्ण रूप से उल्लेखनीय है कि जहाँ तक भारत में नौकरशाह पदों में भरती का सबंध है, समाज के वंचित वर्गों हेतु पदों की एक निश्चित प्रतिशतता के आरक्षण हेतु प्रावधान है। इस प्रकार, स्वतंत्रता के उदय से ही, 22.5% पद अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित कर दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त, मण्डल आयोग की सिफ़ारिशें लागू होने के समय से 27% पद अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षित कर दिए गए हैं।

साथ ही, भिन्न-भिन्न राज्य सरकारों ने सरकारी नौकरियों के लिए अपने-अपने राज्यानुसार आनुपातिक भाग (क़ोटा) निर्धारित किए हुए हैं। कुछ दक्षिण भारतीय राज्यों – कर्नाटक तथा तमिलनाडु, उदाहरणार्थ – को हमेशा से बहुत ऊँचा कोटा मिलता रहा है जिसके लिए ऐतिहासिक तथा सामाजिक-राजनीतिक कारण रहे हैं।

13.5.3 आरक्षण नीति पर विवाद

आरक्षण की नीति जो सकारात्मक कार्यवाही के सिद्धांत पर आधारित है, आरम्भ से ही विवादास्पद रही है। जबकि इसको हमेशा उन वर्गों का समर्थन मिला है जिनके लिए यह बनी थी, अन्य लोग इसको इतनी अच्छी तरह मनस्थिति में नहीं ला सके हैं। जबकि इस वर्ग ने किसी प्रकार स्वयं को अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों हेतु आरक्षण की ओर से संतुष्ट कर लिया, इसको मण्डल आयोग की सिफारिशों की घोषणा के बाद इसी प्रकार की सुविधा अन्य-पिछड़ी-जातियों हेतु भी स्वीकार करना मुश्किल हो गया। यह इस कारण है क्योंकि यह महसूस किया गया कि अन्य-पिछड़ी-जातियों का कोई धर्मसम्मत सामाजिक दमन का इतिहास नहीं है जैसा कि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों, विशेषकर अनुसूचित जातियों का है। इस दलील में अच्छाई है, परन्तु आज ये सिफ़ारिशें स्थायी बन चुकी हैं और यथापूर्व स्थिति में परिवर्तन यदि असंभव नहीं तो बहुत दूर अवश्य है। वस्तुत:, भूमण्डलीकरण के चलते जबसे सरकारी नौकरियाँ उत्तरोत्तर घटती जा रही हैं, जब समाज के उपांत वर्गों के लिए निजी/नैगम क्षेत्र में नौकरियाँ आरक्षित करने की

चर्चा हो रही है। इस माँग ने, जो यद्यपि अभी तक मूर्तरूप प्राप्त नहीं है, आरक्षण से लाभान्वित और आरक्षित लीक से बाहर लोगों के बीच दरार और चौड़ी कर दी है।

13.5.4 राज्य लोक सेवा आयोग (एस०पी०एस०सी०)

भारतीय नौकरशाही की भरती के सम्बन्ध में हमारी बात राज्य लोक सेवा आयोगों के प्रसंग बिना पूरी नहीं होगी। जैसा कि नितान्त नामावली ही दर्शाती है, एक राज्य लोक सेवा आयोग राज्य स्तर पर सरकारी सेवा हेतु भरती के लिए जिम्मेवार होता है। संगठन तथा प्रकार्यात्मकता की भाषा में, राज्य लोक सेवा आयोग केन्द्र-स्तर पर यू.पी.एस.पी. से सम्बद्ध होते हैं। तथापि, प्रत्येयता की भाषा में, राज्य लोक सेवा आयोग और यू.पी.एस.पी. के बीच एक चौड़ी खाई है। आजकल बहुत-से राज्य लोक सेवा आयोग अपनी पक्षावलंबी, पूर्वाग्रहयुक्त तथा राजनीतिकृत प्रकार्यात्मकता के लिए सन्देह के घेरे में हैं। निश्चित रूप से, यह सत्य है कि राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्य, आमतौर पर राजनीतिक नैयुक्त हैं। और इसी कारण, कारण, बाहरी दवाबों की गुंजाइश योग्य हैं।

भरती आदि जैसे पहलुओं की जाँच करने बाद, हम भारत में स्वतंत्रता पश्चात् से लेकर भूमण्डलीकरण युग तक नौकरशाही का एक विहंगावलोकन कर सकते हैं। अनेक कारणों से भूमण्डलीकरण-पश्चात् युग को पृथक् रूप से लिया जाता है।

बोध प्रश्न 3

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) संघ लोक सेवा आयोग (यू.पी.एस.पी.) पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) आरक्षण नीति के संबंध में क्या विवाद है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.6 स्वतंत्रोत्तर नौकरशाही– भूमंडलीकरण के आरंभ तक

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् अधिकारी-वर्ग ने अपने राजनीतिक आकाओं की कार्यसूची को लागू करना शुरू कर दिया (जैसा कि अनुमान था वे करेंगे)। स्वतंत्रता की उपलब्धि का अनुसरण करते हुए, प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व वाली कांग्रेस ने सत्ता के सर्वाधिपत्य को अपना लिया। कांग्रेस पार्टी मुख्य तौर पर लोकतांत्रिक समाजवाद, धर्म-निरपेक्षवाद और गुट-निरपेक्षता (अपनी विदेश-नीति) के प्रति वचनबद्ध थी। नौकरशाही ने इसको लागू करना शुरू कर दिया। चूँकि देश सदियों के औपनिवेशिक शासन के बाद स्वतंत्र हुआ एक अनभिज्ञ, नया-नया स्वाधीन राष्ट्र था, प्रारम्भत: राष्ट्र-निर्माण के सम्बन्ध में राजनीतिक नेतृत्व के साथ-साथ नौकरशाही के बीच भी बड़ा उत्साह था। कुछ पदस्थ कुल कलंकों को छोड़कर, अधिकारीगण ने सामान्यत: व्यावसायिक तथा व्यक्तिगत आचार-व्यवहार के ऊँचे मानदण्डों का प्रदर्शन किया। वास्तव में, अब की भाँति तब भी, उनका 'बड़ा साहब' रवैया होता था परन्तु कदाचित् ही वे व्यावसायिक तथा व्यक्तिगत दुराचार (अब की भाँति) के दोषी होते थे। यद्यपि व्यावसायिक रूप से आगे बढ़ने की इच्छा व्याप्त थी, वैयक्तिक विवर्धन हेतु इच्छा दुर्लभ थी।

13.6.1 1967 के राज्य विधान सभा चुनाव : एक जलभंजक

वर्ष 1967 ने यथातथ्य भारतीय राजनीति व प्रशासन में एक जलभंजक को सूचित किया। यही वह वर्ष था जिसमें भारत की राजनीति पर कांग्रेस पार्टी की नियंत्रक पकड़ छूट गई। अनेक विधानसभा चुनावों में पहली बार सत्ता उसके हाथ से, बुनियादी रूप से स्वर्गीय प्रधानमंत्री चौधरी चरणसिंह द्वारा संगठित ग़ैर-दक्षिणपंथी ग़ैर-कांग्रेसी ताक़तों के हाथ चली गई। इसका राष्ट्रीय राजनीति पर और समाज पर बहुत बड़ा असर पड़ा। राजनीतिक वर्ग के साथ-साथ आम नागरिकगण ने भी जान लिया कि उस सर्वशक्तिसम्पन्न कांग्रेस पार्टी को हराया जा सकता है, जिसने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध भारत की लड़ाई की अगुवाई की थी। यह इससे पहले संभव नहीं था। इस तथ्य के उजागर होने से भारत की राजनीति, समाज तथा प्रशासन हेतु दूरगामी निहितार्थ थे। 1967 का प्रभाव अब इस काल में महसूस किया जा सकता है जिससे कि हम गुज़र रहे हैं।

राजनीतिक ताकतों का वह समर्थनाधार, जिससे कांग्रेस को एक तगड़ा चुनावी तथा मनोवैज्ञानिक झटका लगा और जो प्राय: चरणसिंह द्वारा समेकित था, में अनिवार्यत: अन्य-पिछड़ी-जातियाँ शामिल थीं। इन ताकतों को 1967 के चुनावों के बाद काफ़ी बढ़ावा मिला। आज नौकरशाही में उनके अच्छे-खासे प्रभावशाली प्रतिनिधित्व, मण्डल आयोग की सिफ़ारिशों की एक प्रशाखा, का संबंध 1967 के जलभंजक चुनावों से जोड़ा जा सकता है। वस्तुत:, उस मण्डल आयोग को स्थापित किया जाना, जिसने पिछले दशक में भारत की राज्य-व्यवस्था को इतने निर्णायक रूप से प्रभावित किया, स्वयं ही 1967 के विधानसभा चुनावों को देखते हुए उन्मुक्त सामाजिक-राजनीतिक ताकतों की बढ़ती शक्ति की एक स्वीकृति थी।

13.6.2 काँग्रेस पार्टी के भीतर मंथन

कांग्रेस के भीतर स्वयं ही एक बड़ा मंथन चल रहा था। तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिरागाँधी, जो 1966 में सत्ता सम्भालने के बाद से ही कांग्रेस के भीतर उसके पुराने रक्षक (सिंडिकेट) से एक कठिन समय का सामना कर रही थीं, ने अपनी स्थिति और अधिक कमज़ोर पायी। अपनी स्थिति के साथ-साथ पार्टी की भी स्थिति को पुनर्प्राप्त करने के लिए, उन्होंने तब ऐसे कदमों की एक शृंखला शुरू की जो भारत की राजनीतिक छवि के साथ-साथ उसके असैनिक नौकरशाही की दुनिया

भी जबर्दस्त रूप से बदल देते। सिंडिकेट को हाशिये पर धकेल कर 1969 में कांग्रेस पार्टी विभाजित हो गई। राष्ट्रपति चुनावों में पार्टी के अधिकृत नामांकित, नीलम संजीव रेड्डी पराजित हो गए जब श्रीमती गाँधी ने स्वयं ही वी.वी. गिरि को समर्थन दे डाला। बैंकों का राष्ट्रीयकरण तथा भारतीय राजाओं के प्रीवी पर्सों का उन्मूलन जैसे, भारतीय वामपंथ के प्रति इंदिरा गाँधी को प्रिय बनाते जनवादी क्रांतिक कदमों की एक शृंखला तत्पश्चात् आयी जिसने श्रीमती गाँधी व उनकी पार्टी को एक बाद फिर जनप्रिय बनाने में मदद की। तदोपरांत, 1971 में 'ग़रीबी हटाओ' के उनके नारे और भारत-पाक युद्ध में विजय ने श्रीमती गाँधी के तत्त्वावधान में कांग्रेस को भारी बहुमत से लोकसभा चुनाव जीतने में मदद की। इस प्रकार, चक्र पूर्ण परिधि चल आया। तथापि, बीच आए चार वर्षों ने एक दृढ़-प्रतिज्ञ नौकरशाही उभरने के जैसे नए विचारों की ओर अग्रसर किया।

13.6.3 एक दृढ़-प्रतिज्ञ नौकरशाही की धारणा

यह विचार सर्वाधिक आधारभूत रूप से आवश्यक बना दिया गया कि एक नौकरशाह सत्तारूढ़ राजनीतिक दल की नीतियों व कार्यक्रमों के प्रति शत-प्रतिशत दृढ़-प्रतिज्ञ होना चाहिए। विस्तारण द्वारा इसमें सत्ताधारक वैयक्तिक राजनीतिज्ञों के प्रति पूर्ण वचनबद्धता भी निहित हो गई। यह घटनाक्रम अनिवार्यतः कांग्रेस हलकों में इस विश्वास का परिणाम था कि 1967 में जिस चुनावी पराजय का पार्टी ने सामना किया था, इस तथ्य के कारण कोई छोटी हार नहीं थी कि असैनिक नौकरशाही ने पार्टी के कार्यक्रमों का श्रृद्धापूर्वक पालन नहीं किया था, जिससे मतदाता पार्टी से विमुख हो गए थे। इस तर्क की जो कुछ भी अच्छाइयाँ हों, एक दृढ़-प्रतिज्ञ नौकरशाही के विचार ने गतिमात्रा जुटाई और अन्ततोगत्वा, भारतीय जन प्रशासन का एक अंग एवं अंश बन गया।

इसके बड़े दूरगामी और बुनियादी रूप से नकारात्मक परिणाम हुए। एक बार जब उक्त विचार को विधिसंगतता मिल गई, नौकरशाहों ने अपने राजनीतिक आकाओं की कृपा-दृष्टि अर्जित करनी शुरू कर दी। वो, जिन्होंने अपने राजनीतिक आकाओं की विनती की, उन्हें मोटी तन्ख्वाह वाले पद दे दिए गए, जबकि वो, जो व्यावसायिक मताधारित एक स्वतंत्र लीक को पीटने में ही लगे रहे, दण्डित किए गए। दण्ड के कई प्रकार थे – मनचाहे स्थानांतरण, ग़ैर-महत्त्वपूर्ण विभागों पर नियुक्ति और कुछ मामलों में, नौकरी से हाथ धोना भी। पुरस्कार व दण्ड पद्धति आने वाले समय में संस्थानीकृत हो गई जिसके अंतर्गत असैनिक सेवाकर्मियों को राजनीतिज्ञों व पार्टियों के प्रति उनकी निष्ठा में व वचनबद्धता के आधार पर पुरस्कृत अथवा दण्डित किया जाने लगा, न कि उनके व्यवसायगत कार्य-निष्पादन के आधार पर। जैसा कि ऊपर इंगित है, एक अवधि के उपरांत, राजनीतिज्ञ-नौकरशाह अन्तर्सम्बन्ध दोनों ही पक्षों को अत्यधिक लाभ पहुँचाते एक सशक्त दल में विकसित हो गए, परन्तु विकास तथा नागरिक-मैत्र्य प्रशासन की संकल्पना पर एक आघात के द्योतन के साथ। यह वस्तुतः 'नौकरशाही का राजनीतिकरण' था जिसका रोना रोया जाना आजकल काफ़ी सुना जाता है।

13.6.4 नौकरशाह–राजनीतिज्ञ–व्यवसायी अंतर्संबंध

एक समान्तर – यद्यपि सर्वदा नहीं – विकास था - राजनीतिज्ञ तथा असैनिक सेवाकर्मी के अपवित्र संघ में व्यवसायियों की वृद्धि। विकास के उस लोकतांत्रिक समाजवादी, अथवा अधिक सटीक रूप से, नेहरूई समाजवादी ढाँचे में, जिसका भारत ने स्वतंत्रतापश्चात् अनुसरण किया, एक व्यवसाय शुरू करने के लिए आवश्यक प्रत्येक छोटी-बड़ी चीज़ के लिए सरकारी अनुमति अथवा अनुज्ञापत्र की आवश्यकता पड़ती थी। विवेकाधीन अधिकार नौकरशाह के पास होता था जो सम्बद्ध व्यवसायी प्रदत्त अनुग्रह के विरुद्ध अनुज्ञापत्र प्रदान कर सकता था अथवा विकल्पतः, सरकारी पदाधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए सम्बद्ध पार्टी के इंकार पर अनुमति रोक सकता था। शीघ्र ही, नौकरशाह तथा राजनीतिक आका, जिसको वह इसके बारे में बताता था, पुरस्कार में साझीदार होते थे, क्योंकि परम प्राधिकारी राजनीतिज्ञ ही होता था।

यही कुख्यात 'लाइसेंस-पर्मिट-कोटा राज' की उत्पत्ति थी जिसने स्वतंत्रता-प्राप्ति के लगभग 20-30 वर्षों में ही भारतीय विकास की समाजवादी अभिरचना को पटरी से पूरी तरह उतार दिया। अधिकारी-राजनीतिज्ञ-व्यवसायी की अत्यधिक सशक्त और भ्रष्ट तिकड़ी, जिसे तिरस्कृत रूप से 'बाबू-नेता-बनिया' संलक्षण कहा जाता है, की वजह से योजना-प्रक्रिया, मिश्रित अर्थव्यवस्था, सभी गलत रास्ते पर चल पड़े।

नौकरशाही के राजनीतिकरण से जुड़े लाइसेंस-पर्मिट-कोटा राज द्वारा शुरू की गई निष्प्रभावी तथा अक्षम मिश्रित अर्थव्यवस्था भूमण्डलीकरण के आरम्भ तक भारत की असैनिक नौकरशाही के प्रसंग बने रहे। नब्बे के दशक में लौटते भूमण्डलीकरण युग ने भारतीय नौकरशाही के संसार में एक और जलभंजक दर्शाया, बिल्कुल वैसे जैसे 1967 के चुनावों ने किया था। इसी कारण अब हम इसी और अपना ध्यान मोड़ देते हैं।

बोध प्रश्न 4

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) दृढ़-प्रतिज्ञ नौकरशाही क्या है? इसके क्या परिणाम हुए?

.....

.....

.....

.....

.....

2) नौकरशाह-राजनीतिज्ञ-व्यवसायी अन्तर्सबन्ध पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

.....

.....

.....

.....

13.7 भूमंडलीकरण के युग में भारतीय नौकरशाही

भूमंडलीकरण का युग विश्वभर में लगभग डेढ़ दशक पहले शुरू हुआ; अस्सी के दशक मध्य से दशकांत के आसपास कभी। आज जो भूमंडलीकरण के रूप में सामान्यत: स्वीकार किया जाता है, वह वस्तुत: एक भूमंडलीय स्तर पर अर्थव्यवस्था – उदारीकरण प्रक्रिया का प्रसार है। अर्थव्यवस्था के उदारीकरण से अभिप्राय है – सरकारी नियंत्रण से किसी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को मुक्त करना और उसको बाज़ारी ताकतों के अनुसार चलने देना। यह उस परिभाषात्मक प्रसंग के विरुद्ध है जिस पर हमने इस पाठांश में नौकरशाही के रूप में चर्चा की है।

भारत में (जैसा कि वस्तुत: अन्य कई देशों में भी), यह उत्तरोत्तर रूप से महसूस किया गया कि विकास का लोकतांत्रिक प्रतिरूप वादा निभाने में विफल रहा था। वास्तव में, यह **विवादयोग्य** है कि क्या लोकतांत्रिक समाजवादी ढाँचे के साथ कुछ **आंतरिक रूप से** ग़लत हुआ अथवा इसको लागू करने में ही कुछ गड़बड़ हो गई। सच चाहे जो हो, तथ्य यही था कि अर्थव्यवस्था पर सरकारी नियमन के, यदि पूर्ण निराकरण नहीं तो, एक मंदीकरण को आवश्यक बनाती अर्थव्यवस्था के उदारीकरण को लोकप्रियता मिली। इस प्रक्रिया को, वास्तव में, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक जैसे संयुक्त-राज्य के प्रभुत्व वाले निकायों द्वारा सक्रिय रूप से प्रोत्साहन मिला।

एक बार अर्थव्यवस्था का उदारीकरण स्वीकार कर लिए जाने के बाद, नौकरशाही में परिवर्तन अपरिहार्य हो गए। भारत में (अन्यत्र की भाँति), गत दस से अधिक वर्षों में, सरकारी नियमों व विनियमों का मंदीकरण हुआ है, जो निश्चित रूप से एक सुखद घटनाक्रम रहा है। हम यहाँ यह उल्लेख कर सकते हैं कि इस इकाई में हम भूमण्डलीकरण की अच्छाइयों-बुराइयों पर वाद-विवाद नहीं कर रहे हैं। भूमंडलीकरण के विषय में आप इकाई 29 में पढ़ेंगे। इस इकाई में हम नौकरशाही पर भूमंडलकरण के प्रभाव, और वो भी भारतीय प्रसंग में, से ही ताल्लुक रखते हैं।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, भूमंडलीकरण अथवा विकल्पत:, आर्थिक सुधारों, के युग में, सरकारी नियमों के उद्रेक को दूर किया जाता रहा है और इस दिशा में, विकासात्मक प्रक्रिया को गति प्रदान की गई है। बहरहाल, यह अभी तक स्पष्ट नहीं है कि क्या इसने नौकरशाह–राजनीतिज्ञ–व्यवसायी संघ के आचरण और अकरण की क्रियाओं से पैदा होते भ्रष्टाचार को कम किया है। उदारीकरण के परिणामित आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। उसके बावजूद, भारत की विश्व में सर्वाधिक भ्रष्ट देशों में गिनती अब भी होती है, इस आशय की रिपोर्टें आना जारी है। यह स्वभावत: अर्थव्यवस्था को उदार बनाने के नितांत सिद्धांताधार के बारे में प्रश्न उठाता है। जैसा हो सकता है हो, देश में उदारीकरण की प्रक्रिया आजकल बहुत तेजी से चल रही है।

13.7.1 भारतीय नौकरशाही की प्रवृत्ति

उदारीकरण के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था के प्राधारिक समायोजन के बाद, नौकरशाही की प्रवृत्ति में अवगम्य परिवर्तन हुए हैं। जब उदारीकरण प्रथमत: शुरू हुआ, इसके प्रति बहुत-से नौकरशाह खुले रूप से विरोधी थे क्योंकि उन्होंने ज़ाहिर तौर पर महसूस किया कि ढीले पड़ते सरकारी नियंत्रण के राज में उनकी नियंत्रण-शक्ति की प्रमात्रा के साथ-साथ उनका महत्त्व भी कम हो जाएगा। ऐसा वास्तव में ही हुआ है। 'सुंदर गुण' यह है कि वर्षों, कुछ नौकरशाहों ने घोर अपशकुन देखा है, और विकास के अवरोधक की बजाय सुनम्यक बन गए हैं। गत कुछ वर्षों में भारतीय संचार-माध्यमों ने नागरिक-मैत्र्य प्रशासन के अधिकार-क्षेत्र में नब्बे-दशकोपरांत नौकरशाहों की वैयक्तिक पहले पर कुछेक अग्रकथाएँ प्रसारित की हैं। अनेक तुलनात्मक रूप से अनुभवहीन नौकरशाह नए, उदारीकरणशील भारत में पनपे हैं, और इसी कारण, वे विकास के नए विचारों के प्रति आज्ञाकारी हैं। बहरहाल, जहाँ तक भ्रष्टाचार का संबंध है, जैसा कि हम पहले कह ही चुके हैं, यह कहना मुश्किल है कि यह घटा है, बढ़ा है अथवा आर्थिक-सुधार-पूर्व स्तर पर ही डटा है।

बोध प्रश्न 5

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारतीय नौकरशाही पर भूमण्डलीकरण का क्या प्रभाव पड़ा है?

.....

.....

.....

.....

.....

13.8 नौकरशाही से जुड़े कुछ विवाद/समस्याएँ

नितांत प्रारंभ से ही भारतीय नौकरशाही अपने से संबद्ध कुछ सतत् समस्याएँ/विवादों से जूझती रही है। यह उल्लेखनीय है कि ये समस्याएँ विश्वभर की नौकरशाहियों में पाई जाएँगी।

13.8.1 मंत्रालय बनाम लोक सेवक

भारत में राजनीतिक (मंत्रिगण) और स्थायी (सरकारी पदाधिकारीगण) कार्यकारिणी के बीच अन्तर्सम्बन्ध बड़ा ही जटिल है, इससे ज़्यादा कुछ नहीं कहा जा सकता। काफ़ी हद तक यह मंत्रियों और लोक सेवकों के बीच सम्बन्ध की अन्तर्निहित प्रकृति के कारण है। किसी भी स्वरूप की सरकार, और भारत जैसे लोकतंत्र में ऐसा अधिक, में लोक सेवक मंत्रियों के अधीनस्थ होते हैं। बहरहाल, ऐसी बात हमेशा नहीं है। जहाँ मंत्री अनभिज्ञ और अक्षम है, उसके अधीनस्थ अधिकारी किसी काम को करने में असमर्थ मंत्री के साथ बिल्कुल 'जैसा जी चाहे' करते हुए क्रीड़ा-दिवस मनाया करते हैं। दूसरी ओर, जब मंत्री सशक्त होता है, अधिकारीगण सामान्यतौर पर मंत्रीजी की विनती करने के बहुत इच्छुक रहते हैं; प्राय: सभी नियमों-विनियमों के उल्लंघन में।

इसी तरह, जैसा कि हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, भारत में मंत्रियों तथा नौकरशाहों ने उस प्रतिदान पर आधारित उच्च रूप से परस्पर लाभकारी संबंध का प्राय: उपभोग किया है जिसका अर्थ है – अनुग्रहों के परस्पर विनिमय पर आधारित एक संबंध। इस पूरे प्रकरण का शुद्ध परिणाम है– एक उच्च रूप से राजनीतिकृत नौकरशाही और यह तथ्य भूण्डलीकरण-पश्चात् युग में भी अधिक नहीं बदला है।

13.8.2 सार्वजन बनाम विशेषज्ञ

यह पुनश्च एक विवाद है कि जिसने दुनियाभर में नौकरशाहियों को रोगग्रस्त कर रखा है। हर देश ने इस समस्या का अपना ही हल ढूँढ़ने का प्रयास किया है।

भारत में, इस समस्या की उत्पत्ति का संबंध लॉर्ड कॉर्नवालिस के दिनों से जोड़ा जा सकता है, जिनको भारत में असैनिक सेवाओं की नींव डालने के श्रेय जाता है। ब्रिटिश जनों को अँग्रेज़ी जानने वाले भारतीयों और नौकरशाही के निचले पदों पर आदमी सरबराह करने की सामान्य जानकारी की आवश्यकता थी। कोई विशेषज्ञ विद्या नहीं चाहिए थी। इसने कला व मानविकी और तदोपरांत विज्ञान व वाणिज्य की निर्मल धारा से, इसे असैनिक सेवाओं हेतु बनाते हुए, भारतीयों के लिए मिसाल कायम की। पेशेवर और विशेषज्ञ (डॉक्टर, इंजीनियर, आदि) नौकरशाही में जीवन-यात्रा का बहुत ही कम सोचते थे। बहरहाल, यह रवैया आगामी वर्षों में बदला। चूँकि शासन और जटिल

हो गया है, 'एक अधिक विशेषताप्राप्त पृष्ठभूमि वाले प्रत्याशियों' की आवश्यकता महसूस की जा रही है। यह इस कारण है कि एक सार्वजन की पृष्ठभूमि वाले असैनिक सेवाकर्मी उत्तरोत्तर रूप से कार्य-विशेष हेतु बेजोड़ पाए गए हैं। यू.पी.एस.सी. जैसे भरती-निकाय किसी विशेषज्ञ पृष्ठभूमि वाले प्रत्याशियों, नामत:, डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, चार्टर्ड अकाउण्टैण्ट आदि, को भी बढ़ावा देते रहे हैं।

विवाद मुख्यत: इस तथ्य पर केंद्रित है कि एक विचारधारा कहती है कि एक सामान्य पृठभूमि वाला व्यक्ति (खासकर मानविकी/सामाजिक विज्ञान में) नागरिक प्रशासन के तय कार्य हेतु बेहतर रूप से उपयुक्त है क्योंकि वह तय कार्यों तथा हस्तगत मुद्दों का एक समग्र रूप से, बृहत् पर्यावलोकन कर सकता/ती है। दूसरी विचारधारा, बहरहाल, कहती है कि संचार प्रौद्योगिक (आई.टी.) पर काफ़ी जोर देते वर्तमान भूमंडलीकृत युग में और आर्थिक व वाणिज्यिक महत्त्व के विषयों पर, प्रभावी तथा उत्पादनशील प्रशासन के लिए एक विशेषज्ञ-पृठभूमि अधिक सहायक है। समाधान शायद इन दो उपागमों के उत्तम घालमेल पैदा करने में निहित है और भारत में, इसका प्रयास किया जा चुका है। उदाहरण के लिए, विज्ञान व प्रौद्योगिकी विज्ञान का नेतृत्व पेशागत नौकरशाहों की बजाय पेशेवर वैज्ञानिकों द्वारा किया जाता है, फिर भी उल्लेख्य है कि नौकरशाह इससे रुष्ट हैं।

13.8.3 अल्पसंख्यकों का अपर्याप्त प्रतिनिधित्व

अल्पसंख्यक, खासकर मुसलमान -- भारत के बृहत्तम अल्पसंख्यक -- अक्सर आई.ए.एस. तथा आई. पी.एस. जैसी देश की मुख्यतम असैनिक सेवाओं में अपने अपर्याप्त प्रतिनिधित्व की शिकायत करते हैं। हालाँकि, इसके समर्थन में कोई ठोस मर्म साक्ष्य नहीं है कि ऐसा जानबूझकर है। शिक्षा और प्रेरणा का दयनीय स्तर ही मुख्य कारण है। अल्पसंख्यकों के लिए एक अलग से कोटा जैसे सुझाव दिए गए हैं, परंतु इसको राजनीतिक वर्ग के बीच सहमति की दरकार है।

बोध प्रश्न 6

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारत में नौकरशाही से जुड़े कुछ विवादों/समस्याओं पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

13.9 सारांश

इस इकाई में, आपने भारत में नौकरशाही के विषय में पढ़ा। अतीत काल से ही नौकरशाही का कोई-न-कोई स्वरूप विद्यमान रहा है। आधुनिक नौकरशाही का श्रेय चीन जन गणतंत्र को जाता है जो असैनिक सेवाओं में भरती हेतु एक खुली, प्रतिस्पर्धात्मक परीक्षा आयोजित करने वाला विश्व

में पहला देश था। नौकरशाही का मूल रूप से अर्थ है – सरकारी कुर्सियों पर बैठे लोगों का एक निकाय।

भारत में, नौकरशाही जैसा कि हम इसे आज जानते हैं, का श्रेय लॉर्ड कॉर्नवालिस को जाता है। औपनिवेशिक नौकरशाही जिसके शीर्ष पर भारतीय सिविल सेवा (आई०सी०एस०) थी, मूल रूप से भारत के औपनिवेशिक आकाओं के प्रयोजन पूरे करती थी। स्वतंत्रता के बाद, आरंभिक वर्षों में राष्ट्र-निर्माण के संबंध में राजनीतिक नेतृत्व और नौकरशाही, दोनों के बीच बेहद उत्साह था। बहरहाल, वक़्त के साथ हालात नाक़ामयाब रहे। राजनीतिज्ञ–नौकरशाह–व्यवसायी संघ, एक दृढ़-प्रतिज्ञ नौकरशाही का विचार, इन सबने असैनिक सेवाओं के प्रारब्ध को सूचित किया। आज, नौकरशाही भूमंडलीकरण के दौर से गुज़र रही है और अर्थव्यवस्था पर ढीले पड़ते सरकारी नियंत्रण वाली शासन-प्रणाली में शक्तिक्षय के साथ पकड़ में आने का प्रयास कर रही है।

13.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

क्रोज़ीयर, माइकल, *दि ब्यूरोक्रेटिक फ़िनोमिनॅन,* यूनिवर्सिटी ऑव शिकागो प्रेस, शिकागो, 1964।

डाउन्स, एन्थोनी, *इन्साइड ब्यूरोक्रेसी,* लिटिल ब्रोसैस एण्ड कं०, बोस्टन, 1967।

नेहरू, जवाहरलाल, *ऐन ऑटोबायोग्राफी,* बैडली हैड, लंदन, 1955।

महेश्वरी, एस.आर., *पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन् इण्डिया,* पी.बी. यूनिवर्सिटी, बंगलौर, 1980।

13.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आपके उत्तर में निम्नलिखित बिंदु होने चाहिए :

   क) सरकार की कार्यकारी भुजा

   ख) सरकारी पदाधिकारियों का निकाय।

2) आपके उत्तर में निम्नलिखित बातें होनी चाहिए :

   क) अभिलक्षण – पदानुक्रम, आदेश-शृंखला, नियम-विनियमों के प्रति निष्ठा, निर्वैयक्तिक/निर्मुख तथा अराजनीतिक

   ख) आपकी पसंद के कोई दो अभिलक्षण।

बोध प्रश्न 2

1) आपके उत्तर में निम्नलिखित बिंदु होने चाहिए :

   क) निचले पद मुख्यत: भारतीयों के लिए; आई.सी.एस. के द्वार बाद में खुले

   ख) औपनिवेशिक अंत के लिए बनाए गए

   ग) राष्ट्रीय नेतृत्व आई.सी.एस. का आलोचक

   घ) सम्पोषण प्रकार्य।

बोध प्रश्न 3

1) आपके उत्तर में होने चाहिए :

   क) स्वायत्तता, संविधान द्वारा बनाया गया वैधानिक निकाय

   ख) असैनिक/सैनिक नौकरशाही की भरती

   ग) पेशेगत मामलों हेतु सलाहकार निकाय।

2) आपके उत्तर में शामिल हों :

   क) अनुसूचित जाति/जनजातियों बनाम अन्य-पिछड़ी-जातियों हेतु आरक्षण

   ख) निजी क्षेत्र में आरक्षण संभावना।

बोध प्रश्न 4

1) आपके उत्तर में हों :

   क) सत्तारूढ़ राजनीतिज्ञों/दलों के प्रति वचनबद्धता

   ख) नौकरशाही का राजनीतिकरण।

2) आपके उत्तर में शामिल हों :

   क) अनुज्ञापन अनुमति वांछनीयता का परिणाम

   ख) परस्पर अनुमोदनों का संबंध और नियमों-विनियमों का उल्लंघन।

बोध प्रश्न 5

1) आपके उत्तर में चर्चा हो :

   क) अपेक्षाकृत कम नौकरशाही

   ख) भ्रष्टाचार-स्तर उल्लेखनीय से नहीं घटा

   ग) कुछ नौकरशाहों के बीच सकारात्मक परिवर्तन।

2) आपके उत्तर में निम्नलिखित बिन्दु शामिल हों :

   क) मंत्रीगण बनाम नौकरशाह

   ख) सार्वजन बनाम विशेषज्ञ

   ग) अल्पसंख्यकों का अपर्याप्त-प्रतिनिधित्व।

इकाई 14 भारतीय संघवाद का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 संघ का स्वरूप
14.3 भारत में संघवाद
  14.3.1 भारतीय संघ की संरचना
  14.3.2 राज्यों के भू-भागीय क्षेत्र
  14.3.3 सरकार की संरचना
  14.3.4 शक्तियों का विभाजन
14.4 केन्द्र-राज्य संबंध
  14.4.1 केन्द्र एवं राज्यों की वित्तीय शक्तियाँ
  14.4.2 वित्तीय आयोग
  14.4.3 योजना आयोग
14.5 केन्द्र शासित क्षेत्र
14.6 सारांश
14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
14.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारतीय संघवाद के स्वरूप का विवरण किया गया है। इस इकाई में भारतीय संघवाद का अन्य देशों के मुख्य संघों के साथ समानता एवं विभेद का विवरण भी प्रस्तुत किया जाएगा। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको निम्न प्रकार की जानकारी प्राप्त होगी :

- संघवाद की अवधारणा के भावार्थ की व्याख्या;
- भारतीय राजनीति के संदर्भ में संघवाद की जानकारी;
- भारत में संघवाद से संबंधित मुद्दों की पहचान; और
- भारतीय संघ व्यवस्था की विभिन्न इकाइयों के मध्य के रिश्तों की।

14.1 प्रस्तावना

संघवाद सरकार का एक ऐसा स्वरूप है जिसके अन्तर्गत राजनीतक सत्ता बहुत-सी इकाइयों के बीच विभाजित होती है। इस प्रकार की सरकार को सामान्य भाषा में 'राज्य संघ' या 'संघीय राज्य' कहा जाता है। ये इकाइयाँ केन्द्र, राज्य, नगरपालिकाएँ और पंचायत हैं। केन्द्र को यूनियन भी कहा जाता है। यूनियन की घटक इकाइयों को राज्य (संयुक्त राज्य अमेरिका में), कैण्टन (स्वीट्ज़रलैण्ड में), प्रोयनी (कनाडा में) और गणतन्त्र (भूतपूर्व सोवियत समाजवादी गणतन्त्र के यूनियन में) कहा जाता

है। 'संघ' का शाब्दिक अर्थ संविदात्मक है। एक 'संघीय यूनियन' संविदात्मक यूनियन कहलाती है और एक संघीय राज्य सार्वभौमिक राज्यों के संविदात्मक यूनियन के माध्यम से अस्तित्व में आती है। विजित राज्यों के यूनियन को संघीय यूनियन नहीं कहा जा सकता।

14.2 संघ का स्वरूप

एक संघ मूलत: संवीद या अनुबन्ध के सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित होता है। इसका अभिप्राय है कि सार्वभौमिक इकाइयाँ – यूनियन राज्य एवं स्थानीय इकाइयों के रूप में पारस्परिक एवं स्वैच्छिक अनुबन्ध के आधार पर एक संघ का निर्माण करती हैं। इस तरह की स्वैच्छिक यूनियन एवं संघ केवल लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव है। इसका यह भी अभिप्राय है कि यूनियन का क्षेत्र सीमित होता है। अनुबंध करने वाले पक्ष कभी भी अपनी सत्ता की शक्ति का पूर्ण समर्पण नहीं करते। इस तरह, जब दो या दो से अधिक राज्य स्वैच्छिक रूप से एक-दूसरे में विलय करते हैं, तब भी वे अपनी आन्तरिक एवं स्थानीय स्वायत्तता को बनाए रखते हैं और वे केवल सामूहिक हित के मामलों पर ही एकताबद्ध होते हैं। इसलिए जेम्स ब्रायस ने सौ वर्षों से अधिक पहले घोषित किया था :

"एक संघीय राज्य ऐसी राजनीतिक सामंजस्य है जो राज्य के अधिकारों को बनाए रखने के साथ राष्ट्रीय एकता एवं शक्ति का मेल-मिलाप करने की ओर अग्रसर होता है।"

वास्तविक व्यवहार में सभी संघीय-राज्यों का जन्म सार्वभौमिक राज्यों के एकीकरण से नहीं होता है। उनमें कई की उत्पत्ति यूनियन सरकार की केन्द्रीकृत सत्ता द्वारा नीचे की इकाइयों को शक्तियों के हस्तान्तरण द्वारा होती है। भारतीय संघ इसी तरह का दृष्टान्त है।

14.3 भारत में संघवाद

भारत में संघवाद की संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ कुछ समानताएँ हैं। अमेरिका की भाँति ही, जो कि सबसे पुराना संघ है, भारत के संविधान में कहीं पर भी 'संघ' या 'संघीय यूनियन' का उल्लेख नहीं किया गया है। दोनों देशों की दोहरी राजनीति है अर्थात् एक केन्द्रीय सरकार की और दूसरी राज्य सरकार के लिए। परन्तु इनके बीच दो मुख्य मतभेद हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में एक व्यक्ति की दोहरी नागरिकता होती है। एक उस राज्य की जिसका वह निवासी होता है और दूसरी नागरिकता अपने देश संयुक्त राज्य अमेरिका की। परन्तु भारत में कोई दोहरी नागरिकता नहीं होती। एक भारतीय नागरिक के पास केवल एक ही नागरिकता– भारतीय के रूप में होती है। वह जिस राज्य का निवासी होता है उसके लिए किसी दूसरी नागरिकता की कोई अवधारणा नहीं होती। इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रत्येक राज्य का अमरीकी देश के संविधान के अलावा अपना एक संविधान भी होता है। लेकिन ये आन्तरिक रूप से एक-दूसरे से संबंधित होते हैं। भारत में सम्पूर्ण देश के लिए एक ही संविधान है। परन्तु जम्मू-काश्मीर राज्य इसका अपवाद है।

भारत के संविधान की धारा में भारतीय संघवाद के लिए "राज्यों के यूनियन" का उल्लेख किया गया है। अम्बेडकर के अनुसार "यूनियन" शब्द का उल्लेख इसलिए किया गया है क्योंकि "भारत में संघ, संघ में शामिल होने के लिए विभिन्न राज्यों के बीच हुए अनुबंध का परिणाम न था।" इस तरह भारत में संघ शक्ति के हस्तान्तरण का परिणाम था न कि किसी प्रकार के अनुबंध का। यह किसी राज्य को भारत से अलग होने का अधिकार प्रदान नहीं करता। किन्तु संविधान के अन्तर्गत

किए गए शक्तियों के विभाजन से संघ के स्वरूप का बोध होता है। इस संघ विशेषता को संविधान निर्माताओं ने निम्न दो कारणों से निर्मित किया :

1) भारत में विशाल भूभाग होने के कारण एकात्मक की अपेक्षा एक संघीय राज्य ही अधिक प्रभावशाली हो सकता है।

2) एकात्मक की अपेक्षा संघीय राज्य उस समय और भी प्रभावकारी होता है जबकि भारत जैसे देश में जनसंख्या के भिन्न-भिन्न समूह पृथक् क्षेत्रों में केन्द्रीकृत होकर बसे हों।

14.3.1 भारतीय संघ की संरचना

भारत का संविधान एक लिखित एवं अपेक्षाकृत कठोर संविधान है। संविधान की बहुत-सी व्यवस्थाओं में संशोधन राज्य विधायिकाओं की बहुसंख्या की सहमति से किया जा सकता है। संविधान केन्द्र एवं राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन करता है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के पास निम्न प्रकार के विवादों को तय करने की मूलभूत न्यायिक शक्तियाँ हैं :

अ) केन्द्र तथा राज्य या राज्यों के एक समूह के बीच;

ब) एक राज्य और दूसरे राज्य या राज्यों के एक समूह के मध्य; और

स) राज्यों के समूह और दूसरे राज्यों के समूह के मध्य।

14.3.2 राज्यों के भू-भागीय क्षेत्र

यह कहा जाता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका "अविनाशी राज्यों का अविनाशी यूनियन'' है। इसका अभिप्राय है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यों का विभाजन, विलय या उनके भौगोलिक आकार में परिवर्तन नहीं किया जा सकता, लेकिन वे यूनियन का परित्याग नहीं कर सकते। परन्तु भारत में संसद द्वारा पारित किए गए कानून द्वारा राज्यों की भौगोलिक सीमाओं को परिवर्तित किया जा सकता है। इसी कारणवश भारत में सन् 2000 तक भी क्षेत्रीय पुनर्गठन का कार्य जारी है और इस पुनर्गठन की आगे भी जारी रहने की सम्भावना है। 2000 के वर्ष में भारत में राज्यों की संख्या 28 तथा केन्द्रशासित प्रदेशों की संख्या सात हो चुकी है।

भारत के संविधान की धारा 3 के अनुसार संसद के पास नए राज्यों या केन्द्रशासित प्रदेश का निर्माण करने हेतु राज्यों या केन्द्रशासित प्रदेशों से भूभाग को अलग करने, दो या दो से अधिक राज्यों या केन्द्रशासित प्रदेशों का विलय करने, एक राज्य या केन्द्र शासित प्रदेश को दो या अधिक राज्यों या केन्द्र शासित प्रदेशों में विभाजित करने, और राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के कुछ भागों को मिलाकर नए राज्य या केन्द्र शासित प्रदेश बनाने की शक्ति है। ऐसा करने से पूर्व प्रभावित राज्य विधायिकाओं के विचारों को ध्यान में रखा जा सकता है किन्तु उनको मानना अनिवार्य नहीं है।

14.3.3 सरकार की संरचना

यूनियन एवं राज्य की अलग-अलग सरकारें होती हैं और ये दोनों संसदात्मक प्रणाली पर आधारित हैं। जहाँ केन्द्र सरकार का संस्थात्मक प्रधान राष्ट्रपति होता है, वहीं राज्य सरकार का प्रधान राज्यपाल है। हालाँकि राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष तौर पर जनता द्वारा किया जाता है किन्तु राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति (केन्द्रीय सरकार) करता है। राष्ट्रपति एवं राज्यपालों को मन्त्रिपरिषद् सलाह देती है।

परन्तु भारत में जनसेवाओं का कोई स्पष्ट विभाजन नहीं है। केन्द्र एवं राज्यों के अधिकारीगण केन्द्र एवं राज्यों के कानूनों के अनुरूप एक साथ प्रशासन कार्य करते हैं। यद्यपि राज्य की नागरिक सेवाएँ भी हैं। किन्तु अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्य केन्द्र और राज्य सरकारों दोनों के लिए कार्य करते हैं।

भारतीय न्यायपालिका यद्यपि एकीकृत है और इसका प्रधान भारत का सर्वोच्च न्यायालय है तथा यह संघीय न्यायालय भी है।

14.3.4 शक्तियों का विभाजन

भारतीय संविधान की सातवीं सूची में केन्द्र तथा राज्य सरकार के मध्य विधायिका शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया है। केन्द्र एवं राज्य सरकारों की कार्यपालिका शक्तियाँ विधायिका शक्तियों के साथ उद्धृत की गई हैं। केन्द्र एवं राज्य सरकारों की शक्तियाँ तीन सूचियों में उल्लेखित की गई हैं और इन सूचियों को केन्द्र सूची, राज्य सूची एवं समवर्ती सूची के नाम से जाना जाता है।

प्रथम सूची अर्थात् केन्द्र की सूची में केन्द्र सरकार की शक्तियों का उल्लेख किया गया है और इसके अन्तर्गत 97 विषय हैं। दूसरी सूची अर्थात् राज्य की सूची जिसमें 61 विषयों का उल्लेख है तथा इन पर राज्य विधायिकायें कानून बनाएँगी। तीसरी सूची समवर्ती सूची है और इसमें उद्धृत शक्तियों का प्रयोग केन्द्र एवं राज्य सरकारें दोनों कर सकती हैं तथा इसमें 47 विषयों का उल्लेख है। जिन अन्तर्निहित शक्तियों का उल्लेख इन सूचियों में नहीं किया गया है, वे केन्द्र सरकार से संबंधित हैं। परन्तु इस विभाजन के साथ तीन शर्तें जुड़ी हैं :

1) यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर केन्द्र एवं राज्य के कानून के मध्य टकराव होता है, तब केन्द्र का कानून माननीय होगा।

2) यदि राज्यों की कौंसिल या राज्य सभा के दो-तिहाई सदस्यों का बहुमत प्रस्ताव द्वारा यह निर्णय करता है कि राज्य सूची का कोई विषय राष्ट्रीय महत्त्व का है तब संसद उस पर विधान बनाएगी।

3) आपातकालीन उद्घोषणा के समय यदि संसद का सत्र चालू है तब संसद राज्य के किसी भी विषय पर कानून बना सकती है। उद्घोषित आपातकालीन स्थिति के समाप्त होने पर छः माह के बाद इस प्रकार के कानून की अवधि भी समाप्त हो जाएगी।

सामान्यतः सुरक्षा, रक्षा, विदेशी मामले, संचार, मुद्रा, बैंकिंग एवं बीमा, अन्तरराज्य-नदी एवं नदी घाटियों, अन्तरराज्य व्यापार एवं वाणिज्य, भारत उद्योग, तेल-क्षेत्र संबंधित सभी विषयों पर नियन्त्रण अनिवार्य रूप से केन्द्रीय सरकार का होता है। किन्तु इनकी उद्घोषणा संसद द्वारा होती है। जनगणना, और संसद द्वारा घोषित राष्ट्रीय महत्त्व के विश्वविद्यालयों तथा संस्थाओं पर भी नियन्त्रण केन्द्र सरकार का रहता है। सार्वजनिक व्यवस्था, पुलिस, जैल, स्थानीय संचार, भूमि, कृषि, सार्वजनिक स्वास्थ्य, स्थानीय सरकार, केन्द्र सरकार अधीन न आने वाली खानें, नशीले पेय, जुआ एवं लाटरी जैसे विषय राज्य सरकार के अधीन आते हैं।

केन्द्र तथा राज्य की समवर्ती शक्तियों के अधीन आपराधिक कानून तथा आपराधिक प्रक्रिया, निरोधक नजरबन्दी, शिक्षा, वन, अन्तर्देशीय जहाज एवं नौ-परिवहन, कारखानें, बॉयलर्स, बिजली, समाचार-पत्र, पुस्तकें एवं छापेखानें, तोल एवं माप तथा मूल्य नियन्त्रण आते हैं।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) उत्तर अपने शब्दों में देने का प्रयास करें।

1) भारतीय संघ में अवशिष्ट शक्ति का उपयोग कौन करता है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) संघ की अपेक्षा भारत को "राज्यों का यूनियन" क्यों कहा जाता है?

.....

.....

.....

.....

.....

14.4 केन्द्र-राज्य संबंध

एक संघीय राज्य को अक्सर एकता-विहीन संघ कहा जाता है। इसका अभिप्राय है कि भाग्यदारों के मध्य शक्ति का विभाजन सहयोग के साथ किया गया है। संविधान के द्वारा निम्न विभिन्न तरीकों से सहयोग स्थापित करने का प्रयास किया गया है :

i) प्रथम संविधान में दिशा-निर्देश है कि राज्यों को अपने अधिकार क्षेत्र से संबंधित विषयों पर विधान बनाने चाहिए और केन्द्र अपने अधिकार क्षेत्र में कानून बना सकता है। लेकिन जैसा कि हम देख चुके हैं कि संसद विशेष मामलों में राज्य विषयों पर भी विधान बना सकती है।

ii) दूसरी ओर राज्यपालों के पास किसी भी विधेयक पर सहमति प्रदान की शक्ति है और इसको राष्ट्रपति की सहमति के लिए सुरक्षित रख सकता है। यह मामला इस तथ्य के साथ और भी जटिल हो जाता है क्योंकि राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है तथा राष्ट्रपति (अर्थात् केन्द्र सरकार) की इच्छा के अनुरूप ही इस पद पर बना रह सकता है।

iii) केन्द्र के किसी भी विषय पर कानून बनाने के लिए संसद राज्य विधायिका को अधिकार प्रदान कर सकती है। दो या अधिक राज्य किसी भी राज्य विषय पर विधान बनाने के अधिकार को

सौंप सकते हैं। लेकिन यह तभी किया जा सकता है यदि ये राज्य राज्य-सभा से प्रार्थना करें कि वह राज्य सूची पर विधान बनाने के लिए संसद को शक्ति प्रदान करने हेतु प्रस्ताव पारित करे। दो या अधिक राज्यों की प्रार्थना के बग़ैर भी संसद राज्य-सूची पर विधान बना सकती हैं किन्तु ऐसा करने के लिए प्रस्ताव पारित करने के समय राज्य सभा के दो-तिहाई सदस्य उपस्थित होने चाहिए।

iv) राज्यों को निर्देश दिए गए हैं कि वे अपनी कार्यपालिका शक्ति का इस्तेमाल संसद के कानून और राज्य में लागू विद्यमान कानून के अनुरूप ही करें।

v) केन्द्र के पास राज्य को उसकी कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग के लिए निर्देश देने का अधिकार है। राज्य को इस शक्ति का प्रयोग केन्द्र की शक्ति पूर्वाग्रह के बग़ैर करना है तथा केन्द्र इस प्रतिबन्ध को सुनिश्चित करने हेतु भी दिशा-निर्देश जारी कर सकता है।

vi) केन्द्र के पास राज्य को बाह्य आक्रमण एवं आन्तरिक अशान्ति से सुरक्षित रखने की शक्ति है।

vii) राज्य द्वारा जारी किए गए दिशा-निर्देशों का पालन न करने की स्थिति में राज्य में संवैधानिक संकट की घोषणा की जा सकती है।

परन्तु यह ध्यान केन्द्रित करने की बात है कि कभी-कभी इन स्वस्थ व्यवस्थाओं का प्रयोग राज्य की स्वायत्तता में कटौती करने के लिए भी किया जाता है।

14.4.1 केन्द्र एवं राज्यों की वित्तीय शक्तियाँ

विधायिका एवं कार्यपालिका शक्तियों की भाँति ही वित्तीय शक्तियों का राज्य एवं केन्द्र के मध्य इस प्रकार विस्तृत एवं जटिल विभाजन किया गया है कि भारतीय संघीय व्यवस्था के अधिकार टीकाकार "वित्तीय शक्तियों के विभाजन" की अपेक्षा "वित्तीय संबंध" शब्दावली का प्रयोग करते हैं। ऐसा मुख्यत: दो कारणों से किया जाता है। अगर राजनीतिक भाषा का प्रयोग करें तब हम देखते हैं कि केन्द्र का राजस्व राज्य की अपेक्षा कहीं अधिक होता है जिसके कारण राज्य संघीय छूट पर निर्भर करते हैं। लेकिन संवैधानिक भाषा में, भारतीय संविधान कर लगाने के अधिकार एवं उनको वसूल करने की शक्ति के बीच भेद करता है। कर लगाने के मामले में कोई समवर्ती अधिकार-क्षेत्र नहीं है।

वित्तीय शक्तियों का और स्पष्ट विभाजन संविधान में किए गए चार संशोधनों– तृतीय (1954 में), छठा (1956 में), छयालिसवाँ (1982 में), और अस्सीवाँ (2000 में) के अनुरूप किया गया है। इन संशोधनों के द्वारा केन्द्र की कर लगाने की शक्ति में और वृद्धि हुई है किन्तु इनकी वसूली में नहीं। संविधान में तीन प्रकार के करों का उल्लेख है जो निम्न प्रकार से हैं :

1) ऐसे कर एवं शुल्क जिनकी वसूली तथा विनियोग राज्य द्वारा होता है।

2) ऐसे कर एवं शुल्क जिनको केन्द्र राज्यों के नाम पर वसूलता है और उनको प्रदान करता है।

3) ऐसे कर एवं शुल्क जिनकी वसूली कर केंद्र संसद द्वारा बनाए गए नियमों अनुसार राज्यों के बीच बँटवारा करता है।

इन कर एवं शुल्क के अलावा केन्द्र के पास राज्यों को सहायता प्रदान करने की असीमित शक्तियाँ हैं।

राज्य भूमि राजस्व, कृषि पर आमदनी कर, उत्तराधिकारी शुल्क, कृषि भूमि पर सम्पत्ति कर, भूमि एवं भवनों पर कर, संसद के द्वारा बनाए गए खनिज विकास के कानूनों के अनुरूप खनिज अधिकारों पर कर, शराब, अफ़ीम, ग़ैर-औषधि उद्देश्य के लिए इस्तेमाल होने वाले भारतीय गांजे पर आबकारी कर, उपभोग एवं बिक्री के लिए काम आने वाले सामानों पर प्रवेश कर, बिजली के उपभोग तथा बिक्री पर कर, राज्य के अन्दर समाचारपत्रों के अलावा विनिमय होने वाले समानों पर बिक्री कर, समाचारपत्रों, रेडियो तथा दूरदर्शन के अलावा विज्ञापनों पर कर, सड़क या आन्तरिक जलमार्गों तथा सड़क पर चलने वाले वाहनों द्वारा ढुलाई वाले समानों पर कर, जानवरों तथा नावों पर कर, व्यवसाय, व्यापार, पेशा एवं रोज़गार, कैपिटेशन कर, विलासिता, मनोरंजन, लाटरी तथा जुआ पर कर लागू करना और राज्य सूची में आने वाले मामलों के सन्दर्भ में भी शुल्क लगाना।

कर एवं शुल्क की कुल आय अर्थात् उपर्युक्त रूप में राज्यों के बीच विभाजन के पश्चात् केन्द्र की कुल उगाही, केन्द्र द्वारा प्राप्त किए जाने वाले सभी कर्ज एवं कर्ज की पुनर्दायगी में इसकी प्राप्तियाँ भारत के समाहित कोष का निर्माण करती हैं। सभी प्रकार के राजस्व, कर्ज तथा राज्य सरकार द्वारा किए गए कर्जों पर पुनर्दायगी में प्राप्तियाँ राज्य के समाहित कोष का निर्धारण करती हैं।

केन्द्र की सूची में स्टाम्प शुल्क, औषधियों के ऊपर लगने वाले आबकारी शुल्क एवं प्रसाधन के सामान पर लगने वाले शुल्कों का उल्लेख किया गया है और इनको केन्द्र द्वारा लागू किया जाता है। किन्तु इनकी उगाही एवं विनियोग राज्य द्वारा होती है (अनुच्छेद 268)।

अन्तरराज्य व्यापार एवं वाणिज्य के दौरान समाचारपत्रों के अलावा अन्य सामानों की बिक्री एवं खरीददारी पर लगने वाले करों तथा परेषित माल पर लगने वाले करों को केन्द्रीय सरकार लागू कर उनकी वसूल करती है किन्तु संसद द्वारा बनाए गए विभाजन के नियमों के अनुसार (अनुच्छेद 269) उनका निर्धारण राज्यों के मध्य किया जाता है।

ग़ैर-कृषि की आमदनियों पर कर, निर्यात शुल्क सहित सीमा कर, तम्बाकू, औषधीय एवं प्रसाधन के सामान, एल्कोहल, अफीम तथा नशीली दवाइयों पर कर, निगम कर, व्यक्तिगत एवं कम्पनियों के ग़ैर-कृषि सम्पत्ति के पूँजी मूल्य, कम्पनियों की पूँजी, भूसम्पत्ति तथा ग़ैर-कृषि के अलावा सम्पत्ति में उत्तराधिकारी शुल्कों पर कर, रेलवे, जहाज या हवाई द्वारा ले जाने वाले सामान या यात्रियों पर सीमाकर, रेलवे किराया एवं भाड़े पर कर, स्टाम्प शुल्क के अलावा शेयर बाज़ार में होने वाले लेन-देन एवं भविष्य बाज़ार पर कर– केन्द्रीय सूची-कर के अन्तर्गत दूसरे कर एवं शुल्कों को केन्द्रीय सरकार द्वारा लागू एवं वसूला जाता है। वित्त आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के पश्चात् राष्ट्रपति (अर्थात् केन्द्रीय सरकार) के आदेशानुसार इन आमदनियों का कुछ भाग केन्द्रीय सरकार को जाएगा। वित्त आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के बाद राष्ट्रपति के सुझावानुसार शेष भाग राज्यों के बीच विभाजित कर दिया जाएगा (अनुच्छेद 270)।

इसके अलावा केन्द्र सरकार के पास उन वस्तुओं पर भी शुल्क वसूल करने का अधिकार है जो केन्द्र सूची से संबंधित है और वह उनका सम्पूर्ण विनियोग कर सकता है। न्यायिक टिकटों के द्वारा वसूल किए जाने वाले कर एवं शुल्कों के अलावा टिकट शुल्क तथा समवर्ती सूची में उल्लेखित अन्य वस्तुओं पर शुल्क केन्द्र लगाता है। लेकिन इनमें उनको शामिल नहीं किया गया जिनको किसी भी न्यायालय में सामूहिक रूप से वसूला गया हो। अवशिष्ट विषयों पर लगने वाले कर केवल केन्द्र के अधिकार क्षेत्र में आते हैं।

परन्तु केन्द्र की सम्पत्ति एवं खरीददारी, जल-संग्रहण एवं केन्द्र की बिजली राज्य के कर लगाने के अधिकार से मुक्त हैं। दूसरी ओर, राज्य की सम्पत्ति एवं आमदनी केन्द्र के कर से मुक्त रहते हैं।

संविधान लागू होने से पूर्व राज्य द्वारा लगाए गए करों की वसूली तब तक राज्य द्वारा की जाती रहेगी जब तक संसद उसके विपरीत कानून नहीं बनाती। संसद कानून बनाकर राज्य द्वारा किए जाने वाले व्यापार या व्यवसाय पर कर लगा सकती है। असम, बिहार, उड़ीसा एवं पश्चिम बंगाल राज्यों को जूट निर्यात के बदले विशेष अनुदान देने की व्यवस्था है (अनुच्छेद 273)। अन्य सभी अनुदानों का निर्धारण अनुच्छेद 275 के अनुसार होता है।

14.4.2 वित्तीय आयोग

प्रत्येक पाँच वर्ष में राष्ट्रपति वित्त आयोग की नियुक्ति करता है। आयोग नियुक्त करने के लिए संसद कानून द्वारा योग्यताओं को सुनिश्चित करती है (अनुच्छेद 280)। आयोग राष्ट्रपति को निम्न सिफारिशें प्रेषित करता है।

i) केन्द्र एवं राज्यों के बीच करों की कुल आमदनी का विभाजन और इस आमदनी में राज्यों के बीच प्रत्येक राज्य के भाग के आबंटन की सिफारिश;

ii) उन सिद्धान्तों का निर्धारण करना जो भारत के समाहित कोष से राज्यों के राजस्व के अनुदान को सुनिश्चित करते हैं; और

iii) राज्यों में पंचायतों के संसाधनों में वृद्धि करने के लिए राज्य के समाहित कोष में बढ़ोतरी करने के उपायों की।

राष्ट्रपति इन सिफारिशों पर विचार करने के लिए इनको संसद के सम्मुख रखने की सिफारिश करता है (अनुच्छेद 281)। यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि ये सिफारिशें अनिवार्य नहीं होती। इस प्रकार की सिफारिशों पर निर्णय करने का अन्तिम अधिकार राष्ट्रपति अर्थात् केन्द्रीय सरकार को है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) उत्तर अपने शब्दों में देने का प्रयास करें।

1) भारत के संविधान में कितने प्रकार के करों का उल्लेख है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) वित्त आयोग के कार्यों का विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् के बीच क्या संबंध है?

.....

.....

.....

.....

.....

14.4.3 योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद्

वित्त आयोग की भाँति योजना आयोग एक संवैधानिक संस्था नहीं है। इसकी स्थापना मार्च 1950 में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के औपचारिक प्रस्ताव द्वारा की गई थी। भारत की आर्थिक नीतियों के निर्धारण में योजना आयोग महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के मन्त्रीगण, केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल सचिव तथा अन्य विशिष्ट व्यक्ति योजना आयोग के महत्त्वपूर्ण सदस्य होते हैं। यह एक अतिरिक्त संवैधानिक संस्था (Extra-constitutional) है और एक सलाहकार संगठन के रूप में कार्य करती है। यह देश की पंचवर्षीय योजना के लिए उत्तरदायी है।

योजना आयोग द्वारा तैयार की गई योजनाओं पर विचार-विमर्श राष्ट्रीय विकास परिषद् (एन. डी. सी.) करती है। योजना के क्षेत्र में समीक्षा करने एवं सलाहकार के रूप में यह एक सर्वोच्च संगठन है। इसका गठन 1952 में किया गया था। राष्ट्रीय विकास परिषद् के सदस्य प्रधानमन्त्री, सभी राज्यों के मुख्यमन्त्री, योजना आयोग के सदस्य तथा केन्द्रीय मन्त्रीमण्डल के सभी मन्त्रीगण होते हैं। ये केन्द्र, राज्य एवं स्थानीय सरकार के मध्य का संगठन है।

राष्ट्रीय विकास परिषद् के अनुमोदन के पश्चात् पंचवर्षीय योजना लागू होती है।

14.5 केन्द्र शासित क्षेत्र

केन्द्र शासित क्षेत्र ऐसे छोटे एवं विशिष्ट क्षेत्र होते हैं जो प्रत्यक्ष तौर पर केन्द्रीय सरकार के प्रशासनिक नियन्त्रण के अधीन रहते हैं। कई भूतपूर्व केन्द्र शासित क्षेत्रों को राज्यों का दर्जा प्रदान किया गया है।

केन्द्र शासित क्षेत्र के लिए राष्ट्रपति एक प्रशासक की नियुक्ति करता है और कभी-कभी इसको उप-राज्यपाल का दर्जा प्रदान किया जाता है। केन्द्र शासित क्षेत्र के प्रशासक के रूप में इसके पड़ौसी राज्य के राज्यपाल को राष्ट्रपति नियुक्त कर सकता है। इस प्रकार के राज्यपाल जिस समय केन्द्र शासित क्षेत्र के प्रशासक के रूप में कार्य कर रहे हों तब उनको अपने राज्य का मन्त्रिमण्डल सलाह नहीं देता।

1962 में संसद ने कुछ केन्द्र शासित क्षेत्रों के लिए विधायिका एवं मन्त्रिपरिषद् का गठन किया। पाण्डेचेरी के अलावा, वे सभी राज्य का दर्जा प्राप्त कर चुके हैं। 1991 में दिल्ली को अधिक स्वायत्तता के साथ केन्द्रीय राजधानी क्षेत्र के रूप में विशेष दर्जा प्रदान किया गया।

14.6 सारांश

राजनीतिक अर्थों में संघवाद एकता के बग़ैर एक संघ है। भारत में यह संघ केन्द्र सरकार से राज्य सरकारों को सत्ता के हस्तान्तरण का परिणाम है। संविधान विधायिका, कार्यपालिका एवं वित्तीय शक्तियों का केन्द्र एवं राज्यों के मध्य विभाजन केन्द्र की ओर रुझान सहित करता है। भारतीय न्यायपालिका एकीकृत है लेकिन उच्चतम न्यायालय को देश का संघीय न्यायालय भी कहा जाता है। राज्य सीमाएँ बहुत सुनिश्चित नहीं हैं और अक्सर केन्द्र-राज्य एवं केन्द्र-राज्यों के बीच तनाव उत्पन्न होते रहते हैं।

14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डी.डी. बासू, *इन्ट्रोडक्शन टू दी कॉन्सटीट्यूशन ऑफ इण्डिया,* नई दिल्ली, प्रेनटाइस-हाल।

ईकोनोमिक रिफोर्म्स : दी रोल ऑफ स्टेट्स एण्ड दी फ्यूचर ऑफ सेण्टर-स्टेट रिलेशन्स, नई दिल्ली, ऑब्ज़र्वर फाउण्डेशन, 1996।

इयान कॉपलैण्ड एण्ड जॉहन रिकार्ड (सम्पादन), *फेडरेलिज्म : कम्पेरेटिव पर्सपैक्टीव फ्रोम इण्डिया एण्ड आस्ट्रेलिया,* नई दिल्ली, मनोहर, 1999।

14.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) केंद्र

2) ऐसा इस लिए कहा जाता है क्योंकि "राज्य की यूनियन" में इसकी इकाई को किसी संघ की भांति, जो संघ की इकाई के बीच समझौते का परिणाम होता है, यूनियन से प्रथक होने का अधिकार नहीं होता है।

बोध प्रश्न 2

1) तीन प्रकार के कर : राज्यों द्वारा वसूल तथा खर्च किए जाने वाले कर, ऐसे कर जिनको केंद्र राज्यों के नाम पर वसूल करता है और उनको प्रदान करता है; तथा ऐसे कर जिनकी वसूली कर केन्द्र संसद द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार राज्यों के बीच बटवारा करता है।

2) यह राष्ट्रपति को सिफारिशें देता है: केंद्र एवं राज्यों के बीच करों के बंटवारे के बारे में; उन सिद्धान्तों के निर्धारण के बारे में जो भारत के समाहित कोष से राज्यों के राजस्व के अनुदान को सुनिश्चित करें; तथा समाहित कोष में बढ़ोतरी करने के उपायों के बारे में।

3) योजना आयोग द्वारा बनाई गई नीतियों की राष्ट्रीय विकास परिषद में परिचर्चा होती है।

इकाई 15 उत्तर-पूर्वी राज्यों, जम्मू एवं कश्मीर आदि के लिए विशेष धाराएँ

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 विशेष व्यवस्थाएँ

- 15.2.1 जम्मू एवं कश्मीर से संबंधित धारा 370
- 15.2.2 उत्तर-पूर्व के लिए छठी सूची
- 15.2.3 निर्धारित क्षेत्रों के लिए पाँचवीं सूची

15.3 विशेष धाराएँ क्यों?

- 15.3.1 जम्मू-कश्मीर
- 15.3.2 उत्तर-पूर्व
- 15.3.3 सूचीबद्ध क्षेत्र
- 15.3.4 विशेष श्रेणी वाले राज्य

15.4 विशेष व्यवस्थाओं से संबंधित राजनीति

- 15.4.1 जम्मू एवं कश्मीर
- 15.4.2 उत्तर-पूर्वी भारत

15.5 सारांश

15.6 शब्दावली

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको जानकारी हो सकेगी :

- उन क्षेत्रों की पहचान की जो देश के दूसरे भागों से विशिष्ट हैं;
- इन क्षेत्रों के लिए विशेष संवैधानिक धाराओं की;
- विशेष धाराओं को लागू करने के कारणों की; तथा
- इन क्षेत्रों के अंतर्गत विशेष व्यवस्थाओं की विभिन्न अवधारणाओं की।

15.1 प्रस्तावना

भारत का संविधान सम्पूर्ण देश में एकरूप शासन की व्यवस्था करता है लेकिन देश के कुछ क्षेत्र विशेष धाराओं द्वारा शासित होते हैं। इन धाराओं द्वारा इन क्षेत्रों के मूल निवासियों की सांस्कृतिक पहचान, प्रथाओं, आर्थिक तथा राजनीतिक हितों की रक्षा को सुनिश्चित किया गया है। इन क्षेत्रों में उत्तर-पूर्वी राज्यों के जनजातीय पहाड़ी क्षेत्रों अर्थात् असम, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, नागालैण्ड,

मिज़ोरम, मेघालय एवं त्रिपुरा, जम्मू तथा कश्मीर राज्य और "निर्धारित (सूचीबद्ध) क्षेत्रों" को शामिल किया गया है।

"निर्धारित क्षेत्र" उत्तर-पूर्वी भारत के अलावा उन जनजातीय क्षेत्रों को कहा जाता है जो देश के अन्य भागों में विद्यमान हैं। ये क्षेत्र आंध्रप्रदेश, बिहार, छत्तीसगढ़, गुजरात, हिमाचलप्रदेश, मध्यप्रदेश, झारखण्ड, महाराष्ट्र, उड़ीसा एवं राजस्थान जैसे राज्यों में विद्यमान हैं। इन क्षेत्रों के अतिरिक्त देश के अन्य कुछ क्षेत्र भी विशेष धाराओं द्वारा शासित होते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ राज्य विशेष संवर्ग राज्य की माँग करते रहते हैं, यद्यपि संविधान में उनके लिए कोई विशेष व्यवस्था नहीं की गई है। इस तरह का दर्जा प्राप्त करने पर वे विकास – जैसे कर्ज की अपेक्षा आर्थिक अनुदान में वृद्धि, के लिए विशेष सहायता के हक़दार बन जाएँगे। जबकि कर्ज की उधारकर्त्ता (महाजन) को अदायगी करनी होती है परन्तु आर्थिक अनुदान की नहीं। उड़ीसा, बिहार तथा नवनिर्मित राज्य उत्तरांचल ने विशेष संवर्ग राज्य (एस०सी०एस०) में शामिल किए जाने की माँग की है।

15.2 विशेष व्यवस्थाएँ

हमारे संविधान में निम्नलिखित विशेष धाराओं की व्यवस्था की गई है :

15.2.1 जम्मू एवं कश्मीर से संबंधित धारा 370

जम्मू-कश्मीर से संबंधित संसद द्वारा पारित कोई भी कानून राज्य सरकार की सहमति एवं भारत के राष्ट्रपति की आज्ञा के बग़ैर लागू नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की स्थिति अन्य राज्यों के लिए नहीं है। जम्मू-कश्मीर के मौलिक संविधान में धारा 370 को अस्थायी उपाय के रूप में वर्णित किया गया है। 1975 में शेख अब्दुल्ला तथा इंदिरा में सहमति हुई कि शेख अब्दुल्ला जनमत-संग्रह की माँग का परित्याग कर देंगे और जम्मू-कश्मीर का विशेष दर्जा जारी रहेगा। यह अब अस्थायी उपाय नहीं रहेगा। परन्तु मतभेद हो जाने के कारण यह समझौता लागू न हो सका और न ही राष्ट्रपति का आदेश जारी हो पाया। भारतीय संघ के ढाँचे के अंतर्गत अपना स्वयं का संविधान रखने वाला जम्मू-कश्मीर देश का एकमात्र राज्य है। जम्मू-कश्मीर के संविधान की मुख्य धाराओं का निम्नलिखित संक्षिप्त विवरण दिया जा सकता है।

i) जम्मू-कश्मीर राज्य के अंतर्गत उन सभी इलाकों को सम्मिलित किया गया है जो भूतपूर्व शासक के अधीन थे। इन इलाकों में उन क्षेत्रों को भी शामिल किया गया है जो वर्तमान पाकिस्तान के अधीन हैं।

ii) जम्मू-कश्मीर के 123 विधानसभा क्षेत्रों में से 25 का आवंटन पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर क्षेत्र में किया गया है, ये स्थान रिक्त रहते हैं क्योंकि वहाँ की स्थिति चुनाव कराने के अनुकूल नहीं है।

iii) यद्यपि राज्य सरकार की कार्यपालिका एवं विधायी शक्ति सम्पूर्ण राज्य पर लागू की गई है किन्तु इनको उन क्षेत्रों पर लागू नहीं किया जा सकता जो संसद के कार्य-क्षेत्र के अधीन आते हैं।

iv) जम्मू-कश्मीर के "स्थायी निवासियों" को वे सभी अधिकार प्राप्त है जिनकी गारण्टी देश के संविधान में दी गई है।

v) संसद के दो-तिहाई से अधिक सदस्य विधेयक पारित कर संविधान में संशोधन कर सकते हैं। लेकिन यह विधेयक राज्य तथा केन्द्र सरकार के बीच के संबंधों से संबंधित धाराओं में परिवर्तन नहीं कर सकता।

15.2.2 उत्तर-पूर्व के लिए छठी सूची

संचालन की छठी सूची

संविधान की छठी सूची की धारा 244 द्वारा पर्वतीय जनजातियों के हितों एवं सांस्कृतिक पहचान की सुरक्षा हेतु व्यवस्थाएँ की गई हैं। VI-सूची की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण धारा द्वारा स्वायत्त जिला कौंसिल का निर्माण करना है। उत्तर-पूर्वी राज्यों की कुछ जनजातियों स्वायत्त जिला कौंसिल है किन्तु अरुणाचल प्रदेश, नागालैण्ड तथा मिज़ोरम के अधिकतर भाग में इसकी व्यवस्था नहीं की गई है। आंतरिक रेखा रेगूलेशन तीन राज्यों अर्थात् अरुणाचल प्रदेश, मिज़ोरम तथा नागालैण्ड और असम के ज़िला कछार के लिए विद्यमान है। स्वायत्त ज़िला कौंसिलों की आधुनिक संस्था निर्वाचित संगठन हैं। उन पर नियंत्रण नई पीढ़ी का है जो आधुनिक शिक्षा से लाभान्वित हुए हैं। इसके कारण नव प्रबुद्ध वर्ग का परम्परागत प्रबुद्ध वर्ग के साथ टकराव हुआ है क्योंकि वह इसे अपने स्थिति पर एक अतिक्रमण मानता है। वास्तव में वे इसकी समाप्त करने की माँग करते रहे हैं। ग़ैर-जनजातियों का भी एक समूह स्वायत्त ज़िला कौंसिलों के समाप्त करने की माँग करता रहा है। उनका तर्क है कि VI-सूची की व्यवस्था को जनजातियों के हितों की रक्षा हेतु लागू किया गया था क्योंकि वे असम राज्य के भाग थे लेकिन अलग राज्यों के गठन के कारण अब स्वायत्त ज़िला कौंसिलों की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। स्वायत्त ज़िला कौंसिलों के कार्य-क्षेत्र की स्पष्ट व्याख्या न होने के कारण, ज़िला कौंसिलों, राज्य विधायिका तथा ग्रामीण कौंसिलों के कार्य-क्षेत्र एक-दूसरे का उल्लंघन करते रहते हैं। इसके कारण जनता को असुविधा होती है।

अंग्रेज़ी शासन के दौरान बंगाल पूर्वी सीमा रेगूलेशन, 1873 के अंतर्गत आंतरिक रेखा खींची गई थी। सरकार की आज्ञा के बग़ैर बाहर के लोगों को आंतरिक रेखा के पार यात्रा करने की मनाही की गई है। इसका मुख्य उद्देश्य इस आंतरिक रेखा क्षेत्र के लोगों की मैदानी इलाकों के लोगों के शोषण से रक्षा करना था। इसके द्वारा जहाँ एक ओर इस क्षेत्र पर अंग्रेज़ी नियंत्रण को बनाए रखा गया वहीं इसने मैदानी एवं पर्वतीय लोगों के एकीकरण में रुकावट भी उत्पन्न की। उत्तर-पूर्वी भारत में आंतरिक रेखा एक गहरे विवाद का विषय है।

15.2.3 निर्धारित क्षेत्रों के लिए पाँचवीं सूची

उत्तर-पूर्वी पर्वतीय क्षेत्रों के अलावा देश के अन्य भागों की जनजातियों के हितों एवं सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित करने के लिए भारत के संविधान में विशेष व्यवस्था की गई है। इनको निर्धारित क्षेत्रों के नाम से जाना जाता है और हमारे संविधान की पाँचवीं सूची में इन क्षेत्रों से संबंधित धाराएँ दी गई हैं। संविधान में संशोधन किए बग़ैर संसद के पास इनको साधारण विधान द्वारा परिवर्तित करने की शक्तियाँ हैं। इसकी मुख्य धाराएँ निम्न प्रकार से हैं :

i) राज्यों की ऐसी कार्यपालिका शक्तियाँ जिनका विस्तार निर्धारित क्षेत्रों तक किया गया है,

ii) इन राज्यों के राज्यपालों को इन क्षेत्रों की वार्षिक प्रशासनिक रपट राष्ट्रपति को भेजनी होती है या तब जब राष्ट्रपति इस रपट को प्राप्त करने की आवश्यकता समझे,

iii) जनजातीय सलाहकार समितियों का गठन सूचीबद्ध जनजातियों की प्रगति एवं हित से संबंधित

विषयों पर सरकार को सलाह देने हेतु किया जाता है। इन विषयों को राज्यपाल कौंसिलों को प्रेषित करते हैं,

iv) राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि वह संसद या राज्य विधायिका द्वारा पारित किसी भी कानून को लागू करने से इंकार कर सकता है या उसको अपवाद के रूप में लागू करने या संशोधित करने का कार्य भी कर सकता है,

v) राज्यपाल को सूचीबद्ध जनजातियों के सदस्यों के बीच भूमि हस्तांतरण, भूमि के आवंटन तथा महाजनी व्यवसाय पर रोक लगाने या सीमित करने हेतु कानून बनाने का अधिकार है। राज्यपाल द्वारा बनाए गए इस प्रकार के कानूनों पर राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त करना आवश्यक है,

vi) राज्य में सूचीबद्ध क्षेत्रों तथा सूचीबद्ध जनजातियों पर प्रशासनिक रपट करने के लिए राष्ट्रपति एक आयोग की नियुक्ति कर सकता है। संविधान लागू होने के दस वर्ष के अन्त में इस प्रकार के आयोग की नियुक्ति करना अनिवार्य है और प्रथम आयोग की नियुक्ति 1960 में की गई। आयोग ने अपनी रपट 1961 में जमा की।

बोध प्रश्न 1

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) उत्तर-पूर्वी भारत से संबंधित विशेष धाराओं का उल्लेख करें।

.....

.....

.....

.....

.....

15.3 विशेष धाराएँ क्यों?

15.3.1 जम्मू-कश्मीर

संविधान की धारा 370 के अंतर्गत भारत के सभी राज्यों में संपूर्ण जम्मू एवं कश्मीर राज्य को विशेष दर्जा प्राप्त है। इस राज्य को विशेष दर्जा इसलिए प्राप्त है क्योंकि विशिष्ट प्रकार की परिस्थितियों के कारण इसको भारत सरकार के अधीन किया गया। अंग्रेज़ी शासन के दौरान जम्मू-कश्मीर राज्य पर हरिसिंह ने 26 अक्टूबर, 1947 को अभिगमन संधि पर हस्ताक्षर कर भारत राज्य में जम्मू-कश्मीर का विलय कर दिया। महाराजा के आग्रह पर भारत ने जम्मू-कश्मीर की सेवाओं के आक्रमण करने की स्थिति में महाराजा के लिए ऐसा करना आवश्यक हो गया था। उन अन्य राज्यों की भाँति ही जम्मू-कश्मीर के विदेशी मामले, रक्षा एवं संचार भारतीय सरकार के अधीन हो गए

जो अभिगमन संधि के अंतर्गत भारत के अधीनस्थ हो गए थे। 1950 में भारतीय संविधान लागू होने के साथ ही जम्मू-कश्मीर को संविधान की प्रथम सूची के भाग-बी में सम्मिलित कर लिया गया।

भाग-बी में अन्य भूतपूर्व देशी राज्यों के साथ जम्मू-कश्मीर राज्य भी इसका एक सदस्य है, लेकिन जम्मू-कश्मीर राज्य के शासन चलाने हेतु विशेष व्यवस्थाएँ की गई हैं। भाग-बी के अन्य राज्यों के लिए की गई व्यवस्थाओं से जम्मू-कश्मीर के लिए की गई व्यवस्थाएँ भिन्न प्रकार की हैं। इनको संविधान की धारा 370 में शामिल किया गया है। इस धारा की व्यवस्थाओं के अनुसार जम्मू-कश्मीर राज्य के लिए अलग संविधान निर्मात्री सभा की व्यवस्था की गई थी। इसमें राज्य के जनप्रतिनिधियों को शामिल किया गया। संविधान निर्मात्री सभा का लक्ष्य राज्य के लिए एक संविधान लिखना तथा जम्मू-कश्मीर राज्य के ऊपर भारत की केन्द्रीय सरकार के अधिकारक्षेत्र का निर्धारण करना था। संविधान निर्मात्री सभा की धाराओं को आंतरिक व्यवस्थाओं के रूप में लागू किया गया।

पूर्ववर्ती देशी राज्यों के मामलों में भी भारत सरकार केन्द्रीय सूची के विषयों पर अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकती है किन्तु जम्मू-कश्मीर राज्य के विषय में भारत सरकार ने सार्वजनिक रूप से यह वायदा किया कि इस राज्य का भारतीय संघ में अभिगमन राज्य की जनता की सहमति से होगा। इसके बदले भारत सरकार ने महाराजा के सामने यह शर्त रखी कि अभिगमन का अनुसरण करते हुए लोकप्रिय सरकार का गठन करे। इसका अभिप्राय था कि उत्तराधिकारी शासन का अन्त। जम्मू-कश्मीर की जनता ने राज्य की संविधान निर्मात्री सभा के प्रतिनिधियों के माध्यम से अभिगमन की पुष्टि की। लेकिन यह इस शर्त के द्वारा किया गया कि जम्मू-कश्मीर का शासन संविधान निर्मात्री सभा द्वारा निर्मित किए गए भिन्न प्रकार के कानूनों द्वारा किया जाएगा। भारत के संविधान की धारा 370 में जम्मू-कश्मीर की संविधान निर्मात्री सभा के सुझावों प्रस्तावों को शामिल किया गया था। इस धारा को जारी, संशोधित या स्थगन जम्मू-कश्मीर की विधान सभा के दो-तिहाई सदस्यों के समर्थन के बग़ैर नहीं किया जा सकता, जिसका अभिप्राय है कि राज्य की जनता के बग़ैर। राष्ट्रपति ने जम्मू-कश्मीर की सरकार की सलाह पर संविधान निर्मात्री सभा की सिफारिशों को 1950 के संवैधानिक आदेश (जम्मू-कश्मीर में लागू करने के लिए) द्वारा स्वीकृति प्रदान की। इस आदेश में विशेष तौर पर कहा गया कि भारतीय संसद तीन क्षेत्रों – रक्षा, विदेशी मामलों एवं संचार अर्थात् उन विषयों पर कानून बनाने के लिए स्वतंत्र होगी जिनपर अभिगमन संधि के अंतर्गत सहमति हुई थी। शेष सभी विषयों पर प्रशासनिक कार्यवाही जम्मू-कश्मीर के संविधान के अनुसार की जाएगी।

पुनः 1952 में राज्य सरकार एवं केन्द्रीय सरकार के मध्य एक समझौता हुआ। इस समझौते के अंतर्गत न केवल केन्द्रीय सरकार के अधिकार क्षेत्र के अधीन पड़ने वाले रक्षा, विदेशी मामलों तथा संचार जैसे विषयों को शामिल किया गया बल्कि केन्द्रीय सूची के विषयों को भी शामिल किया गया और जम्मू-कश्मीर संविधान निर्मात्री सभा के विचाराधीन निर्णयों को भी शामिल किया गया। जम्मू-कश्मीर की संविधान निर्मात्री सभा ने 1954 में भारत में इस राज्य के अभिगमन के साथ-साथ राज्य सरकार तथा केन्द्रीय सरकार के बीच हुए समझौते को भी स्वीकृति प्रदान की। राष्ट्रपति ने राज्य सरकार की सलाह पर 1954 में संवैधानिक आदेश (जम्मू-कश्मीर पर लागू होने वाला) जारी किया। इस आदेश से 1952 में राज्य सरकार तथा केन्द्रीय सरकार के बीच हुए समझौते को लागू किया गया और संविधान निर्मात्री सभा को स्वीकृति प्रदान की गई। इस आदेश ने 1950 के आदेश को भी निरस्त कर दिया।

1952 के आदेश द्वारा केन्द्र के अधिकार क्षेत्र में जम्मू-कश्मीर का अभिगमन संधि में उद्धृत तीन विषयों रक्षा, विदेशी मामले तथा संचार के उन अन्य विषयों में भी वृद्धि की जो भारतीय संविधान

की केन्द्रीय सूची के अंतर्गत आते थे। 1963 तथा 1974 के बीच इस आदेश में सात बार संशोधन किया गया। संशोधित आदेश से जम्मू-कश्मीर राज्य की सम्पूर्ण संवैधानिक स्थिति भारतीय संविधान के ढाँचे के अंतर्गत समाहित हो गई। यद्यपि इस आदेश द्वारा जम्मू-कश्मीर के उस संविधान को बाहर रखा गया जिसका निर्माण राज्य की संविधान निर्मात्री सभा ने किया था।

देश में जम्मू-कश्मीर एकमात्र ऐसा राज्य है जिसका अपना स्वयं का संविधान है। यह एकमात्र ऐसा राज्य भी है जिसकी एक संविधान निर्मात्री सभा थी। जिसने राज्य के संविधान का निर्माण किया। जम्मू-कश्मीर की संविधान निर्मात्री सभा का चुना राज्य की जनता द्वारा किया गया। संविधान निर्मात्री सभा की प्रथम बैठक 31 अक्टूबर, 1951 को हुई।

जम्मू-कश्मीर की संविधान निर्मात्री सभा दो मुख्य कार्यों को सम्पन्न किया :

i) इसने महाराजा के उत्तराधिकारी शासन का अन्त किया और उसके स्थान पर निर्वाचित अध्यक्ष सदर-ए-रियासत की व्यवस्था की, बाद में इस पद को राज्यपाल के पद में परिवर्तित कर दिया गया। अभिगमन की संधि की शर्तों के अनुसार, महाराजा ने अखिल भारतीय जम्मू-कश्मीर कान्फ्रेंस के अध्यक्ष शेख़ अब्दुल्ला को आन्तरिक सरकार के गठन के लिए आमंत्रित करने के बाद लोकप्रिय अंतरिम सरकार को लागू किया। आगे चलकर अंतरिम सरकार पूर्ण रूपेण मंत्रिमण्डल में परिवर्तित हो गई और शेख़ अब्दुल्ला इसके प्रथम प्रधान मंत्री बने। लेकिन शेख़ अब्दुल्ला इससे संतुष्ट न हुए। वह चाहते थे कि महाराजा हरिसिंह त्यागपत्र दें। क्योंकि अभिगमन संधि के अंतर्गत भारत सरकार की शर्त उत्तराधिकारी पद को समाप्त करने की थी। जून 1949 में महाराजा ने अपने नौजवान पुत्र युवराज कर्णसिंह के पक्ष में अपने पद का परित्याग कर दिया। संविधान निर्मात्री सभा ने 3 अक्टूबर, 1951 को युवराज का सदर-ए-रियासत के रूप में निर्वाचित कर दिया। किन्तु 1965 में जम्मू-कश्मीर के संविधान में छठे संशोधन द्वारा सदर-ए-रियासत के पद को समाप्त कर दिया गया।

ii) इसने राज्य के संविधान का निर्माण किया। राज्य के लिए संविधान निर्मात्री सभा के संविधान मसौदे को 17 नवम्बर, 1957 को पारित किया गया और 26 जनवरी, 1958 से इसे लागू कर दिया गया।

बोध प्रश्न 2

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) अभिगमन की संधि के बाद भारत सरकार के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत कौन-से विषय आए, उनका उल्लेख करें।

.....

.....

.....

.....

.....

15.3.2 उत्तर-पूर्व

भारत के संविधान की VI-सूची द्वारा पर्वतीय जन-जातियों की सांस्कृतिक एवं आर्थिक हितों की रक्षा तथा जन-जातीय स्वायत्तता को संरक्षित रखने के लिए असम राज्य के अंदर ही स्वायत्त जिले बनाए गए। उत्तर-पूर्वी भारत के पर्वतीय क्षेत्रों पर शेष भारत की अपेक्षा शासन करने के विभिन्न मापदण्डों का इतिहास रहा है। देशी राज्यों को छोड़कर अधिकतर भारत पर शासन औपनिवैशिक प्रशासन के मापदण्ड से शासन किया गया किन्तु असम के पर्वतीय क्षेत्रों पर अंग्रेज़ों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से शासन किया गया। अंग्रेज़ों ने उनकी सत्ता की परम्परागत व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं किया। भूमि, उत्तराधिकारी, वन विवादित प्रस्तावों, इत्यादि से संबंधित प्रश्नों का निपटारा परम्परागत कानूनों तथा कुल की पंचायतों एवं जन-जातीय मुखियों द्वारा किया जाता था। 1919 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा उनको 'पिछड़ा क्षेत्र' घोषित किया गया। 1935 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा उनको 'बहिष्कृत' का 'आंशिक बहिष्कृत' क्षेत्रों में परिवर्तित कर दिया। 'बहिष्कृत क्षेत्रों' को असम विधायिका में प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया गया, यद्यपि वे असम प्रांत में ही विद्यमान थे। "आंशिक बहिष्कृत'' क्षेत्रों को असम राज्य के अन्दर ही विधायिका अनुभव प्राप्त करने का विशेषाधिकार प्राप्त था। "बहिष्कृत क्षेत्रों'' का प्रशासन गवर्नर-इन कौंसिल द्वारा उसके 'सुरक्षित' अधिकार क्षेत्र के रूप में संचालित किया गया। "आंशिक बहिष्कृत क्षेत्रों'' का कुछ प्रशासन प्रांतीय विधायिका द्वारा संचालित होता था। ब्रिटिश न्यायालयों का अधिकार क्षेत्र इन क्षेत्रों तक सीमित था।

ब्रिटिश भारत सरकार ने असम के पर्वतीय क्षेत्रों को 'बहिष्कृत क्षेत्रों' में इसलिए रखा क्योंकि उनकी नीति स्वार्थरत थी। यह जानने पर कि इस क्षेत्र से प्राप्त होने वाले राजस्व से प्रशासनिक खर्च पूरा नहीं किया जा सकता इसलिए इन क्षेत्रों का शासन परम्परागत शासन के अधीन छोड़ दिया गया। दूसरे इन क्षेत्रों की जनता किसी भी प्रकार के बाह्य शासन के विरुद्ध थी। उनके आंतरिक मामलों में किसी भी प्रकार का बाह्य हस्तक्षेप या घुसपैठ उनके विरोध एवं शत्रुता का कारण बन सकता था। इनका पहले से ही अनुमान कर अंग्रेज़ी शासकों ने इन क्षेत्रों के लिए एक विशिष्ट प्रकार की नीति का अनुसरण करते हुए उन्होंने बर्मा के पर्वतीय क्षेत्रों के साथ उत्तर-पूर्वी भारत के सभी क्षेत्रों के साथ उत्तर-पूर्वी भारत के सभी क्षेत्रों को 'ताज उपनिवेश' (Crown Colony) के अधीन करने की संदिग्ध योजना बनायी। 'ताज उपनिवेश' बनाने की उनकी योजना एक गुप्त योजना थी जिसका नाम रेजीनाल्ड कौपलैण्ड के नाम पर "कौपलैण्ड योजना'' रखा गया था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस सुझाव को खारिज़ कर दिया। परन्तु इस क्षेत्र की विशिष्टता की आवश्यकता के कारण इनका शासन चलाने हेतु विशिष्ट व्यवस्थाओं को मान्यता प्रदान करनी पड़ी। इन व्यवस्थाओं को भारत की संविधान निर्मात्री सभा की उत्तर-पूर्वी सीमा (असम), जन-जातीय तथा बहिष्कृत क्षेत्र उप-समिति की सलाहकार समिति की सिफारिशों के आधार पर शामिल किया गया। इस उप-समिति को बोरदोलोई उप-समिति के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि संविधान निर्मात्री सभा के सदस्य एवं उस समय के असम के प्रधानमंत्री गोपीनाथ बोरदोलोई इस समिति के अध्यक्ष थे।

बोरदोलोई उप-समिति की मुख्य सिफारिश असम राज्य के अंदर जन-जातीय क्षेत्रों के लिए स्वायत्त जिला कौंसिलों तथा क्षेत्रीय कौंसिलों की स्थापना करना था। 26 जनवरी, 1950 को संविधान लागू होने के साथ ही नागा पर्वतों (अलगाववादी हिंसा से त्रस्त) तथा अति पिछड़े सीमावर्ती क्षेत्रों के अलावा असम के सभी पर्वतीय जिलों में स्वायत्त जिला कौंसिलें अस्तित्व में आ गई। उत्तर-पूर्वी भारत को पुनसंगठित करने के पश्चात् जिला कौंसिलों को पुन:गठित किया गया। 1984 में छठी सूची का प्रसार त्रिपुरा तक किया गया (उत्तर-पूर्वी भारत के पुनर्गठन के विवरण को आप इकाई 17.6.4 में पढ़ेंगे)।

बोध प्रश्न 3

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) उत्तर-पूर्वी भारत के पर्वतीय क्षेत्रों के लिए विशेष व्यवस्थाओं को करने के क्या कारण थे?

.....

.....

.....

.....

.....

15.3.3 सूचीबद्ध क्षेत्र

जैसा कि आप इस इकाई के प्रारंभ में देख चुके हैं कि "सूचीबद्ध क्षेत्र" उन जन-जातीय निवासियों के क्षेत्र हैं जो उत्तर-पूर्वी भारत के अलावा अन्य राज्यों में विद्यमान हैं। उत्तर-पूर्वी पर्वतीय जन-जातियों की भाँति ही इनको भी हमारे संविधान की V-सूची में विद्यमान विशेष व्यवस्थाओं द्वारा सुरक्षित किया गया है। यह सूची उनकी सांस्कृतिक अस्मिता तथा आर्थिक हितों को सुरक्षित करती है।

15.3.4 विशेष श्रेणी वाले राज्य

विशेष श्रेणी राज्य शुद्ध रूप से प्रशासनिक श्रेणी वाले राज्य हैं और यह कोई संवैधानिक व्यवस्था नहीं है। ये ऐसे राज्य हैं जो मूल-ढाँचे के विकास की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं या फिर जो सूखे या बाढ़ जैसी राष्ट्रीय आपदा से प्रभावित होते हैं उनको विशेष श्रेणी राज्य की श्रेणी में रखा जाता है। इस प्रकार की माँगों को स्वीकार या इंकार करना राजनीतिक कारकों पर निर्भर करता है।

15.4 विशेष व्यवस्थाओं से संबंधित राजनीति

भिन्न क्षेत्रों के लिए विशेष व्यवस्थाएँ होने के बावजूद भी देश के उन क्षेत्रों में इनकी सार्थकता एवं अक्षमता को लेकर असंतोष व्याप्त है जिन क्षेत्रों में ये व्यवस्थाएँ लागू हैं। कुछ इन व्यवस्थाओं का विरोध यह कहते हुए करते हैं कि ये अपर्याप्त हैं, दूसरे उनको अनावश्यक मानते हैं और कहते हैं कि वे अल्पसंख्यकों के अधिकारों का उल्लंघन करते हैं।

15.4.1 जम्मू एवं कश्मीर

जम्मू-कश्मीर के अभिगमन का "प्लेबीसाइट फ्रंट" के नाम से मशहूर पाकिस्तान समर्थक ताकतों ने इसका विरोध किया। शेख़ अब्दुल्ला भी इस "प्लेबीसाइट फ्रंट" (जनमत संग्रह मंच) आंदोलन में शामिल हो गए। उनको 1955 में रिहा किया गया। लेकिन उनको पुन: 1965 में गिरफ्तार कर लिया गया और 1971 में राज्य से बाहर कर दिया गया। 1975 में उनको इंदिरा गाँधी एवं शेख़ अब्दुल्ला, प्लेबीसाइट फ्रंट तथा केन्द्रीय सरकार के बीच समझौता हो जाने पर रिहा कर दिया गया।

उनके पुत्र फारुख अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल कांफ्रेंस जम्मू-कश्मीर में 1953 से पूर्व की स्थिति बहाल करने की माँग करती रही है। इसका अभिप्राय है कि केन्द्रीय सरकार के अधीन वे तीन विषय-रक्षा, विदेशी मामले एवं संचार होने चाहिए जिनका उल्लेख अभिगमन संधि के अंतर्गत किया गया था। अभी हाल में राज्य की विधान सभा ने राज्य की स्वायत्तता की माँग का प्रस्ताव भी पारित किया है। राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन की सरकार ने इस प्रस्ताव को मानने से इंकार कर दिया। बी०जे०पी० इस मोर्चे का सबसे बड़ा दल एवं नेशनल कांफ्रेस भागीदारी कर रही है। बी०जे०पी० धारा 370 के जारी रहने का विरोध करती रही है।

15.4.2 उत्तर-पूर्वी भारत

VI-सूची के विषय में भी ठीक इसी प्रकार से विभिन्न लोगों द्वारा आशंकाएँ व्यक्त की गई हैं। वास्तव में नागा अलगाववादियों ने VI-सूची स्वीकार करने से इंकार कर दिया क्योंकि उनका मानना था कि VI-सूची उनकी विशिष्टता का भारत तथा असम के साथ एकीकरण का साधन थी।

स्वायत्त जिला कौंसिलों को लागू करने से जन-जातीय समाज के भूतपूर्व शासक सरदारों की स्थिति कमज़ोर हुई। जिला कौंसिलों पर नियंत्रण नीवन पीढ़ी के नेतृत्व का हो गया। इसलिए उन्होंने कौंसिलों का विरोध किया। तीसरे कुछ लोगों का मानना था कि स्वायत्त जिला कौंसिलों को सीमित अधिकार प्राप्त हैं, इसलिए उनको और अधिकार प्रदान किए जाने चाहिए। जिला कौंसिलें, ग्रामीण कौंसिलें तथा राज्य सरकार के अधिकार क्षेत्र एक-दूसरे उल्लंघन करती हैं। इन संस्थाओं पर भ्रष्टाचार बढ़ाने के आरोप लगाए गए। स्वायत्त कौंसिलें मुख्यत: ऐसी प्रतिनिधि संस्थाएँ हैं जिनको असुरक्षित वनों के प्रबंधन, सम्पत्ति के उत्तराधिकार, विवाह एवं सामाजिक प्रथाओं जैसे निश्चित विषयों पर वैधानिक शक्ति प्राप्त हैं और राज्यपाल कुछ मामलों या अपराधों के लिए इन कौंसिलों को मुकदमा चलाने के लिए सहमति प्रदान कर सकता है। कौंसिलों के पास भूमि राजस्व के अनुमान तथा संचय और कुछ उल्लेखित विषयों पर कर लगाने की शक्ति है। कौंसिल द्वारा बनाए गए कानूनों पर राज्यपाल की सहमति प्राप्त करना आवश्यक है। ग़ैर जन-जातीय लोग इन कौंसिलों को अनावश्यक मानते हैं। उनका आरोप है कि जन-जातियों के स्वार्थी तत्त्वों द्वारा उनको तंग करने के लिए इनका इस्तेमाल किया जाता है। बहुत से लोग इनका निष्कासन चाहते हैं।

15.5 सारांश

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको जानकारी प्राप्त होगी कि भारत में ऐसे कुछ ऐसे भी क्षेत्र हैं जिनका शासन चलाने के लिए संविधान में विशेष व्यवस्थाएँ की गई है। ये क्षेत्र उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों के अलावा सूचीबद्ध पर्वतीय क्षेत्र हैं। हमारे संविधान की VI-सूची, धारा 370 तथा V-सूची में क्रमश: उत्तर-पूर्वी भारत के पर्वतीय क्षेत्रों, जम्मू-कश्मीर और सूचीबद्ध क्षेत्रों के लिए विशेष व्यवस्थाओं का प्रावधान किया गया है। VI-सूची के अंतर्गत आने वाले उत्तर-पूर्वी पर्वतीय क्षेत्र असम, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, नागालैण्ड, मिज़ोरम, मेघालय तथा त्रिपुरा राज्यों में पड़ते हैं। "सूचीबद्ध क्षेत्र" आंध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा एवं राजस्थान राज्यों में विद्यमान हैं। विशेष व्यवस्थाओं का अभिप्राय है कि इन क्षेत्रों का अभिप्राय है कि इन क्षेत्रों के रहने वाले निवासियों की सांस्कृतिक अस्मिताओं के अनुसार बाह्य लोग इनके निवासियों की सम्पत्ति को खरीद या बेच नहीं सकते और उनके मामले प्रथागत कानूनों से संचालित होते हैं। उत्तर-पूर्वी भारत के मामले में स्वायत्त जिला कौंसिलें और आंतरिक सीमाएँ अधिनियम VI-सूची के आधार पर निर्धारित किए जाते हैं। देश में जम्मू-कश्मीर एकमात्र ऐसा राज्य है जिसका अपना संविधान है। भारतीय संसद के द्वारा पारित जम्मू-कश्मीर से संबंधित कोई भी विधेयक तब

तक कानून नहीं बन सकता जब तक राष्ट्रपति राज्य की विधान सभा की सलाह से इसको पारित नहीं करता। लेकिन प्रत्येक क्षेत्र से संबंधित इन विशेष व्यवस्थाओं की आवश्यकता तथा कार्यकुशलता के विषय में इनके समर्थकों एवं विरोधियों दोनों के द्वारा विवाद खड़ा किया जाता रहा है। इन सबके बावजूद भी जिन उद्देश्यों के लिए इनको बनाया गया उसमें उनको पूरा करने में ये मददगार रहे हैं।

15.6 शब्दावली

विशेष व्यवस्थाएँ : भारत के संविधान में ऐसी विशेष व्यवस्थाएँ की गई हैं जिनको देश के कुछ क्षेत्रों के लिए सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक तथा राजनीतिक महत्त्व के आधार पर तैयार किया गया।

स्वायत्त जिला कौंसिलें : स्वायत्त जिला कौंसिलों का गठन भारत के उत्तर-पूर्वी जन-जातीय क्षेत्रों में इन क्षेत्रों के जन-जातीय लोगों की सांस्कृतिक अस्मिताएँ तथा राजनीतिक हितों की सुरक्षा के लिए किया गया।

सदर-ए-रियासत : जम्मू-कश्मीर राज्य का निर्वाचित ऐसा प्रमुख जिसने महाराजा के शासन का स्थान ग्रहण किया। बाद में इसको राज्यपाल के पद में परिवर्तित कर दिया गया।

15.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चौबे, एस० के०, *हिल पोलिटिक्स इन नॉर्थ-ईस्ट इंडिया*, ओरियण्ट लोंगमैन, नई दिल्ली, 1999।

बक्शी, पी० एम०, *दि कॉन्स्टीट्यूशन ऑव इण्डिया* (लेखक की कुद चुनिन्दा टिप्पणियाँ), यूनीवर्सल लॉ पब्लीशिंग कम्पनी, दिल्ली 1999।

बासु, डी० डी०, *इन्ट्रोडक्शन टु दॉ कान्सीट्यूशन ऑफ इंडिया*, प्रिंटिस हॉल, 1985.

15.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) VI-सूची, स्वायत्त जिला कौंसिलें, आंतरिक सीमा अधिनियम

बोध प्रश्न 2

1) इन क्षेत्रों के निवासियों की सांस्कृतिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक अस्मिताओं को संरक्षित करना और उनके राजनीतिक तथा आर्थिक हितों की रक्षा करना।

बोध प्रश्न 3

1) रक्षा, विदेश मामले एवं संचार।

इकाई 16 भारतीय संघवाद में टकराव एवं सहयोग के मुद्दे

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 संघवाद और केन्द्रीयकरण

- 16.2.1 केन्द्रीयकरण
- 16.2.2 परिवर्तित परिस्थिति

16.3 राज्यपाल की भूमिका

- 16.3.1 राज्यपाल की नियुक्ति
- 16.3.2 राज्यपाल की विवेकाधिकार शक्तियाँ
- 16.3.3 राष्ट्रपति के विचार हेतु विधेयक को सुरक्षित रखना

16.4 आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग

- 16.4.1 धारा 356 के अंतर्गत आपातकालीन शक्तियाँ
- 16.4.2 राष्ट्रपति शासन पर विवाद

16.5 वित्तीय संबंध

- 16.5.1 कर लगाने की शक्तियाँ
- 16.5.2 अनुदान विषय
- 16.5.3 आर्थिक योजना

16.6 इलेक्ट्रोनिक मीडिया का इस्तेमाल

16.7 स्वायत्तता तथा सहयोग की माँग

- 16.7.1 स्वायत्तता की माँग
- 16.7.2 सहयोग की दिशा में किए गए कार्य
- 16.7.3 सरकारिया आयोग
- 16.7.4 अन्तर-राज्य कौंसिल

16.8 सारांश

16.9 शब्दावली

16.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई में तनाव तथा सहयोग के उन क्षेत्रों का विवरण किया गया है जिनकी भारत में उत्पत्ति संवैधानिक व्यवस्थाओं और पचास वर्ष से अधिक संघीय व्यवस्था के कार्य करने के कारण हुई है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जान सकेंगे :

- उन कारणों तथा परिस्थिति की जिससे केन्द्र-राज्य रिश्तों में टकराव-सहयोग उत्पन्न हुआ है;

- केन्द्र-राज्यों के बीच के तनावों, उनकी प्रकृति तथा आशयों के क्षेत्रों की पहचान के विषय में;
- सुधार के लिए दिए सुझाव एवं अनुमोदनों या केन्द्र-राज्यों के बीच टकराव व तनाव को कम करने के लिए होने वाले परिवर्तनों के बारे में; तथा
- भारतीय संघवाद की कार्य पद्धति में उत्पन्न होने वाले रुझानों के आकलन के विषय में।

16.1 प्रस्तावना

आप पहले से ही इकाई 4 में पढ़ चुके हैं कि भारतीय संघीय व्यवस्था का विवरण एक "सहयोगीय संघवाद" के रूप में किया गया है। वास्तव में यह एक मजबूत संघ तथा महत्त्वपूर्ण एकात्मक प्रवृत्तियों वाला संघ था। इसकी संरचना इस प्रकार से की गई कि केन्द्रीय सरकार की सर्वोच्चता की स्थापना के साथ कुछ निश्चित क्षेत्रों में राज्यों को भी स्वायत्तता उपलब्ध हो। संविधान की सातवीं सूची के अंतर्गत वैधानिक प्रशासनिक एवं वित्तीय क्षेत्रों में शक्तियों के वितरण की योजना को इस प्रकार से प्रभावकारी बनाया गया था जिससे कि केन्द्रीय सरकार राज्यों से अधिक शक्तिशाली बन सके। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट शक्तियाँ भी केन्द्रीय सरकार का प्रदान की गईं।

आपातकालीन व्यवस्थाओं के नाम पर केन्द्र को विधायी एवं कार्यवाही शक्तियों का भरपूर प्रयोग करने के लिए अथाह शक्तियाँ प्रदान की गई जिससे कि वास्तव में संघीय व्यवस्था एक एकात्मक व्यवस्था में परिवर्तित हो जाए। संविधान निर्माण के समय (राष्ट्रीय एकता तथा विकास के हित में) शक्तियों के केन्द्रीयकरण को आवश्यक समझा गया। कुछ समय पश्चात् विशेषकर 1960 के दशक में भारतीय संघवाद की प्रकृति के विषय में सवालिया निशान लगने लगे। हम इस इकाई में इन सभी विषयों का उनकी पृष्ठभूमि, आशय तथा भविष्य की प्रवृत्तियों के संदर्भ में उल्लेख करेंगे।

16.2 संघवाद और केन्द्रीयकरण

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जिस राजनीतिक प्रबुद्ध वर्ग ने सत्ता को प्राप्त किया वह शक्तिशाली केन्द्र का पक्षधर था क्योंकि वह न केवल केन्द्रीय नीतियों को लागू करना चाहता था अपितु यह राष्ट्रीय प्रबुद्ध वर्ग अपनी सुनिश्चित सर्वोच्चता को भी बनाए रखना चाहता था। इसलिए संविधान द्वारा उपलब्ध कराए गए केन्द्रीकृत संघ को इस वर्ग ने अपर्याप्त माना या पाया और केन्द्र के शासकों ने उचित या अनुचित साधनों का इस्तेमाल करते हुए केन्द्र की शक्तियों में और वृद्धि की। केन्द्र और लगभग सभी राज्यों में एक दल की सरकार होने के कारण की शक्ति में वृद्धि करने में और मदद की।

16.2.1 केन्द्रीयकरण

केन्द्र में केन्द्रीयकरण के लिए मुख्य औचित्य यह दिया गया कि विभाजन हो जाने के कारण देश की एकता एवं अखण्डता को बनाए रखने के लिए एक मज़बूत केन्द्र अपरिहार्य था। नए स्वतंत्र देश के संतुलित तथा योजनाबद्ध विकास के लिए भी केन्द्रीयकृत प्रयासों की आवश्यकता थी। परन्तु व्यवहार में केन्द्रीयकरण के दो लक्ष्य थे, प्रथम जितने भी राज्यों में संभव हो उनमें प्रमुख दल को सत्ता में बनाए रखना और दूसरे दल के अन्दर नेतृत्व की सत्ता को सुदृढ़ करना। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राज्यपालों के पदों तथा आपातकालीन व्यवस्थाओं सहित संवैधानिक एवं अतिरिक्त संवैधानिक तरीकों का इस्तेमाल किया गया। दल के मुख्यमंत्रियों के माध्यम से राज्यों को नियंत्रित एवं संचालित

करने के लिए केन्द्र ने एक पैतृक की भूमिका को विकसित किया। दल की आंतरिक समस्याओं को हल करने के लिए कभी-कभी धारा 356 के अंतर्गत राष्ट्रपति शासन लागू करने जैसी असाधारण शक्तियों का भी इस्तेमाल किया गया। एक दल के शासन के दौरान केन्द्र-राज्यों के संबंध कांग्रेस दल की राज्य शाखाओं तथा केन्द्रीय नेतृत्व के बीच के रिश्तों की अभिव्यक्ति मात्र थे। न तो कभी संघीय ढाँचे को सक्रिय होने का अवसर प्राप्त हुआ और न ही राज्यों ने अपनी संवैधानिक स्वायत्तता का सुख भोगा।

कुल मिलाकर ऐसे स्वतंत्रता आंदोलन की पृष्ठभूमि जो स्वयं में एक एकीकृत ताकत था, विभाजन की त्रासदी, एकदलीय प्रभुत्व, मज़बूत करिश्माई नेतृत्व, राष्ट्रीय योजना एवं राष्ट्रीय राजनीतिक प्रबुद्ध वर्ग की अवधारणा जैसी परिस्थितियों में संविधान का निर्माण केन्द्रीकृत शक्ति के रूप में हुआ। इसको लगभग एक एकीकृत रूप में लागू किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सभी क्षेत्रों में केन्द्र की सर्वोच्चता स्थापित हो गई। राज्यों की परियोजनाओं को अनुमति प्रदान करने में यह पूर्णरूपेण स्वतंत्र था। यह राज्यों की कानून-व्यवस्था का निर्देशन करता। इसने राज्यों के विधायकों को कानून बनाने से रोकना प्रारंभ कर दिया। अपनी इच्छानुसार ही राज्यों को अनुदान प्रदान करता। यहाँ तक कि यह मुख्यमंत्रियों को थोंपने लगा। कई टीकाकारों का मानना था कि संघीय प्रणाली के प्रभाव को एकात्मक सरकार में परिवर्तित किया गया और राज्य केंद्रीय सरकार सहायक एजेन्सी के रूप में कार्य करने लगे।

16.2.2 परिवर्तित परिस्थिति

केन्द्र के प्रभुत्व की प्राथमिकता की व्याख्या एवं केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया तब तक किसी मुश्किल या विरोध के बग़ैर कार्य करते रहे जब तक केन्द्र एवं लगभग सभी राज्यों में एक दल का शासन कायम रहा। इसका कारण यह था कि कांग्रेस पर ऐसे नेताओं था नियंत्रण का जिनका स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के कारण राष्ट्रीय नेताओं के रूप में सम्मान किया जाता था। जनमानस के बीच यह अभिलाषा भी थी कि उनके विकास की आशाएँ पूरी की जाएँगी। किन्तु 1960 के दशक के मध्य से स्थिति में परिवर्तन होना प्रारंभ हुआ। करिश्माई नेतागण राजनीतिक परिदृश्य से विलुप्त होने लगे। जनता की अभिलाषाओं को पूरा करने वाली विकास योजना की असफलता स्पष्ट होने लगी। विभिन्न राजनीतिक अभिलाषाओं तथा परस्पर-विरोधी आर्थिक हितों के साथ एक शक्तिशाली मध्यम वर्ग का उद्भव हुआ। लोकतंत्र तथा कुछ सीमा तक भूमि सुधार लागू तथा कृषि का विकास होने के परिणामस्वरूप एक ऐसे धनी कृषक वर्ग का भी उद्भव हुआ जो राज्य के स्तर पर अपने हितों को सुरक्षित रखने का इच्छुक था। इस सभी की परिणति दलीय व्यवस्था के परिवर्तन के रूप में हुई। कांग्रेस ने एक राष्ट्रीय आंदोलन की अपनी पहचान को खोना प्रारंभ कर दिया। इसके अतिरिक्त तथाकथित राष्ट्रीय दलों में गुटबाजी उभरने लगी जिसके कारण क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उद्भव हुआ। 1967 के आम चुनाव में कांग्रेस पार्टी की स्थिति न केवल केन्द्र में कमज़ोर पड़ी बल्कि उसको मात्र आठ राज्यों में बहुमत प्राप्त हुआ। इस राजनीतिक स्थिति ने केन्द्र-राज्यों के रिश्तों में एक नई बहस को जन्म दिया। राज्यों की ग़ैर-कांग्रेस सरकारें केन्द्र के निर्देशों को आँखें बन्दकर अनुसरण करने को तैयार न थीं। केरल, पश्चिम बंगाल तथा तमिलनाडू जैसे प्रदेशों की सरकारों ने राज्य स्वायत्तता के सिद्धांत को जीवित बनाए रखने पर बल दिया। कई प्रदेशों में ग़ैर-कांग्रेस दलों की विजय ने कांग्रेस के अन्दर गुटबाजी को और तीव्र कर दिया और इसलिए केन्द्रीय नेतृत्व के विरुद्ध प्रश्नात्मक चिह्न लगाए जाने लगे।

प्रारंभ में केन्द्र-राज्यों के रिश्तों पर बहस सीमित थी। 1972 तक कांग्रेस दल तथा केन्द्रीय सरकार ने पुन: अपनी सर्वोच्चता को स्थापित कर लिया। हालाँकि फिर भी स्थिति 1967 से पूर्व की न बन सकी। अब केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया और कठोर हो गई। केन्द्र सरकार के राज्यों में हस्तक्षेप करने

के व्यवहार में वृद्धि हुई अपितु व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिला। 1979 के बाद से सत्ता में आने वाले दलों में परिवर्तन तथा केन्द्र स्तर पर संयुक्त सरकार के सत्ता में आने से केन्द्र-राज्य संबंधों पर नई बहस एवं प्रक्रियाओं का प्रारंभ हुआ। लेकिन सामान्यत: चुनौतियों एवं नवीन परिवर्तनों के बावजूद केन्द्रीय सरकारों ने केन्द्र की प्रधानता के विचार, राज्यों के मामलों में अपने हस्तक्षेप के अधिकार, राज्यपालों के कार्यालयों के दुरुपयोग तथा राष्ट्रपति शासन को थोंपने को जारी रखा।

इस प्रकार राज्य के अधिकार क्षेत्र में केन्द्र द्वारा हस्तक्षेप करने की एक सामान्य प्रवृत्ति बनी रही। केन्द्रीयकरण एवं केन्द्र सरकार के हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति ने केन्द्र-राज्य रिश्तों के क्षेत्र में गंभीर तनाव को जन्म दिया। ये महत्त्वपूर्ण है :

1) राज्यपाल की भूमिका

2) राष्ट्रपति शासन को लागू करना

3) राष्ट्रपति के विचार हेतु अधिनियम को सुरक्षित रखना

4) वित्तीय शक्तियों का बँटवारा

5) इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का इस्तेमाल

16.3 राज्यपाल की भूमिका

राज्यपाल को राज्य के संवैधानिक ढाँचे का स्तम्भ माना गया है क्योंकि केन्द्र-राज्य के संबंधों में उसकी मुख्य भूमिका है। केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में और केन्द्र-राज्यों के बीच समन्वय बनाए रखने के लिए संविधान द्वारा केन्द्र को राज्यपाल नियुक्त करने की शक्ति प्रदान की गई है। लेकिन व्यवहार में राज्यपाल का पद एवं भूमिका केन्द्र-राज्य के बीच तनाव उत्पन्न करने का पर्याप्त कारण बन चुका है।

16.3.1 राज्यपाल की नियुक्ति

केन्द्र सरकार तथा राज्यों के बीच तनाव का पहला कारण केंद्र द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में करना है। वास्तव में केन्द्र का शासक दल राज्य में अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए राज्यपाल के पद का इस्तेमाल एक औज़ार के रूप में करता है। इसका परिणाम यह हुआ है जैसा कि सौली सौरबजी कहते हैं "यह कहना कोई अतिशयोक्ति न होगा कि किसी अन्य संस्था का संवैधानिक पद का पतन या दुरुपयोग नहीं हुआ है जितना कि राज्यपाल के पद का।" यह सुनिश्चित करने के लिए कि राज्यपाल केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करे, इसके लिए राज्य के मुख्यमंत्री से सलाहकार राज्यपाल की नियुक्ति करने की प्रवृत्ति की अवहेलना की जाती रही है। आजकल इस परम्परा का अनुसरण करने का मुख्यमंत्री से सलाह कर राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति की जाए हेतु दबाव बनाया जाने लगा है। इसके बावजूद भी राज्यपाल की नियुक्ति के लिए केन्द्र सरकार न तो किसी सिद्धांत का अनुसरण करती है और न ही इसके लिए कोई सुनिश्चित मापदण्ड है।

सरकारिया आयोग ने अपनी सिफारिशों में सुझाव दिया है कि जिस व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त किया जाए उसे निम्न मापदण्ड को पूरा करना चाहिए। उसे जीवन में कुछ विशिष्टता प्राप्त हो, वह व्यक्ति राज्य के बाहर का हो, वह राज्य की क्षेत्रीय राजनीति में समीप से न संबंधित हो और वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसने सामान्यत: राजनीति में विशेष भूमिका अदा न की हो।

सरकारिया आयोग की रपट आ जाने के बावजूद भी राज्यपालों की नियुक्तियाँ शासक दल के सक्रिय राजनीतिज्ञों और मुख्यमंत्रियों से सलाह किए बग़ैर किया जाना जारी है।

16.3.2 राज्यपाल की विवेकाधिकार शक्तियाँ

एक संवैधानिक प्रधान के रूप जहाँ राज्यपाल कुछ सामान्य कार्यों का निर्वाह करता है वहीं वह कुछ विवेकाधिकार शक्तियों का भी प्रयोग करता है। इनमें से कुछ का इस्तेमाल वह परामर्श के द्वारा करता है और कुछ का आवश्यक आशय होता है। जहाँ तक विवेकाधिकार शक्तियों का प्रश्न है वे तीन मामलों में अति महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम मुख्यमंत्री की नियुक्ति से उस समय से संबंधित है जबकि किसी एक दल या फिर दलों के किसी एक गठबंधन को चुनाव में स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हुआ हो। यह प्रश्न मुख्यमंत्री के द्वारा बहुमत का समर्थन खो देने, या फिर किसी अन्य कारण से उसे पद से बर्खास्त करने से जुड़ा है। दूसरा मामला धारा 356 के अंतर्गत राष्ट्रपति को उसकी संतुष्टि के लिए ऐसी स्थिति की रपट भेजना है जिसके कारण राज्य सरकार संविधान की व्यवस्थाओं के अनुरूप कार्य नहीं कर सकती और इसलिए वह राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश करता है। राष्ट्रपति शासन लागू करने की घोषणा स्वयं में केन्द्र एवं राज्य सरकारों के बीच गंभीर तनाव उत्पन्न कर देती है। इस इकाई के भाग 16.4 में इसका अलग से विवरण किया गया है। इससे संबंधित तीसरी शक्ति विधेयकों को राष्ट्रपति के विचाराधीन हेतु सुरक्षित रखना है।

16.3.3 राष्ट्रपति के विचाराधीन हेतु विधेयक को सुरक्षित रखना

संविधान की धारा 200 द्वारा व्यवस्था की गई है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के विचाराधीन हेतु राज्य विधायिका द्वारा पारित कुछ निश्चित विधेयकों को सुरक्षित रख सकता है। राष्ट्रपति इस पर अपनी संतुति दे सकता है या फिर इसको अपनी टिप्पणियों के साथ राज्यपाल को राज्य विधायिका द्वारा पुन: विचारार्थ के लिए भेज सकता है। लेकिन यदि राज्य विधायिका द्वारा इस विधेयक पुन: पारित कर दिया जाता है तब भी राष्ट्रपति इस पर अपनी संतुति देने के लिए बाध्य नहीं है।

इस व्यवस्था का मुख्य लक्ष्य यह है कि केन्द्र राष्ट्रीय हित में विधेयक का अवलोकन कर सके। लेकिन राज्यपाल और केन्द्रीय सरकार इनके माध्यम से इस संवैधानिक व्यवस्था का इस्तेमाल स्वार्थी हितों को पूरा करने के लिए करती रही है। विरोधी दलों द्वारा शासित राज्य समय-समय पर इन व्यवस्थाओं के दुरुपयोग विरुद्ध आवाज अक्सर वहाँ पर होते रहे हैं जहाँ राज्य मंत्रीमण्डल की सलाह के विरुद्ध राज्यपाल किसी विधेयक को सुरक्षित रखते हैं और इस संदर्भ में यह समझा जाता है कि ऐसा केन्द्रीय सरकार के निर्देश पर किया जा रहा है। सरकारिया आयोग को दिए गए स्मरण पत्र में भारतीय जनता पार्टी ने आरोप लगाया कि राज्य सरकारों के लिए मुश्किलें पैदा करने हेतु विधेयकों को राष्ट्रपति के विचाराधीन के लिए सुरक्षित रखा जाता है। सरकारिया आयोग की प्रश्नावली के उत्तर में पश्चिम बंगाल की सरकार ने बताया कि धारा 200 तथा 201 को या तो समाप्त कर दिया जाए या फिर संविधान को स्पष्ट करना चाहिए कि राज्यपाल अपनी विवेकाधिकार शक्ति का इस्तेमाल न करते हुए वह केवल राज्यमंत्री परिषद् की सलाह पर कार्यवाही करेगा। 1983 में श्रीनगर में हुए विरोधी दलों के सम्मेलन में माँग की गई कि विधायिकाओं को ऐसे विषयों पर कानून बनाने की शक्तियाँ प्रदान की जानी चाहिए कि जिनका निर्वाह उनको संवैधानिक रूप में करने से है और इनपर राष्ट्रपति की सहमति नहीं ली जानी चाहिए। हाल के वर्षों में क्षेत्रीय दलों द्वारा महत्त्व प्राप्त करने तथा केन्द्रीय सरकार के गठन एवं उसके जारी रखने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होने के कारण राज्यपाल इस शक्ति का इस्तेमाल व्यापक रूप से नहीं कर रहे हैं। फिर भी केन्द्र-राज्य के रिश्तों में यह प्रश्न एक विवाद का विषय बना हुआ है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से करें।

1) उन कारकों का विवरण करें जिनके कारण 1967 के चुनावों के बाद केन्द्र-राज्य रिश्तों में नई बहस का प्रारंभ हुआ।

.....

.....

.....

.....

.....

2) केन्द्र और राज्यों के बीच तनाव के क्षेत्र में राज्यपाल की भूमिका की विवेचना करें।

.....

.....

.....

.....

.....

16.4 आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग

हम पहले से ही पढ़ चुके हैं कि संविधान में ऐसी तीन प्रकार की आपातकालीन स्थितियों की व्यवस्था की गई है जिनकी राष्ट्रपति घोषणा कर सकता है। व्यवहार में इसका अभिप्राय केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ हैं। आप यह भी पढ़ चुके हैं कि किसी भी प्रकार आपातकालीन घोषणा राज्यों की शक्तियों को प्रभावति करती है। व्यवहार में अभी तक वित्तीय संकट आपातकालीन घोषणा नहीं की गई है। बाह्य ख़तरों (1962 तथा 1975) के कारण दो बार राष्ट्रीय आपातकालीन स्थिति की घोषणा की गई और आंतरिक कानून-व्यवस्था के कारण इसकी घोषणा (1975) एक बार की गई। विदेशी आक्रमण के कारण की गई आपातकालीन घोषणा पर कोई विवाद नहीं उठा क्योंकि यह राष्ट्रीय सुरक्षा से संबंधित थी लेकिन आंतरिक आपातकालीन घोषणा ने गंभीर विवाद को जन्म दिया क्योंकि एक तो यह देश में कुल मिलाकर लोकतंत्र के कार्य करने और दूसरे यह केन्द्र-राज्यों के रिश्तों से संबंधित थी। केन्द्र-राज्यों के बीच तनाव का मुख्य कारण यह था कि आपातकालीन स्थिति में धारा 356 के अंतर्गत केन्द्र सरकार को यह शक्ति प्राप्त हो गई कि वह किसी भी राज्य सरकार को राज्य में संवैधानिक मशीनरी के असफल होने का आधार मानकर बर्खास्त कर सकती थी।

16.4.1 धारा 356 के अंतर्गत आपातकालीन शक्तियाँ

आप पहले ही पढ़ चुके हैं कि आपातकालीन घोषणा का अभिप्राय है कि राष्ट्रपति को धारा 356 के अंतर्गत राज्यपाल या अन्य किसी दूसरी शक्ति से संबंधित राज्य सरकार की सभी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसलिए इस आपातकालीन घोषणा को लोकप्रिय रूप में "राष्ट्रपति शासन" कहा जाता है। धारा 356 से केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारों के कार्यों में हस्तक्षेप करने की व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसलिए कहा गया है कि राज्यों में राष्ट्रपति शासन को ऐसी गम्भीर स्थिति में लागू किया जाता है जैसे कि जीवन बचाने हेतु अन्तिम उपायों का इस्तेमाल किया जाए। फिर भी व्यवहार में जितनी बार इस व्यवस्था का प्रयोग किया गया उससे केन्द्र-राज्यों के रिश्तों में अधिकतर विवाद उत्पन्न हुआ है। अस्थिरता एवं राष्ट्रीय हित के अलावा इस व्यवस्था का प्रयोग निम्न प्रकार से किया गया है –

अ) विधान सभा में बहुमत होने के बावजूद भी राज्य सरकारों को बर्खास्त करना;

ब) पक्षपात के आधार पर विधान सभाओं को निरस्त या भंग करना;

स) चुनावी परिणाम निर्णायक न होने की स्थिति में विरोधी दल को सरकार बनाने का अवसर प्रदान न करना;

द) विधानसभा के अंदर भावी विभाजन का अनुमान कर मंत्रीमण्डल के त्यागपत्र देने की स्थिति में विरोधी दलों को सरकार गठन का अवसर देने से इंकार करना;

ध) विधानसभा के अंदर मंत्रीमण्डल की पराजय के बावजूद भी विरोधी पक्ष को सरकार न बनाने देना।

धारा 356 के अंतर्गत शक्तियों के इस्तेमाल को अधिकतर टीकाकारों एवं टिप्पणीकर्त्ताओं और राज्यों ने अनुचित कहा है।

16.4.2 राष्ट्रपति शासन पर विवाद

सरकारिया आयोग ने धारा 356 के लगातार किए गए दुरुपयोग की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए बताया है कि 1951 से 1987 तक 75 बार ऐसे अवसर आए जबकि राष्ट्रपति शासन को राज्यों पर लागू किया गया। इनमें 26 अवसर ऐसे थे जबकि इसको लागू करना आवश्यक था, लेकिन 18 मामलों में धारा 356 का इस्तेमाल पूर्णरूपेण राजनीतिक उद्देश्यों के लिए दुरुपयोग के रूप में किया गया। इस प्रकार संविधान की इस शक्ति का प्रयोग इसकी संवैधानिक स्थिति से मेल नहीं खाता। जैसा कि 1953 में बी०आर० अम्बेडकर ने राज्यसभा में 'पेपसू' में राष्ट्रपति शासन थोंपने के विषय में ठीक ही कहा था कि, "लोगों के संदेह का आधार वैधानिक है क्योंकि संपूर्ण भारत में सरकार अपने दल का शासन बनाए रखने के लिए संविधान का बलात्कार है।" संविधान की इस धारा का प्रयोग किस प्रकार ग़ैर-गंभीर तरीके से किया गया है, इसको 1977 में जनता पार्टी के केन्द्र की सत्ता में आने पर 9 राज्यों में कांग्रेस की सरकार को बर्खास्त कर दिए जाने से देखा जा सकता है। 1980 में श्रीमती गाँधी के सत्ता में वापस आने पर जनता पार्टी द्वारा शासित नौ राज्यों की सरकारों को बर्खास्त किया। 1980 के दशक में धारा 356 का इस्तेमाल इतनी बार हुआ जिससे कि ग़ैर-कांग्रेस (आई०) राज्य सरकारों के प्रति केन्द्र सरकार का असहनीय दृष्टिकोण प्रतीत हुआ। पंजाब में राष्ट्रपति शासन लगभग पाँच वर्षों तक (मई 1987 - फरवरी 1992) लगातार जारी रहा। परिणामस्वरूप धारा 356 संविधान की सबसे अधिक दुरुपयोग एवं आलोचित होने वाली धारा बन गई। संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम में सुरक्षा प्रावधान किए जाने के बावजूद भी इसका

दुरुपयोग जारी है और जिससे केन्द्र-राज्य रिश्तों में कड़वाहट एवं गंभीर तनाव उत्पन्न हुआ है। 11 मार्च, 1994 को उच्चतम न्यायालय ने बोमाई मामले में धारा 356 के लागू तथा प्रयोग करने पर एक महत्त्वपूर्ण निर्णय दिया। दिसम्बर 1992 में मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा हिमाचलप्रदेश की भाजपा सरकारों की बर्खास्तगी को उच्चतम न्यायालय ने सर्वसम्मति से उचित ठहराया क्योंकि उनके द्वारा किए गए ग़ैर धर्म-निरपेक्ष कार्य संविधान धर्म-निरपेक्ष संविधान के समरूप नहीं थे। लेकिन संविधान के समरूप नहीं थे। लेकिन नागालैण्ड (1998), कर्नाटक (1998) तथा मेघालय (1991) केन्द्र द्वारा प्रयोग की गई धारा 356 को उच्चतम न्यायालय के बहुसंख्यक न्यायधीशों ने असंवैधानिक माना।

बोमई मामले में संविधान की इस धारा की पूर्ववर्ती परिभाषाओं से गुणात्मक परिवर्तन करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने बहुमत से निर्वाचित राज्य सरकारों तथा राज्य विधान सभाओं के कार्यों के विरुद्ध की जाने वाली केन्द्र की कार्यवाहियों के लिए नवीन एवं लागू करने योग्य मापदण्डों का निर्धारण किया। इस निर्णयानुसार, "धारा 356 के अंतर्गत की जाने वाली राष्ट्रपति की घोषणा को आवश्यक रूप से एक प्रतिबंधित शक्ति समझा जाना चाहिए, इस धारा के अंतर्गत की गई कार्यवाही न्यायिक समीक्षा के अधीन आती है। राष्ट्रपति की संतुष्टि हेतु, जो कि आत्मनिष्ठ रूप से आवश्यक है, का आधार वस्तुगत होना चाहिए और जिसकी जाँच-पड़ताल अदालत द्वारा की जा सकती है। विधानसभा भंग करने जैसी कोई भी प्रतिगामी कार्यवाही न की जाए। ऐसी कार्यवाही करने की अनुमति तभी दी जा सकती जब इस घोषणा का अनुमोदन संसद के दोनों सदनों द्वारा कर दिया जाए और केन्द्र सरकार अधिक से अधिक इस अनुमति की प्राप्ति तक राज्य विधानसभा का स्थगन रख सकती है। उचित मामलों में संसद के अनुमोदन के बावजूद भी अदालत यथास्थिति को बहाल कर सकती है।'' इस प्रकार उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय ने राष्ट्रपति शासन की घोषणा करने की शक्तियों पर महत्त्वपूर्ण प्रतिबंध लागू किए। इस निर्णय से राष्ट्रपति को भी कुछ शक्ति प्राप्त हुई। उदाहरण के लिए अक्टूबर 1997 में उत्तरप्रदेश के मामले में और फिर सितम्बर 1998 में बिहार के मामले में अपनी शक्ति का इस्तेमाल करते हुए राष्ट्रपति के० आर० नारायणन ने मंत्रिमण्डल के पास अपने निर्णय पर पुन:विचार करने के लिए वापस भेजा। यह आशा की जाती है कि उच्चतम न्यायालय के निर्णय तथा राष्ट्रपति नारायणन द्वारा मंत्रिमंडल की सिफारिशों पर पुन:विचारार्थ वापस भेजने जैसी दोनों कार्यवाहियों से अपने स्वार्थी उद्देश्यों के लिए धारा 356 के अधीन शक्तियों का केन्द्र सरकार द्वारा दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति पर तर्कसंगत रोक लग सकेगी।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से करें।

1) केन्द्र सरकार ने धारा 356 के अंतर्गत प्रदत्त शक्तियों का दुरुपयोग कैसे किया?

.....

.....

.....

.....

.....

2) राज्यों में राष्ट्रपति शासन की घोषणा से संबंधित शक्तियों के दुरुपयोग के विरुद्ध किन सुरक्षा उपायों का सुझाव दिया गया है?

.....

.....

.....

.....

.....

16.5 वित्तीय संबंध

भारतीय संघीय राजनीति में वित्तीय शक्तियों का प्रश्न केन्द्र-राज्य संबंधों में एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। अधिक वित्तीय स्वायत्तता की राज्यों की माँग अब बहस का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन चुकी है। इस तनाव का कारण है, (अ) कर की तुलनात्मक शक्तियाँ, (ब) वैधानिक बनाम भेदभाव पूर्ण अनुदान और (स) आर्थिक परियोजना।

16.5.1 कर लगाने की शक्तियाँ

राज्यों की अपेक्षा केन्द्र के राजस्व साधन कहीं अधिक व्यापक एवं विस्तृत हैं। घाटे की वित्तीय व्यवस्था, विदेशी सहायता के रूप में विशाल निधि सहायता और देश के आन्तरिक धन बाज़ारों से प्राप्त होने वाले कर्जों के माध्यम से उत्पन्न किए गए विशाल संसाधनों पर केन्द्र का आधिपत्य है। कर की अवशिष्ट शक्तियाँ भी केन्द्र सरकार के अधीन हैं। इसके अतिरिक्त आपातस्थिति में अतिरिक्त धन संचित करने के लिए करों के ऊपर अधिभार लगाने का अधिकार संविधान ने केन्द्र को दिया है। व्यवहार में आमदनी-कर के ढाँचे पर अधिभार लगाना एक स्थायी विशिष्टता हो गई है। कर-व्यवस्था की दूसरी कमज़ोरी कॉरपोरेट कर लगाना है जिसके कारण राज्यों को नुकसान उठाना पड़ता है। यह लगातार बढ़ता जाता है और पूर्णरूपेण से केन्द्र के अधिकार क्षेत्र में आता है। राज्यों के राजस्व तथा उनके खर्च में अंतर बढ़ रहा है। निश्चय ही इसका एक बड़ा कारण राज्यों द्वारा उन स्रोतों को सक्रिय न कर पाना है जिनको वे कर सकते हैं और कुछ खर्चों को झूठी लोकप्रियता प्राप्त करने में खर्च किया जाता है। इसका कारण केन्द्र पर कुछ अधिक निर्भर बने रहना भी है। इसलिए राज्यों को केन्द्र की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है।

16.5.2 अनुदान विषय

केन्द्र से राज्यों को धन के चार तरीके हैं : (1) आमदनी पर केन्द्र के करों में अनिवार्य हिस्सेदारी; (2) केन्द्र के आबकारी शुल्कों में अनुज्ञात्मक हिस्सेदारी, (3) केन्द्र के कुछ शुल्कों तथा करों का राज्यों को पूर्णरूपेण आवंटन; (4) अनुदान एवं ऋण के रूप में राज्यों को वित्तीय सहायता की व्यवस्था। प्रत्येक पाँच वर्ष में या जब भी भारत के राष्ट्रपति की इच्छा हो धारा 280 तथा 281 की व्यवस्थानुसार राज्यों को कुछ निश्चित संसाधनों में हिस्सेदारी तथा संसाधनों के पूर्ण रूप से आवंटित करने हेतु वैधानिक वित्तीय आयोग का गठन किया जाता है। वित्तीय आयोग की व्यवस्था भारत सरकार तथा राज्य सरकारों के वित्त को विनियमित समन्वित तथा एकीकृत करने के लिए

की गई है। प्रारंभ में वित्तीय आयोग का कार्य केन्द्र से राज्यों को सभी वित्तीय मामलों को हस्तांतरित करना था। लेकिन धीरे-धीरे योजना आयोग भी इस कार्य को सम्पन्न करने लगा और अब यह केन्द्र से राज्यों को संसाधनों के हस्तांतरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगा है। परन्तु योजना आयोग पूर्णत: एक केन्द्रीय संस्था है और राजनीतिक प्रभाव में रहता है, इसलिए राज्य अनुदानों के आवंटन में भेदभाव को महसूस करते हैं। इसके अलावा केन्द्र द्वारा आर्थिक अनुदान दिए जाने की व्यवस्था पूर्णत: राजनीतिक है और इसका हस्तांतरण उसका अपना विवेकाधिकार होने के कारण केन्द्र अधिकतर समय इसका आवंटन विवादपूर्ण तरीके से करता रहा है।

केन्द्र धारा 281 के अंतर्गत राज्यों को आर्थिक अनुदान, अपने विवेकाधिकार द्वारा तैयार की गई योजनाओं, प्राकृतिक आपदाओं या विषमताओं आदि को दूर करने के लिए प्रदान करता है। यह एक आम धारणा है कि विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा शासित राज्यों के बीच केन्द्र भेदभाव करता है। एच०ए० घनी का मानना है कि प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावित राज्यों को दी जाने वाली केन्द्रीय राहत सहायता का गहराई से अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि इस संदर्भ में सुनिश्चित मापदण्डों का पालन नहीं किया जाता। बाढ़, सूखा आदि से हुए नुकसान का अनुमान करने वाले केन्द्रीय दल राजनीति से ग्रस्त होने के कारण अस्थायी एवं असावधानी पूर्ण तरीके से इनका अनुमान करते हैं। इसलिए राज्यों ने केन्द्र की विवेकाधिकार रूप में भारी भरकम वित्तीय शक्तियों के विरुद्ध गहरी आपत्ति उठाई है। उस राज्य के विरुद्ध जो केन्द्र के विरोध पक्ष का हो इन शक्तियों में अंतर्निहित खतरे का राजनीतिक इस्तेमाल एक हथियार के रूप में केन्द्र कर सकता है। राज्य अधिक से अधिक संसाधनों का वैधानिक हस्तांतरण चाहते हैं जिससे कि विवेकाधिकार अनुदानों के प्रदान की करने की प्रवृत्ति में कमी की जा सके।

16.5.3 आर्थिक योजना

सामान्यत: यह माना जाता है कि भारत में योजना की प्रक्रिया ने राजनीतिक व्यवस्था को आगे बढ़ाया जिसने केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को और अधिक मज़बूत किया। ऐसा इसलिए हुआ कि जहाँ एक ओर विकास के संसाधनों पर केन्द्र का नियंत्रण था वहीं केन्द्रीकृत योजना ढाँचे की प्रमुखता बनी रही। आर० के० हेगड़े का कहना है कि उद्योगों तथा आर्थिक योजना के क्षेत्र में राज्य की क्षीण शक्ति का भयंकर एवं भारी हानिकारक प्रभाव हुआ है। उदाहरण के तौर पर संविधान में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि उद्योग अनिवार्यत: राज्य का विषय है। केन्द्र द्वारा केवल उन्हीं उद्योगों का विनियमीकरण किया जाएगा। जिनकी संसद सार्वजनिक हित में घोषणा करे और ऐसे उद्योग ही केन्द्र के अधीन बने रहेंगे। लेकिन किसी भी प्रकार संविधान संशोधन किए बग़ैर वास्तव में उद्योगों को केन्द्र के विषय के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। मूल्य की दृष्टि में 90 प्रतिशत से अधिक संगठित उद्योग केन्द्र के अधीन आते हैं। व्यवहार में करने की आड़ में बहुत से अवसरों पर नए उद्योगों की स्थापना में अड़चने उत्पन्न की। यह भी आरोप है कि राष्ट्रीय योजना के नाम पर केन्द्र राजनीतिक कारणों से राज्य की दूरगामी एवं महत्त्वपूर्ण परियोजनाओं की स्थापना में अत्यधिक देरी करता है। ठीक इसके विपरीत केन्द्र राज्यों के ऊपर ऐसी योजनाओं को थोंपता है जिनको राज्य सरकारें विद्यमान राज्य की परिस्थितियों के लिए अनुपयोगी समझकर उनके प्रति कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाती। इस और अन्य कारणों से अक्टूबर 1983 में विरोधी दलों के सम्मेलन में आम सहमति से तैयार किए गए बयान में कहा गया कि योजना आयोग तथा केन्द्रीय वित्त मंत्रालय की वर्तमान शक्ति जिसके द्वारा वे राज्यों को विभेदकारी अनुदानों को प्रदान करते हैं निर्णायक रूप से कम किया जाना चाहिए।

16.6 इलेक्ट्रोनिक मीडिया का इस्तेमाल

इलेक्ट्रोनिक मीडिया से अभिप्राय है– रेडियो एवं दूरदर्शन। इन दिनों ये दोनों प्रचार एवं प्रसार के शक्तिशाली माध्यम हैं। विश्व भर में सरकारें तथा राजनीतिक दल सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रकार के राजनीतिक उद्देश्यों के लिए इनका इस्तेमाल करते हैं। भारत में संविधान के अनुसार प्रसारण को नियंत्रित एवं विनियमित करने की वैधानिक शक्तियाँ केन्द्र सरकार के पास हैं। यह आरोप लगाया जाता है कि केन्द्र में जिस दल की सरकार सत्ता में है वह सरकार के द्वारा किए गए कार्यों के आलोचनात्मक अवलोकन को प्रसारित नहीं करती और दूसरी उन राज्यों की सरकारों की छवि को धूमिल करती है जिनमें विरोधी दलों का शासन है। विशेष कर 1980 के दशक में, पक्षपातपूर्ण उद्देश्यों के लिए ऑल इंडिया रेडियो एवं दूरदर्शन का खुला दुरुपयोग किए जाने के विरुद्ध विपक्षी दलों ने कड़ा प्रतिकार किया। यह भी आरोपित किया गया कि मीडिया केन्द्र सरकार के प्रवक्ता के रूप में कार्य करता है।

प्राइवेट चैनलों के आगमन तथा प्रसार भारती की स्थापना ने रेडियो एवं दूरदर्शन को कुछ स्वायत्तता प्रदान की। जिसके कारणवश सरकारी नियंत्रण और मीडिया पर केन्द्र सरकार के एकाधिकार में कमी हुई। संयुक्त सरकारों की स्थिति में जिनके अंदर क्षेत्रीय दलों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, अब केन्द्रीय सरकार सरकार उनकी अवहेलना नहीं कर सकती। लेकिन इस सबके बावजूद भी मीडिया के लिए विधान बनाने, नियंत्रण एवं विनियमित करने की शक्तियाँ केन्द्र सरकार के पास ही हैं और पक्षपातपूर्ण उद्देश्यों हेतु ऑल इंडिया रेडियो एवं दूरदर्शन के दुरुपयोग की शिकायतें अभी भी बरकरार हैं।

बोध प्रश्न 3

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से करें

1) अनुदान के मुद्दे पर केन्द्र एवं राज्य सरकारों के बीच टकराव के कौन-से क्षेत्र हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) केन्द्र एवं राज्य के बीच 'योजना' कैसे तनाव का क्षेत्र बन चुका है?

.....

.....

.....

16.7 स्वायत्तता तथा सहयोग की माँग

उपरोक्त किए गए विवरण से यह स्पष्ट है कि केन्द्र एवं राज्यों के बीच तनावों के कई क्षेत्र तथा मुद्दे हैं। भारतीय संविधान निर्माताओं को आशा थी कि भारतीय संघवाद सहमति एवं सहयोग पर आधारित होगा। उन्होंने केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच शक्तियों के विभाजन को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया था और आशा की थी कि केन्द्र सरकार को प्रदान की गई। आपात शक्तियों का इस्तेमाल मुख्यत: राष्ट्रीय हित में होगा। दुर्भाग्यवश संविधान निर्माताओं की आशाएँ धूमिल हो गईं और केन्द्र-राज्यों के रिश्ते सहयोग की अपेक्षा टकराव की राजनीति में विकसित हुए। प्रारम्भ से ही केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति का आरम्भ हुआ और केन्द्र में सरकारों के बदलने के बावजूद भी यही प्रवृत्ति जारी रही। राज्यों में वंचन की भावनाएँ विकसित होने लगी। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है कि जब तक केन्द्र तथा अधिकतर राज्यों में एक ही दल की सरकारें सत्ता में रहीं तब तक कोई समस्या उत्पन्न न हुई। लेकिन विभिन्न दलों की सरकारों के उद्‌भव, क्षेत्रीय दलों की सफलता, राजनीति में नए समूह एवं वर्गों के प्रवेश और आर्थिक-सामाजिक विकास तथा परिवर्तन से संबंधित जनता की अभिलाषाओं के पूरा न होने पर केवल प्रश्न उठानें की प्रक्रिया शुरू हुई अपितु केन्द्रीय सरकारों के प्रभुत्व और हस्तक्षेप को चुनौती दी जाने लगी।

इसके परिणामस्वरूप बहुत से राज्यों तथा राजनीतिक दलों ने राज्यों को और अधिक शक्तियाँ एवं स्वायत्तता दिए जाने की माँग की। इसी के साथ सरकार को दोनों स्तरों पर तनाव के क्षेत्र समाप्त करने एवं सहयोग बढ़ाने के प्रयास भी होने लगे।

16.7.1 स्वायत्तता की माँग

1967 के चुनाओं में कांग्रेस के आठ राज्यों में सत्ता से हट जाने के तुरन्त बाद गैर-कांग्रेसी सरकारों ने केन्द्र-राज्य के रिश्तों के संदर्भ में संवैधानिक प्रावधानों की गिरती साख के विषय में प्रश्नों को उठाना शुरू कर दिया।

दूसरी ओर केन्द्र में शासन करने वाले दल ने खोयी हुई सत्ता को प्राप्त करने के लिए राज्यपाल के पद और धारा 356 की आपात व्यवस्थाओं का पुन: दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर दिया। इसके कारणवश केन्द्रीय सरकार की कड़ी आलोचना की जाने लगी। वास्तव में 1967 से 1972 के बीच के वर्षों में भारतीय संघीय ढाँचे में महत्त्वपूर्ण तनाव देखा गया। कई राज्यों में क्षेत्रीय दलों ने कांग्रेस को हटाकर सत्ता प्राप्त की। विशेषकर इन्हीं राजनीतिक पार्टियों ने कई स्तरों पर केन्द्र-राज्य संबंधों के प्रश्नों को उठाया।

1969 में तमिलनाडू सरकार ने केन्द्र-राज्य संबंधों के प्रश्न की जाँच-पड़ताल करने हेतु राजामन्नार समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने अपनी रपट 1971 में पेश की। इस समिति की महत्त्वपूर्ण सिफारिशें थीं कि संविधान की सातवीं सूची को पुनर्व्यवस्थित किया जाए; राज्यों को अवशिष्ट शक्तियाँ हस्तांतरित की जाएँ; धारा 249 को समाप्त, वित्तीय आयोग तथा योजना आयोग में संशोधन और धारा 356 पर पुनर्विचार किया जाए।

दिसम्बर 1977 में पश्चिम बंगाल की वाम पंथ सरकार ने केन्द्र-राज्य संबंधों पर एक स्मरण-पत्र प्रकाशित किया। इस स्मरण-पत्र में ज़ोर देकर कहा गया कि भारत में जाति, धर्म, भाषा तथा संस्कृति के आधार पर भिन्नताएँ विद्यमान हैं और ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय एकता को प्राप्त करने के लिए जागरूक स्वैच्छिक प्रयासों के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और विखण्डनशील प्रवृत्तियों को

रोकने के लिए शक्तियों का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। स्मरण-पत्र में माँग की गई कि संविधान की प्रस्तावना में 'केन्द्र' शब्द के स्थान के स्थान पर 'संघ' का उल्लेख किया जाना चाहिए। इसने यह भी सुझाया कि धाराओं 356, 357 और 360 को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। इस स्मरण-पत्र के अनुसार नए राज्यों के गठन और उनकी सीमाओं तथा क्षेत्रों एवं राज्यों के नामों में परिवर्तन करने के लिए अनिवार्य रूप से प्रभावित राज्य की स्वीकृति ली जानी चाहिए।

1978 में अकाली दल ने आनंदपुर साहिब प्रस्ताव को इसके संशोधित रूप में जारी किया यद्यपि इसको 1973 में मौलिक रूप में पारित किया गया था। इस प्रस्ताव के अनुसार केन्द्र की शक्तियाँ केवल रक्षा, विदेश नीति, संचार, रेलवे एवं मुद्रा तक सीमित होनी चाहिए और सम्पूर्ण अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों में निहित हों। 1980 के दशक में क्षेत्रीय राजनीति दलों के महत्त्वपूर्ण हो जाने के कारण राज्य स्वायत्तता की माँग को और प्रखर तरीके से उठाया जाने लगा। क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय दलों ने अलग-अलग तथा सामूहिक रूप में केन्द्र द्वारा राज्यों की शक्तियों का अधिग्रहण करने के विरुद्ध केन्द्र सरकार की कड़ी आलोचना की। इनका कहना था कि शक्तियों के केन्द्रीयकरण और संविधान को विकृत करने की प्रक्रिया राष्ट्रीय एकता के लिए खतरनाक साबित हो सकती है। शक्तियों के विकेन्द्रीकरण और राज्यों को स्वायत्तता प्रदान करने के समर्थकों द्वारा सामान्यत: यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने तथा राष्ट्रीय एकीकरण को सुदृढ़ करने वाली प्रक्रियाओं के हेतु देश में विद्यमान बहुस्तरीय भिन्नताओं को स्वीकृत किया जाना चाहिए और क्षेत्रीय स्तर पर विद्यमान इन भिन्नताओं के वास्तविक तथा तर्कसंगत समाधान के लिए स्थानीय पहल तथा स्थानीय क्षमताओं का इस्तेमाल किया जाना चाहिए। यदि इन भिन्नताओं को हल करने का प्रयास केन्द्र द्वारा नियंत्रण करने की दृष्टि से किया जाता है तब इस व्यवस्था में और अधिक तनाव उत्पन्न होगा।

परन्तु कुछ लोगों का मानना है कि भारत की अखण्डता एवं एकता के लिए मजबूत केन्द्र की आवश्यकता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि मजबूत केन्द्र तथा शक्तियों का केन्द्रीयकरण दोनों अलग-अलग हैं। भारत तथा विश्व के अन्य भागों में घटनाक्रम से साबित हो चुका है कि केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया ने विखण्डन की प्रक्रिया को और अधिक गतिशील ही किया है जबकि विकेन्द्रीकरण के कारण जनता की अभिलाषाएँ एवं आकांक्षाओं को और अधिक उद्देश्यपूर्ण एवं अर्थपूर्ण तरीके से पूरा किए जाने की प्रबल सम्भावनाएँ बनी रहती हैं। सम्पूर्ण विश्व में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रबल है। भारत में भी विभिन्न समितियों एवं आयोगों की रपटें तथा अध्ययन इस प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं।

16.7.2 सहयोग की दिशा में किए गए कार्य

1967 के चुनावों के तुरंत बाद ही केन्द्र-राज्यों के रिश्तों में तनाव के बिन्दु उत्पन्न होने लगे। इससे संबंधित पक्षों का शैक्षिक एवं सामाजिक अध्ययन भी प्रारम्भ हो गया और तनाव कम करने एवं सहयोग प्राप्त करने हेतु नीतिगत सुझाव एवं प्रयास किए जाने लगे। व्यापक आलोचना के कारण केन्द्रीय सरकार ने भी इस मामले की जाँच-पड़ताल शुरू की। इसका प्रारम्भ करते हुए प्रशासनिक सुधार आयोग (1967 में नियुक्त किया गया) से कहा गया कि वह केन्द्र-राज्य के प्रशासनिक रिश्तों का भी अध्ययन करे। आयोग ने अपनी सिफारिशों में कहा कि राज्यों को अधिकतम प्रशासनिक शक्तियाँ प्रदान की जाएँ। इसने मत अभिव्यक्त करते हुए कहा कि केन्द्रीकृत योजना राज्यों की नीतियों तथा कार्यक्रमों के लिए कार्य करने में उनकी स्वतंत्रता में बहुत अधिक हस्तक्षेप करने की और प्रदत्त है। आयोग ने राज्यपाल के पद हेतु भी कुछ सिफारिशें कीं और संविधान की धारा 263 के अंतर्गत अन्तर-राज्य परिषद् गठित करने की आवश्यकता का सुझाव भी दिया।

परन्तु इस आयोग की सिफारिशें लागू न की जा सकीं और केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया जारी रही। 1971-72 में कांग्रेस के अधिकतर राज्यों में पुन: वापस सत्ता में आ जाने से केन्द्र के नियंत्रण को थोपे जाने की प्रक्रिया ने नवीन ऊँचाइयों को प्राप्त किया। यह कहा जाने लगा कि राज्यों का दर्जा गरिमा प्राप्त नगरपालिकाओं के समरूप हो गया। मुख्यमन्त्रियों को केन्द्र की ओर से थोपा जाने लगा। उनको अपने साथियों का चुनाव करने की कोई आज़ादी प्राप्त न थी। ग़ैर-कांग्रेस शासित राज्यों की केन्द्र द्वारा पार्टी तथा सरकार दोनों के स्तर पर आलोचना जारी थी।

जनता पार्टी के संक्षिप्त शासन के दौरान (1977-79) यद्यपि केन्द्रीय सरकार मौखिक रूप से विकेन्द्रीकरण की नीति के प्रति प्रतिबद्ध थी किन्तु उनको भी अपने तरीके से चलने दिया जाता। तब वे भी केन्द्रीयकृत शासन का अनुसरण करते। विशेषकर 1980 के दशक में संघवाद का प्रश्न राष्ट्रीय एजेण्डे के रूप में ज्वलंत रूप से उभरकर सामने आया। जब केन्द्र तथा राज्यों के मध्य राजनीतिक चुनौतियों ने नवीन प्रकार के आयामों तथा तनावों का रूप ग्रहण कर लिया तब स्थिति को किसी भी प्रकार से सामान्य करना आवश्यक हो गया। भारत सरकार ने 24 मार्च, 1983 को केन्द्र-राज्यों के बीच विद्यमान कार्य पद्धति का निरीक्षण तथा पुनर्विचार करने और सभी क्षेत्रों में शक्तियों के कार्य करने तथा उत्तरदायित्वों के संदर्भ में उचित परिवर्तनों एवं उपायों का सुझाव देने हेतु एक आयोग का गठन किया। इस आयोग का अध्यक्ष सेवानिवृत्त न्यायाधीश आर० एस० सरकारिया को नियुक्त किया गया जिससे इसको केन्द्र-राज्य संबंधों पर सरकारिया आयोग के नाम से जाना गया।

16.7.3 सरकारिया आयोग

सरकारिया आयोग से कहा गया कि केन्द्र-राज्यों के बीच विद्यमान व्यवस्थाओं पर पुनर्विचार वह उस सामाजिक-आर्थिक बदलाव को ध्यान में रखकर करे जो पिछले वर्षों में हुआ है। उसको संविधान की योजना तथा ढाँचे और देश की एकता एवं अखण्डता की आवश्यकता को भी ध्यान में रखते हुए करना है। आयोग ने बहुत-सी राज्य सरकारों, राजनीतिक दलों एवं रुचि रखने वाले तथा संबंधित पक्षों से विचार-विमर्श करने के बाद 27 अक्टूबर, 1987 को अपनी रपट प्रस्तुत की।

राजनीति के क्षेत्र में प्रबल विखण्डित प्रवृत्तियों की प्रधानता हो जाने के कारण सरकारिया आयोग ने अपनी रपट में इसको राष्ट्रीय एकता के लिए एक गहरा खतरा माना और राष्ट्रीय अखण्डता की सुरक्षा हेतु एक मज़बूत केन्द्र का पक्ष लिया। लेकिन आयोग ने केन्द्रीयकरण को मज़बूत केन्द्र के समरूप नहीं समझा। वास्तव में उसने केन्द्रीयकरण को राष्ट्र की अखण्डता के लिए एक ख़तरा बताया। आयोग ने कहा, "बहुत बार केन्द्र की कार्यवाहियों, कुछ राज्यों के प्रति इसकी भेदभाव पूर्ण नीति, स्थानीय समस्याओं को समझ पाने में असमर्थता, घृणित भावनाएँ और राज्यों के प्रति सत्ता का खुला दुरुपयोग जैसे कार्यों ने इसको जनता से दूर किया।" इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय अखण्डता की प्रक्रिया विपरीत दिशा में चलने लगी और इस प्रकार के अदूरदर्शितापूर्ण दृष्टिकोण ने विभाजक प्रवृत्तियों को और मज़बूत किया।

सरकारिया आयोग की सिफारिशों का मुख्य आधार था कि विद्यमान संवैधानिक सिद्धांत तथा व्यवस्थाएँ सुदृढ़ हों और इसके लिए आवश्यक है कि सामूहिक निर्णय की व्यवस्था को सुनिश्चित करने हेतु एक प्रणाली बनायी जाए। ये सिफारिशें मात्र प्रशासन से संबंधित थीं न कि राज्य-केन्द्र रिश्तों की राजनीति से। इसने 265 सिफारिशों को अनुमोदित किया जिनका 20 क्षेत्रों के अधीन वर्गीकरण किया गया है। भारतीय राजनीति को संघीय सिद्धांतों के अनुरूप विकसित होने देने के लिए इसने संविधान में संशोधनों पर भी बल दिया।

इसकी महत्त्वपूर्ण सिफारिशें राज्यपाल की नियुक्ति तथा कार्य करने, धारा 356 के प्रयोग और आर्थिक संसाधनों के विभाजन से संबंधित हैं। आयोग ने सिफारिश की है कि राज्य के राज्यपाल पद पर सत्यनिष्ठ लोगों को ही नियुक्त किया जाना चाहिए। उसके पद त्यागने के पश्चात् उसकी नियुक्ति किसी दूसरे पद या लाभ वाले पद पर न की जाए। धारा 356 का प्रयोग एक अंतिम उपाय के रूप में उन विशिष्ट परिस्थितियों में किया जाना चाहिए जब सभी उपलब्ध विकल्प असफल हो जाएँ। धारा 356 में ऐसे सुरक्षा उपायों को शामिल किया जाए जिनके अनुसार राष्ट्रपति शासन के जारी रहने के विषय में संसद पुनर्विचार कर सकने में सक्षम हो।

आयोग ने कर एवं शुल्कों के लगाने के लिए कार्य करने के व्यवहारिक क्षेत्र, केन्द्र एवं राज्यों के बीच कॉरपोरेट कर के विभाजन हेतु संवैधानिक संशोधन, कर प्रणाली में सुधार और केन्द्र तथा राज्यों के बीच संसाधनों को गतिशील करने की क्षमता पर विचार करने जैसी सिफारिशों पर पुनर्विचार करने के लिए कहा। इसने यह भी सुझाया कि अंतर-राज्य नदी विवाद अधिनियम में इस प्रकार का संशोधन किया जाए कि किसी भी राज्य से आवेदन-पत्र प्राप्त होने के एक वर्ष के अंदर केन्द्र के लिए एक न्यायाधिकरण का गठन करना अनिवार्य हो और इस न्यायाधिकरण के निर्णय को पाँच वर्ष के अंदर लागू कर दिया जाना चाहिए।

आयोग ने सिफारिश की कि योजना प्रक्रिया के सभी स्तरों पर राज्यों के साथ प्रभावकारी सलाह करने के उद्देश्य से योजना आयोग और राष्ट्रीय विकास परिषद् में सुधार किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय विकास परिषद् का पुनर्गठन करते हुए उसका राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् नाम रखा जाए। इसको और अधिक प्रभावकारी ढंग से कार्य करने वाला बनाया जाना चाहिए और देश के योजनाबद्ध विकास को दिशा प्रदान करने तथा महत्त्वपूर्ण बनाने हेतु उच्चतम राजनीतिक स्तर की एक अंतर-सरकारी संस्था के रूप में इसका उद्भव हो। संविधान की धारा 263 के अंतर्गत एक स्थायी अंतर-राज्य परिषद् गठित करने की सिफारिश भी इस आयोग ने की जिससे कि यह केन्द्र-राज्य की सामूहिक समस्याओं पर बहस करने के एक मंच के रूप में यह कार्य करे। केन्द्र में संविद सरकार में क्षेत्रीय दलों की महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण निश्चय ही राज्यों के मामलों में केन्द्रीय सरकार हस्तक्षेप करने के लिए शक्तिशाली नहीं रह गई है। इसी के साथ राष्ट्रपति तथा न्यायपालिका की सक्रिय भूमिका ने केन्द्र की भेदपूर्ण नीति पर किसी सीमा तक रोक लगाने में सफलता प्राप्त की है। परन्तु अभी तक भी कोई संवैधानिक तथा ढाँचागत परिवर्तन नहीं किया गया है। कुलमिलाकर संघीय ढाँचा भारी दबाव के अधीन बना हुआ है।

16.7.4 अन्तर-राज्य कौंसिल

उपरोक्त विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि सरकार के दो स्तरों पर मतभेद तथा तनाव उत्पन्न होने की संभावनाओं संघीय व्यवस्था में अंतर्निहित हैं। इन दोनों के मध्य सहयोग सुनिश्चित करने के लिए संवैधानिक उपायों सहित अन्य बहुत-सी प्रणालियाँ हो सकती हैं। इस प्रकार की प्रणालियाँ भारतीय संविधान द्वारा धारा 263 के अंतर्गत एक अंतर-राज्य परिषद् की व्यवस्था के माध्यम से उपलब्ध करायी गई है। केन्द्रीय सरकार ने कई वर्षों तक इस प्रकार की परिषदों का गठन नहीं किया। प्रशासनिक सुधार आयोग ने 1969 में जमा की गई। अपनी रपट में अंतर-राज्य परिषद् के गठन की सरकार ने इस चेतावनी की कोई परवाह नहीं की।

सरकारिया आयोग के सम्मुख बहुत से राज्यों ने इस प्रकार की परिषद् की नियुक्ति ने करने की महत्त्वपूर्ण शिकायत की। सरकारिया आयोग ने अपनी रपट में सिफारिश की कि धारा 263 के खण्ड (ब) तथा (स) में उल्लेखित कर्त्तव्यों से लैस अंतर-राज्य परिषद् का गठन किया जाना चाहिए। आयोग का मानना था कि धारा 263 के अंतर्गत परिषद् के गठन तथा विशेष प्रश्नों को हल करने

हेतु परिषद् को दिए जाने वाले अधिकार देने के राष्ट्रपति के बार-बार आदेश लेने की प्रक्रिया से आवश्यक रूप से बचा जाना चाहिए। फिर भी केन्द्रीय सरकार ने सामान्यत: सरकारिया आयोग की सिफारिशों के प्रति निरुत्साह ही प्रदर्शित किया है। इसलिए इस प्रकार की परिषद् के गठन के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया।

1989 के चुनाव से पूर्व गठित राष्ट्रीय मोर्चे ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र में वायदा किया था कि वह सभी मुख्यमंत्रियों की सलाह से केन्द्र-राज्य संबंधों के विषय में व्यापक रूप से विचार-विमर्श किया जाएगा। इस वायदे को पूरा करने की दिशा में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार ने 25 मई, 1990 को अंतर-राज्य परिषद् के गठन हेतु राष्ट्रपति की अधिसूचना जारी की। प्रधानमंत्री, सभी राज्यों के मुख्यमंत्री एवं प्रशासक और केन्द्रीय सरकार के कैबनेट स्तर के छ: मंत्री इस परिषद् के सदस्य बनाए गए। प्रधानमंत्री इस परिषद् के अध्यक्ष बने और उनकी अनुपस्थिति में उनके द्वारा नामजद किया गया। मंत्रीमण्डल का सदस्य अध्यक्ष का पद सँभालेगा। परिषद् ने इसके सम्मुख रखे जाने वाले मुद्दों के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत तैयार किए। इसकी एक वर्ष में तीन बार बैठक हुई। इसकी बैठकें "इन कमेरा" में हुई। इसने आम सहमति से निर्णय किए जो अन्तिम एवं बाध्यकारी थे। परिषद् ने अपनी प्रभावकारी कार्यशीलता के लिए कुछ केन्द्रीय मंत्रियों एवं मुख्यमंत्रियों की एक उप-समिति का गठन किया।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अन्तर-राज्य परिषद् का गठन केन्द्र-राज्य रिश्तों में सहयोग की ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम था। लेकिन यह एक वास्तविकता है कि भारत अभी तक भी एक उच्च स्तरीय केन्द्रीकृत राज्य व्यवस्था बना हुआ है। राज्यपाल की नियुक्ति और राष्ट्रपति शासन को लागू करने से लेकर केन्द्रीय सूची या समवर्ती सूची सहित ऐसे बहुत से विषय हैं जिनके कारण यह मूलत: एक केन्द्रीकृत ढाँचा है। जैसा कि पहले भी उद्धृत किया गया है कि क्षेत्रीय दलों के महत्त्वपूर्ण हो जाने तथा उनके द्वारा केन्द्र में संविद सरकार बनवाने एवं जारी रखने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका हो जाने के कारण और क्षेत्रीय आंदोलनों की बढ़ोतरी होने से केन्द्र द्वारा राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने तथा स्वयं को थोपने की उसकी प्रवृत्ति में कुछ कमी आयी है। केन्द्र-राज्यों के रिश्तों को और अधिक सौहार्दपूर्ण बनाए रखने के लिए बहुत से दलों तथा राज्यों द्वारा संविधान में आवश्यक संशोधन की माँग लगातार की जाती रही है। बहुत से समुदायों, समूहों तथा क्षेत्रों की अभिलाषाओं को पूरा करने, जनता को केन्द्र, बिन्दु बनाकर विकास करना और राष्ट्रीय हितों के लिए संघीय भावना को स्वीकार करना तथा आवश्यक परम्पराओं को बनाए रखना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से करें।

1) राज्य अपने लिए स्वायत्तता की माँग क्यों करते हैं?

.....

.....

.....

.....

2) केन्द्र-राज्य संबंधों में सुधार के लिए किए गए कुछ उपाय बताएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

3) सरकारिया आयोग की नियुक्ति क्यों की गई और इसकी क्या महत्त्वपूर्ण सिफारिशें थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

4) अन्तर-राज्य परिषद् की क्या भूमिका एवं उपयोगिता है?

.....

.....

.....

.....

.....

16.8 सारांश

इस इकाई में आपने भारत में संघवाद की कार्य पद्धति का अध्ययन किया है। जबकि संविधान निर्माताओं ने आशा की थी कि सहयोगात्मक संघीय ढाँचे का विकास होगा, लेकिन केन्द्र सरकार ने प्रारंभ से ही संघवाद को एक शक्तिशाली केन्द्र के रूप में लिया। इससे भी अधिक केन्द्र को जो आपातकालीन स्थिति के लिए शक्तियाँ प्रदान की गई थीं उनका संकुचित उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया गया। जब 1960 के दशक के मध्य में केन्द्र तथा अधिकतर राज्यों में सत्ता पर एक दल का एकाधिकार समाप्त हो गया तब केन्द्र सरकार के हस्तक्षेप तथा सत्ता के उपयोग एवं दुरुपयोग पर प्रश्न उठाए जाने लगे। इससे केन्द्र-राज्य संबंधों में खिंचाव एवं तनाव बढ़ने लगा, क्षेत्रीय आंदोलनों का उद्गम हुआ और विकेन्द्रीकरण तथा स्वायत्तता की माँग की जाने लगी। कई प्रकार के सुझाव दिए गए और प्रशासनिक सुधार आयोग ने कार्य पद्धति में सुधार के साथ-साथ संविधान में परिवर्तन

का सुझाव दिया। परन्तु केन्द्र सरकार ने इन सुझावों की ओर कोई विशेष ध्यान न दिया और केन्द्रीकरण की प्रक्रिया जारी रही। परिणामस्वरूप तनाव बना रहा। 1980 के दशक में स्थिति गंभीर प्रतीत होने लगी। फिर 1983 में केन्द्रीय सरकार ने केन्द्र-राज्य संबंधों पर नए ढंग से पुनर्विचार करने एवं आवश्यक सिफारिशें करने के लिए न्यायाधीश आर०एस० सरकारिया आयोग का गठन किया। सरकारिया आयोग ने राज्यपाल की नियुक्ति, धारा 356 के अंतर्गत आपात व्यवस्थाओं के प्रयोग, वित्तीय संसाधनों के वितरण तथा संविधान की धारा 263 द्वारा अंतर-राज्य परिषद् की स्थापना सहित जैसे अन्य दूसरे उपायों के विषय में महत्त्वपूर्ण सिफारिशें कीं। सरकारिया आयोग द्वारा की गई अधिकतर सिफारिशों को लागू ही नहीं किया गया। फिर भी केन्द्रीय सरकार ने 1990 में अंतर-राज्य परिषद् का गठन किया। यह अभी भी कार्यरत है और संबंधों को सामान्य बनाने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। क्षेत्रीय दलों के महत्त्व प्राप्त करने तथा इनके द्वारा केन्द्र में संविद सरकार में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने के कारण केन्द्र द्वारा राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने तथा अपनी इच्छा को उन पर थोपने की प्रवृत्ति में कमी आयी है। केन्द्र-राज्यों के बीच सहयोग के लिए संवैधानिक परिवर्तन एवं स्वस्थ परम्पराओं को विकसित करने की आवश्यकता को फिर भी महसूस किया जा रहा है।

16.9 शब्दावली

कॉरपोरेशन कर : कम्पनियों की आमदनी पर कर लगाना।

वित्त आयोग : केन्द्र एवं राज्यों के बीच राजस्व वितरण हेतु मापदण्ड निर्धारित करने के लिए राष्ट्रपति प्रत्येक पाँच वर्ष में या इससे पूर्व एक वैधानिक आयोग की नियुक्ति करता है।

विखण्डन की प्रवृत्तियाँ : बिखराव या अलगाव की प्रवृत्तियाँ

स्वायत्तता : किसी दूसरे के हस्तक्षेप के बग़ैर व्यक्ति विशेष, संस्था, राज्य का देश के अधिकार क्षेत्र में विषयों और मामलों में स्वतंत्र निर्णय लेना।

16.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अब्दुल रहीम पी० विज़पुर (सम्पादक), *डाइमेन्शन ऑव फेडरल नेशन बिल्डिंग*, नई दिल्ली, 1998

ए० एस० नारंग, *इण्डियन गवरमेण्ट एण्ड पॉलीटिक्स*, नई दिल्ली, गीतांजली, 2000

16.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आप अपने उत्तर में निम्नलिखित तर्कों को शामिल करें:

   अ) राज्यों में कांग्रेस के एकाधिकार शासन का अंत।

ब) अपेक्षित परिणामों को प्राप्त करने में योजना आयोग की असफलता ।

स) राजनीति में नवीन समूहों एवं वर्गों का उद्‌भव।

2) अ) बहुमत पर संदेह होने की स्थिति में केन्द्र द्वारा मुख्यमंत्री की नियुक्ति एवं बर्खास्तगी पर विवाद।

ब) राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए विधेयकों को सुरक्षित रखने हेतु भेदभाव पूर्ण शक्तियों का इस्तेमाल।

स) सरकार के रोज़मर्रा प्रशासन में हस्तक्षेप।

द) धारा 356 के अंतर्गत आपातस्थिति घोषणा हेतु राष्ट्रपति को रपट भेजना।

बोध प्रश्न 2

1) धारा 356 के अंतर्गत शक्तियों का दुरुपयोग किया गया है :

अ) द्वेषपूर्ण आधार पर राज्य सरकार को बर्खास्त करना

ब) सरकार का गठन करने के लिए विरोधी दलों को अवसर देने से इंकार करना

स) दल के आंतरिक विवादों को हल करना

द) उन राजनीति दलों या सरकारों को तंग करना जिनको केन्द्र सरकार द्वारा पसंद न किया जाता हो

2) अ) राष्ट्रपति शासन की घोषण के लिए कारणों को सार्वजनिक रूप से बताना

ब) राज्य विधान सभा को तब तक भंग न किया जाए जब तक इस घोषणा का अनुमोदन संसद नहीं कर देती

स) घोषणा पर पुनर्विचार करने की शक्ति न्यायपालिका के पास होनी चाहिए

द) धारा में विद्यमान व्यवस्थाओं पर अंकुश लगाने के लिए संविधान में संशोधन किया जाए

बोध प्रश्न 3

1) अ) केन्द्र के राजस्व स्रोत राज्यों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक एवं खर्चीले हैं

ब) द्वेषपूर्ण आधार पर राज्यों को अनुदान देना

स) वित्तीय आयोग की शक्तियों के एक भाग का अधिग्रहण योजना आयोग द्वारा करना

2) अ) राज्यों की आवश्यकताओं तथा ज़रूरतों की परवाह किए बग़ैर केन्द्र द्वारा अपनी योजना एवं कार्यक्रमों को थोपना;

ब) केन्द्र द्वारा इसका इस्तेमाल राज्य के विषयों में कया गया है;

स) यह केन्द्र को अनुदान प्रदान करने की व्यापक शक्तियाँ प्रदान करता है।

बोध प्रश्न 4

1) उप-भाग 16.7.1 को देखें।

2) अ) अंतर-राज्य परिषद् की स्थापना

ब) संविधान में आवश्यक संशोधन करना

स) राज्यपालों की नियुक्तियाँ, धारा 356 के इस्तेमाल तथा भेदभाव, शक्तियों के प्रयोग के संदर्भ में स्वस्थ परम्पराओं को विकसित करना

द) शक्तियों का विकेन्द्रीकरण।

3) अ) सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों की पृ ठभूमि में केन्द्र-राज्यों के रिश्तों पर पुनर्विचार करने हेतु सरकारिया आयोग का गठन किया गया।

ब) बहुत से क्षेत्रों में सुधार के लिए आयोग ने 265 सिफारिशों की इसके लिए उप-भाग 16.7.3 को देखें।

4) अ) केन्द्र और राज्यों के बीच मतभेद तथा सहयोग के बहुत से मामलों पर विचार-विमर्श के लिए संविधान की धारा 263 अंतर-राज्य परिषद् के गठन की व्यवस्था की गई।

ब) बहुत से मामलों पर विचार-विमर्श करने और राज्य तथा केन्द्र के बीच सहमति प्राप्त करने के लिए परिषद् एक उपयोगी मंच है;

स) विवादों को हल तथा सहयोग को प्राप्त करने के लिए यह एक सतत् प्रक्रिया को उपलब्ध कराता है।

इकाई 17 भारत में स्वायत्तता आंदोलन और राज्यों का पुनर्गठन

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 सैद्धांतिक विषय वस्तु

- 17.2.1 प्रादेशिकता बनाम संस्कृति
- 17.2.2 बहु-सांस्कृतिक राज्य में सरकार
- 17.2.3 "तिरछी-काट विभेद" ("Cross-cutting Cleavages")

17.3 औपनिवेशिक अनुभव

- 17.3.1 'अंग्रेज' एवं 'देशी' भारतीय
- 17.3.2 प्रेसीडेन्सीज से प्रदेशों तक
- 17.3.3 धर्म बनाम भाषा

17.4 विभाजन के बाद भारत

- 17.4.1 प्रदेशों से राज्य तक
- 17.4.2 पिछडे क्षेत्र

17.5 राज्यों का भाषायी पुनर्गठन

- 17.5.1 आंध्र राज्य का निर्माण
- 17.5.2 1956 में राज्यों का पुनर्गठन
- 17.5.3 नए राज्यों का निर्माण
- 17.5.4 उत्तर-पूर्वी भारत का पुनर्गठन
- 17.5.5 केन्द्र शासित क्षेत्रों के दर्जे में वृद्धि

17.6 विश्लेषण एवं निष्कर्ष

- 17.6.1 राज्य का दर्जा प्राप्त करने की शक्ति एवं लाभ
- 17.6.2 अस्मिता एवं राज्यवाद

17.7 सारांश

17.8 शब्दावली

17.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

17.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत में राज्यों के पुनर्गठन से संबंधित कारणों एवं प्रक्रियाओं की आपके लिए व्याख्या करना है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपको जानकारी हो सकेगी :

- इस अन्त:संबंध की प्रकृति की;
- किसी राज्य की सीमाओं के निर्धारण से जुड़े प्रश्नों की;
- उन कारणों की जिनसे जनता राज्यवाद को प्राप्त करना चाहती है; और
- उन तरीकों की जिनसे नए राज्यों का निर्माण हुआ और भारत में राज्य सीमाओं में बदलाव की।

17.1 प्रस्तावना

भारत का संविधान केन्द्रीय सरकार को विद्यमान राज्यों में से नए राज्य बनाने या दो राज्यों का एक-दूसरे में विलय करने का अधिकार प्रदान करता है। इस प्रक्रिया को राज्यों के पुनर्गठन का नाम दिया गया है। इस पुनर्गठन का आधार भाषायी, धार्मिक, जातीय या प्रशासनिक हो सकता है।

17.2 सैद्धांतिक विषय वस्तु

अधिकतर आधुनिक राज्य विशाल राज्य हैं और वे बहुत-सी सांस्कृतिक एवं आर्थिक समस्याओं से ग्रस्त हैं। ऐतिहासिक अनुभवों ने इन समस्याओं को और जटिल कर दिया है। शासन-कला के सम्मुख सबसे बड़ी चुनौती यह है कि राज्यों को तार्किक तरीके से ऐसे पुनर्गठित किया जाए जिससे सरकार की प्रक्रिया इन जटिलताओं को हल करने में सामंजस्य कर सके।

17.2.1 प्रादेशिकता बनाम संस्कृति

वर्तमान राज्य प्रबंधन की सबसे बड़ी समस्या आधुनिक राज्य की प्रादेशिक सीमाओं तथा सांस्कृतिक सीमाओं के बीच की असंगति है। अधिकतर आधुनिक राज्य विशाल राज्य हैं। जिनमें कई प्रकार के धार्मिक, भाषायी तथा जातीय (जन-जातियाँ) समूहों के लोग रहते हैं। कुछ मामलों में ये संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह एक-दूसरे से घुल-मिल गए हैं। कुछ अन्य मामलों में जैसे कि कनाडा तथा स्विट्ज़रलैण्ड के विशिष्ट क्षेत्रों में अलग-अलग बसे हुए हैं। जब धार्मिक, भाषायी तथा जातीय (जन-जातीय) समूह अलग-अलग विशिष्ट क्षेत्रों में बसे हो तब उनको अलग राज्यों या प्रदेशों में गठित कर क्षेत्रीय स्वायत्तता प्रदान की जा सकती है। इस प्रक्रिया को प्रादेशिकता या क्षेत्रीयकरण कहते हैं।

जब भी इस प्रकार की प्रादेशिकता या क्षेत्रीकरण संभव है तब भी प्रत्येक प्रदेश या क्षेत्र में ऐसे लोग होंगे जो दूसरे प्रकार की संस्कृति से संबंधित होते हैं। किसी प्रदेश या क्षेत्र के सीमावर्ती क्षेत्रों के बारे में यह विशेष रूप से सत्य है।

यह समस्या उन देशों में अधिक विकराल रूप ग्रहण करती है जो अतीत में औपनिवेशिक शासन के अधीन रहे हों। औपनिवेशिक शासकों ने जहाँ कहीं शासन किया वहीं पर क्षेत्रों का ज़बरन अधिग्रहण किया। जब वे उन क्षेत्रों में शासन करते थे तब उन्होंने अपने शासन के अधीन लोगों की सांस्कृतिक एवं जातीय विशेषताओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया। उनके शासन के दौरान अधिकतर प्रदेश बहु-भाषायी, बहु-धार्मिक तथा बहु जन-जातीय बने रहे।

17.2.2 बहु-सांस्कृतिक राज्य में सरकार

जिस राज्य में विभिन्न सांस्कृतिक, भाषायी एवं सामाजिक समूहों के लोग रहते हों, उसको बहु-सांस्कृतिकी राज्य कहा जाता है। औपनिवेशिक शासकों को भी इस प्रकार के लोगों के साथ कार्य करना पड़ता था। वे भी लगातार लोगों की सांस्कृतिक एवं जातीय अभिलाषाओं की अवहेलना नहीं कर सकते थे। इसलिए उनको लोगों की सांस्कृतिक सीमाओं के साथ प्रादेशिक सीमाओं का सामंजस्य करना ही पड़ता था।

एक स्वतंत्र तथा लोकतांत्रिक राज्य में इस प्रकार का सामंजस्य करना और भी आवश्यक हो जाता है। ऐसी सरकार जो जनता की सहमति के आधार पर शासन करती हो वह भी लम्बे समय तक

उनकी भावनाओं की अवहेलना नहीं कर सकती है। जैसे-जैसे लोकतंत्र की जड़े गहरी होती जाती हैं वैसे ही इस प्रकार की अभिलाषाओं में वृद्धि होती है। इस प्रकार जनता के उपेक्षित हिस्से अपने महत्त्व को समझने लगते हैं, वे नए प्रदेशों का राज्यों की माँग करते हैं तथा वे नई सीमाओं और स्वायत्तता प्राप्त करने की इच्छा करने लगते हैं।

17.2.3 "तिरछी-काट विभेद" ("Cross-cutting Cleavages")

औपनिवेशिक सरकार एवं एक स्वतंत्र लोकतांत्रिक सरकार के लिए "तिरछी-काट विभेद" एक सामान्य समस्या रही है। धार्मिक विभाजन भाषायी विभाजनों और यहाँ तक कि जन-जातीय विभाजनों के बावजूद भी होता है। तब सर्वोच्च सरकार के लिए यह और भी जटिल हो जाता है कि वह प्रादेशिक या राज्य की सीमाओं का निर्धारण कैसे करे। यह एक ऐसी समस्या है जिसका सामना भारत को सम्पूर्ण 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में करना पड़ा और अन्त में उसका विभाजन हो गया। सबसे अधिक तिरछी-काट विभेद भाषा एवं धर्म के बीच है। जो लोग एक समान भाषा बोलते हों वे अलग-अलग धर्म के हो सकते हैं और जिनका धर्म एक ही हो वे भिन्न प्रकार की भाषा बोल सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से करें।

1) वर्तमान समय में राज्य प्रबंधन की सबसे बड़ी समस्या क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) सबसे अधिक "तिरछी-काट विभेद" क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

17.3 औपनिवेशिक अनुभव

अंग्रेजों ने भारत की विजय विभिन्न चरणों एवं खण्डों में की। जब तक उन्होंने भारत छोड़ा तब तक वे सम्पूर्ण उप-महाद्वीप विजय न कर सके थे। परिणामस्वरूप उन्होंने प्रशासन एवं नियंत्रण की भिन्न-भिन्न शैलियों को विकसित किया।

17.3.1 'अंग्रेज' एवं 'देशी' भारतीय

स्वतंत्रता प्राप्ति तक भारत 'ब्रिटिश भारत' तथा 'देशी भारत' में विभाजित था। ब्रिटिश भारत को गवर्नर के प्रांतों एवं मुख्य कमीश्नर के प्रांतों में विभाजित किया गया था। देशी भारत को दो रूपों में किया गया – (i) 566 देशी या राजाओं के राज्य आकार में भिन्न प्रकार के थे और वे भिन्न-भिन्न प्रकार से ब्रिटिश शासकों के सहायक थे, और (ii) ब्रिटिश भारत की उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्वी सीमाओं के बाहर 'जन-जातीय' क्षेत्र। यद्यपि ब्रिटिश भारत के बाहर के जन-जातीय क्षेत्र निश्चित रूप से भारत के गवर्नर-जनरल के नियंत्रण में थे, फिर भी ब्रिटिश भारत के असम, बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के ऐसे पिछड़े जिले थे जहाँ पर विशिष्ट जन-जातीय समूह रहते थे। बहुत जिलों को बहु-जन-जातीय समूहों से बनाया गया था। और जैसा प्रांतीय सीमाओं के निर्धारण में घटित हुआ वैसे ही कई जिलों की सीमाओं को बहुत से जन-जातीय समूहों के आर-पार बनाया गया।

17.3.2 प्रेसीडेन्सीज़ से प्रदेशों तक

प्रारंभ में ब्रिटिश प्रशासन को प्रेसीडेन्सीज अर्थात् इस्टइंडिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ ट्रेड के प्रेसीडण्ट की सम्पति के रूप में संगठित किया गया। ये तीन प्रेसीडेंसियाँ थीं-बंगाल, बंबई तथा मद्रास। बंगाल सबसे बड़ी प्रेसीडेन्सी थी। जैसे-जैसे विजय अभियान चलता गया, वैसे ही ब्रिटिश सरकार नए प्रांतों का गठन करती गई।

बंगाल प्रेसीडेन्सी के अन्तर्गत वर्तमान पश्चिम बंगाल, बिहार, उड़ीसा, असम का एक भाग और बंग्लादेश आते थे। ब्रिटिश भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड कर्जन ने 1904 में प्रशासनिक सुविधा के लिए इस प्रेसीडेन्सी का विभाजन किया था। उसने पश्चिम बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा का एक प्रांत बनाया और दूसरा पूर्वी बंग्लादेश (सामान्यत: बंगाली भाषा बोलने वाले क्षेत्र का दो भागों में विभाजन किया) का अलग। सरकार ने अपनी कार्यवाही को धर्म के आधार पर अचेत ठहराया। पूर्वी बंगाल मुसलमान बाहुल्य क्षेत्र था जबकि पश्चिम बंगाल हिन्दू बाहुल्य।

17.3.3 धर्म बनाम भाषा

बंगाली भावनाओं को भारी आघात पहुँचा। भारतीय राष्ट्रवादियों ने इस प्रयास को भारतीय राष्ट्र को दो विरोधी धार्मिक समूहों में विभाजित करना माना। भाषायी भावनाओं पर आधारित विभाजन विरोधी एक शक्तिशाली आंदोलन बंगाल में चला और सरकार को बंगाल विभाजन को वापस लेना पड़ा। परन्तु बंगाल से बिहार एवं उड़ीसा को अलग कर उनको एक संयुक्त प्रांत में गठित कर दिया गया। 1936 में बिहार तथा उड़ीसा को अलग-अलग भाषायी प्रांतों में गठित किया गया।

ठीक इसी समय सरकार ने धार्मिक आधार पर सिंध प्रांत को बम्बई प्रेसीडेन्सी से अलग कर दिया। अंग्रेजों ने किसी विभाजन की अपेक्षा धार्मिक विभाजन को अधिक महत्त्वपूर्ण मानना जारी रखा और अन्तत: इसी आधार पर भारत का विभाजन कर दिया।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से करें।

1) औपनिवेशिक काल में भारत को कितने प्रांतों में विभाजित किया गया था?

.....

.....

.....

.....

.....

2) 1905 में किस आधार पर बंगाल का विभाजन किया गया था? विवेचना करें।

.....

.....

.....

.....

.....

17.4 विभाजन के बाद भारत

1947 के विभाजन द्वारा असम, बंगाल और पंजाब प्रांतों के कुछ भागों को तथा सिंध, बलूचीस्तान एवं नॉर्थ-वेस्ट फ्रंटीयर प्रोविंस पूरी तरह से पाकिस्तान को दे दिया गया था। दूसरी ओर 554 देशी राज्य भारत में शामिल हो गए। उत्तर-पूर्व का एक 'जन-जातीय' क्षेत्र भी भारत में शामिल हो गया।

17.4.1 प्रदेशों से राज्य तक

1950 में भारत के संविधान ने उन प्रांतों का पुनर्गठन किया जो औपनिवेशिक शासन के दौरान विद्यमान थे। भारत के संघ राज्य के अन्तर्गत इसने चार प्रकार के "राज्यों" का निर्माण किया। भूतपूर्व गवर्नर प्रांतों को भाग A राज्य घोषित किया गया। कुछ भूतपूर्व देशी राज्यों सहित मुख्य कमिशनर के प्रांतों— अजमेर, कूर्ग एवं दिल्ली को बेहतर प्रशासन उपलब्ध कराने की दृष्टि से सी राज्यों का भाग बनाया गया। दूसरे भूतपूर्व देशी राज्य तथा देशी राज्यों के समूह बी राज्यों के भाग बने और अण्डमान तथा निकोबार जैसे अति पिछड़े द्वीपों को डी राज्य का भाग बनाया गया।

भाग ए राज्यों को गवर्नरों के अधीन रखा गया जबकि भाग बी राज्यों को राज प्रमुखों के अधीन उनकी विधायिकायें होंगी। भाग ए राज्यों की एक मन्त्री परिषद होगी जो विधायिका के प्रति उत्तरदायी होगी जबकि भाग बी राज्यों की कार्यकारी परिषद होगी। भाग सी तथा भाग डी केन्द्र द्वारा शासित होगी। भाग ए तथा भाग बी राज्यों में गवर्नर तथा राज प्रमुख मन्त्री परिषद की सलाह का

अनुसरण करेंगे और इन्हें अधिकतम स्वयत्तता प्राप्त होगी। केंद्र द्वारा शासित राज्यों के पास कम से कम या बिल्कुल भी स्वायत्तता नहीं रहेगी।

17.4.2 पिछड़े क्षेत्र

ब्रिटिश भारत के जन-जातीय लोगों के पिछड़े क्षेत्रों का प्रशासन गवर्नरों की व्यक्तिगत सत्ता के अधीन रखा गया था। 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अंतर्गत इन क्षेत्रों का वर्गीकरण 'वर्जित' एवं 'आंशिक वर्जित' क्षेत्रों में किया गया। उनको पूर्णरूपेण या आंशिक रूप से प्रांतीय विधायिका और प्रांतीय मंत्री परिषद् के कार्यक्षेत्र से बाहर रखा गया।

'जन-जातीय क्षेत्रों', 'वर्जित क्षेत्रों' तथा 'आंशिक वर्जित क्षेत्रों' में पूरी तरह से (या अधिकतर में) जन-जातीय लोग रहते थे। परन्तु 'जंन-जातीय क्षेत्र' ब्रिटिश भारत से बाहर और पूर्णरूपेण स्वायत्त क्षेत्र थे। 'वर्जित क्षेत्र' या 'आंशिक वर्जित क्षेत्र' ब्रिटिश भारत के अधीन थे और उन पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण था।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से करें।

1) 1950 में भारत के संविधान के अनुसार कितने प्रकार के राज्यों के निर्माण की घोषणा की गई?

.....

.....

.....

.....

.....

17.5 राज्यों का भाषायी पुनर्गठन

संविधान निर्मात्री सभा के कार्य करने के दौरान राज्यों को भाषायी आधार पर पुनर्गठित करने की माँग उठायी गई। परन्तु नेताओं का मानना था कि विभाजन के तुरन्त बाद भाषायी राज्यों का गठन और तनाव में वृद्धि कर सकता था। इसलिए निर्णय को स्थगित रखा गया। परन्तु भविष्य में नए राज्यों का निर्माण करने या पुराने राज्यों का विलय करने या इस प्रकार के राज्यों के भागों का विलय करने या उनकी सीमाओं में परिवर्तन करने की शक्ति संसद को प्रदान की गई।

17.5.1 आंध्र राज्य का निर्माण

संविधान बनने के तुरंत बाद ही आंध्र राज्य बनाने के लिए आंदोलन प्रारंभ हो गया। आंध्र कांग्रेस के सम्मानित नेता पौत्ती श्रीरमालू ने भाषायी आधार पर आंध्र राज्य के निर्माण की माँग के लिए आमरण अनशन किया। इसके परिणामस्वरूप। अक्टूबर, 1953 को मद्रास राज्य से अलग कर आंध्र राज्य का निर्माण कर दिया गया।

17.5.2 1956 में राज्यों का पुनर्गठन

भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का आंदोलन इसके परिणामस्वरूप ज़ोर पकड़ने लगा। इसलिए सरकार ने 1953 में तीन सदस्य राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति की। यह समझा गया कि आयोग भारतीय संघ के राज्यों के पुनर्गठन के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, तत्कालिक स्थिति और भाषा आदि की जाँच-पड़ताल करेगा। फाजुल अली, एच० एन० कुंजरू और के० एम० पाणिक्कर आयोग के सदस्य थे। आयोग ने दक्षिण में भाषा के आधार पर नए राज्यों के निर्माण की सिफारिश की। आयोग ने अपनी रपट 1955 में दी। 1956 में राज्यों के पुनर्गठन का अधिनियम पारित किया गया।

राज्य पुनर्गठन अधिनियम ने राज्यों के पुनर्गठन में कोई व्यापक फेरबदल नहीं किए। भूतपूर्व भाग बी के हैदराबाद राज्य को आंध्र राज्य के साथ सम्मिलित कर विशाल आंध्र प्रदेश राज्य का निर्माण किया गया। भूतपूर्व भाग बी के मैसूर राज्य को मद्रास (तमिलनाडू) तथा बम्बई राज्यों के कुछ क्षेत्रों के साथ मिलाकर एक बड़े राज्य कर्नाटक में परिवर्तित कर दिया गया। भूतपूर्व भाग बी के ट्रावनकौर-कोचीन राज्यों को मद्रास राज्य के कुछ क्षेत्रों के साथ विलय करने पर केरल नाम के राज्य का जन्म हुआ।

इस इकाई के उप-भाग 17.4.1 में आप पढ़ चुके हैं कि 1950 में भारतीय संविधान ने चार प्रकार के राज्यों को बनाया। 1956 में इसे घटाकर दो प्रकार के राज्यों में परिवर्तित कर दिया गया (i) राज्य, और (ii) केन्द्र शासित प्रदेश। राज्यों की स्वायत्तता केन्द्र शासित प्रदेशों से कहीं अधिक व्यापक थी।

17.5.3 नए राज्यों का निर्माण

1955 में गठित राज्य पुनर्गठन आयोग ने कोई नंवीन राज्य बनाने की सिफारिश नहीं की थी। बल्कि आयोग ने भाषा के आधार पर भूतपूर्व देशी राज्यों का एकीकरण किया। आयोग बहुत से राज्यों के पक्ष में न था। यद्यपि इसने मध्यप्रदेश तथा उस समय के बम्बई राज्य के समीपवर्ती क्षेत्रों को मिलाकर एक नए राज्य विदर्भ को बनाने की सिफारिश की थी। परन्तु इस सिफारिश को सरकार द्वारा स्वीकार न किया गया। दूसरी ओर मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्रों का हस्तांतरण कर बम्बई राज्य का विस्तार किया।

इसके कुछ समय पश्चात् नए राज्यों के निर्माण का कार्य शुरू हुआ। 1960 में बम्बई राज्य का विभाजन कर महाराष्ट्र एवं गुजरात राज्यों को बनाया गया। 1966 में पंजाब का विभाजन कर हरियाणा, पंजाब तथा केन्द्रशासित प्रदेश को पंजाब के कुछ क्षेत्रों के साथ मिलाकर हिमाचल प्रदेश का गठन किया गया। भारत के विभिन्न भागों में अभी भी विदर्भ, गोरखालैण्ड, हरित प्रदेश और भीलवाड़ा जैसे राज्य बनवाने के लिए आंदोलन चल रहे हैं।

2000 के वर्ष में तीन नए राज्यों का निर्माण किया गया – मध्य प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों से छत्तीसगढ़ का, बिहार के पर्वतीय क्षेत्रों से झारखण्ड और उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों से उत्तराखण्ड का। एक समय था जबकि बिहार तथा मध्य प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों पर आदिवासी लोगों का वर्चस्व कायम था, इनको अब सूचीबद्ध जनजातीय कहकर पुकारा जाता है। औद्योगीकरण तथा स्थानांतरण के कारण ये लोग अल्पमत में आ गए हैं। उत्तरांचल लगभग गैर-जनजातीय क्षेत्र हैं।

1972 के बाद से जितने भी नए राज्यों का निर्माण हुआ है उनको 'पर्वतीय राज्य' कहा जा सकता है।

17.5.4 उत्तर-पूर्वी भारत का पुनर्गठन

इसी बीच उत्तर-पूर्वी भारत के बहुत से पर्वतीय क्षेत्रों के लोगों के बीच स्वायत्तता के लिए आंदोलन काफी शक्तिशाली हो गए। 1960 में नागा पर्वतों के लिए एक अन्तरिम सरकार का गठन किया गया। 1963 में नागा राज्य का निर्माण हुआ। 1969 में असम के अंदर ही मेघालय एक 'स्वायत्त राज्य' बन गया। 1972 में मेघालय को पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान कर दिया गया। असम राज्य के क्षेत्रों से अरुणाचल प्रदेश एवं मिज़ोरम नाम के दो केन्द्रशासित प्रदेशों को बनाया गया, जबकि मणिपुर एवं त्रिपुरा को पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान कर दिया गया। सभी नई राजनीतिक पहचान वाले क्षेत्रों में अधिकतर सूचीबद्ध जनजातीय लोगों की जनसंख्या थी। सूचीबद्ध जन-जातियाँ भी कई समूहों में विभाजित हैं।

17.5.5 केन्द्र शासित क्षेत्रों के दर्जे में वृद्धि

1972 से 2000 तक किसी नए राज्यों का निर्माण नहीं किया गया बल्कि भारतीय संघ में सिक्किम शामिल हो गया। 1986 में अरुणाचल प्रदेश और मिज़ोरम ने पूर्णरूपेण राज्यों का दर्जा प्राप्त किया। 1987 में गोआ को दमण तथा दीव से अलग कर राज्य का दर्जा प्रदान किया गया जबकि दमण तथा दीव केन्द्रशासित क्षेत्र बने रहे।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से करें।

1) उन कारणों को बताइए जिनके परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में भाषायी राज्यों का निर्माण हुआ।

.....

.....

.....

.....

.....

2) उत्तर-पूर्वी भारत के पुनर्गठन की प्रक्रिया का सारांश लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

17.6 विश्लेषण एवं निष्कर्ष

पूर्ण राज्य की माँग का कारण मुख्यत: सत्ता एवं लाभ तथा अस्मिता के दो विचारों से संबंधित है।

17.6.1 राज्य का दर्जा प्राप्त करने की शक्ति एवं लाभ

भारत के संघीय ढाँचे के अंतर्गत राज्यों के पास विशाल शक्तियाँ हैं। अर्थव्यवस्था के व्यापक क्षेत्रों पर राज्य का नियंत्रण है। राज्य बड़ी संख्या में अधिकारियों, सहायक कर्मचारियों एवं अध्यापकों की नियुक्ति करता है और इनके अतिरिक्त मंत्रियों, एम० एल० एज़० एवं एम० एल० सीज़०, कौंसिलर्स, कमेटी सदस्यों तथा पंचायत अधिकारियों जैसे बहुत से राजनीतिक पदों की रचना करती है। वे बैंकिंग सहित स्थानीय व्यापार एवं व्यवसाय पर नियंत्रण करते हैं। इसलिए पूर्ण राज्य किसी भी सामूहिकता के लिए एक बड़ी अभिलाषा है।

17.6.2 अस्मिता एवं राज्यवाद

राज्यवाद एक सामूहक अभिलाषा है और सामूहिकता स्वयं में एकात्मकता है। एक सामूहिक अस्मिता सांस्कृतिक अस्मिता होती है। संस्कृति की धर्म तथा भाषा दो बड़ी धाराएँ हैं। 1947 के विभाजन के बाद भाषा संस्कृति की मुख्य वाहक बनी। भाषा पूर्ण आधिपत्य का मुख्य औज़ार है। ऐसे भाषायी समूह जो दूसरे भाषायी समूहों के प्रभुत्व को सहन न करते हों तब वे पूर्ण राज्य के रूप में स्वायत्तता की माँग करते हैं।

17.7 सारांश

औपनिवेशिक शासन के दौरान क्षेत्रीय प्रशासन मुख्यत: शासकों की सुविधा पर आधारित था न कि जनता की सांस्कृतिक भावनाओं पर। धर्म एवं भाषा संस्कृति की ऐसी दो धाराएँ हैं जो अक्सर एक-दूसरे के आर-पार जाती हैं। औपनिवेशिक शासकों ने भाषा की अपेक्षा धर्म को अधिक महत्त्व दिया और 1947 में देश का विभाजन कर दिया। भारतीय राष्ट्रवादियों ने धर्म की अपेक्षा भाषा को अधिक महत्त्वपूर्ण माना। उन्होंने भारत का पुनर्गठन भाषायी आधार पर किया जो अब लगभग पूर्ण हो चुका है। फिर भी अन्तर्राज्य सीमाओं तथा जनजातीय क्षेत्रों में पूर्ण राज्य की माँग जारी है। पूर्ण राज्य की माँग एक राजनीतिक माँग है क्योंकि यह शक्ति एवं लाभ का स्रोत है।

17.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

पॉल आर० ब्रास, *लेंगुवेज़ रिलिजन एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, नई दिल्ली, विकास प्रकाशन,1975.

शिवानी किंकर चौबे, *कॉन्स्टीट्यूएंट एसेम्बली ऑफ इण्डिया, स्परिंग बार्ड ऑफ रीवोल्यूशन, मनोहर 2000.*

—— *हिल पॉलीटिक्स इन नॉर्थ इस्ट इण्डिया*, कलकत्ता आरिएण्ट लोंगमैन 1973.

—— ऐथनीसिटी एण्ड डायनेमिक्स ऑफ फ़ेडरेलिज़्म इन इण्डिया इन अमल कुमार मुखोपाध्याय (सम्पादक), *दी पॉलिटिकल मिसलेनी, ऐसेज इन मेमोरी ऑफ प्रोफेसर रमेश चन्द्र घोष, कलकत्ता*, के०पी० बाग्ची एण्ड कम्पनी, 1986

17.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) सांस्कृतिक सीमाएँ तथा प्रादेशिक सीमाएँ असंगत है।

2) सबसे अधिक "तिरछी-काट" विभेद भाषा एवं धर्म के मध्य है।

बोध प्रश्न 2

1) भारत को दो प्रकार के प्रांतों में विभाजित किया गया, अर्थात् "ब्रिटिश भारत" और "देशी भारत"।

2) 1905 में बंगाल का विभाजन धर्म के आधार पर किया।

बोध प्रश्न 3

1) चार प्रकार राज्यों के भाग हैं – ए राज्य, बी राज्य, सी राज्य और डी राज्य।

बोध प्रश्न 4

1) पोत्तालि श्रीरामालू द्वारा आमरण अनशन और 1955 के राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशें।

2) देखें इस इकाई के उप-भाग 17.5.4 को।

इकाई 18 स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ : ग्रामीण एवं शहरी

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 भारत में ग्रामीण स्वशासन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

18.3 स्वतंत्र भारत में पंचायती राज

18.4 73वाँ संवैधानिक संशोधन अधिनियम, 1992

18.4.1 पंचायत (सूचीबद्ध क्षेत्रों तक प्रसार) अधिनियम, 1996

18.5 73वें संविधान संशोधन के बाद के समय में पंचायती राज संस्थाएँ : उत्तर प्रदेश का दृष्टांत

18.5.1 ग्राम पंचायत

18.5.2 क्षेत्र पंचायत

18.5.3 जिला पंचायत (जिला-परिषद्)

18.5.4 पी० आर० आईज़ एवं डी० आर० डी० ऐज़ के बीच संबंध

18.5.5 पी० आर० आईज़ : एक मूल्यांकन

18.6 शहरी स्थानीय स्वशासन

18.6.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

18.7 74वें संवैधानिक संशोधन (1992) के बाद का समय : शहरी स्थानीय स्वशासन निकाय

18.8 नगरपालिका वित्त

18.8.1 कर राजस्व

18.8.2 चुंगी

18.8.3 ग़ैर-कर राजस्व

18.8.4 अनुदान सहायता

18.8.5 उधार एवं ऋण

18.9 सारांश

18.10 शब्दावली

18.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

18.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

स्थानीय स्वशासित संस्थाएँ स्थानीय स्तर पर लोकतंत्र के विद्यमान होने का सूचक है। इस इकाई अध्ययन करने के पश्चात् आप जान पाएँगे :

- भारत में स्थानीय स्वशासन (एल० एस० जी०) का विकास;
- भारत के ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में एल० एस० जी० की संरचना एवं कार्यपद्धति;
- एल० एस० जी० की शक्तियों एवं कार्यक्षेत्र में परिवर्तनों को; और
- एल० एस० जी० की केन्द्र तथा राज्य सरकारों के रिश्तों के विषय में।

18.1 प्रस्तावना

भारत में राजनीतिक शक्ति में शासन करने वाली तीन अनुलम्ब इकाइयों अर्थात् केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार और स्थानीय सरकार द्वारा भागीदारी की जाती है। ग्रामों में पंचायती राज संस्थाएँ (पी०आर०आई०) और शहरों में नगर तथा महानगर परिषदें स्थानीय सरकार में शामिल की गई हैं। इनको स्थानीय स्वशासित (एल० एस० जी०) संस्थाओं के नाम से जाना जाता है। स्थानीय स्वशासन को स्थानीय स्तर का लोकतंत्र भी कहा जाता है। 73वें तथा 74वें संवैधानिक संशोधन ने स्थानीय स्वशासन के कार्यक्षेत्र को और व्यापक बना दिया है।

18.2 भारत में ग्रामीण स्वशासन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीन काल से ही पंचायती राज का अपने विभिन्न रूपों में एक लम्बा इतिहास है। प्राचीन काल में ग्रामीण समुदायों ने अपने मामलों का प्रबंधन करने के लिए संस्थाओं का संगठन किया। मुगल काल में पर्याप्त ग्रामीण स्वायत्तता विद्यमान थी और इसी कारणवश मुग़ल शासन का स्थानीय समुदायों पर प्रभाव काफी कम पड़ा। लेकिन ग्रामीण स्वशासन की विधिवत संरचना को 1882 में रिपन के प्रस्तावानुसार लागू किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य औपनिवैशिक प्रशासन को स्थानीय प्रबुद्ध वर्ग का संस्थागत समर्थन उपलब्ध कराना था। भारत में तत्कालीन स्थानीय स्वशासन को अंग्रेज़ी शासन से पूर्व की अपेक्षा अंग्रेज़ी शासन के दौरान लागू की गई व्यवस्था के जारी रहने के रूप में समझा जा सकता है। क्षेत्रीय संस्थाओं पर बहुत से प्रादेशिक अधिनियम पारित किए गए हैं और उन्होंने दूसरे कई प्रांतीय अधिनियम उपलब्ध कराए। ग्राम-पंचायतों के नाम से प्रसिद्ध ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन की स्थापना 1907 में गठित विकेन्द्रीकरण हेतु रॉयल कमीशन की सिफारिशों के अनुसार लागू किया गया था। इसका उद्देश्य सत्ता का विकेन्द्रीकरण तथा जनता को ग्राम पंचायतों की संस्थाओं के माध्यम से स्थानीय प्रशासन से जोड़ना था। पंचायत इकाई मात्र एक गाँव की बनानी थी, लेकिन छोटे गाँवों के विषय में वह कई आसपास के गाँवों को मिलकर बनायी गई। पंचायतों को क्षेत्रीय बोर्डों के अधीन न करके बल्कि उनको उप-कमीश्नर के अधीन रखा गया। गाँव पंचायतों के पास कुछ निश्चित न्यायिक एवं प्रशासनिक शक्तियाँ भी थीं। वे कुछ भूमि से संबंधित मामलों का निपटारा कर सकती थी तथा उनको विशेष अनुदान भी प्रदान किया जाता।

1925 के ग्रामीण स्वशासन अधिनियम द्वारा नौ सदस्य ग्राम प्राधिकारी की व्यवस्था की गई और इसका निर्वाचन सीमित वयस्क मताधिकार के आधार पर किया गया। किसी भी सफल ग्राम प्राधिकारी को और शक्तियाँ प्रदान की जाती थी। पंचायत एक से अधिक भूकर ग्राम को शामिल कर सकती थी। यह जल आपूर्ति, मेडिकल सहायता तथा सफाई जैसे सुनिश्चित कार्यों को कर सकती थी। एक सदस्य ग्राम प्राधिकारी की भी व्यवस्था की गई परन्तु ऐसे गाँव में कोई मान्यता प्राप्त संगठन विद्यमान न होता था।

18.3 स्वतंत्र भारत में पंचायती राज

जनवरी 1957 में योजना आयोग ने बलवन्त राय जी मेहता की अध्यक्षता में योजना कार्यक्रमों के लिए एक समिति का गठन किया। इस समिति या कमेटी को मेहता कमेटी के नाम जाना गया। मेहता कमेटी का उद्देश्य था:

i) सामुदायिक परियोजनाओं तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा को प्रभावकारी रूप से लागू करने के लिए पंचायतों एवं उच्चतर स्तरीय लोकप्रिय संगठनों के बीच संभावित सम्पर्कों पर रपट देना;

ii) जिला प्रशासन को और विकसित अवस्था में पुनर्संगठित करने को सुनिश्चित करना जिससे यह जिले या उप-मण्डल के सम्पूर्ण प्रशासन तथा विकास को लोकतांत्रिक संस्थाओं द्वारा ग्रहण करने में मददगार बन सके।

मेहता कमेटी ने राष्ट्रव्यापी सर्वे किया और कहा कि सामुदायिक परियोजनाओं तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं में जनता को शामिल नहीं किया गया। वे अस्थायी रूप में कार्य करती थी। इस दोष को दूर करने के लिए मेहता कमेटी ने ग्रामों में प्रतिनिध्यात्मक तथा लोकतांत्रिक संस्थाओं – ग्राम पंचायतों को स्थापित करने की सिफारिश की। ग्राम पंचायतों को पर्याप्त शक्तियाँ तथा पर्याप्त वित्तीय संसाधन प्रदान करने की सिफारिश भी मेहता कमेटी ने की। इस प्रकार 1957 में ही मेहता कमेटी ने ग्रामीण संस्थाओं को वित्तीय शक्तियाँ प्रदान करने की आवश्यकता को उजागर किया जिससे कि विकास के दृष्टिकोण से स्थानीय हितों को बढ़ावा एवं पहल करने का अवसर प्राप्त हो सके। हालाँकि इस प्रकार के विचार ने उनको विशेष विकास कार्यक्रमों को लागू करने के लिए राज्य सरकार के एजेण्ट के रूप में समझा। इस प्रकार स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के महत्त्व पर स्पष्ट रूप में बल दिया गया और स्थानीय विकास के लिए राज्य द्वारा खोजी गई तथा संचालित योजनाओं को लागू करने के लिए उनकी भूमिका के महत्त्व को दिखाया गया। स्थानीय लोकतंत्र तथा स्वशासन संस्थाओं को कुछ निश्चित व्यापक प्रशासनिक एवं दूसरे कार्य करने के लिए की गई सिफारिशों को लागू करने के स्थान पर बल्कि स्थानीय संस्थाओं के रूप में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका की अनदेखी की गई। मेहता कमेटी रपट में अधिकतम सरकारी नियंत्रण के विरुद्ध चेतावनी देते हुए उसकी मार्ग निर्देशक भूमिका के महत्त्व पर भी बल दिया गया। परन्तु बाद में लगातार सरकारी हस्तक्षेप ने सभी संभावनाओं को क्षीण बना दिया।

मेहता कमेटी रपट के सुझाव थे कि स्थानीय संस्थाओं का कार्य कृषि का बहु-आयामी विकास करना होना चाहिए और इसके साथ-साथ इसको पशु-पालन में सुधार, स्थानीय उद्योग, जन-स्वास्थ्य, लोकहित कार्य, प्राथमिक स्कूलों के प्रशासन, आँकड़ों को एकत्रित तथा संरक्षित करना और इसको सौंपी गई विकास की विशेष योजनाओं को लागू करने के लिए सरकार के एजेण्ट के रूप में कार्य करना चाहिए।

ग्रामीण समुदायों की सापेक्ष स्वायत्तता को संरक्षित करने के लिए मेहता कमेटी रपट ने सुझाव दिए कि राज्य तथा पंचायती राज संस्थाओं के बीच के रिश्तों पर सरकार तथा सरकारी संस्थाओं का कड़ा नियंत्रण स्थापित नहीं किया जाना चाहिए। "इसके पास भूल करने और उन भूलों से सीखने की शक्ति बनी रहनी चाहिए। परन्तु इसको मार्ग निर्देशन प्राप्त होता रहना चाहिए जिससे कि यह भूलें करने से बच सके।" परन्तु जो संरचनाएँ विकसित हो पायीं उन्होंने मुख्यत: विकास कार्यों को किया।

एक-दूसरे विचार का मानना था कि पंचायती-राज न केवल ग्रामीण विकास में योगदान करने में असफल रहे हैं बल्कि इसके विपरीत इसने रुकावटें उत्पन्न कीं। ये संस्थाएँ मुख्यत: सत्ता की राजनीति में व्यस्त रहीं और इन्होंने विकासीय संरक्षण का वितरण किया। उन्होंने गुटबाजी टकरावों के माध्यम से ग्रामीण सौहार्द के वातावरण को भंग किया। दूसरी ओर, कुछ विद्वानों का मानना है कि पंचायती राज में कोई अन्तर्निहित समस्या नहीं है बल्कि इसकी असफलता के कारण धन की कमी, सरकारी विभागों से सहयोग प्राप्त न होना, आधे-मन से तैयार की गई नीतियाँ और कार्यक्रमों को लागू करने के लिए दोषपूर्ण व्यवस्था का निर्माण करना है।

18.4 73वाँ संवैधानिक संशोधन अधिनियम, 1992

जैसा कि आपने भाग 18.3 में पढ़ा है कि पंचायती-राज संस्थाओं के लागू करने के पश्चात् सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं के कार्यक्रमों को लागू किया गया। सामुदायिक विकास कार्यक्रम गाँधीवादी दर्शन पर आधारित थे और इनका लक्ष्य ग्रामीण भारत के समग्र विकास को प्राप्त करना था। इस कार्यक्रम ने ब्लॉक डवलपमैंट ऑफीसर्स (बी०डी०ऑज़०) तथा विलेज़ लेवल वर्कर्स (वी०एल०डब्ल्यूज़०) जैसे सरकारी कर्मचारियों की बड़ी संख्या को जन्म दिया। परन्तु सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के परिणाम तनिक भी संतोष जनक न थे।

बलवन्त राय मेहता कमेटी ने सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की कमज़ोरियों को दूर करने हेतु "लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण" के उपायों की सिफारिश की थी। इसका सुझाव था कि विकास की शक्ति माध्यमिक स्तर अर्थात् पंचायत समिति में निहित होनी चाहिए। मेहता रपट ने विलेज़ लेवल वर्कर्स (वी०एल०डब्ल्यू०) या ग्राम सेवकों के माध्यम से पंचायत समितियों एवं ग्राम स्तर की पंचायतों के मध्य संबंध बनाने की सिफारिश की थी। मेहता कमेटी की रपट अखिल भारतीय स्तर पर पी०आर०आईज़०० के विस्तार का आधार बनी। परन्तु मेहता कमेटी की रपट के अनुसार स्थापित पी०आर०आईज़० के सदस्यों के बीच गुटबाजी, गाँवों में बुराइयाँ व्याप्त हो गईं। 1970 के उत्तरार्ध दशक में पी०आर०आईज़० की अक्षमता अपने सर्वोच्च बिन्दु पर पहुँच गई थी।

1970 के दशक में पी०आर०आईज़० को पुन: सक्रिय बनाने के प्रयास किए गए और जनता-पार्टी वाली केन्द्रीय सरकार ने पी०आर०आईज़० की कार्य पद्धति का अवलोकन करने के लिए अशोक मेहता कमेटी की नियुक्ति की और इस कमेटी ने इनके सुधार के लिए कुछ उपायों की सिफारिश की। यद्यपि अशोक मेहता ने बलवन्त राय मेहता कमेटी की भाँति ही विकास की अपेक्षा इसकी कार्यशैली पर अधिक बल दिया, परन्तु इसने कुछ नए सुझाव भी दिए। इन सुझावों में पंचायत चुनावों में राजनीतिक दलों के भाग लेने और पी०आर०आईज़० में महिलाओं की हिस्सेदारी जैसे विषयों को भी शामिल किया गया। अशोक मेहता रपट ने कानून में इन सिफारिशों को शामिल करने के लिए 43वें संविधान संशोधन विधेयक (1977) के प्रारूप को तैयार किया। लेकिन जनता पार्टी की सरकार का पतन हो जाने के बाद अशोक मेहता रपट को भुला दिया गया। किन्तु गैर-कांग्रेसी दलों द्वारा शासित राज्यों – कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, आंध्रप्रदेश जैसी राज्य सरकारों ने पी०आर०आईज़ को सक्रिय करने के लिए कदम उठाए। 1980 के दशक में अशोक मेहता कमेटी की सिफारिशों पर कांग्रेस ने भी विचार-विमर्श करना प्रारंभ किया। उनको कुछ परिवर्तनों के साथ 73वें तथा 74वें संविधान संशोधनों में स्थान दिया गया।

73वें संविधान संशोधन के द्वारा अधिक लोकतंत्रीकरण तथा कमज़ोर वर्गों को अधिक शक्तिशाली करने का कार्य किया गया जिससे कि देश पंचायतें बेहतर ढंग से कार्य कर सकें। 74वें संशोधन द्वारा शहरी क्षेत्रों के लिए ठीक इसी प्रकार के मार्गदर्शक उपलब्ध कराए गए। इन संशोधन अधिनियमों ने सभी राज्यों को ऐसे प्रारूपों एवं मार्गदर्शनों को उपलब्ध कराया जिससे कि वे अपनी नीतियों का विकेन्द्रीकरण पंचायती एवं शहरी संस्थाओं को कर सकें। सभी राज्यों से पंचायतों से संबंधित कानूनों में परिवर्तन करने को कहा गया।

73वें संविधान संशोधन अधिनियम की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

अ) उन सभी राज्यों के लिए जिनकी जनसंख्या 20 लाख से अधिक है, ग्राम, खण्ड (माध्यमिक स्तर) तथा जिले के स्तर पर पंचायती राज की तीन-स्तरीय व्यवस्था;

ब) पंचायती चुनावों को नियमित रूप से प्रत्येक पाँच वर्ष में कराना, विद्यमान पंचायत का कार्यकाल पूरा होने पर छः के भीतर चुनाव होना चाहिए;

स) सूचीबद्ध जातियों, सूचीबद्ध जनजातियों, 33% महिलाओं का आरक्षण और सामान्य स्थान भी रहेंगे;

द) पंचायतों के लिए वित्तीय शक्तियों की सिफारिश करने हेतु राज्य वित्तीय आयोग की नियुक्ति; और

इ) सम्पूर्ण जिले हेतु विकास योजना का प्रारूप तैयार करने हेतु जिला योजना समिति का गठन करना।

पंचायतों को और अधिक शक्तियाँ प्रदान करने हेतु संविधान ने राज्य विधान सभाओं को ऐसी शक्तियाँ प्रदान की हैं जिससे कि उनका अनिवार्य रूप से विकेन्द्रीकरण किया जा सके। इससे पंचायत को स्वशासित संस्थाओं के रूप में कार्य करने में मदद मिल सकती है।

पंचायतों को प्रदान की जानी वाली शक्तियाँ मुख्यतः संबंधित हैं :

अ) आर्थिक विकास तथा सामाजिक न्याय के लिए योजनाओं को तैयार करना; और

ब) 11वीं सूची में प्रदत्त मामलों से संबंधित विषयों को शामिल करने सहित आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय के लिए योजनाओं को लागू करना। 11वीं सूची में ऐसे 29 विषयों को रखा गया है जो कि कृषि, भूमि सुधार, लघु सिंचाई परियोजना, ग्रामीण ढाँचा, गरीबी उन्मूलन, महिला एवं बाल विकास, कमज़ोर वर्गों के लिए कल्याणकारी कार्य और प्राथमिक माध्यमिक तथा अनौपचारिक शिक्षा से संबंधित हैं।

राज्य विधान सभाएँ कानून बनाकर पंचायतों को अधिकार प्रदान कर सकती हैं (i) कर एकत्रित करना एवं लगाना और राज्य सरकार द्वारा लगाए जाने वाले शुल्क, मार्गकर तथा फीस जैसे करों का अधिग्रहण, (ii) राज्य सरकार द्वारा एकत्रित किए गए करों, शुल्क, मार्गकर तथा फीस की प्राप्ति और राज्य के समाहित कोष से अनुदान सहायता प्राप्त करना।

राज्य और पंचायतों के बीच वित्तीय रिश्तों का संचालन राज्य वित्त आयोग द्वारा होता है। यह समझा जाता है कि राज्य वित्त आयोग पंचायतों की वित्तीय हाल का और कर, मार्गकर, उगाही, शुल्क एवं फीस में पंचायतों की हिस्सेदारी को भी निर्धारित करता है।

18.4.1 पंचायत (सूचीबद्ध क्षेत्रों तक प्रसार) अधिनियम, 1996

73वें संविधान संशोधन की व्यवस्थाएँ सूचीबद्ध क्षेत्रों, नागालैण्ड, मेघालय तथा मिज़ोरम, मणिपुर राज्य के पर्वतीय क्षेत्रों और दार्ज़िलिंग (पश्चिम बंगाल) जिले के पर्वतीय क्षेत्रों पर लागू नहीं होती। फिर भी 73वें संशोधन का विस्तार सूचीबद्ध क्षेत्रों के साथ-साथ पंचायतों (सूचीबद्ध क्षेत्रों का विस्तार) अधिनियम, 1996 तक किया गया है।

पंचायती (सूचीबद्ध क्षेत्रों का विस्तार) अधिनियम, 1996 की व्यवस्थाओं को 24 दिसम्बर 1996 से लागू किया गया। यह अधिनियम भारत के आठ राज्यों – आंध्रप्रदेश, बिहार, गुजराज, हिमाचलप्रदेश, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उड़ीसा एवं राजस्थान के जन-जातीय क्षेत्रों तक पंचायतों का विस्तार करता है। इसका उद्देश्य है कि जन-जातीय समाज स्वयं अपने भाग्य विधाता हों और प्राकृतिक संसाधनों

के ऊपर उनके अपने परंपरागत अधिकारों को सुरक्षित एवं आरक्षित करना है। राज्य सरकारों को एक वर्ष समाप्त होने से पूर्व अर्थात् 23 दिसम्बर, 1997 तक इस अधिनियम की व्यवस्थाओं के अनुरूप अपने विधान बनाने की आवश्यकता थी।

बोध प्रश्न 1

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) उत्तर अपने शब्दों में देने का प्रयास करें।

1) ब्रिटिश काल से पूर्व एवं इसके दौरान पंचायती राज की प्रकृति में भिन्नता की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) बलवन्त मेहता कमेटी का गठन क्यों किया गया और इसकी सिफारिशें क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) कमज़ोर वर्गों से संबंधित 73वें संशोधन अधिनियम की मुख्य विशेषताओं की पहचान कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

18.5 73वें संविधान संशोधन के बाद के समय में पंचायती राज संस्थाएँ: उत्तर प्रदेश का दृष्टांत

पंचायती राज : उत्तर प्रदेश का दृष्टांत

73वें संशोधन अधिनियम के अंतर्गत आने वाले लगभग सभी राज्यों ने इसके अनुरूप कानून बनाए हैं और इस अधिनियम की व्यवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए पी०आर०आई़ज़० का गठन किया है। निर्मल मुखर्जी तथा बलवीर अरोड़ा ने पी०आर०आई़ज़० को संघीय ढाँचे का तृतीय स्तर माना है। अर्थात् केन्द्र एवं राज्य के बीच दो स्तरीय संघीय ढाँचे का विस्तार।

पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र एवं गुजरात, पूर्वी राज्य पश्चिम बंगाल, दक्षिण के आंध्रप्रदेश तथा कर्नाटक जैसे पाँच राज्यों की सरकारों ने 73वें संशोधन अधिनियम का अंतिम रूप ग्रहण एवं लागू करने से पूर्व ही पी०आर०आई़ज़० को लागू कर दिया था।

पी०आर०आई़ज़० की संरचनाओं के नामकरण में मामूली-सी विभेदताएँ हैं। किन्तु 73वाँ संशोधन उनको कई स्तरों पर एक समान ढाँचा उपलब्ध कराता है। इस भाग में एक उदाहरण के रूप में यू०पी० के पी०आर०आई़ज़० में निम्न संरचनाओं को शामिल किया गया है।

18.5.1 ग्राम पंचायत

ग्राम पंचायत का गठन ग्राम सभा और निर्वाचन मण्डल द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित ग्राम पंचायत के सदस्यों से मिलकर होता है और इसका अध्यक्ष ग्राम प्रधान बनता है गाँव के सभी वयस्कों से मिलकर जिस संस्था का गठन होता है उसे ग्राम सभा कहा जाता है। कानूनन ग्राम सभा अपनी वार्षिक सभाएँ कर सकती है। यह कई विषयों पर ग्राम पंचायत के लिए सिफारिशें एवं सुझाव दे सकती है और ग्राम पंचायत भी अपने कार्यों से संबंधित बयान इत्यादि इसके सम्मुख रखती है। 11वीं सूची में वर्णित 29 विषय ग्राम पंचायत के कार्यक्षेत्र के अधीन आते हैं। अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के लिए पंचायत कई समितियों का गठन भी कर सकती है। इसलिए ग्राम पंचायत के पास यदि शक्तियाँ नहीं भी हैं फिर भी कार्य करने का विशाल क्षेत्र है। प्रत्येक पंचायत से आशा की जाती है कि वह समता समिति (महिला, बच्चों, एस०सी०, एस०टी० तथा पिछड़े वर्गों के हित के कार्य), विकास समिति (कृषि, ग्रामीण उद्योग और विकास की योजनाएँ), शिक्षा समिति तथा लोकहित समिति (जन-स्वास्थ्य, सार्वजनिक कार्य) जैसी चार समितियों के माध्यम से कार्य करेगी। ग्राम पंचायत का अध्यक्ष का मुखिया ग्राम प्रधान होता है जिसका निर्वाचन ग्राम निर्वाचन मण्डल द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा किया जाता है।

18.5.2 क्षेत्र पंचायत

खण्ड के अंतर्गत आने वाले सभी निर्वाचित ग्राम प्रधान, पंचायत क्षेत्रों से निर्मित भू-भागीय क्षेत्र के निर्वाचक मण्डलों द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा निर्वाचित सदस्यगण, एम०एल०ए० तथा एम०एल०सी० सहित जिला परिषद् (जिला पंचायत) के प्रतिनिधि माध्यमिक स्तर की क्षेत्रीय पंचायत के सदस्य होते हैं।

18.5.3 जिला पंचायत (जिला-परिषद्)

क्षेत्रीय पंचायत की भाँति ही जिला परिषद् में भौगालिक क्षेत्रों से प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा निर्वाचित सदस्यगण, एम०एल०ए०, एम०एल०सी० और जिले की सभी क्षेत्रीय पंचायतों के प्रमुख शामिल होते हैं।

जिला परिषद् का प्रमुख कार्य ग्राम पंचायतों तथा क्षेत्रीय पंचायतों के कार्यों का निरीक्षण करना और ग्राम सड़कों, जिला सड़कों आदि का वर्गीकरण कर उनकी देखभाल करना। जिला परिषदें क्षेत्रीय पंचायतों के साथ मिलकर जिले की वार्षिक विकास योजना को तैयार करते हैं और क्षेत्रीय पंचायतें उन योजनाओं को शामिल करती हैं जिनको ग्राम पंचायतों ने तैयार किया। अधिकतर राज्यों में ग्राम पंचायत के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा होता है और जिला पंचायतों तथा माध्यमिकीय स्तर की पंचायतों का चुनाव अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा होता है। लेकिन कुछ अपवाद भी हैं और उदाहरण के तौर पर गोआ में सभी स्तरों की पंचायतों का चुनाव प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा होता है।

18.5.4 पी० आर० आईज़ एवं डी० आर० डी० ऐज़ के बीच संबंध

प्रशासनिक तंत्र तथा पंचायतों के बीच रिश्तों की प्रकृति पी०आर०आईज़० का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। उत्तर प्रदेश सरकार ने डी०आर०डी०ऐज़ (डीस्ट्रिक्ट रूरल डवलपमेंट ऐथोरटीज़) तथा पंचायतों के मध्य सुझाव देने हेतु 1995 में बजाज समिति का गठन किया। इस समिति ने सुझाव दिया कि जिला पंचायत और डी०आर०डी०ऐज़ का कार्यात्मक एकीकरण व्यवहारिक न होगा। शक्तियों के विकेन्द्रीकरण की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाते हुए, इसने जिला परिषद् के अध्यक्ष को डी०आर०डी० ऐज़० का भी अध्यक्ष मनोनीत किया और जिलाधीश को उपाध्यक्ष। जिलाधीश को पंचायत के ढाँचे से अलग करते हुए मुख्य विकास अधिकारी (जिलाधीश से नीचे का अधिकारी) को पंचायत मुख्य कार्यकारी अधिकारी मनोनीत करने की सिफारिश की। बज़ाज कमेटी ने ग्राम स्तर पर कार्य करने वाले दो प्रकार के अधिकारियों अर्थात् जी०पी०एज़० (ग्राम पंचायत अधिकारी) तथा वी०डी० ओज़ (विलेज़ डवलपमेंट ऑफिसर्स) के साथ-साथ और डी०आर०डी०ऐज़० के ब्लॉक प्रमुखों के कार्यकारी एकीकरण करने की सिफारिश की। लेकिन इन सिफारिशों को अभी तक भी प्रभावकारी नहीं बनाया जा सका है।

18.5.5 पी० आर० आईज़ : एक मूल्यांकन

पी०आर०आईज़० की उपलब्धि का मूल्यांकन गाँवों की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में करने की आवश्यकता है। पी०आर०आईज़० ने कुल मिलाकर ग्रामीण समाज के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। लेकिन इनकी उपलब्धि विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न प्रकार की है। इनका महत्त्वपूर्ण योगदान लोगों की राजनीतिक चेतना में वृद्धि करना रहा है।

रजनी कोठारी ने चेतावनी देते हुए कहा है "मात्र स्थानीय-स्वशासित समितियों के गठन करने से यह आवश्यक नहीं है कि लोकतांत्रिक राजनीति प्रगति कर सकेगी। ठीक इसके विपरीत इस प्रकार के प्रयास नकारात्मक भी हो सकते हैं। मौलिक प्रश्न यह है कि विकेन्द्रीकृत व्यवस्था उन शक्तियों का प्रयोग कैसे करती है जो उनको मौलिक रूप से प्रदान की गई थी। आवश्यकता इस बात की है प्रभुत्वशाली समूहों तथा बाहुबल शक्ति द्वारा चुनाव प्रक्रिया में प्रयोग किए जाने वाले ग़लत तरीकों को रोकना। इस प्रकार की असफलता को अनिवार्य रूप से स्थानीय स्वशासन व्यवस्था में माफिया गुट के उत्पन्न होने में निहित है और यह राजनीतिक प्रक्रिया से कमज़ोर वर्गों को दूर रखता है।"

पी०आर० आईज़० के निष्पादन में मुख्य रुकावटें कई राज्य सरकारों द्वारा उनको सत्ता का विकेन्द्रीकरण न करने की प्रवृति के कारण उत्पन्न हुई। आंध्रप्रदेश के अलावा दूसरे राज्यों में ग्राम पंचायतों के चुनाव नियमित रूप से नहीं कराए गए हैं। कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, केरल तथा तमिलनाडू जैसे राज्यों में पंचायतें 73वें संविधान संशोधन लागू होने से काफी पूर्व अच्छा निष्पादन कर चुकी थीं। आंध्रप्रदेश में टी०डी०पी० की सरकार और कर्नाटक सरकार ने पी०आर०आईज़० में एस०टी०, पिछड़ी जातियों तथा महिलाओं का आरक्षण क्रमशः 1987 एवं 1985 में ही लागू कर दिया

था। पश्चिम बंगाल में भूमि सुधारों को लागू करने तथा ग्रामीण विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

इन राज्यों ने 73वें संवैधानिक संशोधन का अनुमोदन होते ही इसका अनुसरण किया और अन्य बहुत से राज्यों ने भी 1990 के दशक में स्थानीय संस्थाओं को और शक्तियाँ प्रदान करने के प्रयत्न किए। मध्य प्रदेश, राजस्थान, आंध्रप्रदेश तथा केरल ने योजना, राज्य की नीतियों निर्णय एवं लागू करने में जनता को शामिल करने के लिए विशेष प्रयास किए। ग्लोबलाईजेशन (भूमण्डलीकरण) के इस दौर में एन०जी०ओज़०, पंचायतों, डी०आर०डी०ऐज़० तथा पी०आर०आईज़० के बीच का सहयोग महत्त्वपूर्ण हो गया है और इन राज्यों में इनके मध्य इस सहयोग ने ग्राम समुदायों के विकास, ग्रामीण विकास, शिक्षा तथा स्वास्थ्य आदि में योगदान किया है। राजस्थान, आंध्रप्रदेश और मध्यप्रदेश की पंचायतों में कम्प्यूटर के इस्तेमाल के कारण पी०आर०आईज़० इ-शासन (इ-गर्वनेंस) में शामिल हो गई हैं।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि कुछ राज्यों में पहले से पी०आर०आईज़० में एस०सी०, एस०टी०, ओ०बी०सीज़ तथा महिलाओं के आरक्षण के कारण, 73वें संवैधानिक संशोधन की व्यवस्थाओं को सभी राज्यों द्वारा मानना अनिवार्य हो गया है। जो राज्य वी०आर०आईज़० के चुनाव कराने के प्रति गंभीर रहे हैं, उनमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा महिलाएँ स्थानीय संस्थाओं में भागीदारी करने में सफल हो सकी हैं और इनकी नेता हैं। फिर भी पी०आर०आईज़० को गुटबाद, जातिवाद, भ्रष्टाचार जैसी गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है जिसके कारण उनका लोकतंत्रीकरण विफल हो गया है और ये उनके लिए विष साबित हो रहा है। 73वें संवैधानिक संशोधन से पूर्व शक्तिशाली समुदायों का अधिकतर राज्यों में पी०आर०आईज़० पर वर्चस्व कायम था, लेकिन बाद के वर्षों में अधिकतर मामलों में पंचायतों की महिलाएँ सदस्य अपने परिवारों के पुरुष सदस्यों की छायामात्र बनकर रह गई। पी०आर०आईज़० को शिक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों के हस्तांतरण का परिणाम विशेषकर पश्चिम बंगाल, केरल तथा मध्य प्रदेश जैसे राज्यों में राजनीतिककरण के रूप में हुआ। इसने विकेन्द्रीकरण तथा शासन की प्रक्रिया को बुरी तरह से प्रभावित किया है।

18.6 शहरी स्थानीय स्वशासन

18.6.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

शहरी स्थानीय स्वशासन का उद्भव वायसराय की कौंसिल के सदस्य सेम्युल लैंग से संबंधित है। लैंग ने प्रस्ताव किया कि स्थानीय सेवाएँ स्थानीय संसाधनों पर आधारित होनी चाहिए। 1870 में लॉर्ड मेयो के प्रस्ताव ने नगरपालिकाओं में निर्वाचित प्रतिनिधित्व की अवधारणा को लागू किया। जिस प्रकार से ग्रामीण अंचलों में स्थानीय सरकार को पंचायत कहा जाता है ठीक उसी तरह से नगरों एवं शहरों में स्थानीय सरकार को नगरीय कहा गया है। शहरों में स्थानीय शासन की संस्थाओं को ग्रामीण क्षेत्रों में लागू करने लगभग दो शताब्दी पूर्व लागू किया गया।

भारत में नगरीय संस्थाओं की स्थापना अंग्रेजी शासकों द्वारा की गई। 74वें संवैधानिक संशोधन के लागू करने तक नगर कॉर्पोरेशन, नगर परिषद्, टाउन एरिया कमेटी, नॉटीफाइड, एरिया कमेटी तथा छावनी बोर्ड नामों से पाँच प्रकार की शहरी सरकार थी। 1687 में मद्रास में नगर कॉर्पोरेशन स्थापित की गई, इसके पश्चात् बम्बई तथा कलकत्ता में 1762 में। 1870 में लॉर्ड मेयो के प्रस्ताव द्वारा नगर पालिकाओं में निर्वाचित अध्यक्ष की परम्परा का प्रारम्भ किया गया। स्थानीय शासन की वर्तमान संरचना एवं स्वरूप की स्थापना लॉर्ड रिपन के स्थानीय स्वशासन के प्रस्ताव द्वारा की गई और इस प्रस्ताव को 18 मई, 1882 को धारण किया गया।

18.7 74वें संवैधानिक संशोधन (1992) के बाद का समय : शहरी स्थानीय स्वशासन निकाय

भारत सरकार ने 1992, 74वाँ संवैधानिक संशोधन शहरी शासन की संस्थाओं और अधिक प्रतिनिध्यात्मक, सक्षम एवं पारदर्शी बनाने के लिए किया। 74वाँ संवैधानिक संशोधन कानून का ग्रामीण-शहरी संबंधों की समिति की सिफारिशों के आधार पर पारित किया गया। जैसा कि इस इकाई के पहले के भाग में वर्णित किया गया है कि शहरी शासन के लिए पाँच प्रकार के निकाय विद्यमान थे। 74वें संशोधन पाँच प्रकार के शहरी निकायों के स्थान पर तीन प्रकार के शहरी निकायों की स्थापना की अर्थात् ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी बस्तियों में परिवर्तित होने वाले क्षेत्रों में नगर पंचायतें, छोटी शहरी बस्तियों में नगर परिषदों और अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्रों में और अपेक्षाकृत बड़े शहरी क्षेत्रों में महानगर पालिकाएँ। किस शहर में किस प्रकार के शहरी निकाय की स्थापना की जाएगी, इसका निर्णय राज्य सरकार करेगी। जिन नगरीय क्षेत्रों की आबादी तीन लाख से अधिक होगी वहाँ पर नगरपालिका के अलावा वार्ड कमेटियाँ गठित की जाएँगी। इससे शहरी शासन की दो स्तरीय व्यवस्था कायम होगी।

निर्वाचन मण्डल वार्ड के निर्वाचित सदस्य, लोकसभा तथा विधान सभाओं के सदस्य यदि वे पूर्णरूपेण या आंशिक रूप से नगरपालिका क्षेत्र में आते हैं, राज्य सभा तथा राज्य विधायी परिषद् के ऐसे सदस्यगण जिनका नगरपालिका क्षेत्र में वोटर के रूप में पंजीकरण हुआ है, नगरपालिका अधिकारीगणों की समितियों के अध्यक्षों और ऐसे लोग जिनको नगरपालिका प्रशासन का विशेष अनुभव या ज्ञान हो तथा परिषद् में मत का प्रयोग करते हों, ये सभी नगरपालिका में शामिल होते हैं।

नगरीय निकायों में समाज के कमज़ोर वर्गों अर्थात् ओ०बी०सीज़०, एस०सीज़० तथा महिलाओं का आरक्षण होता है। महिलाओं का 33% आरक्षण किया गया है। तीन लाख से अधिक जनसंख्या वाले शहरों में बनने वाली वार्ड कमेटियों में राज्य सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य, परिषद् के ऐसे निर्वाचित सदस्य जो वार्ड का प्रतिनिधित्व करते हों, शामिल होते हैं।

नगरपालिका का कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है। भंग होने या उत्तराधिकारी की नियुक्ति होने की स्थिति में, तब उनको अपील दायर करने का अधिकार है। उत्तराधिकारी नियुक्त या भंग होने की स्थिति में छः माह के अन्दर नगरपालिका चुनाव हो जाना चाहिए। 74वें संशोधन की 12वीं सूची में 18 विषयों का उल्लेख किया गया है और ये निम्न प्रकार से हैं जो नगरपालिकाओं के कार्य क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं :

1) नगर योजना सहित शहरी योजना;

2) भूमि के इस्तेमाल को नियमित करना तथा भवनों का निर्माण करना;

3) आर्थिक तथा सामाजिक विकास की योजना;

4) सड़कों एवं पुलों का निर्माण;

5) घरेलू, औद्योगिक एवं व्यवसायिक उद्देश्यों के लिए जल-आपूर्ति;

6) जन-स्वास्थ्य, स्वच्छता संरक्षणीयकरण और कूड़े-करकट का प्रबंधन करना;

7) अग्निशमन सेवाएँ;

8) शहरी वनों को विकसित करना, पर्यावरण का संरक्षण तथा पारिस्थितिकी विज्ञान के पक्षों को प्रोत्साहित करना;

9) विकलांग तथा मानसिक रूप से बीमार लोगों सहित समाज के कमज़ोर वर्गों के हितों की रक्षा करना;

10) गंदी बस्तियों में सुधार एवं उत्थान करना;

11) शहरी ग़रीबी निवारण करना;

12) शहरी सुविधाएँ जैसे कि उद्यान, बागान एवं खेल के मैदानों को विकसित करना;

13) सांस्कृतिक, शैक्षिक तथा क़लात्मक पक्षों को प्रोत्साहित करना;

14) कब्रिस्तान मैदान तथा दफ़न, दाह-संस्कार तथा मशान स्थल तथा विद्युत-गृहों की व्यवस्था;

15) पशुओं के लिए तालाब, पशुओं के विरुद्ध क्रूरता को रोकना;

16) जन्म तथा मृत्यु का पंजीकरण;

17) सड़क पर प्रकाश, वाहनों को खड़े करने के स्थल, बस स्टैण्ड तथा सार्वजनिक परिवहन जैसे जन-सुविधाओं की व्यवस्था करना;

18) बूचड़खानों तथा चर्मशोधन स्थलों को नियमित करना।

कर, शुल्क, सड़क कर तथा फीस आदि लागू करने की शक्तियाँ राज्य सरकारों के पास हैं जबकि ये शक्तियाँ नगर निकायों के पास होनी चाहिए। उनको विशेषाधिकार है। प्रत्येक पाँच वर्ष में राज्य सरकार को वित्त आयोग की नियुक्ति करनी होती है। राज्य करों, शुल्कों, सड़क कर तथा फीस का राज्य सरकार एवं नगरपालिकाओं के बीच बँटवारे और नगर पालिकाओं के बीच उनके वितरण से संबंधित नियमों की सिफारिशें वित्त आयोग को करनी होती हैं।

राज्य के समाहित कोष से दिए जाने वाली अनुदान राशि के सिद्धांत की सिफारिश भी वित्त आयोग करता है। राज्य सरकारों को आदेश दिया गया है कि वे अपने-अपने राज्य के नगर निकायों के संदर्भ में 74वें संवैधानिक संशोधन कानून को ग्रहण करें। नए संशोधन द्वारा नगरीय क्षेत्र से पाँच वर्ष के लिए मेयर की प्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था की गई है। यदि अध्यक्ष या मेयर के विरुद्ध उसके द्वारा पद ग्रहण करने के दिन से दो वर्ष तक अविश्वास का प्रस्ताव नहीं लाया जा सकता। यदि कोरपोरेशन का कार्यकाल छः माह से कम रह गया है तब भी अविश्वास का प्रस्ताव नहीं रखा जा सकता और इसको रखने के लिए दो-तिहाई निर्वाचित कौंसिलर्स की सहमति आवश्यक है और इस पर मतदान तभी हो सकता है जबकि कुल निर्वाचित सदस्यों के आधे से अधिक उपस्थित हों। मेयर के मामले में निर्वाचित कौंसिलर्स के दो-तिहाई से अधिक संख्या का बहुमत आवश्यक है अर्थात् कुल निर्वाचित सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत।

महानगर पालिका राज्य सरकार के साथ सीधे बातचीत कर सकती है जबकि नगरपालिकाओं की जिला कलक्टर या डिवीज़नल कमीश्नर के प्रति जवाबदेही निश्चित की गई है। महानगर पालिका का सामान्य गठन कौंसिलर्स द्वारा होता है जिनका चुनाव तीन से पाँच वर्ष के लिए किया जाता है। उनका निर्वाचन प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा होता है या फिर उनको नगरीय कार्यों की विशेष जानकारी के आधार पर मनोनीत भी किया जा सकता है।

कार्यकारिणी समिति, स्थायी समिति, योजना समिति, स्वास्थ्य समिति, और शिक्षा समिति जैसे विधायी समितियों का गठन उस विधान द्वारा किया जाता है जो कॉरपोरेशन का गठन करता है। परिवहन

समिति, महिला एवं बाल-कल्याण आदि जैसी समितियाँ ग़ैर-विधायी समितियों में आती हैं। कॉरपोरेशन की स्थायी समिति संचालन समिति के रूप में कार्यकारी, निरीक्षण, वित्तीय तथा अधिकारिक शक्ति जैसे कार्यों को सम्पन्न करती है।

परिषद् का चुनाव कौंसिलर्स के बीच से होता है और उसका एक अध्यक्ष भी होता है जिसका कार्यकाल परिषद् के साथ ही समाप्त हो जाता है।

कुछ राज्यों में अध्यक्ष का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप में नागरिकों द्वारा किया जाता है। उसके पास काफी अधिकार एवं शक्तियाँ होती हैं और नगरपालिका के विचारणीय एवं कार्यकारी अवयवों के रूप में इस्तेमाल की जाती है। वह परिषद् की बैठक बुलाता एवं उसकी अध्यक्षता करता है। विवादाग्रस्त मामलों में वह अपनी व्यवस्था देता है और इसके निर्णय मुख्य कार्यकारी अधिकारी द्वारा लागू किए जाते हैं। उसकी शक्ति बहुसंख्या के समर्थन पर निर्भर करती हैं। समितियों का गठन नगर परिषद् द्वारा किया जा सकता है। नगर परिषद् समितियों की शक्तियाँ एवं कार्य वही हैं जो महानगर पालिका हैं। छावनी क्षेत्रों में काफी नागरिक आबादी सहित सेना की प्रधानता होती है और इसी कारण से इसके प्रशासन का नगरीयकरण करने की आवश्यकता होती है। छावनी बोर्ड एक विशिष्ट प्रकार की शहरी सरकार होती है और 1924 के छावनी अधिनियम द्वारा इसका गठन किया गया।

स्थानीय निकायों को उत्तरदायित्व कार्यक्रमों तथा सेवाओं की दक्षता, स्थानीय संसाधनों को बढ़ाना और स्थानीय स्तर पर उपयोगी योजना एवं सेवाओं को उपलब्ध कराना है। नगर पालिका, सरकार के कार्य, कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व आवश्यक एवं विवेकाधिकारी दोनों प्रकार के होते हैं। आवश्यक कार्यों में पेयजल की आपूर्ति, सार्वजनिक सड़कों का निर्माण एवं देखभाल, सार्वजनिक सड़कों पर रोशनी तथा सफाई, सीवर्स आदि का निर्माण, सार्वजनिक अस्पतालों की देखभाल, प्राथमिक स्कूलों का निर्माण एवं उनकी देखभाल, जन्म-मृत्यु का पंजीकरण सड़कों का नामकरण तथा घरों की गिनती करना। विवेकाधिकार कार्यों में ख़तरनाक एवं असुरक्षित भवनों या स्थानों का हटाना, जन-उद्यानों, बागान, पुस्तकालय, संग्रहालय, आराम गृह, कुष्ठ रोगी गृह, अनाथालय तथा महिलाओं के लिए सहायता गृह आदि का निर्माण और उनकी देखभाल करना शामिल है। सड़क के किनारे पेड़-पौधे लगाना, ग़रीब वर्गों के लिए घर, सार्वजनिक अभिनन्दन का आयोजन, सार्वजनिक प्रदर्शनी, सार्वजनिक मनोरंजन आदि कार्यों को सम्पन्न करना। अधिकतर राज्यों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का उत्तरादायित्व स्थानीय निकायों का है।

18.8 नगरपालिका वित्त

नगर निकायों के लिए करों की अलग से कोई व्यवस्था नहीं है। यह क्रमशः राज्य सरकारों की इच्छा पर निर्भर करता है। स्थानीय वित्तीय जाँच कमेटी (1951) तथा कर निर्धारण जाँच आयोग (1953-54) की समय-समय पर नियुक्तियाँ नगरपालिका के वित्तीय मामलों की जांच हेतु की गईं। नगरीय राजस्व मुख्यतः निम्न प्रकार के होते हैं :

- कर राजस्व
- चुंगी;
- ग़ैर-कर राजस्व
- अनुदान सहायता
- उधार या ऋण।

18.8.1 कर राजस्व

शहरी स्थानीय सरकार द्वारा लगाए जाने वाले महत्त्वपूर्ण कर निम्नलिखित हैं :

- जल-आपूर्ति कर सहित सम्पत्ति कर, सफाई व्यवस्था, नाली, रोशनी तथा कूड़ा-करकट के निपटारे पर कर,
- व्यवसाय कर,
- वाहन कर (मोटर वाहनों के अतिरिक्त)

महानगर पालिकाओं द्वारा लगाने जाने वाले करों का क्षेत्र व्यापक है। महानगर पालिकाओं का कर लगाने या वृद्धि करने का अधिकार राज्य अधिनियमों द्वारा प्रदान किया जाता है और इसकी एक निश्चित सीमा है। सम्पत्ति पर लगने वाला कर इस प्रकार के करों का एक दृष्टांत है। राज्यों में नगरीय निकायों के राजस्व के रूप में सामान्यत: सम्पत्ति कर सबसे बड़ा कर है। जबकि चुंगी की उनके लिए कोई व्यवस्था नहीं है। किराए के मूल्यांकन के आधार पर सम्पत्ति कर को भवनों और भूमि पर लगाया जाता है।

18.8.2 चुंगी

स्थानीय क्षेत्र में उपभोग के लिए सामानों के प्रवेश या बिक्री पर लगाए जाने वाले कर चुंगी के नाम से प्रचलित है। चुंगी बड़ा ही परम्परागत कर है और स्थानीय राजस्व का एक स्रोत भी। जिन स्थानीय नगर निकायों में इसको लागू किया गया है उनके लिए यह कुल राजस्व का 60 से 80 प्रतिशत आमदनी उपलब्ध कराता है।

18.8.3 ग़ैर-कर राजस्व

नगरपालिका अधिनियम लाईसेंस जारी करने का अधिकार भी प्रदान करता है। प्रत्येक स्थानीय सरकार के पास लाइसेंस जारी करने तथा सेवाएँ उपलब्ध कराने पर शुल्क लगाने एवं वसूल करने का अधिकार होता है। जन-सुविधाओं, वाहन खड़ा करने, खेल मैदान में प्रवेश, तैराकी कुण्ड आदि पर इस्तेमाल शुल्क वसूल करना।

18.8.4 अनुदान सहायता

नगरीय वित्त में आमदनी का मुख्य तत्त्व अनुदान सहायता राशि है। दो प्रकार का अनुदान है, प्रथम सामान्य उद्देश्य सहायता (जी०पी०जी०) तथा दूसरी विशेष उद्देश्य सहायता (एस०पी०जी०)। प्रथम क्षेत्रीय निकायों राजस्व में वृद्धि करने के लिए है जिससे वे अपने सामान्य कार्यों को सम्पन्न कर सकें। दूसरी अनुदान सहायता का प्रयोग विशेष लक्ष्यों के लिए होता है अर्थात् मुद्रास्फीति के कारण वेतन में बढ़ोतरी, शिक्षा अनुदान, जन-स्वास्थ्य, सड़कों की मरम्मत आदि के लिए इसको प्रदान किया जाता है। अनुदानों की प्रकृति अस्थायी एवं विवेकाधिकारी है।

18.8.5 उधार एवं ऋण

1914 के स्थानीय प्राधिकारी ऋण अधिनियम के अन्तर्गत नगरीय निकाय राज्य सरकार से उधार ले सकते हैं। वे विकास कार्यों तथा ऋण की पुन:अदायगी के लिए उधार ले सकते हैं। ये उधारियाँ निम्न उद्देश्यों के लिए होती हैं।

- निर्माण,
- अभाव या अकाल के दौरान सहायता व्यवस्था या सहायता के लिए,
- भूमि अधिग्रहण,
- रुके हुए ऋणों की पुन:अदायगी के लिए।

74वें संशोधन के बाद 12वीं सूची में 18 कार्यों के शामिल कर लिए जाने के साथ, नगरपालिकाओं के कार्य करने के उत्तरदायित्वों में वृद्धि हुई है। नागरिक सुविधाएँ उलपब्ध कराने के अतिरिक्त उनको स्थानीय विकास की योजनाओं की तैयारी तथा विकास योजनाओं को लागू करने में भी भागीदारी करनी होती है। इसलिए उनको बढ़ते हुए वित्तीय आवंटन की आवश्यकता है।

बोध प्रश्न 2

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) उत्तर अपने शब्दों में देने का प्रयास करें।

1) ग्राम पंचायत गठन कैसे होता है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) स्थानीय स्वशासन के लिए उन शहरी निकायों की पहचान कीजिए जो 74वें संवैधानिक संशोधन से पूर्व एवं बाद में विद्यमान थीं।

.....

.....

.....

.....

.....

3) नगरपालिका के राजस्व के प्रकारों की पहचान कीजिए।

.....

.....

.....

18.9 सारांश

स्थानीय स्वशासन सामान्यत: दो प्रकार का होता है – ग्रामीण एवं शहरी। भारत में ग्रामीण स्वशासन का इतिहास प्राचीन काल से है और इसका पुनर्गठन अंग्रेज़ी शासकों ने किया। स्वतंत्र भारत ने इसका लोकतांत्रीकरण एवं उसको शक्ति प्रदान करने का अभियान प्रारम्भ किया। 73वें संशोधन ने इसका सम्पर्क संवैधानिक व्यवस्था के साथ स्थापित कर दिया। आधुनिक शहरी एल०एस०जी०का प्रारंभ अंग्रेज़ी शासन के दौरान हुआ। इसका आकार एवं ढाँचे के अंतर्गत भिन्नता शहरी क्षेत्र के अनुसार निर्धारित होती हुई। 74वें संशोधन ने शहरी स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था का संवैधानिकीकरण किया।

18.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

झा, एस०एन० एवं माथुर, पी०सी० (सम्पादन), *डीसेण्ट्रलाइजेशन एण्ड लॉकल पॉलिटिक्स*, सेज़ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999

लीटन, जी० के० एवं श्रीवास्तव, रवि, *अनइकवल पार्टनर्स : पाउर रिलेशन्स, डिवोलेशन एण्ड डवलपमेंट इन उत्तर प्रदेश*, सेज़ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999

पिण्टो, मैरीना, *मेट्रोपोलीटन सिटी गवर्नेंस इन इण्डिया*, सेज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

18.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) यद्यपि पंचायती राज व्यवस्था अंग्रेज़ी शासन से पूर्व भी विद्यमान थी। अंग्रेज़ी शासकों ने इसको औपचारिक रूप प्रदान कर एक गुणात्मक परिवर्तन किया।

2) सामुदायिक विकास कार्यक्रमों तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रमों की कार्य पद्धति का अवलोकन करना;

   – इसने ग्रामीण पंचायतों की स्थापना करने की सिफारिश उनको पर्याप्त राजनीतिक तथा वित्तीय शक्तियों को प्रदान करने के साथ की जिससे कि कुल मिलाकर ग्रामीण समाज का विकास किया जा सके।

3) इसने महिलाओं (33%) ओ०बी०सीज़०, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा सामान्य श्रेणी के आरक्षण की सिफारिश पी०आर०आईज़० में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए की।

बोध प्रश्न 2

1) एक ग्राम पंचायत का गठन ग्राम सभा तथा ग्राम पंचायत के निर्वाचित सदस्यों को मिलाकर होता है। इसका मुखिया ग्राम प्रधान होता है। किसी ग्राम पंचायत में अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा निर्वाचित प्रधान भी होता है।

2) 74वें संवैधानिक संशोधन से पूर्व पाँच प्रकार के नगर निकाय विद्यमान थे महानगर पालिका, नगर परिषद्, टाउन एरिया कमेटी, नोटीफाइड एरिया कमेटी और छावनी बोर्ड। 74वें संशोधन इनकी संख्या घटाकर तीन कर दी – नगर पंचायत, नगर परिषद् और महानगर पालिका।

3) कर-राजस्व, चुंगी, गैर कर-राजस्व, अनुदान सहायता तथा उधार एवं ऋण।

इकाई 19 भारत में दलीय प्रणाली की प्रकृति

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 दल प्रणाली की प्रकृति – स्वतंत्रता पश्चात् दो दशक

19.2.1 राजनीतिक केन्द्र से विकास

19.2.2 प्रमुख दल प्रणाली : मूल अभिलक्षण

19.2.3 कांग्रेस की केन्द्रिकता

19.3 परिवर्तित सामाजिक-आर्थिक रूपरेखा : राजनीतिक केन्द्र का विस्थापन

19.4 दल प्रणाली 1967 के बाद

19.5 कांग्रेस का केन्द्रिकता क्षय

19.6 समकालीन दल प्रणाली

19.6.1 केन्द्रीय स्तर पर दल प्रणाली

19.6.2 राज्य स्तर पर दल प्रणाली

19.7 सारांश

19.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

19.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप पाएँगे–भारत में दलीय प्रणाली की प्रकृति। इसका उद्देश्य है भारतीय राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थी को स्वतंत्रतापूर्व काल में दलीय प्रणाली की उत्पत्ति में अन्तर्निहित मूल अभिलक्षणों से अवगत कराना। इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप –

- भारत में दलीय प्रणाली की प्रकृति को समझ सकेंगे और इसके विविध अभिलक्षणों को पहचान सकेंगे;
- दलीय प्रणाली के बदलते स्वभाव का विश्लेषण तथा उभरते प्रतिमानों की व्याख्या कर सकेंगे; और
- दलीय राजनीति के बदलते स्वभाव में अन्तर्निहित सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक कारकों पर चर्चा कर सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

भारत की दलीय प्रणाली अनोखी है। यह किसी भी प्रकार के उस वर्गीकरण में सही नहीं बैठती जिसका प्रयोग सामान्यत: दलीय प्रणालियों को वर्गीकृत करने में किया जाता है। एक ओर यह भारतीय राजनीति के विलक्षण स्वभाव द्वारा निरूपित होती है तो दूसरी ओर राज्य-समाज संबंध के स्वभाव द्वारा। गत दो दशकों में राजनीति के स्वभाव के साथ-साथ राज्य व् समाज के बीच संबंध के स्वभाव, दोनों में ठोस परिवर्तन हुआ है। परिवर्तन का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण भेद पहले से कहीं अधिक संख्या में लोगों के राजनीति में उलझने या उसकी बात करने के प्रसंग में दिखाई

पड़ता है, खासकर वे लोग जो समाज के अल्पतर लाभांवित वर्गों से संबंध रखते हैं। वह दलीय प्रणाली के स्वभाव में परिवर्तन की भी व्याख्या करता है। वे विशिष्ट अभिलक्षण जिन्होंने स्वतंत्रता पश्चात् प्रथम दो दशकों में भारत में दलीय प्रणाली की पारिभाषित किया, आज देखने को नहीं मिलते।

वर्तमान दलीय प्रणाली को समझने के लिए, इसका इतिहास ढूँढना और परिवर्तनशील राज्य के संदर्भ में उसके राजनीतिक तर्क का हवाला देना आवश्यक है।

19.2 दल प्रणाली की प्रकृति–स्वतंत्रता पश्चात् दो दशक

19.2.1 राजनीतिक केन्द्र से विकास

रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स इन् इण्डिया' में तर्क प्रस्तुत किया है कि दलीय प्रणाली एक अभिन्य 'राजनीतिक केन्द्र' से उत्पन्न हुई। राष्ट्रवादी आन्दोलन के दौरान उत्कीर्ण इस राजनीतिक केन्द्र में थे – सामान्य सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि में भागीदार राजनीतिक अभिजात्य वर्ग, यथा शिक्षित, शहरी, खासकर मध्यम व उच्च वर्गों से सम्बन्ध रखने वाले ऊँची जाति के लोग।

अभिजात्य वर्ग की सामान्य सामाजिक पृष्ठभूमि समांगता में परिणत हुई जो राजनीतिक केन्द्र के साथ-साथ दलीय प्रणाली का भी एक पारिभाषिक अभिलक्षण बन गया। सत्तारूढ़ दल और विपक्ष, दोनों ने एक ही पृष्ठभूमि से आकर सामाजिक अवबोधनों को परस्पर बाँटा और अनेक मुद्दों पर पास-पास आए। एक सर्वसम्मति, इसी कारण आधारभूत मूल्यों के इर्द-गिर्द इस प्रणाली के अन्दर व्याप्त थी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उस राजनीतिक केन्द्र का संस्थागत प्रकटीकरण था। यह न सिर्फ राष्ट्रवादी आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति था बल्कि एक ऐसा गतिशील संगठन था जिसने राजनीतिक व्यवस्था के लिए देशज आधार तैयार किया। राजनीतिक महत्त्व के लगभग सभी राजनीतिक समूहों को समायोजित कर इसने राजनीतिक वार्ताओं और करारों के लिए एक बड़ा ही निर्णायक राजनीतिक स्थान प्रदान किया।

19.2.2 प्रमुख दल प्रणाली : मूल अभिलक्षण

1) स्वतंत्रता पश्चात् प्रथम दो दशकों के दौरान दलीय प्रणाली का एक-प्रभुत्वसम्पन्न दल प्रणाली के रूप में उल्लेख किया जाता था। यह एक बहुदलीय प्रणाली थी जहाँ सत्तारूढ़ दल एक दुर्दमनीय रूप से प्रभावी भूमिका अदा करता था। यद्यपि अनेक राज्य राजनीतिक दल अस्तित्व में थे और राजनीतिक रूप से व्यवहृत थे, फिर भी राजनीतिक के केन्द्रीय स्थान पर केवल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस काबिज़ थी। कांग्रेस का प्रभुत्व उसकी असीम संगठन-शक्ति के साथ-साथ संघीय संसद तथा राज्य विधानसभाओं, दोनों में विशाल संख्या में सीटें जीतने की उसकी क्षमता द्वारा निर्धारित हुआ।

2) सत्तासीन दल के रूप में कांग्रेस के प्रभुत्व का अर्थ प्रतिस्पर्धा का अभाव नहीं था। विपक्ष में बहुसंख्य दल प्रतिस्पर्धा प्रदान करते थे। फिर भी, ऐसी प्रतिस्पर्धा सत्तारूढ़ दल की प्रभावी स्थिति को असरकारी तरीके से चुनौती देने में परिणत नहीं हुई। मोरिस-जोन्स ने इस तथ्य की इन शब्दों में बड़ी उपयुक्त व्याख्या की है– "प्रभुत्व का सह-अस्तित्व प्रतिस्पर्धा के साथ परन्तु लेशमात्र भी प्रत्यावर्तन के साथ नहीं।" चुनावी संदर्भ में, इसका अभिप्राय था कि यद्यपि अनेक

विपक्षी दल चुनावी अखाड़े में कूदे परन्तु उनमें से कोई भी अकेले अथवा संयुक्त रूप से सीटों की पर्याप्त संख्या सुनिश्चित नहीं कर सका जिससे सत्तारूढ़ दल के रूप में कांग्रेस का स्थान लिया जा सके। ये दल वियोजित थे और संघ व राज्य विधानसभाओं में इनका प्रतिनिधित्व नगण्य था। कांग्रेस के प्रत्याशी बड़ी संख्या में प्रतिनिधि रूप में चुने जाते रहे, वास्तव में, यह संख्या उसके पक्ष में पड़े वोटों की बजाय आनुपातिक रूप से बड़ी थी।

3) सत्तासीन दल का कोई विकल्प उपलब्ध करने अथवा उसके प्रभुत्ववाली स्थिति को चुनौती भी दे पाने में अपनी अक्षमता के कारण, विपक्षी दलों ने प्रतिपक्ष की पारम्परिक भूमिका नहीं निभाई। इसके विपरीत, उनकी भूमिका लगातार दवाब डालने, और सत्तारूढ़ दल की आलोचना करने तक सीमित थी। विपक्षी दल, इसी कारण, दवाब दलों के रूप में व्यवहृत रहे।

4) कांग्रेस पार्टी के वे महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण जिन्होंने इसके प्रभुत्व वाली स्थिति को कायम रखने में मदद की, में एक था अपसारी सामाजिक समूहों और हितों के प्रतिनिधित्व की क्षमता। चूँकि उसे समाज के विभिन्न वर्गों से समर्थन प्राप्त था, उसने एक महाछतरी दल की भूमिका निभाई। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान उसने विभिन्न समूहों को अपने बाड़े में समायोजित किया था और एक ही संगठनात्मक ढाँचे के अन्तर्गत उनकी एकता की आवश्यकता पर बल दिया था। उसने इसी कारण एक बृहद् बहुदलीय स्वरूप ग्रहण कर लिया था। स्वतंत्रोत्तर काल में, उसने प्रभावी सामाजिक घटकों को जज़्ब करना और विभिन्न हितों में संतुलन कायम करना ज़ारी रखा। इससे उसको अपनी चुनौतीहीन सत्ता-स्थिति को बनाए रखने में मदद मिली। अपनी समंजनकारी और अनुकूल राजनीति के माध्यम से ही वह विपक्ष की भूमिका और उसके औचित्य पर नियंत्रण कर सकी।

5) विभिन्न हितों और विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते एक बहुवाचक दल होने के नाते, कांग्रेस में अनेक गुट थे। इनमें से कुछ अपेक्षाकृत अधिक प्रबल थे और पार्टी द्वारा निर्णय लिए जाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। अन्य थे असहमत गुट। कांग्रेस के इन गुटों में से अनेक तो कुछ विपक्षी दलों से सैद्धांतिक रूप से जुड़े थे। इसका कारण था कि विपक्ष में लगभग हर दल एक न एक बार कांग्रेस का हिस्सा रहा था और उसके एक बाहर स्वतंत्र दल गठित करते समय, उसके भीतर उसी प्रकार के सैद्धांतिक अनुस्थापन वाला गुट छोड़ चुका होता था। इसी कारण, कांग्रेस की राजनीति और विपक्षी दलों की राजनीति, दोनों के बीच हमेशा अविछिन्नता रही। इस अविछिन्नता ने विपक्षी दलों के लिए यह सम्भव कर दिया कि वे कांग्रेस पर दवाब डाल सकें और उसके निर्णयन् को प्रभावित कर सकें।

6) दल प्रणाली, इसीलिए, एक सहमतिजन्य आदर्श के आधार पर काम करती है। यह राजनीतिक मूल्यों के सभी सहभागी राजनीतिक कर्त्ताओं के इर्द-गिर्द बृहद् सहमति की एक राजनीति थी, चाहे वह सत्तारूढ़ समूहों के भीतर से व्यवहृत हो रही हो अथवा विपक्ष से। कांग्रेस के भीतर अथवा उसके बाहर सैद्धांतिक विभाजन अस्पष्ट थे।

19.2.3 कांग्रेस की केन्द्रिकता

कांग्रेस पार्टी के प्रभुत्व वाली अनोखी स्थिति के कारण, उसे भारतीय राजनीति के केन्द्रीय संस्थान के रूप में जाना जाता था। कांग्रेस की केन्द्रिकता विभिन्न स्तरों पर प्रकट हुई :

अ) एक स्तर पर, यह चुनावी राजनीति के सर्वाधिक केन्द्रीय स्थान पर काबिज़ हुई, इसी से उसका एकाधिकरण हुआ और केन्द्र व राज्यों में उसकी सत्ताधारी स्थिति को किसी भी अन्य दल द्वारा कड़ी चुनौती दिए जाने की गुंजाइश नहीं थी।

ब) एक अन्य स्तर पर, राज्य व समाज के बीच प्रधान स्थान पर उसके काबिज़ होने में उसकी केन्द्रिकता का खाका खींचा गया। समाज के विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करते हुए, यह राज्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण औपचारिक मध्यस्थ संस्था बनी रही। इसने, इसी कारण, राजनीतिक वार्तालापों और समझौतों के लिए सर्वाधिक निर्णायक स्थान प्रदान किया।

स) तीसरे स्तर पर, कांग्रेस की केन्द्रिकता उसके सैद्धान्तिक आधार पर प्रकट हुई। एक 'छतरी दल' होने के नाते उसके पास सभी प्रकार के सैद्धांतिक समूहों के लिए स्थान था। इस प्रकार, 'वाम' व 'दक्षिण' सैद्धांतिक दृष्टिकोण रखते हुए भी उसने एक 'मध्यमार्गी' विचारधारा का अनुकरण किया।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारत की स्वतंत्रता के समय राजनीतिक आभिजात्य वर्ग की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि क्या थी?

.....

.....

.....

.....

.....

2) 'प्रभुत्व का सह-अस्तित्व प्रतिस्पर्धा के साथ परन्तु लेशमात्र भी प्रत्यावर्तन के साथ नहीं' से क्या तात्पर्य है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) 1976 से पूर्व विपक्षी दल खासतौर पर दवाब वाले दल क्यों कहे जाते थे?

.....

.....

.....

.....

.....

4) कांग्रेस पार्टी को एक छतरी दल (अम्ब्रैला पार्टी) क्यों कहा जाता था?

.....

.....

.....

.....

.....

5) 'कांग्रेस की केन्द्रिकता' से क्या तात्पर्य है?

.....

.....

.....

.....

.....

19.3 परिवर्तित सामाजिक-आर्थिक रूपरेखा : राजनीतिक केन्द्र का विस्थापन

साठ के बाद वाले दशकों में दल प्रणाली की प्रकृति में बदलाव, रजनी कोठारी के अनुसार, 'राज्य की परिवर्तित सामाजिक-आर्थिक व जनसांख्यिकीय रूपरेखा' का परिणाम था। राज्य की रूपरेखा में ऐसा परिवर्तन आम जनता की राजनीतिक लामबन्दी के साथ-साथ नए राजनीतिक वर्गों के उद्‌गमन का भी परिणाम था। आम जनता की राजनीतिक लामबंदी सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार के सिद्धांत पर आधारित चुनावी राजनीति का एक तर्कसंगत परिणाम था। जल्द ही होने वाले चुनावों ने भारत की आंम जनता की राजनीतिक अन्तर्विवेकशीलता को बढ़ाने में मदद की, खासकर पिछड़ी और निम्नतर जातियों से संबंध रखने वालों की।

भूमि-सुधारों के पृष्ठपट में नए राजनीतिक वर्गों का उद्‌गमन सीधे-सीधे ग्रामीण भारत में स्वाम्य कृषक वर्ग के उदय से जुड़ा था। सत्तर का दशक शुरू होते-होते, मुख्यत: पिछड़ी जातियों से सम्बद्ध भू-स्वामित्व वाले सामाजिक रूप से प्रबल वर्ग राजनीतिक सत्ता में एक हिस्से की माँग करने हेतु पर्याप्त आर्थिक शक्ति अर्जित कर चुके थे। प्रतिस्पर्धात्मक सत्ता राजनीति में इन जातियों का प्रवेश भारतीय राजनीति के लिए दूरगामी परिणामों वाला था। परम्परागत राजनीतिक संभ्रांत वर्ग के प्रभुत्व को, इसी कारण, कड़ी चुनौती थी। दूसरे, परस्पर विरोधी हितों के वैविध्य का भी बृहत्तर आविर्भाव था। ये नए प्रवेशक परम्परागत संभ्रांत वर्ग की राजनीतिक दु:खी अवस्था के भागीदार नहीं थे। उनकी न सिर्फ़ राजनीतिक व्यवस्था से भिन्न माँगें और भिन्न आशाएँ थीं बल्कि वे एक भिन्न राजनीतिक भाषा भी प्रयोग करते थे। इसका आमतौर पर परम्परागत राजनीतिक संभ्रांत वर्ग की, और विशेषत: कांग्रेस की सहमतिजन्य राजनीति के लिए एक गंभीर ख़तरा खड़ा करने वाला प्रभाव था। नानारूप हितों के एकीकरण और संतुलन में अक्षम कांग्रेस केन्द्रिकता की अपनी स्थिति से विस्थापित थी।

राजनीति का परिवर्तित प्रसंग निम्नतर जातियों के अभिकथन का भी परिणाम था। गिनती की राजनीति में निम्नतर जातियों और दलितों को राजनीति में लाया गया, प्रारंभिक रूप से संरक्षक-आश्रित

संबंध के संदर्भ में। इलाकाई तौर पर प्रबल जातियों के आश्रितों के रूप में, उनकी संख्यात्मक शक्ति का प्रयोग उनके संरक्षकों के हितों में किया गया। तथापि, भागीदारों के संवेग शक्ति के रूप में राजनीति उत्पन्न हुई, निम्नजाति राजनीति का स्वभाव भी बदल गया। निम्न जातियों और दलितों ने राजनीति में और अधिक स्वायत्त भूमिका अर्जित करनी शुरू कर दी और उनकी लामबन्दी उनके राजनीतिक हित से संबंधित हो गई। दलगत राजनीति के शब्दों में, इसने नई लामबंद जातियों के समर्थन व हित को प्रकट करते हुए दलों के निर्माण की ओर उन्मुख किया। ब.स.पा., समाजवादी पार्टी, और जनता दल ऐसे ही राजनीतिक निर्माणों के उदाहरण हैं। इन दलों ने दलितों और पिछड़ी जातियों के हित को स्पष्ट रूप से प्रकट किया।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारत की राजनीति पर सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के सिद्धांत पर आधारित चुनावी राजनीति का क्या प्रभाव पड़ा?

.....

.....

.....

.....

.....

2) 1967 के लिए विभिन्न हितों को संघटित करने में कांग्रेस पार्टी इतनी सफल क्यों नहीं रही?

.....

.....

.....

.....

.....

3) कुछ ऐसे राजनीतिक दलों के उदाहरण दें जो जाति विशेष के हितार्थ तत्परता से लगे रहने के लिए गठित हुए थे।

.....

.....

.....

.....

.....

19.4 दल प्रणाली 1967 के बाद

1967 के बाद भारतीय राजतंत्र के साथ-साथ दलीय प्रणाली के स्वभाव में भी एक ठोस परिवर्तन आया। इस परिवर्तन की नानारूप शब्दों में व्याख्या की गई। कोठारी के अनुसार, ये प्रमुख दल प्रणाली के पतन की शुरुआत थी। जबकि मोरिस-जोन्स इसका श्रेय 'एक विपणन राजतंत्र' को देते हैं जिसमें अनेक विपक्षी दल 'पूरी तरह से विपणन स्थान पर लाए गए, और वह प्रतिस्पर्धा जो कांग्रेस के भीतर पहले हो चुकी थी अब अंतर्दलीय विवाद के क्षेत्र में लायी गई।' अनेक नई सियासी ताकतें और संगठन चुनावी राजनीति को और अधिक प्रतिस्पर्धात्मक बनाते हुए उभरने लगे। इन सब बातों ने धीरे-धीरे कांग्रेस को पतनोन्मुख कर दिया।

दलीय प्रणाली के स्वभाव में परिवर्तन, प्रारम्भिक रूप से, राज्य स्तर पर काफी अधिक दृश्यमान था जहाँ कांग्रेस पार्टी के आधिपत्य को अनेक ग़ैर-कांग्रेसी सरकारों के गठन द्वारा चुनौती थी। चौथे आम चुनाव ने गठबन्धनों की राजनीति के आरम्भ की ओर प्रवृत्त किया। इस चुनाव ने कांग्रेस पार्टी के विकृत बहुमतों को जन्म दिया। इस प्रकार, जनसंघ, एस.एस.पी., भा.क.पा., मा.क.पा. तथा सरकार में शामिल होने वाले अनेक क्षेत्रीय दलों के साथ अनेक राज्यों में गठबन्धन बनाए गए।

इसी बीच कांग्रेस ने केन्द्र-स्तर पर अपनी कमज़ोरियों के चिह्न दर्शाने शुरू कर दिए। कांग्रेस की कमज़ोरी के प्रारम्भिक संकेतकों में एक था – गुटबाज़ी का बदलता स्वरूप और पार्टी के भीतर असहमति का स्पष्ट होना। 1969 में तेज़ गुटबाज़ी ने अन्ततोगत्वा कांग्रेस के विभाजन की ओर उन्मुख किया। यह विभाजन यद्यपि पार्टी का अंदरूनी मामला था, इसके भारत की दलीय प्रणाली हेतु दूरगामी परिणाम निकले। इस विभाजन के मुख्य परिणामों में एक था – दलीय प्रणाली का और *भारतीय राजनीति के आम सहमति वाले आदर्श का पतन।* कांग्रेस की पुरानी संगठनात्मक संरचना जो अपेक्षाकृत अधिक लोकतांत्रिक थी और सामाजिक स्तरों पर एक बृहत्तर संबंध रखती थी, के स्थान पर एक अधिक केन्द्रीकृत संगठनात्मक समूह आ गया। यह नया समूह स्वभावत: पिरैमिडी था। इस संगठन के भीतर निर्णय लेने का काम व्यक्तिगत बना दिया गया और लोकतांत्रिक विसम्मति के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा गया। इन बातों का प्रभाव यह पड़ा कि कांग्रेस संगठनात्मक रूप से बहुत कमज़ोर हो गई।

भारतीय राजनीति के आम सहमति वाले आदर्श का पतन न सिर्फ़ कांग्रेस पार्टी की संगठनात्मक समस्याओं का, बल्कि राज्य-समाज के बदलते स्वभाव का भी आविर्भाव था। समजातीयता जो पहले संभ्रान्त वर्ग के स्वभाव द्वारा विदित थी, छठे दशक मध्य तक समाप्त हो गई। इसी समय नए वर्ग विशेष रूप से राजनीतिक सत्ता में हिस्से की माँग करते हुए अधिक सक्रिय होने शुरू हो गए। यह संभ्रान्त-वर्ग राजनीति के इस प्रकार बदले प्रसंग का ही प्रभाव था कि कांग्रेस अनेक राज्यों में अपने चुनावी प्रभुत्व को कायम रखने में असफल रही।

सत्तर के दशकांत तक आते-आते, इस दलीय प्रणाली में केन्द्र स्तर के साथ-साथ राज्यों के स्तर पर भी परिवर्तन-संकेत मिला। यह उस विखण्डन की वज़ह से हुआ जो राजनीतिक दलों में चल रहा था। यह एक ऐसी प्रक्रिया थी जिसको बस कुछ समय के लिए चलना था। फिर भी, परिवर्तन के बावजूद, प्रतिस्पर्धात्मकता दलीय राजनीति की एक मुख्य विशेषता थी। उन राजनीतिक दलों की संख्या जो चुनावी अखाड़े में कूदे, भी बढ़ी। इन सब बातों का अर्थ था कि एक-दल-प्रभुत्व का ज़माना पहले ही गुज़र चुका था। उसके स्थान पर एक बहुदलीय पद्धति का जन्म हुआ।

राजनीति के केन्द्रीय स्तर पर, राजनीति का नया प्रसंग कांग्रेस के विरुद्ध दलों के समेकन पर ज़ोर देने में प्रकट हुआ। कांग्रेस के विभाजन के साथ ही, कांग्रेस (पुरानी), एस.एस.पी., जनसंघ और

स्वतंत्रता के बीच 'भव्य गठजोड़' (ग्रैण्ड अलायन्स) बनाया गया। इस गठजोड़ के लिए तर्क था – ग़ैर-कांग्रेसी दलों की एकता, सत्ता की उसकी स्थिति को चुनौती देने के लिए लिहाज़ से। इस तर्क ने 1977 में जनता पार्टी के गठन की ओर उन्मुख किया। यह दल स्वयं ही पाँच पूर्ववर्ती दलों का घालमेल था – कांग्रेस (पु.), जनसंघ, सोशलिस्ट पार्टी, भारतीय लोकदल (भा.लो.द.), सी.एफ.डी। 1977 में कराए गए छठे आम चुनावों के बाद, यह नया दल पहली बार केन्द्र में सत्तारूढ़ कांग्रेस की निरंतरता को भंग करने में सफल हुआ। इसके प्रभावस्वरूप आगे दलीय प्रणाली के स्वभाव में ठोस परिवर्तन आए। कांग्रेस पार्टी की स्थिति और बिगड़ी तथा उसकी संगठनात्मक संरचना और कमज़ोर हो गई। अब यह विविध सामाजिक समूहों की एकीकृत करने में सक्षम नहीं रही। एक ओर, अन्तर्दलीय लोकतंत्र के अभाव और दूसरी ओर, सभ्य समाज के बदलते प्रसंग की तरफ उसकी संवेदनहीनता के कारण उसका संगठनात्मक ढाँचा तेज़ी से बिगड़ा। यद्यपि अब तक यह राजनीतिक सौदेबाज़ी की एकमात्र (और कम-से-कम एक और दशक के लिए सत्ता हासिल करने और केन्द्र में उसे कायम रखने में एकमात्र सक्षम) मुख्य संस्था रही थी फिर भी उसकी सत्ता वाली स्थिति बड़ी संदिग्ध थी।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) 1967 के चुनावों का राज्य स्तर पर क्या परिणाम हुआ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत की दलीय राजनीति पर कांग्रेस में फूट का क्या प्रभाव पड़ा?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) 1977 के संसदीय चुनावों द्वारा लाया गया मुख्य परिवर्तन क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

19.5 कांग्रेस का केन्द्रिकता क्षय

1989 के संसदीय चुनावों के साथ शुरू हुए काल में ही कांग्रेस केन्द्रिकता की अपनी स्थिति से विस्थापित हो गई। केन्द्र की स्थिति से कांग्रेस के इस प्रकार के विस्थापन के विभिन्न निहितार्थ हैं:

1) प्रथमत:, कांग्रेस प्रमुख राजनीतिक पार्टी नहीं रही है। यह अब वो एकमात्र बड़ी राजनीतिक पार्टी नहीं रही है जो राजनीतिक परिदृश्य पर हावी रहा करती है। अनेक अन्य राजनीतिक संगठन भी अपना प्रभावशाली अस्तित्व रखते हैं। गत दो दशकों से, ग़ैर-कांग्रेसी राजनीतिक संगठनों की प्रभाविता रही है। प्रमुख ग़ैर-कांग्रेसी संगठन जो भारतीय राजनीति में निर्णायक भूमिका निभाते रहे हैं, में शामिल हैं – भारतीय जनता पार्टी (भा.ज.पा.), वामपंथी दल, और अनेक अन्य राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दल। केन्द्रीय राजनीति में पहले कांग्रेस का प्रभुत्व था, अब अनेक राजनीतिक दलों द्वारा सत्ता का मिल-बाँटकर प्रयोग किया जा रहा है।

2) कांग्रेस के केन्द्रिकता लोप का एक अन्य परिप्रेक्ष्य में अर्थ है – सर्वसम्मति के प्रतिनिधित्व हेतु उसकी क्षमता का ह्रास। यह अब विविध हितों को समायोजित करने में सक्षम नहीं रही है। चूँकि राज्य-समाज संबंध का स्वभाव बदल चुका है और परिणामत: उभरते हित सुस्पष्ट किए जा चुके हैं, समाजगत विवाद और परस्पर विरोध अधिक सुनिश्चित हो गए हैं। ऐसे विवाद को शान्त करने के लिए आवश्यक केन्द्रीय स्थान कांग्रेस के पास उपलब्ध नहीं है। सह-विकल्प अथवा सौदेबाज़ी के पारम्परिक तरीके जो विवादास्पद हितों से व्यवहार में मदद करते थे, अब काम नहीं आते।

3) कांग्रेस के पतन ने किसी ऐसे वैकल्पिक राष्ट्रीय दल के उद्‌गमन की ओर उन्मुख नहीं किया जो केन्द्रीय स्थान ले सके। अन्य शब्दों में, एक-दल-प्रभुत्व प्रणाली का स्थानापन्न किसी दो-दलीय प्रणाली द्वारा नहीं किया गया है। अस्सी के दशकारम्भ में भा.ज.पा. के उदय ने कुछ विश्लेषकों को इस ओर आशान्वित किया है कि यह एक वैकल्पिक राष्ट्रीय दल के रूप में कार्य करेगा और कांग्रेस तथा भा.ज.पा. के बीच सत्ता की एक प्रत्यक्ष प्रतिस्पर्धा वाली एक द्वि-दलीय प्रणाली विकसित होगी। तथापि, यह सम्भव नहीं हो सकता था। जहाँ कांग्रेस लगातार अपनी मज़बूत स्थिति से पतित होती रही, भा.ज.पा. भी अपने बलबूते बहुमत हासिल नहीं कर सकी।

4) संसद में सीटों का बहुमत प्राप्त करने में कांग्रेस व भा.ज.पा. जैसे बड़े राष्ट्रीय दलों की असफलता भारतीय राजनीति के केन्द्रीय मंच पर बहुत-से छोटे दलों को ले आयी है। बड़े दल सरकार बनाने के लिए इन छोटे दलों पर निर्भर कर रहे हैं। एक-दल-बहुमत सरकारों की बजाय हम जनता दल का कोई-न-कोई अल्पमत गठबंधन पाते रहे हैं। 1991 में, कांग्रेस की अल्पमत सरकार सत्तारूढ़ हुई (जिसने बाद में बहुमत हासिल कर लिया)। 1996 के संसदीय

चुनावों ने कांग्रेस तथा वाम मोर्चा के समर्थन वाले, संयुक्त मोर्चा के तेरह दलों के एक अल्पमत गठजोड़ को जन्म दिया। 1998 में इस गठबंधन के स्थान पर भारतीय जनता पार्टी (भा.ज.पा.) के नेतृत्व वाला एक अन्य गठबंधन आ गया। 1999 के संसदीय चुनाव पुन: गठबंधन के सबसे बड़े सदस्य के रूप में भा.ज.पा. के साथ राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक गठबंधन (एन.डी.ए) की बहुदलीय सरकार में परिणत हुए।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) 1989 के बाद से संसदीय चुनावों के चुनावी परिणाम के विषय में क्या विशेष है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) ऐसा क्यों कहा जाता है कि कांग्रेस की केन्द्रिकता 1989 के बाद से गिरी है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

19.6 समकालीन दल प्रणाली

19.6.1 केन्द्रीय स्तर पर दल प्रणाली

1) दलीय प्रणाली जैसी कि आजकल चल रही है, **राजनीतिक दलों के बाहुल्य** पर आधारित है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, 1989 से, राजनीतिक अखाड़े में आने वाले राजनीतिक दलों की संख्या में एक निश्चित वृद्धि हुई है। बहुत-से क्षेत्रीय और छोटे दलों ने कांग्रेस द्वारा पैदा किए गए निर्वात को भरा है। प्रमुख राष्ट्रीय दलों की शक्ति घट रही है और छोटे दलों की बढ़ रही है। 1989 के बाद का संयोजन बदले हुए दलीय परिदृश्य का ही प्रकटन है।

2) दलीय प्रणाली का स्वरूप जो आजकल उपलब्ध है प्राधान्यपूर्ण नहीं **बल्कि विकल्पन हेतु पर्याप्त सम्भावना के साथ प्रतिस्पर्धात्मक** है। तथापि, बहुमत हासिल करने में किसी भी एकल दल की अक्षमता के कारण, यह विकल्पन विशिष्ट दलों के बीच नहीं बल्कि राजनीतिक दलों के समूहों के बीच होता है।

3) चुनावीय गणित की बाध्यता और संघट्ट सरकारों की आवश्यकता **गठबंधन** की राजनीति में फलित हुई है। गठबंधन उन अनेक राजनीतिक दलों में हुआ करता है जो चुनाव लड़ने और सरकार बनाने के लिए एक साथ आते हैं।

4) गठबंधन की राजनीति को दलगत राजनीति के स्वभावार्थ अनेक परिणाम भुगतने पड़े हैं। सत्ता की राजनीति से सम्बन्ध रखते हुए पहले से कहीं अधिक संख्या में राजनीतिक पार्टियों के साथ **प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति का स्थान विस्तीर्ण किया गया है**। बजाय इसके कि एक दल सत्ता पर आधिपत्य जमाए (जैसा कि राजनीति के 1967-पूर्व स्तर के मामले में था), अथवा दो या तीन दल भी अगर राजनीतिक सत्ता पर सच्चे दावे करें, अनेक राजनीतिक दल होते हैं जो राजनीति अखाड़े में आ जाते हैं। एक न एक संघट्ट ढाँचे के हिस्से के रूप में ये असंख्य राजनीतिक दल चुनाव प्रक्रिया और सरकार निर्माण में अनुपेक्षणीय दाँव लगाते हैं। गठबंधन की राजनीति, इसी कारण, सरकार की प्रकृति पर अपना प्रत्यक्ष प्रभाव रखती है। शासन संघट्ट भागीदारों के बीच एक **बृहत्तर सत्ता विसर्जन** पर आधारित होता है।

5) गठबंधन की प्रकृति प्रथम कारण के रूप में, साधारणतया सत्तात्मक राजनीति की अनिवार्यता के आधार पर थी। धीरे-धीरे, समय के साथ इस प्रसंग में एक अभिरचना ने जन्म लिया लगता है। बजाय इसके कि गठबंधन चुनावोपरांत बनते, अब चुनाव-पूर्व संघट्ट बनाने की प्रथा स्वीकृतप्राय है। पहले संघट्ट गठनहीन होते थे जिनमें एक सत्ता से संबंधित को छोड़कर शेष बिना किन्हीं साझा उद्देश्यों के एकजुट हुए सदस्य होते थे। परन्तु अब, संघट्ट के सभी साथियों को स्वीकार्य कोई **न्यूनतम साझा कार्यक्रम** बनाने हेतु किसी न किसी प्रकार का प्रयास किया जाता है।

6) गठबंधन साथियों के बीच साझा कार्यक्रम की स्वीकार्यता का अनिवार्यत: यह अर्थ नहीं है कि ये साथी साझा विचारधारा का अनुकरण करते हैं। वैचारिक संसजकता, वास्तव में, संघट्ट का स्वभावगत अभिलक्षण नहीं है। इन दलों की वैचारिक स्थिति, जो किसी संघट्ट में शामिल होने आगे आते हैं, कभी-कभी, नितान्त विरोधाभासी होती है। एक गठबंधन बनाने के लिए इन वैचारिक रूप से भिन्न दलों को जो प्रेरित करता है, वह है राजनीतिक सत्ता का तर्क। वरना, ये **ग़ैर-विचारधारा वाले राजनीतिक मोर्चे** ही हैं।

7) गठबंधन की राजनीति ने **दलों के ध्रुवीकरण** की ओर प्रवृत्त किया। आरंभिक वर्षों में, इस प्रकार के ध्रुवीकरण ने तीन संघट्ट ढाँचों का रूप ले लिया। 1989 के उपरांत राजनीतिक दल अपने आपको तीन ध्रुवों के इर्द-गिर्द संगठित करने लगे – एक कांग्रेस के नेतृत्व वाला, दूसरा भा.ज.पा. के नेतृत्व वाला और तीसरा वह जिसे तीसरा मोर्चा संयुक्त मोर्चा कहा गया। तीसरा ध्रुव बाद में कमज़ोर पड़ गया। जनता दल, तेलगु देशम्, वाम दल और अनेक अन्य क्षेत्रीय व प्रान्तीय दलों को शामिल कर, 1989 में यह सरकार बनाने में सफल रही परन्तु यह न तो अपनी एकता और न ही अपनी राजनीतिक शक्ति को ही लम्बे समय तक बरकरार रख सकी। यह शीघ्र ही विखण्डित हो गई और संसद में उसकी संख्या काफी घट गई। तीसरे मोर्चे का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक दल कांग्रेस अथवा भा.ज.पा. के इर्द-गिर्द पुनर्संमूहीकृत हो गए। गत कुछ संसदीय चुनावों में जिस तरह से गठबंधन बनाए गए हैं, उससे एक

द्वि-ध्रुवीयता उभरी है। कांग्रेस और भा.ज.पा. ही वे दो दल हैं जिनके इर्द-गिर्द नानारूप राजनीतिक दल हाल के चुनावों में समूहीकृत हुए हैं।

8) समकालीन **दल प्रणाली उस जटिलता और विषमता का प्रकटन है जो भारतीय समाज में व्याप्त है**। यह राजनीतिक हितों और मतों की विविधता का एक प्रतिरूप है। यह हरेक उस भागीदारीपूर्ण राजनीति को कहीं अधिक विस्तृत रूप से प्रकट करती है जिसने नानारूप समूहों का राजनीतिकरण और उनके राजनीतिक स्वर के सुस्पष्ट किया है। राजनीतिकरण का विस्तृत स्वभाव दलगत राजनीति की एक सुनम्य प्रकृति में फलित हुआ है। सत्ता की राजनीति पर अब बड़े और प्रमुख दलों का आधिपत्य नहीं रहा है। इसके विपरीत, **लघुतर दलों का यथेष्ट महत्त्व है**। बहुदल शासन में भागदारों के रूप में, इन छोटे दलों ने अपनी सौदाकारी शक्ति विकसित की है। यही कारण है कि ये दल न सिर्फ़ सत्ता का मिल-बाँट करते हैं बल्कि राजनीतिक निर्णयन में भी अभिव्यक्ति पाते हैं। उन नानारूप समूहों के प्रतिनिधियों के रूप में, जो सत्ता की राजनीति और अल्पसंख्यकों से अब तक निष्कासित हैं, ये लघुतर दल अपेक्षाकृत अधिक लोकतांत्रिक राजनीतिक स्थान स जन में मदद करते हैं।

9) इस परिप्रेक्ष्य से देखने पर, **दलीय प्रणाली का एक बृहत्तर संघीकृत प्रसंग है**। यह संघीकृत प्रसंग एक ओर राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दल-प्रणाली के बीच पेचीदा संबंध द्वारा प्रदत्त है और दूसरी ओर, क्षेत्रीय दलों के दावे को इंगित करता है। गत दो दशकों में, क्षेत्रीय माँगों पर अपने फ़ोकस के साथ अनेक क्षेत्रीय दल उभरे हैं। ये क्षेत्रीय दल, राज्य स्तर पर महत्त्वपूर्ण राजनीतिक स्थान पर काबिज़ होने के अलावा केन्द्रीय राजनीति में भी निर्णायक भूमिका अदा कर रहे हैं। यह राजनीति के राष्ट्रीय स्तर पर उनकी सक्रिय उपस्थिति के कारण ही है कि यह दलीय प्रणाली वस्तुत: एक संघीय लक्षण ग्रहण करती जा रही है। चूँकि राष्ट्रीय दल सरकार बनाने के लिए क्षेत्रीय दलों पर निर्भर हैं, परिवर्ती अपनी सौदाकारी शक्ति बढ़ा चुके हैं। परिणामत:, **क्षेत्रीय दल मुख्यधारा में आए हैं**। क्षेत्रीय और राष्ट्रीय दलों के बीच पहले जो भेद हुआ करता था वह भी धुँधला पड़ गया है। राष्ट्रीय दल लक्षणत: क्षेत्रीय हो गए हैं और क्षेत्रीय दल उत्तरोत्तर रूप से राष्ट्रीय राजनीति में भाग ले रहे हैं और उसके द्वारा राष्ट्रीय महत्ता अर्जित करते जा रहे हैं। कांग्रेस और भा.ज.पा., दो राष्ट्रीय दल, अब एक लम्बे समय से, 'राष्ट्रीय' प्रभाव-क्षेत्र रखने की बजाय 'क्षेत्रीय' प्रभाव-क्षेत्र रखते हैं।

10) चूँकि 'राष्ट्रीय' दल क्षेत्रीय लक्षण ग्रहण कर रहे हैं, ये **क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय कार्यसूची तैयार करने में महती भूमिका निभा रहे हैं**। ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि क्षेत्रीय माँगें भारतीय राजनीति के राष्ट्रीय परिदृश्य में प्रबल रूप से मुखरित की जा रही हैं। पहले यह संभव नहीं था क्योंकि क्षेत्रीय माँगें राष्ट्रीय माँगों के विरोध में रखी जाती थी, और इसी कारण राष्ट्रीय एकता के लिए ख़तरा मानी जाती थीं। राजनीति के राष्ट्रीय स्तर पर क्षेत्रीय दलों के प्रवेश के साथ ही, ऐसी कोई बात नहीं रही। क्षेत्रीय और संघीय मुद्दे दलगत राजनीति के राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक कार्यसूची के महत्त्वपूर्ण भाग हैं। क्षेत्र अथवा क्षेत्रीय अभिकथन अब राष्ट्र के लिए ख़तरनाक नहीं माने जाते हैं।

11) भारत की संघीय संरचना के लिए यह महत्त्वपूर्ण निहितार्थ रखता है। एक-केन्द्रित प्रमुख-दल प्रणाली से राज्यों में पाए जाने वाले लघुतर दलों के लिए काफ़ी गुंजाइश वाली एक बहु-दलीय प्रणाली की ओर स्थानापन्न के साथ, केन्द्र-राज्य संबंधों में भी एक निश्चित स्थानापन्न हुआ है। यह उभरती दलीय प्रणाली राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों के बीच साझेदारी का

एक अनिवार्य घटक रखती है। इसी कारण केन्द्र व राज्यों के बीच कहीं अधिक समतावादी संबंध हेतु आधार है। दलीय प्रणाली स्वयं ही राज्यों के हित का प्रतिनिधित्व करने के लिए संस्थागत व्यवस्था प्रदान कर रही है। दलीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहे अनेक क्षेत्रीय दल राज्यों के लिए और अधिक स्वायत्तता वाले केन्द्र-राज्य संबंध के पुनर्संगठन की माँग करते रहे हैं। उनके उत्कर्ष के साथ ही, क्षेत्रीय मुद्दों की ओर कहीं अधिक संवेदनशीलता विकसित हुई है और संघवाद पर अधिक मतैक्य उभरा है। यहाँ तक कि वे राष्ट्रीय दल जो पारम्परिक रूप से एक सशक्त केन्द्र के पक्षधर रहे थे संघवाद के तर्क को स्वीकार करने को बाध्य किए जा रहे थे। अकालियों, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, तेलुगु देशम पार्टी, तृणमूल काँग्रेस, समता पार्टी और नेशनल कान्फ्रेंस पर भा.ज.पा. की निर्भरता, उदाहरण के लिए, केन्द्र-राज्य संबंधों से ताल्लुक रखने वाले मुद्दों की ओर उसकी सुनम्य प्रवृत्ति में परिणत हुई है।

19.6.2 राज्य स्तर पर दल प्रणाली

दलीय प्रणाली का संघीय प्रसंग न सिर्फ़ राष्ट्रीय अथवा राज्य स्तर की दल-प्रणाली के बीच संबंध को अन्तर्निहित किए जाने की जटिलता पर, बल्कि राज्य स्तर पर दलीय प्रणाली की प्रवृत्ति का विश्लेषण करने पर भी ज़ोर देता है। यद्यपि राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर की दलगत में बहुत समानताएँ राजनीति फिर भी यह ग़ौर करना ज़रूरी है कि प्रत्येक राज्य की अपनी अलग विशेषताएँ हो सकती हैं।

कुछ समय से राज्य स्तर पर राजनीतिक सत्ता के लिए प्रखर प्रतिस्पर्धा रही है। फिर भी, इस प्रतिस्पर्धा की व्यवहार्य विधि में विभिन्नताएँ हैं। अनेक राज्यों में, कम से कम दो दलों के बीच सत्ता का विकल्पन है। इन राज्यों में, दलगत राजनीति का दो-दलीय राजनीति के रूप में वर्णन किया जा सकता है। अनेक अन्य राज्यों में, राजनीति दो दलों के बीच साफ़-साफ़ विभाजित नहीं है। स्वयं को दो समूहों/ ध्रुवों में समूहीवृत्त करने वाले दलों के साथ दलों का बाहुल्य है। इन राज्यों की दलगत राजनीति द्वि-ध्रुवीयता के शब्दों में परिभाषित की जा सकती है। ऐसे भी अन्य राज्य हैं जो बहु-दलीय प्रणाली तो रखते हैं परन्तु साफ़तौर पर दो-दलीय प्रणालियों अथवा द्वि-ध्रुवीयता वाली प्रणालियों के रूप में वर्गीकृत नहीं किए जा सकते हैं।

इसी कारण, राज्य स्तर पर दलगत राजनीति में काफ़ी तरलता है। यह तरलता न सिर्फ़ दलीय प्रतिस्पर्धा के स्वभाव में, बल्कि उस विधि में भी व्यवहृत है जिससे राज्यों में राजनीतिक दलों को आँका जाता है। क्षेत्रीय दल राज्यों के स्तर पर महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कर्त्ता हैं परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि राष्ट्रीय दल राज्यों के स्तर पर व्यवहृत नहीं होते। क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय दलों के बीच प्रतिस्पर्धा के विभिन्न प्रतिरूप हैं। कुछ राज्यों में क्षेत्रीय दल बड़े ही निर्णायक राजनीतिक कर्त्ता हैं, जबकि अन्य राज्यों में क्षेत्रीय दल वैसी महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाते। कुछ राज्य ऐसे हैं जहाँ राष्ट्रीय दलों का अस्तित्व महत्त्वपूर्ण नहीं है। कुछ राज्यों में, दलीय प्रतिस्पर्धा मुख्यत: राष्ट्रीय दलों के बीच होती है जबकि ऐसे राज्य भी हैं जहाँ सत्ता-हस्तांतरण किसी राष्ट्रीय तथा किसी क्षेत्रीय दल के बीच क्रमवार चलता रहता है। ऐसे कुछ राज्यों में, राष्ट्रीय दलों ने एक क्षेत्रीय लक्षण ग्रहण कर लिय है और वे राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय दलों के साथ प्रतिस्पर्धा करते हैं। तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, असम, पंजाब, केरल तथा जम्मू-कश्मीर क्षेत्रीय दलों हेतु एक सशक्त परम्परा वाले राज्य हैं। जबकि उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, मध्यप्रदेश, कर्नाटक, उड़ीसा तथा राजस्थान ऐसे राज्य रहे हैं जहाँ प्रतिस्पर्धा राष्ट्रीय दलों के बीच ही होती रही है। क्षेत्रीय दलों ने महाराष्ट्र तथा आंध्र प्रदेश में भी प्रबलता से धावा बोला है।

बोध प्रश्न 5

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) दलीय राजनीति के शब्दों में द्वि-ध्रुवीयता से हम क्या अर्थ लगाते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) समकालीन दलीय राजनीति अधिक प्रतिनिधि और अधिक बहुवाचक क्यों है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) क्षेत्रीय दलों ने अधिक सौदाकारी शक्ति क्यों प्राप्त कर ली है?

.....

.....

.....

.....

.....

4) केन्द्र-राज्य संबंधों पर समकालीन दलीय प्रणाली का क्या प्रभाव पड़ा है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5) राज्य स्तर पर दलीय प्रणाली की क्या प्रकृति है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

19.7 सारांश

भारत में दलीय प्रणाली गत पाँच दशकों में बड़े परिवर्तनों से गुज़री है। राष्ट्रीय आन्दोलन की वसीयत के रूप में, 1947 में दलीय प्रणाली कांग्रेस पार्टी के छाये हुए प्रभुत्व द्वारा अभिलक्षित थी। भारत की केन्द्रीय राजनीतिक संस्था के रूप में कांग्रेस ने स्वतंत्रता पश्चात् प्रथम दो दशकों तक सत्ता की राजनीति पर पूरी तरह नियंत्रण रखा। कांग्रेस की शक्ति उसके संगठनात्मक ढाँचे और विविध राजनीतिक हितों को समायोजित करने में उसकी क्षमता में निहित है। कांग्रेस की विशिष्टता राजनीतिक संभ्रांत वर्ग के समजातीय स्वभाव के साथ जुड़ी थी, चाहे वह कांग्रेस से संबंध रखता हो या फिर विपक्ष से।

भारतीय राज्य की सामाजिक-आर्थिक रूपरेखा के स्वभाव में परिवर्तन के साथ 1967 के पश्चात् दलीय प्रणाली वास्तविक रूप से बदली। आम जनता के राजनीतिकरण के साथ-साथ नए सामाजिक-आर्थिक समूहों, मुख्यत: मध्यम कृषिवर्ग, पिछड़ी जातियों और दलितों, के अभिकथन के साथ दलीय प्रणाली भी बदली। परस्पर विरोधी हितों को समायोजित करने में कांग्रेस की अक्षमता और उसके संगठनात्मक ढाँचे के क्षय ने उसको पतनोन्मुख कर दिया। अस्सी के दशकांत तक कांग्रेस अपनी केन्द्रिकता खो चुकी थी। 'कांग्रेस प्रणाली' के स्थान पर एक बहुदलीय प्रणाली आ गई।

समकालीन दलीय प्रणाली को उसके बहुत्व द्वारा परिभाषित किया जाता है। कांग्रेस के उसकी केन्द्रिक स्थिति से पीछे हट जाने से पैदा हुए निर्वात को अनेक राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दलों ने भरा है। क्षेत्रीय दल पहले से अधिक हठधर्मी हो गए हैं क्योंकि वे राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय दलों के साथियों के रूप में शामिल हुए हैं। इसने भारत की संघीय संरचना को भी मज़बूत किया है।

19.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कोठारी, रजनी, *पॉलिटिक्स इन् इण्डिया,* ओरियेण्ट लॉन्गमैन, दिल्ली, 1970।

—— "दि कांग्रेस सिस्टम'' इन् इण्डिया', *पार्टी सिस्टम एण्ड इलैक्शन्स स्टडीज़* में, ऑकेज़नल पेपर्स ऑव द सैंटर फॉर डिवेलपिंग सॅसाइटीज़, नं. 1, एलाइड पब्लिशर्ज़, बम्बई, 1967।

मोरिस्-जोन्स, 'डोमिनैन्स एण्ड डिसैंट : देअर इण्टर-रिलेशन इन् दि इण्डियन पार्टी सिस्टम, मोरिस-जोन्स कृत *पॉलिटिक्स मेनली इण्डियन* में, ओरियेण्ट लॉन्गमैन, मद्रास, 1978।

मैनर, जैम्स, 'पार्टीज़ एण्ड दि पार्टी सिस्टम', अतुल कोहली *कृत इण्डिया'ज़ डिमोक्रेसी : एन् एनालिसिस ऑव चेन्जिंग स्टेट-सॅसाइटी रिलेशन्स,* ओरियेण्ट लॉन्गमैन, दिल्ली, 1988।

पई सुधा, 'दि इण्डियन पार्टी सिस्टम अण्डर ट्रान्सफोर्मेशन : लोक सभा इलैक्शन्स 1998'। *एशियन सर्वे,* खण्ड-XXXVIII, नं. 9, सितम्बर 1998।

19.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उनकी समान सामाजिक-आर्थिक प्रष्ठभूमि-शिक्षित, शहरी, मध्य और उच्च वर्ग से संबंधित।

2) कांग्रेस का अनेक दलों के साथ प्रभावशाली गुट के रूप में अस्तित्व।

3) वे कांग्रेस का विकल्प देने में असफल थे। वास्तव में वे दलों की तुलना में दबाव गुट ज्यादा थे।

4) इसको समाज के विभिन्न वर्गों का समर्थन प्राप्त था।

5) भारतीय दल व्यवस्था में इसका मुख्य स्थान था।

बोध प्रश्न 2

1) लोगों की राजनीतिक लामबंदी।

2) नए गुटों ने अपने-अपने दलों की स्थापना की।

3) जनता दल, समाजवादी पार्टी और बी एस पी।

बोध प्रश्न 3

1) कांग्रेस का पतन और प्रतियोगात्मक राजनीति का उदय।

2) राजनीति के सहमति पर आधारित मॉडल का पतन।

3) गैर कांग्रेसी दलों को एकता प्रदान की और कांग्रेस के संगठन का ह्रास हुआ।

बोध प्रश्न 4

1) दलीय संगठनों का दो मुख्य दलों - भाजपा और कांग्रेस में ध्रुवीकरण।

2) यह समाज में विषमताओं को दर्शाता है।

3) राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय उपस्थिति के कारण।

4) क्षेत्रीय तथा संघीय विषय राजनीतिक एजेन्डा के एक आवश्यक अंग बन गए।

इकाई 20 राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय दल

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय दलों का अर्थ

20.3 राष्ट्रीय दल

- 20.3.1 कांग्रेस (इं.)
- 20.3.2 भारतीय जनता पार्टी
- 20.3.3 कम्यूनिस्ट पार्टियाँ
- 20.3.4 बहुजन समाज पार्टी

20.4 क्षेत्रीय दल

- 20.4.1 द्रविड़ मुनेत्र कड़गम और ऑल इण्डिया अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम
- 20.4.2 शिरोमणि अकाली दल
- 20.4.3 नैशनल कांफ्रेंस
- 20.4.4 तेलुगु देशम् पार्टी
- 20.4.5 असम गण परिषद्
- 20.4.6 झारखण्ड पार्टी

20.5 सारांश

20.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

20.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप भारत में राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों के बारे में पढ़ेंगे। इसको पढ़ने के बाद आप इन बातों में सक्षम होंगे :

- क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय राजनीतिक दलों के मायने जानना;
- उनकी विचारधाराएँ, सामाजिक आधार और संगठनात्मक संरचनाओं को जानना; और
- हमारे देश की राजनीति व समाज में उनका महत्त्व समझना।

20.1 प्रस्तावना

राजनीतिक दल भारतीय लोकतंत्र की प्रकार्यात्मकता में एक निर्णायक भूमिका निभाते हैं। लोकतांत्रिक प्रणालियाँ राजनीतिक दलों की अनुपस्थिति में कार्य नहीं कर सकती हैं। वे राज्य व प्रजा के बीच सेतु का काम करती हैं। राजनीतिक दल चुनाव लड़ते हैं और राजनीतिक सत्ता हासिल करने को लक्ष्य बनाते हैं। वे एक प्रतिनिधि लोकतंत्र में जनता व सरकार के बीच भी सेतु के रूप में कार्य

करते हैं। यदि कोई राजनीतिक दल सरकार बनाने में विफल रहता है, वह विपक्ष में बैठता है। विपक्षी दल की भूमिका है–लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को सुदृढ़ करने के लिए सत्तारूढ़ दल की कमज़ोरियों को उजागर करना।

20.2 राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय दलों का अर्थ

भारत में बहुदलीय प्रणाली है। यहाँ राष्ट्रीय व क्षेत्रीय, दोनों ही दल हैं। चुनाव आयोग किसी दल को एक राष्ट्रीय दल की मान्यता प्रदान करता है, यदि वह दो शर्तों से कोई एक पूरी करता है : (1) वह विधान सभा चुनावों में 3.33% मत अथवा सीटें सुनिश्चित करता है, और (2) वह चार राज्यों के लोकसभा चुनाव में 4% मत अथवा सीटें सुनिश्चित करता है। राष्ट्रीय दलों को अखिल भारतीय दल भी कहा जा सकता है। उनके कार्यक्रमों, नीतियों, विचारधाराओं और रणनीतियों में राष्ट्रीय मुद्दों पर ज़ोर रहता है। संगठनात्मक ढाँचों को कायम रखने और चुनाव लड़ने के लिहाज से वे देश के अधिकांश भागों में अपना अस्तित्व रखते हैं। एक क्षेत्रीय दल उस भौगोलिक क्षेत्र तक सीमित होता है जिसमें एक राज्य अथवा कुछेक राज्य हो सकते हैं। वे एक क्षेत्र विशेष की धार्मिक-सांस्कृतिक पहचान की रक्षा करने और उसका संरक्षण करने हेतु सामने आते हैं। वे किसी क्षेत्र की उपेक्षा के विषय पर भी सामने आ सकते हैं जो उसके आर्थिक पिछड़ेपन का कारण बनता है। क्षेत्रीय दल बहुधा संकीर्ण स्थानीय हितों को प्राथमिकता देते क्षेत्रवाद को प्रेरित करते दिखाई देते हैं। कुछ लोग उन्हें एक सशक्त राष्ट्र की धारणा पर ख़तरे के रूप में देखते हैं लेकिन साथ ही ऐसे लोग भी हैं जो उनके प्रति इस प्रकार का कोई नकारात्मक उपागम नहीं रखते। उनका मानना है, सशक्त क्षेत्रीय दल यह सुनिश्चित करते हैं कि क्षेत्र जिसका वे प्रतिनिधि करते हैं, केन्द्र सरकार द्वारा निष्पक्ष व्यवहृत हों। वर्ष 1989 केन्द्र में बहुदलीय प्रणाली के चरण का अग्रदूत था। इसका मतलब था – राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों की एक निश्चित भूमिका।

20.3 राष्ट्रीय दल

बहुसंख्य राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दलों के अस्तित्व के कारण साठ का दशकोपरांत काल भारत की दलीय प्रणाली में महत्त्वपूर्ण रहा है। पूर्व दशक एक-दलीय प्रभुत्व के चरण के रूप में जाने जाते थे, यथा, कांग्रेस का प्रभुत्व। इस इकाई में आप कुछ राष्ट्रीय दलों का अध्ययन करेंगे – कांग्रेस (इं.), भारतीय जनता पार्टी, भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), और बहुजन समाज पार्टी। आप मुख्य क्षेत्रीय दलों का भी अध्ययन करेंगे – नैशनल कांफ्रेन्स, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, ऑल इण्डिया अन्ना द्रमुक मुनेत्र कड़गम, अकाली दल, असम गण परिषद्, झारखण्ड पार्टी, और तेलुगु देशम् पार्टी।

20.3.1 कांग्रेस (इं.)

कांग्रेस (इं.) उस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से उदित हुई है जिसका जन्म 1885 में बम्बई में हुआ। यह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों को एक साथ लाने में सफल रही थी। शुरू में कांग्रेस एक संभ्रांतवर्ग संगठन था फिर गाँधीवादी नेतृत्व के तत्त्वावधान में यह एक जन संगठन बन गया। स्वतंत्रतापूर्ण काल में, कांग्रेस पार्टी के इतिहास में असहयोग, नागरिक अवज्ञा, और भारत छोड़ो आन्दोलन महत्त्वपूर्ण मील-पत्थर थे। भारत सरकार अधिनियम, 1935 के तहत प्रान्तीय स्वायत्तता के प्रावधान ने 1937-39 के बीच प्रशासन चलाने की कला में कुछ प्रशिक्षण प्राप्त करने का कांग्रेस पार्टी को एक अवसर प्रदान किया।

स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस पार्टी सत्तारूढ़ पार्टी बन गई क्योंकि ब्रिटिशों ने सत्ता इसी दल को हस्तांरित की। 1947-67 के बीच कांग्रेस पार्टी भारत के राजनीतिक मंच पर छायी रही। 1967 में कराये गए चौथे आम चुनाव के परिणाम ने कांग्रेस पार्टी के प्रभुत्व को अत्यधिक क्षति पहुँचायी। कांग्रेस पार्टी आठ राज्यों में सत्ता से बाहर हो गई। केन्द्र में भी, यह लोकसभा में एक अल्पमत ही सुनिश्चित कर सकी। वर्ष 1969 में कांग्रेस पार्टी पहली बार दो धड़ों में विभाजित हुई – इंदिरा गाँधी के नेतृत्व वाली एक नई कांग्रेस और एस. निजलिंगप्पा के नेतृत्व वाली एक पुरानी कांग्रेस। इंदिरा गाँधी के नेतृत्व वाली नई कांग्रेस ने 1971 के संसदीय चुनाव और अधिकांश राज्य में 1972 के विधानसभा चुनाव आसानी से जीत लिए। 1977 में छठे आम चुनाव कांग्रेस पार्टी की हार और जनता पार्टी के लिए आसान से बहुमत में परिणत हुए। कांग्रेस पार्टी की हार को राजनीति के इंदिरा गाँधी-शैली के अस्वीकरण के रूप में देखा गया। 1977 के चुनाव हारने के बाद कांग्रेस पार्टी में एक और विभाजन हुआ। दो कांग्रेसों उभर कर आयीं – एक इंदिरा गाँधी के नेतृत्व वाली, और दूसरी स्वर्ण सिंह के नेतृत्व वाली। ऐसे ही हुआ 1978 में इंदिरा गाँधी के नेतृत्व वाली अथवा कांग्रेस (इंदिरा) अथवा कांग्रेस (इं./आई.) का जन्म। सामान्य तौर पर कांग्रेस (इं.) और कांग्रेस समानार्थक रूप से प्रयोग किए जाते हैं। मुख्यत: नेताओं के बीच व्यक्तित्व संघर्ष और दल संबंधी झगड़ों के चलते दो वर्षों के भीतर ही केन्द्र में 'जनता' प्रयोग असफल हो गया। 1980 में, कांग्रेस (इं.) लोकसभा में दो-तिहाई बहुमत के साथ कांग्रेस के वर्चस्व को पुनर्प्राप्त करते हुए सत्ता में लौटी। 1984 में इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद राजीव गाँधी प्रधानमंत्री बने। 1985 के आम चुनाव में उनके नेतृत्व में पार्टी ने अभूतपूर्व विजय हासिल की। कांग्रेस पार्टी ने अपने सहयोगी दलों के साथ चार सौ पंद्रह लोकसभा सीटें जीतीं। नौवें आम चुनाव में, विपक्षी दलों के एक संयोजन, राष्ट्रीय मोर्चा और ऑल इण्डिया अन्ना द्रमुक मुनेत्र कड़गम तथा नैशनल कांफ्रेन्स के साथ गठबंधन वाली कांग्रेस (इं.) के बीच एक कड़ा मुकाबला देखा गया। राष्ट्रीय मोर्चा ने दोनों वामपंथी दलों और भारतीय जनता पार्टी के साथ उनके प्रभाव वाले क्षेत्रों में सीटों का समंजन कर लिया। इससे अधिकांश विधानसभा क्षेत्रों में सीधी लडाई ठन गई। 197 सीटें प्राप्त कर कांग्रेस पार्टी एकमात्र सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी। कोई भी दल लोकसभा में स्पष्ट बहुमत हासिल नहीं कर सका। 1991 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस (इं.), जनता दल–राष्ट्रीय मोर्चा गठजोड़ और भा.ज.पा. के बीच एक त्रिकोणीय मुकाबला था। कांग्रेस (इं.) ने 232 सीटें जीतीं। राजीव गाँधी चुनाव-अभियान के दौरान मारे गए। पी.वी. नरसिम्हा राव प्रधानमंत्री बने। 1996 और 1998 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस (इं.) द्वारा जीती गई सीटों की संख्या घटकर क्रमश: 140 और 141 रह गई। 1999 में, लोकसभा में कांग्रेस (इं.) द्वारा जीती गई सीटों की संख्या घटकर 114 ही रह गई।

विचारधारा

कांग्रेस पार्टी समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र के प्रति वचनबद्ध रही है। इसी ने लोकतांत्रिक समाजवाद के विचार का अनुमोदन किया तभी कांग्रेस पार्टी की आर्थिक नीति ने मूल उद्योगों, बैंकिंग और बीमा जैसी अर्थव्यवस्था की प्रभावशाली ऊँचाइयों का राजकीय नियंत्रण लागू किया। पार्टी ग्रामीण व शहरी भू-सीमांकन के लिए खड़ी हुई। यह एकाधिकारों के विरुद्ध और मध्यम व लघु उद्योगों को प्रोत्साहन दिए जाने के पक्ष में थी। 1956 में, अवाड़ी सत्र में कांग्रेस ने समाज के समाजवादी पैटर्न के प्रति अपनी वचनबद्धता घोषित की। 1971 के चुनाव में कांग्रेस ने 'ग़रीबी हटाओ' का नारा दिया। आपात्काल के दौरान बीस सूत्रीय कार्यक्रम भी एक सशक्त समाजवादी घटक रखता था। अस्सी के दशक में कांग्रेस दक्षिण-पंथ की ओर खिसक गई। 1984 के घोषणा-पत्र में समाजवाद अथवा एकाधिकारों पर रोक की आवश्यकता का ज़िक्र नहीं था। 1989 के चुनाव घोषणा-पत्र में पंचायती राज के माध्यम से लोगों को अधिकार दिए जाने की आवश्यकता पर बल दिया गया था। 1991 में, कांग्रेस के चुनाव घोषण-पत्र में विश्व पूँजीवादी व्यवस्था से जुड़ी एक

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की आवश्यकता की वकालत की गई थी। इसने रक्षा क्षेत्रों में छोड़कर सभी सार्वजनिक एकाधिकारों के उन्मूलन, और निजी क्षेत्र को बढ़ावा दिए जाने का भी समर्थन किया। 1999 में, पार्टी के चुनाव घोषणा-पत्र में धर्मनिरपेक्षता और पंचायती राज संस्थाओं के सुदृढ़ीकरण के प्रति उसकी वचनबद्धता की पुनर्पुष्टि की गई थी। इसने दरिद्रता उपशमन पर व्यय दो गुना किए जाने का भी वायदा किया। विदेश नीति में पार्टी ने गुटनिरपेक्षता का अनुपालन किया है।

सामाजिक आधार

पार्टी शिक्षित शहरी मध्यवर्ग के एक संभ्रांत संगठन के रूप में शुरू हुई थी। बीस के दशक में इसने एक व्यापक आधार प्राप्त कर लिया। एक व्यापक आधार होते हुए भी कांग्रेस का नेतृत्व उच्च जाति के बड़े भू-स्वामियों, शहरी बुद्धिजीवी वर्ग और व्यापारियों के हाथ में था। स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस पार्टी ने बिना किसी खास चुनौती के तीन आम चुनाव जीते। यह उस समर्थन की वजह से था जो उसे लगभग पूरे देश में ग्रामीण व शहरी, शिक्षित व अशिक्षित, उच्च जाति व निम्न जाति, धनी व निर्धन के बीच प्राप्त था। यह, खासकर साठ के दशक के उत्तरार्ध से, मध्यजाति के वोट कांग्रेस से दूर खिसकना ही था जिससे वह अनेक राज्यों में चुनाव हार गई। कांग्रेस के मुख्य समर्थनाधार रहे हैं – उच्च जाति विशेषत: ब्राह्मण, अनुसूचित जातियाँ और मुसलमान। 1991 में कांग्रेस गंगाई कटिबन्ध – उत्तर प्रदेश तथा बिहार से कार्यत: साफ ही हो गई। उत्तर प्रदेश में ब.स.पा. और समाजवादी पार्टी ने कांग्रेस से अनुसूचित जाति तथा मुसलमानों के वोट छीन लिए। इसी प्रकार, बिहार में मुस्लिम तथा निम्न जातियों के वोट राष्ट्रीय जनता दल को चले गए। जबकि इन दोनों राज्यों में उच्च जातियों के वोट भा.ज.पा. को चले गए।

संगठन

कांग्रेस पार्टी का संघटन एक विस्तृत संगठनात्मक नेटवर्क प्रस्तुत करता है। पार्टी का अध्यक्ष पार्टी के संगठनात्मक ढाँचे का मुखिया होता है। अध्यक्ष की मदद के लिए एक कार्य समिति होती है। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति, जो एक मंत्रणात्मक निकाय है, उनके प्रकार्यों को बढ़ाकर पूरा करती है। पार्टी का केन्द्रीय कार्यालय नई दिल्ली में स्थित है। केन्द्रीय कार्यालय प्रदेश कांग्रेस समितियों, ज़िला कांग्रेस समितियों और ब्लॉक कांग्रेस समितियों के प्रकार्यों का पर्यवेक्षण करता है। ज़िला कांग्रेस समितियाँ हिसाब-किताब रखती हैं, चंदा उगाहती हैं और प्रत्याशियों का अनुमोदन करती हैं।

20.3.2 भारतीय जनता पार्टी

भारतीय जनता पार्टी 1980 में दोहरी सदस्यता के मुद्दे पर जनता पार्टी में विभाजन के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आयी। यह मुद्दा था – क्या जनता पार्टी के वे सदस्य जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आर.एस.एस.) के भी सदस्य हैं, एक साथ इन दोनों संगठनों की सदस्यता कायम रख सकते हैं अथवा नहीं। इस मुद्दे पर विवाद जनता पार्टी से भारतीय जन संघ घटक अथवा आर. एस.एस. सदस्यों के निष्कासन में परिणत हुआ। जनता पार्टी छोड़ने के बाद भारतीय जनसंघ घटक ने भारतीय जनता पार्टी (भा.ज.पा.) का प्रवर्तन किया। भा.ज.पा. को सटीक रूप से भारतीय जनसंघ के पुनर्जन्म के रूप में देखा जाता है। भारतीय जनसंघ की स्थापना 1951 में श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने की थी। 1925 में केशव बलीराम हेडगेवार द्वारा स्थापित आर.एस.एस. पहले भारतीय जन संघ और फिर भारतीय जनता पार्टी के लिए संगठनात्मक अवलम्ब रही है। अपने जन्म के बाद प्रथम लोकसभा चुनाव, 1984 में भा.ज.पा. ने मात्र दो सीटें हासिल कीं परन्तु 1989 में इसने 88 सीटें प्राप्त कर लीं। 1991 के चुनाव में इस दल ने 120 सीटें सुनिश्चित कीं और संसद में दूसरे सबसे बड़े दल के रूप में उभरा। राष्ट्रपति ने अटल बिहारी वाजपेयी को सरकार बनाने के लिए

आमंत्रित किया। यह सरकार मात्र तेरह दिन चली क्योंकि बहुमत के अभाव में यह संसद में टिक नहीं सकी। 1998 के लोकसभा चुनाव में भा.ज.पा. ने क्षेत्रीय दलों के साथ युक्तिपूर्ण गठजोड़ किए और 180 सीटें सुनिश्चित कीं। भा.ज.पा. ने सरकार बनाई परन्तु यह सरकार ज़्यादा नहीं चली। 1999 में एक और चुनाव हुआ। भा.ज.पा. ने राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन (रा.लो.ग. – एन.डी. ए.) के सहयोगी के रूप में यह चुनाव लड़ा।

विचारधारा

प्रारम्भ में भा.ज.पा. ने भारतीय जन संघ से एक भिन्न छवि प्रक्षिप्त करने का प्रयास किया। बम्बई में हुए पार्टी के प्रथम अधिवेशन में भा.ज.पा. के प्रथम अध्यक्ष, अटल बिहारी वाजपेयी ने भा.ज.पा. के उदय को एक गौरवमय भारत के जयप्रकाश नारायण के स्वप्न से जोड़ा था। भा.ज.पा. को 1951 में श्यामा प्रसाद मुखर्जी द्वारा स्थापित हिन्दू राष्ट्रवादी दल, पूर्व भारतीय जन संघ के पुनर्जन्म के रूप में भी देखा गया। जन संघ ने धार्मिक नीतिवचनों के अनुसार एक आधुनिक लोकतांत्रिक समाज के रूप में भारत का पुनर्निर्माण करने को लक्ष्य बनाया। वैचारिक रूप से भा.ज.पा. पाँच सिद्धांतों के प्रति वचनबद्ध है – राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रीय अखण्डता, लोकतंत्र, सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता, गाँधीवादी समाजवाद और मूल्याधारित राजनीति। भा.ज.पा. ने इन नीतियों को विकास रणनीति का सारतत्त्व बनाने और उनके चारों ओर राष्ट्रीय सहमति तैयार किए जाने की उद्घोषणा की। पार्टी पूँजीवाद और समाजवाद, दोनों को अस्वीकार करती है क्योंकि वे या तो निजी व्यक्तियों अथवा राजकीय अधिकारियों के हाथों में, आर्थिक शक्तियों के संकेन्द्रण को बढ़ावा देते हैं। 1984 में पार्टी ने कृषि व उद्योग, दोनों के विकास पर ज़ोर दिया। उसने करों की कटौती और रोज़गार गारण्टी कार्यक्रम तथा काम के अधिकार को एक मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता दिए जाने पर भी बल दिया। 1996 में भा.ज.पा. स्वदेशी अर्थव्यवस्था के प्रति अपनी वचनबद्धता दोहराती रही परन्तु वस्तुत: उसने उदारीकरण का कांग्रेस (इं.) वाला नारा ही अपनाया। 1993 में भारतीय उद्योग महासंघ को सम्बोधित करते हुए लालकृष्ण आडवाणी ने कहा कि यदि भा.ज.पा. सत्ता में आयी तो आर्थिक नीति की मूल दिशा अपरिवर्तित रहेगी। रा.लो.ग. सरकार में वरिष्ठ गठबंधन रहयोगी के रूप में भा.ज.पा. की नीतियों ने उदारीकरण की नीतियों को अपनी स्वीकृति का स्पष्ट संकेत दिया। 1999 में भा ज.पा. ने अपनी चेन्नई में हुई सभा में आक्रामक हिन्दूवाद और स्वदेशी की कार्यसूची को पीछे छोड़ देने का स्पष्ट संकेत दिया। भा.ज.पा. ने जाति पद्धति पर आरक्षण के प्रति सहमत होकर सभी के लिए न्याय के सिद्धांत को स्वीकार किया है। संसद व राज्य विधानसभाओं में महिलाओं के 33% आरक्षण का उसका वायदा है।

सामाजिक आधार

भा.ज.पा. का अपने पूर्ववर्ती भारतीय जनसंघ की ही भाँति हिन्दी कटिबंध में समर्थनाधार प्राप्त हुआ है। इसका गुजरात व महाराष्ट्र में भी सशक्त अस्तित्व है। 1989 से पार्टी दक्षिण भारत में घुसने का प्रयास कर रही है। भा.ज.पा. का पारम्परिक समर्थनाधार उच्च जातियाँ, छोटे व मंझले व्यापारियों तथा दुकानदारों के बीच था। अल्पसंख्यकों में भा.ज.पा. वोट काफ़ी हद तक सिखों से प्राप्त करती है। इसको मुख्यत: एक हिन्दू पार्टी के रूप में देखा जाता है। नब्बे के दशक से इसका आधार ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों, और बड़ी संख्या में सामाजिक समूहों के बीच विस्तीर्ण हुआ है।

संगठन

राष्ट्रीय स्तर पर भा.ज.पा. में एक पार्टी अध्यक्ष और राष्ट्रीय परिषद् तथा पार्टी पूर्णाधिवेशन अथवा विशेष सत्र होते हैं। राज्य स्तर पर पार्टी में एक परिषद् तथा राज्य कार्यकारिणी होती है जिसके

बाद होती हैं – क्षेत्रीय समितियाँ, ज़िला समितियाँ और ब्लॉक समितियाँ। भा.ज.पा. में मोर्चा संगठन भी हैं जैसे – भारतीय जनता युवा मोर्चा और भारतीय जनता महिला मोर्चा। ये संगठन राष्ट्रीय कार्यकारिणी के दिशा-निर्देशों के अनुसार कार्य करते हैं।

20.3.3 कम्यूनिस्ट पार्टियाँ

भारत में अस्तित्ववान प्रमुख कम्यूनिस्ट पार्टियाँ हैं – भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (भा.क.पा.– सी. पी.आई.), भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) अथवा मा.क.पा. (सी.पी.आई.-एम.), तथा अनेक नक्सलवादीगुट। भा.क.पा. की स्थापना 1925 में कानपुर में हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के भीतर से दो राजनीतिक धाराएँ फूटीं जो भारतीय राज्य की प्रकृति, स्वतंत्रता संग्राम तथा मार्क्सवाद और लेनिनवाद के सिद्धांतों के अनुसार भारत में क्रांति कैसे लायी जाए के प्रश्न और भविष्य की कार्य-प्रक्रिया को लेकर थीं। भा.क.पा. के तत्कालीन सचिव, पी.सी. जोशी द्वारा विवेचित एक धारा स्वाधीनता को वस्तुत: देखती थी और इसीलिए चाहती थी कि कम्यूनिस्ट पार्टी नेहरू को समर्थन दे। बी.टी. रणदीवे और गौतम अधिकारी वाली दूसरी धारा यह मानती थी कि यह सच्ची स्वतंत्रता नहीं है। सच्ची स्वतंत्रता केवल भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में प्राप्त की जा सकती है। इसलिए उनके विचार से पार्टी को कांग्रेस पार्टी के विरुद्ध लड़ना चाहिए। पचास के दशकारम्भ में नेहरू और कांग्रेस सरकार के प्रति सोवियत संघ के रुझान में एक परिवर्तन देखा जा सकता था। यह परिवर्तन भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के रुझान में भी प्रकट हुआ। भा.क.पा. के एक प्रारूप पार्टी प्रोग्राम में कामगार वर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रवादी बुर्जुआवर्ग को शामिल कर एक विशाल सामन्त-विरोधी और साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चा बनाए जाने का आह्वान था। 1962 में भारत पर चीनी आक्रमण के साथ ही ये दो धाराएँ पार्टी के भीतर से निकलकर पुन: उभरीं। पार्टी के भीतर एक गुट ने तो भारत पर चीनी आक्रमण की निंदा करने से ही इंकार कर दिया जबकि दूसरे गुट ने भारत सरकार के निर्णय का समर्थन किया। अन्तत: 1964 में भा.क.पा. भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी और भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी)–मा.क.पा. में विभाजित हो गई। 1964 के बाद भा.क.पा. को रूसी कम्यूनिस्ट पार्टी के-और मा.क.पा. को चीन कम्यूनिस्ट पार्टी के अधिक करीब देखा गया। मा.क.पा. के भीतर एक गुट सशस्त्र क्रांति के मार्ग को स्वीकृति देता हुआ 1968 में मा.क.पा. से अलग हो गया। इनको नक्सलवादी पुकारा गया क्योंकि उन्होंने सशस्त्र क्रांति के माध्यम से सत्ता हथियाने के अपने प्रयोग की शुरुआत बंगाल में नक्सलबाड़ी नामक स्थान से की। नक्सलवादियों ने चारू मजूमदार के नेत त्व में एक अन्य कम्यूनिस्ट पार्टी बना ली – भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) के नाम से। सभी नक्सलवादी गुट इस पार्टी में शामिल नहीं हुए।

भा.क.पा. ने 1952 में कराये गए प्रथम चुनाव से ही चुनावों में भाग लेना शुरू कर दिया था। आम चुनावों में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी 9% के आसपास वोट हासिल करती रही। 1964 के विभाजन के बाद भी ये दो कम्यूनिस्ट दल एक साथ इसी प्रतिशतता के आसपास मत प्राप्त करते रहे। मा. क.पा. ने 1989 तथा 1991 के चुनावों में क्रमश: 33 तथा 35 सीटें सुनिश्चित कीं। भा.क.पा. ने इन दोनों चुनावों में से प्रत्येक में 12 सीटें जीतीं। 1996 के चुनावों में मा.क.पा. ने 33 सीटें सुनिश्चित कीं जबकि भा.क.पा. को मात्र 13 मिलीं। 1999 में कराये गए पिछले लोकसभा चुनाव में मा.क.पा. ने 32 सीटें सुनिश्चित कीं और भा.क.पा. ने मात्र पाँच। जहाँ तक राज्य विधानसभा चुनावों का संबंध है इन वाम दलों ने केरल, पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा, तीन राज्यों में सफलता हासिल की है। 1957 के चुनाव के बाद केरल में भा.क.पा. सत्ता में आयी। मा.क.पा. के नेतृत्व में वाम मोर्चा पश्चिम बंगाल में लगभग बीस वर्ष से शासन कर रहा है।

विचारधारा

भारत के कम्यूनिस्ट दल यह मानते हैं कि केवल मार्क्सवाद और लेनिनवाद के क्रांतिकारी सिद्धांतों के अनुसार की गई समाजवादी समाज की स्थापना से ही देश पिछड़ेपन, असमानता, अनभिज्ञता और ग़रीबी की समस्याओं से उबरने में सक्षम होगा। यह लक्ष्य प्राप्त हो सकता है यदि कामगार वर्ग राजनीतिक सत्ता को बल या कौशल से ले ले। उनका मानना था कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भारत को एक साम्राज्यवाद-विरोधी तथा सामन्त-विरोधी लोकतांत्रिक क्रांति की आवश्यकता है। इस विचार के आलोक में ही भा.क.पा. ने नेहरू सरकार का मूल्य आँका और आपात्काल में भी इंदिरा गाँधी सरकार को समर्थन दिया। 1977 के चुनाव में निर्वाचकीय पराजय ने भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी को भारतीय राजनीति में उसकी भूमिका और कांग्रेस पार्टी के प्रति उसके रुझान का पुनर्मूल्यांकन करा दिया। 1977-पश्चात् चरण में कांग्रेसवाद-विरोध भा.क.पा. की नीति का एक अहम हिस्सा बन गया। राष्ट्रीय लोकतंत्र के अपने लक्ष्य की दिशा में भा.क.पा. 1996 में केन्द्र में गठबन्धन सरकार में भी शामिल हुई। मा.क.पा. भारतीय राज्य के पूर्ण विध्वंस और जन लोकतंत्र (पीपल्स डिमोक्रेसी) की स्थापना में विश्वास करती है। इसके अनुसार कामगार वर्ग के नेतृत्व वाले एक मोर्चे की स्थापना से ही इस उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है। इस मोर्चे में कृषि श्रमिक, ग़रीब किसान और मध्यम किसान भी शामिल हैं। 1982 में मा.क.पा. ने अपनी विजयवाड़ा कांग्रेस में भा.ज.पा. तक को शामिल कर एक सत्तावादी-विरोधी मोर्चे के लिए काम करने का निर्णय लिया। पार्टी ने सम्प्रदायवाद द्वारा उत्पन्न खतरे का भी ध्यान रखा है। उसने विश्व बैंक अथवा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के चंगुल से मुक्त, एक भारतीय स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। मार्च 2002 में हैदराबाद में हुई मा.क.पा. की 17वीं कांग्रेस में, पार्टी ने केन्द्र में रा.लो.ग. के एक धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक विकल्प के रूप में जनमोर्चा (पीपल्स फ्रंट) बनाने हेतु आह्वान किया। मा.क.पा. ने बिना कोई गठजोड़ किए कांग्रेस पार्टी से सहयोग करने का निर्णय का निर्णय किया है। पार्टी की यह भी धारणा है कि अल्पसंख्यक मूलतत्त्ववाद बहुसंख्यक मूलतत्त्ववाद का सटीक प्रत्युत्तर नहीं है।

सामाजिक आधार

केरल, पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा में अपनी मज़बूत पकड़ के अलावा कम्यूनिस्ट दलों के बिहार, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब, महाराष्ट्र व तमिलनाडु जैसे कुछ अन्य राज्यों में भी लघु क्षेत्र हैं। कम्यूनिस्ट दल अधिकांशत: कामगार वर्ग, मध्यम वर्ग, कृषि श्रमिक और छोटे किसानों से समर्थन पाते हैं।

संगठन

अखिल भारतीय पार्टी कांग्रेस भा.क.पा. और मा.क.पा. के लिए सर्वोच्च अवयव दल है। भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के मामले में यह राष्ट्रीय परिषद् द्वारा संयोजित की जाती है और मा.क.पा. के मामले में यह केन्द्रीय समिति द्वारा संयोजित की जाती है। पार्टी कांग्रेस भा.क.पा. के मामले में राष्ट्रीय परिषद् और मा.क.पा. के मामले में केन्द्रीय समिति की रिपोर्ट पर विचार-विमर्श करती है और कार्यवाही करती है। पार्टी कांग्रेस पार्टी धारा को भी निर्धारित करती है। पार्टी कांग्रेसों के बीच राष्ट्रीय परिषद् और केन्द्रीय समिति क्रमश: भा.क.पा. और मा.क.पा. के लिए उच्चतम कायकारी निकाय हैं। केन्द्रीय समिति के दो सत्रों के बीच काम करने के लिए यह अपने सदस्यों में से एक पोलित ब्यूरो चुनती है। इसी प्रकार भा.क.पा. की राष्ट्रीय परिषद् अपने दो सत्रों के बीच राष्ट्रीय परिषद् के कार्य-निष्पादन के लिए एक केन्द्रीय कार्यकारिणी चुनती है। भा.क.पा. की राष्ट्रीय परिषद् और मा.क.पा. की केन्द्रीय समिति इन दो कम्यूनिस्ट दलों में से प्रत्येक के लिए एक सचिव चुनती है।

20.3.4 बहुजन समाज पार्टी

14 अप्रैल, 1984 को कांशीराम ने बहुजन समाज पार्टी (ब.स.पा.) की स्थापना की। पार्टी अपने को बहुसंख्यक वर्ग अथवा बहुजन समाज का दल होने का दावा करती है। इस दावे के पीछे धारणा यह है कि अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, पिछड़ी जातियाँ और अल्पसंख्यक भारत की 85% जनसंख्या का निर्माण करते हैं। वे भारत के बहुसंख्यकों अथवा बहुजन समाज का निर्माण करते हैं। ब.स.पा. का तर्क है कि अल्पसंख्यक उच्च जातियाँ बहुजन समाज पर शासन करने के लिए उन्हीं के वोटों का प्रयोग करती रही हैं। चूँकि लोकतंत्र में बहुमत को शासन करना चाहिए, ब.स.पा. की लड़ाई बहुजन समाज की शासन-प्रणाली स्थापित करने के लिए है। वास्तविक रूप से एक दल का आकार लेने से पहले, ब.स.पा. बामसेफ (BAMCEF) अखिल भारतीय पिछड़े व अल्पसंख्यक कर्मचारी संघ) तक डी.एस-4 (दलित शोषित समाज संघर्ष समिति) जैसे सामाजिक व सांस्कृतिक संगठनों के रूप में विद्यमान थी। ब.स.पा. ने 1985 में चुनाव तब लड़ा था जब उसकी प्रत्याशी मायावती ने उत्तर प्रदेश में बिजनौर लोकसभा क्षेत्र से एक उप-चुनाव लड़ा। यह ब.स.पा. प्रत्याशी कांग्रेस व जनता दल प्रत्याशियों के बाद तीसरे स्थान पर आयी। परन्तु ब.स.पा. प्रत्याशियों का प्रदर्शन नितान्त उत्साहवर्धक था। उसने कांग्रेस प्रत्याशी के 1.28 लाख और जनता दल प्रत्याशी के 1.22 लाख के मुकाबले 61,504 मत ही प्राप्त किए। उस वर्ष उत्तरप्रदेश विधानसभा में ब.स.पा. ने कोई भी सीट नहीं जीती परन्तु उसे जनमत के चार प्रतिशत वोट प्राप्त हुए। 1989 के उत्तरप्रदेश विधानसभा चुनाव में ब.स.पा. ने मात्र 13 सीटें जीतीं परन्तु उसे जनमत के 9.33% वोट प्राप्त हुए। धीरे-धीरे ब.स.पा. सामान्यत: देश के राजनीतिक जीवन में और खासकर उत्तरप्रदेश, हरियाणा, मध्यप्रदेश, पंजाब व राजस्थान जैसे राज्यों की राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण खिलाड़ी बन गई है। 1996 के लोकसभा चुनाव में इस दल ने उत्तरप्रदेश में 20% वोट, मध्यप्रदेश में 8% वोट और राजस्थान में 3% वोट पक्के किए। 1998 के लोकसभा चुनाव में इस दल ने उत्तरप्रदेश से पाँच लोकसभा सीटें और हरियाणा से एक सीट जीती। 1999 के लोकसभा चुनाव में ब.स.पा. ने उत्तरप्रदेश से 14 सीटें जीतीं। यह दल न सिर्फ़ दलितों को बल्कि पिछड़े मुसलमानों और ऊँची जातियों को भी टिकट देकर अपना आधार विस्तृत करता रहा है। 2002 के उत्तरप्रदेश विधानसभा चुनाव में ब.स.पा. के इस रणकौशल ने भरपूर लाभांश चुकाया है। पार्टी ने 403 विधानसभा सीटों में से 98 सीटें सुनिश्चित की हैं।

बोध प्रश्न 1

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) कांग्रेस (इं.) का सामाजिक आधार क्या रहा है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) भा.ज.पा. के साथ जय प्रकाश नारायण का नाम किस प्रकार जुडा है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) 1964 में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के विभाजन की पृष्ठभूमि का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

20.4 क्षेत्रीय दल

वे कारक जो क्षेत्रीय दलों को सामने लाते हैं सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक हो सकते हैं। इन कारकों में कौन-से महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। ये विषय-विषय और समय-समय पर भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। भारत एक बहुभाषी, बहुधार्मिक और बहु-न जातीय देश है। सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों के मन में बहुसंख्यक संस्कृति में रच-बस जाने और अपनी विशिष्ट पहचान खो देने का भय हो सकता है। इस सांस्कृतिक विशिष्टता को कायम रखने की इच्छा ही द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (द्र.मु.क. – डी.एम.के.), ऑल इण्डिया अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (अन्ना; द्र.मु.क. – ए.आई.ए.डी.एम.के.), अकाली दल, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा (जे.एम.एम.) और असम गण परिषद् (ए.जी.पी.) के नेतृत्व वाले क्षेत्रीय आन्दोलनों के मूल में है। यह बोध कि किसी क्षेत्र की विकासात्मक आवश्यकताएँ काफी लम्बे समय से उपेक्षित नहीं रही हैं क्षेत्रवाद अथवा क्षेत्रीय दलों को भी जन्म दे सकता है। राजनीतिक रूप से, क्षेत्रीय दल केन्द्रीकरण के विरुद्ध और एक सच्चे संघ की लय के साथ सुर मिलाते एक आन्दोलन के रूप में देखे जा सकते हैं।

20.4.1 द्रविड़ मुनेत्र कड़गम और ऑल इण्डिया अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम

द्र.मु.क. का उद्भव पिछली सदी के पूर्वार्ध में मद्रास प्रेसीडेन्सी में ब्राह्मण-विरोधी आन्दोलन में पाया जाता है। कांग्रेस को ब्राह्मणों के हाथों में एक खिलौने के रूप में देखा जाता था ताकि वह प्रशासन व अन्य व्यवसायों में अपना प्रभुत्व बनाये रख सके। ग़ैर-ब्राह्मणों को यह अहसास था कि खुद की सामाजिक उन्नति के लिए ब्राह्मणवादी प्रभुत्व को रोकना होगा। 1916 का ग़ैर-ब्राह्मण घोषणा-पत्र, 1917 का साउथ इण्डिया पीपल्स एसोसिएशन तथा कांग्रेस पार्टी के खिलाफ़ चुनाव लड़ने के लिए 1923-24 में जस्टिस पार्टी का जन्म ऐसी ही चेतना के परिणाम थे। 1925 में ई.वी. रामास्वामी नाईकर ने सैल्फ रिस्पेक्ट मूवमैण्ट की स्थापना की। इस आन्दोलन ने जनसाधारण को अत्यधिक प्रभावित किया। जस्टिस पार्टी और सैल्फ रिस्पैक्ट मूवमैण्ट का नाईकर के नेतृत्व में द्रविड़ कड़गम

बनाने के लिए आपस में विलय हो गया। कांग्रेस से विरोध, उत्तर भारत-विरुद्ध विचार और स्वाधीनता को शोक-दिवस के रूप में मनाने की इच्छा रखने की वज़ह से युवाओं का एक वर्ग इससे विमुख था। ये विमुख लोक द्रविड़ कड़गम से अलग हो गए और 1949 में सी.एन. अन्नादुरई के नेतृत्व में द्र.मु.क. बना ली। अपने आरम्भ से ही द्र.मु.क. का ध्यान निम्नतर जातियों व वर्गों के हितों की ओर रहा है। फिर इसने तमिल पहचान के अगुवा का चोला भी पहन लिया। द्र.मु.क. ने तमिलों के पिछड़ेपन के लिए उत्तर भारत के आर्यों को दोष दिया। यह हिन्दी थोपे जाने की विरुद्ध रही है। द्र.मु.क. 1956 में पहली बार लोकसभा में प्रविष्ट हुई। उसने हिन्दी थोपे जाने को चुनावी मुद्दा बनाकर विधानसभा चुनाव जीता। 1972 में एक तमिल फ़िल्म नायक तथा पार्टी कोषाध्यक्ष, एम.जी. रामचन्द्रन की पार्टी से निष्कासन के मुद्दे पर डी.एम.के. विभाजित हो गई। इसने अन्नादुरई की स्म ति में अन्ना-द्र.मु.क. के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। उसने राष्ट्रीय दल के साथ चुनावी गठबंधन के सिद्धांत का अनुसरण किया और 1977 का विधानसभा चुनाव जीता। 1984 के लोकसभा चुनावों में उसने बारह सीटें जीतीं। इसका अर्थ डी.एम.के. की राजनीतिक उपेक्षा नहीं था। सत्ता इन दो तमिल दलों के बीच ही आती-जाती रही। द्र.मु.क. का नेतृत्व अब एम. करुणानिधि के हाथ आ गया है।

रामचन्द्रन के नेतृत्व में अन्ना-द्र.मु.क. ने तमिल गौरव के शमन की नीतियों और ग़रीबों को ख़ैरात बाँटने के जनवादी उपायों को अपनाया। 1988 में रामचन्द्रन की म त्यु के बाद अन्ना-द्र.मु.क. ने भी विभाजनों का सामना किया। 1989 के विधानसभा चुनावों में करुणानिधि के नेतृत्व वाली द्र. मु.क. विजयी हुई। जयललिता के नेतृत्व में अन्ना-द्र.मु.क. के विच्छिन्न गुटों का एकीकरण और कांग्रेस पार्टी के साथ गठजोड़ ने 1991 के विधानसभा चुनावों में, इसे सत्ता में फिर लौटा दिया। 1996 के चुनाव में द्र.मु.क. ने चुनाव जीता। जयललिता ने भ्रष्टाचार के अनेक आरोपों का सामना किया परन्तु इन आरोपों के बावजूद भी उनकी पार्टी 2001 के राज्य विधानसभा चुनाव में विजयी रही।

20.4.2 शिरोमणि अकाली दल

शिरोमणि अकाली दल (शि.अ.द. – एस.ए.डी.) बीसवें दशक में गुरुद्वारों में महन्तों के भ्रष्ट आचरण के खिलाफ़ सिखों के एक आन्दोलन के रूप में उदित हुआ। 1925 में सरकार ने सिख गुरुद्वारा अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम ने गुरुद्वारों के प्रबन्धन और नियंत्रण का अधिकार शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक समिति (शि.गु.प्र.स. – एस.जी.पी.सी.) को दे दिया। यह तर्क देते हुए कि सिख परम्परा में चर्च को राज्य से अलग नहीं किया गया है, अकाली दल ने शि.गु.प्र.स. पर एक मज़बूत पकड़ बनाने का प्रयास किया। शि.अ.द. ने स्वयं को उनके उत्थान तथा पहले ब्रिटिशों और फिर भारतीयों द्वारा उन पर किए जा रहे अन्यायों के विरुद्ध लड़ने हेतु समर्पित सिख हित के एकमात्र प्रवक्ता के रूप में प्रक्षेपित किया। 1947 में देश में विभाजन और स्वतंत्रता ने सिखों को क्षेत्रीय आधार पर संगठित होने का एक अवसर प्रदान किया; सिख बहुमत वाले एक आज़ाद पंजाब का सपना भी देखा गया। शि.अ.द. नेतृत्व ऐसा राज्य चाहता था जहाँ सिख धर्म सुरक्षित हो। 1966 में मास्टर तारासिंह ने बतौर शि.अ.द. प्रवक्ता पंजाब सूबे की माँग की। केन्द्रीय सरकार ने पंजाब से हरियाणा को अलग कर नवम्बर 1966 में एक सिख बहुल राज्य बना दिया। शि.अ.द द्वारा समय-समय पर उठाए गए अन्य मुद्दे रहे हैं – पंजाब के लिए पूर्ण क्षेत्रीय स्वायत्तता हेतु माँग, धनी किसानों के हितों का संरक्षण व अनुबोधन, नदी जल के वितरण में बेहतर बँटाई और अमृतसर की एक पवित्र शहर के रूप में घोषणा। 1973 के आनन्दपुर साहब घोषणा-पत्र का मुख्य फ़ोकस था – पंजाब को और अधिक स्वायत्तता। इस घोषणा में माँग की गई थी कि केन्द्र सरकार केवल रक्षा, विदेश मामले, संचार व मुद्रा पर अधिकार रखे; शेष अधिकार राज्यों को दे दिए जाने चाहिए।

अकाली दल का एक वर्ग तो भारतीय संघ से संबंध-विच्छेद के विचार को समर्थन देता था। ऑपरेशन ब्लू-स्टार और इन्दिरा गाँधी की हत्या के उपरांत हुए सिख-विरोधी दंगों ने सिख मानस को घायल कर दिया। राजीव-लोंगोवाल समझौता सिखों की आहत भावनाओं को कम नहीं कर सका। चण्डीगढ़ पंजाब को सौंपे जाने और जोधेपुर कैदी नज़रबंदों की रिहाई जैसी समरूप माँगों को सामने रखते हुए बादल और तोहड़ा, दो गुटों के बीच यह शि.अ.द. विभाजित हो गया। जब भिण्डरावाले के पिता जोगिन्दर सिंह के नेतृत्व वाले यूनाइटिड अकाली दल का जन्म हुआ, अकाली दल का अनेकीकरण ज़ारी था। इसी प्रकार, 1989 के लोकसभा चुनाव सिमरनजीत सिंह मान के नेतृत्व वाले अकाली दल (मान) द्वारा लड़ा गया। इस संगठन ने युद्धप्रियता के सिद्धांत का खुला समर्थन किया और पंजाब में तेरह में से दस सीटें जीतीं। 1997 में भा.ज.पा. के साथ गठबन्धन में अकाली दल ने विधानसभा चुनाव जीते। बादल के नेतृत्व वाला अकाली दल 2002 के विधानसभा चुनाव हार गया है और कांग्रेस पार्टी चुनाव जीती है। कांग्रेस पार्टी के कैप्टन अमरिन्दर सिंह नए मुख्यमंत्री बने हैं।

20.4.3 नैशनल कांफ्रेंस

नैशनल कॉन्फ्रेन्स का मूल बीसवें व तीसवें दशक में तब के जम्मू व कश्मीर राज्य में राजनीतिक उत्तेजना में तलाशा जा सकता है जब वहाँ एक हिन्दू महाराजा का शासन था। मुसलमानों के शैक्षणिक व सामाजिक कल्याण को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से 1921 में अन्जुमन-ए-इस्लामिया के नाम से एक संगठन उभरकर आया। 1931 में राज्य के बहुमत समुदाय -- मुसलमानों, के हित को सुव्यक्त करने के लिए मुस्लिम कांफ्रेन्स का जन्म हुआ। राष्ट्रवादी नेताओं के प्रभाव में आकर शेख अब्दुल्ला ने 1939 में मुस्लिम कांफ्रेन्स के द्वारा गैर-मुसलमानों के लिए भी खोल दिए और दल का नाम भी बदलकर ऑल इण्डिया जम्मू एण्ड कश्मीर नैशनल कांफ्रेन्स हो गया। बाद में फिर इसका नाम पुन: नैशनल कांफ्रेन्स हो गया। शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला इस दल के सर्वाधिक शक्तिशाली नेता के रूप में उभरे जिन्होंने पाकिस्तानी जनजातियों के धावे को रोका और 1948 में भारतीय संघ हेतु जम्मू-कश्मीर के स्वीकरण में एक अहम भूमिका निभायी। उसी वर्ष नैशनल कांफ्रेन्स (एन.सी.) सरकार सत्ता में आयी। नैशनल कांफ्रेन्स की प्रमुख सफलताओं में थे -- बड़ी भूमि-सम्पन्न जागीरों का उन्मूलन और भारतीय राज्य में जम्मू व कश्मीर को एक स्वायत्तप्राय स्थिति प्रदान करती भारतीय संविधान की धारा 370 में उसका समावेशन। 1965 में नैशनल कांफ्रेन्स और कांग्रेस पार्टी का आपस में विलय हो गया। इन्दिरा-शेख़ समझौते की एक शर्त के तहत 1975 में जेल से रिहा होने के बाद अब्दुल्ला ने नैशनल कांफ्रेन्स का पुनरुत्थान किया। एन.सी. ने औपचारिक रूप से द्वि-राष्ट्र सिद्धांत की निन्दा की; धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद और लोकतंत्र में आस्था जतायी। 1982 में अपनी मृत्यु से पूर्व वंश उत्तराधिकार की तर्ज़ पर, उन्होंने नैशनल कांफ्रेन्स के अध्यक्ष पद पर अपने बेटे फ़ारुक अब्दुल्ला को निर्वाचित कराया। अपने पिता की मृत्यु के उपरांत फ़ारुक़ मुख्यमंत्री बन गए। फ़ारुक़ सरकार गिराने के लिए शेख़ के दामाद, जी.एम.शाह ने कांग्रेस पार्टी से साठगाँठ कर ली। 1984 के संसदीय चुनाव और 1987 के विधानसभा चुनाव में फ़ारुक़ के नेतृत्व में नैशनल कांफ्रेन्स ने कश्मीरी जनता पर अपनी सतत पकड़ का प्रदर्शन किया। 1990 में, कश्मीर में राष्ट्रपति-शासन लागू कर दिया गया और फ़ारुक़ अब्दुल्ला सरकार बर्ख़ास्त कर दी गई। नैशनल कांफ्रेन्स ने विधानसभा चुनाव जीतने के बाद 1996 में राज्य में राजनीतिक सत्ता फिर हासिल कर ली।

20.4.4 तेलुगु देशम् पार्टी

तेलुगु देशम् पार्टी (टी.डी.पी.) की स्थापना आन्ध्र प्रदेश के मोहक अभिनेता एन.टी. रामाराव द्वारा 1982 में की गई। 1993 के विधानसभा चुनाव में राज्य विधानसभा चुनावों में यह सत्ता में आ

गई। टी.डी.पी. का नाटकीय उदय कांग्रेस के साथ आम जनता के उस मोहभंग के कारण संभव हुआ जो केन्द्रीय नेतृत्व द्वारा राज्य में अलोकप्रिय मुख्यमंत्रियों को थोपने, बृहद स्तर पर भ्रष्टाचार और एन.टी. रामाराव के चमत्कारी नेतृत्व की वज़ह से था। टी.डी.पी. को उदय को आन्ध्र की राजनीति में रेड्डियों व ब्राह्मणों के नुकसान पर कम्मा जाति के राजनीतिक उत्कर्ष के रूप में भी देखा जाता है। तमिलनाडु में ई.वी. रामास्वामी नाईकर की ही भाँति रामाराव भी उस तेलुगु गौरव के पुनर्प्राप्ति की बात करते थे जो कांग्रेस शासन में मिट चुका था। एन.टी. रामाराव ने महसूस किया कि राज्य के सामने आने वाली समस्याओं की जटिलताओं को समझने के लिए एक क्षेत्रीय दल की आवश्यकता है। उन्होंने भूमि-सुधारों का समर्थन किया; शहरी आय पर सीमा-निर्धारण, कम कीमत के चावल तथा अन्य जनवादी उपायों का पक्ष लिया। तेलुगु देशम् ने भारतीय संघ से आंध्र के अलग होने की बात कभी नहीं की। 1989 में यह दल केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार का हिस्सा बन गया। उसी वर्ष पार्टी विधानसभा चुनाव हार गई और उसने लोकसभा की बाइस सीटों में से मात्र एक जीती। 1994 व 1999 के विधानसभा चुनावों में टी.डी.पी. ने कांग्रेस पार्टी को हराया। 1995 में रामाराव के दामाद, चंद्रबाबू नायडू मुख्यमंत्री बने। भा.ज.पा. के साथ चुनावी गठबन्धन ने टी.डी.पी. को 1999 के विधानसभा चुनाव जीतने और लोकसभा सीटों के लिहाज से अपना प्रदर्शन सुधारने में लाभ पहुँचाया। गठबन्धन राजनीति के युग में टी.डी.पी. राष्ट्रीय राजनीति में भी एक प्रमुख खिलाड़ी के रूप में उभरी है।

20.4.5 असम गण परिषद्

असम गण परिषद् (अ.ग.प.–ए.जी.पी.) अखिल असम छात्र संघ (ए.ए.एस.यू.–आसू) और उसके राजनीतिक स्कंध, अखिल असम गण संग्राम परिषद् (ए.एस.जी.पी.सी.) के नेतृत्व वाले एक सशक्त छात्र आन्दोलन की उपज था। इन छात्रों ने पूर्वी पाकिस्तान, जो 1971 में बंगलादेश बन गया, के मुस्लिम बंगालियों द्वारा और नेपालियों और बिहारियों द्वारा भी, बृहद स्तर पर असम प्रवसन के मुद्दे को उठाया। प्रवासियों द्वारा अपनी ही ज़मीन में धँसा दिए जाने का भय उन्हें सताने लगा। प्रवासियों को 'वोट बैंक' के रूप में प्रयोग किए जाने के कारण केन्द्रीय सरकार व कांग्रेस पार्टी से उनका मोहभंग हो गया। आसू एवं ए.ए.जी.एस.पी. आसानी मध्यमवर्ग की आकांक्षाओं के प्रतीक बन गए। उनको लगा कि बंगालियों के नौकरशाही तथा मारवाड़ियों के व्यापार में आधिपत्य के कारण उनका विकास रुक जाएगा। 1985 में केन्द्रीय सरकार ने ए.ए.जी.एस.पी. के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार असम की जनता के सांस्कृतिक, सामाजिक, भाषायी पहचान व विरासत की रक्षा, संरक्षण तथा प्रोत्साहन के लिए जो भी उचित होंगे संवैधानिक, विधायी तथा प्रशासनीय पूर्वोपाय किए जाएँगे। असम गण परिषद् 1985 में बनायी गई। इसने प्रफुल्ल कुमार मोहन्ता के नेतृत्व में 1986 का विधानसभा चुनाव लड़ा और जीता। अ.ग.प. और भा.ज.पा. गठबन्धन ने 1996 का विधानसभा चुनाव जीता। 2001 के विधानसभा चुनावों में अ.ग.प. ने मात्र 20 सीटें जीतीं जबकि कांग्रेस 71 सीटें जीतकर सत्ता में लौटी।

20.4.6 झारखण्ड पार्टी

झारखण्ड पार्टी की जड़ें आदिवासियों की न जातीय पहचान के प्रतिरक्षण और आर्थिक हित के संरक्षण तथा प्रोत्साहन हेतु 1938 में स्थापित आदिवासी महासभा में तलाशी जा सकती हैं। उनकी मान्यता के अनुसार उनके सामाजिक व आर्थिक पिछड़ेपन का कारण प्रथमत: ब्रिटिश शासन था। वे अपने शोषण के लिए दोष साहूकारों और ठेकेदारों पर भी लगाते थे। उनकी वास्तविक समस्याओं के प्रति सरकार के औदासीन्य के लिए भी दोष लगाया जाता था। जनजातियों के लिए एक पृथक् राज्य बनाने के उद्देश्य से 1950 में आदिवासी महासभा झारखण्ड पार्टी में बदल दी गई। 1952,

1957 व 1962 के चुनावों में बिहार विधानसभा में यह पार्टी मुख्य विपक्षी दल के रूप में उभरी। 1963 में झारखण्ड पार्टी के कांग्रेस पार्टी के साथ विलय झारखण्ड आन्दोलन पर एक तगड़ा झटका सिद्ध हुआ। पृथक् राज्य की लम्बे समय से इच्छा दिल में लिए लक्ष्य प्राप्ति हेतु पूरी शक्ति से लड़ने के लिए अनेक विच्छिन्न गुटों और व्यक्तियों ने दल को पुनर्संगठित करने का प्रयास किया परन्तु वे उनको एकजुट नहीं कर पाए। 1963-पश्चात् चरण में अनेक दल उभरे – भारतीय झारखण्ड पार्टी, अखिल भारतीय झारखण्ड पार्टी, हल झारखण्ड पार्टी, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा और झारखण्ड समन्वय समिति। झारखण्ड मुक्ति मोर्चा मुख्य दल के रूप में उभरा है। 1980 के आम चुनाव में इसने अपने द्वारा लड़ी गई अधिकांश सीटें जीतीं। पृथक् राज्य हेतु संघर्ष के पुनर्नव्यार्थ झा.मु.मु. झारखण्ड पार्टी के साथ पुनर्संमूहीकृत हो गया। वर्ष 2000 में बिहार के जनजातीय क्षेत्रों को शामिल कर झारखण्ड राज्य बना दिया गया।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) वे मुख्य माँगें क्या हैं जो शिरोमणि अकाली दल समय-समय पर उठाता रहा है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) आंध्रप्रदेश में तेलुगु देशम् पार्टी के उदय हेतु क्या कारण थे?

.....

.....

.....

.....

.....

3) अ.ग.प. की स्थापना के क्या कारण थे?

.....

.....

.....

.....

.....

20.5 सारांश

आपने इस इकाई में राष्ट्रीय राजनीतिक दलों के चार सेटों और छह क्षेत्रीय दलों के बारे में पढ़ा। ये राष्ट्रीय दल हैं : कांग्रेस (इं.), भारतीय जनता पार्टी, कम्यूनिस्ट पार्टियाँ और बहुजन समाज पार्टी। इस इकाई में उल्लिखित क्षेत्रीय दल हैं : द्र.मु.क. और अन्ना-द्र.मु.क., शिरोमणि अकाली दल, नैशनल कांफ्रेन्स, डी.टी.पी., अ.ग.प. और झारखण्ड पार्टी। समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र के सिद्धांतों के प्रति वचनबद्ध, कांग्रेस (इं.) के पास एक सामाजिक आधार है जिसमें ऊँची जातियाँ, अल्पसंख्यक और अनुसूचित जातियाँ शामिल हैं। हाल में इसके सामाजिक आधार में एक बदलाव आया है। भारतीय जन संघ की एक उत्तराधिकारी, वैचारिक रूप से भा.ज.पा. पाँच सिद्धांतों के प्रति वचनबद्ध है – राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रीय अखण्डता, लोकतंत्र, सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता, गाँधीवादी समाजवाद और मूल्याधारित राजनीति। कम्यूनिस्ट दल मार्क्सवाद और लेनिनवाद के क्रांतिकारी सिद्धांतों पर आधारित एक समाजवादी समाज की स्थापना में विश्वास करते हैं। यह तभी संभव होगा जब कामगार वर्ग राजनीतिक सत्ता हासिल कर ले। कम्यूनिस्ट दलों के सामाजिक आधारों में मुख्यत: शामिल हैं – कामगार वर्ग, मध्यवर्ग और ग़रीब किसान व कृषि-श्रमिक। ब.स.पा. दलितों, अन्य पिछड़ी जातियों और अल्पसंख्यकों को शामिल कर समाज के बहुसंख्यक वर्ग अर्थात् बहुजन समाज को समर्थ बनाने में विश्वास रखती है।

क्षेत्रीय, सांस्कृतिक तथा विकासात्मक कारक क्षेत्रीय दलों के कार्यक्रमों तथा लामबन्दी रणनीतियों में अधिक निर्णयकारी भूमिकाएँ निभाते हैं।

20.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कोठारी, रजनी, *पॉलिटिक्स एण्ड पीपल*, नई दिल्ली, अजन्ता पब्लिकेशन्स, 1989।

बनर्जी, के., *रीजिनल पॅलिटिकल पार्टीज़ इन् इण्डिया*, नई दिल्ली, बी.आर. पब्लिकेशन्स, 1984।

नारंग, ए.एस., *इण्डियन..गवर्नमैण्ट एण्ड पॉलिटिक्स*, नई दिल्ली, गीताञ्जलि पब्लिशिंग हाउस, 2000।

हार्टमैन, एच., *पॅलिटिकल पार्टीज़ इन् इण्डिया*, मेरठ, मीनाक्षी प्रकाशन, 1982।

20.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) कांग्रेस (इं.) के सामाजिक आधार में मुख्यत: आते हैं – ग्रामीण व शहरी ग़रीब, अनुसूचित जातियाँ, ऊँची जातियाँ तथा मुसलमान।

2) भा.ज.पा. अध्यक्ष, अटल बिहारी वाजपेयी ने बम्बई में हुए भा.ज.पा. के प्रथम अधिवेशन में भा.ज.पा. के उदय को भारत के एक गौरवमय अतीत वाले जय प्रकाश नारायण के स्वप्न से जोड़ा था।

3) भा.क.पा. के भीतर दो राजनीतिक धाराएँ थीं – एक, जो स्वाधीनता को एक वास्तविक रूप में देखती थी, पी.सी. जोशी द्वारा समर्थित थी और कांग्रेस को समर्थन देना चाहती थी; दूसरी,

जो मानती थी कि स्वाधीनता वास्तविक नहीं है, बी.टी. रणदीवे तथा गौतम अधिकारी द्वारा समर्थित थी और कांग्रेस का विरोध करना चाहती थी। सोवियत संघ और चीन की उनकी भिन्न-भिन्न समझ ने 1964 में भा.क.पा. में दरार की पृष्ठभूमि प्रदान की।

बोध प्रश्न 2

1) ये हैं : पंजाब को पूर्ण क्षेत्रीय स्वायत्तता, धनी किसानों के हितों की रक्षा और प्रोत्साहन, नदी जल बँटवारे में उदारता से वितरण तथा अमृतसर की एक पवित्र शहर के रूप में घोषणा। इनमें से कुछ माँगें – खासकर पंजाब को और अधिक स्वायत्तता, 1973 के आनन्दपुर साहब के घोषणा-पत्र में शामिल थीं। इस घोषणा में माँग की गई थी कि केन्द्रीय सरकार की शक्ति केवल रक्षा, विदेश मामले, संचार तथा मुद्रा पर होनी चाहिए; शेष शक्तियाँ राज्यों को दे दी जानी चाहिएँ।

2) केन्द्रीय नेतृत्व द्वारा अलोकप्रिय मुख्यमंत्री थोपे जाने, बृहद स्तर पर भ्रष्टाचार तथा एन.टी. रामाराव के चमत्कारी नेतृत्व के कारण कांग्रेस के साथ लोगों को सामान्य मनोमालिन्य।

3) पूर्वी-पाकिस्तान से मुस्लिम-बंगालियों, नेपालियों व बिहारियों का बृहद-स्तरीय प्रवसन, मारवाड़ियों का आर्थिक प्रभुत्व, प्रवासियों द्वारा धँसा दिए जाने का भय, केन्द्र सरकार और कांग्रेस से उनका मोहभंग।

इकाई 21 चुनाव

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 भारत में चुनाव प्रणाली

21.2.1 कौन मतदान कर सकता है?

21.2.2 कौन चुनाव लड़ सकता है?

21.3 भारत में चुनावों का इतिहास

21.4 कौन चुनाव संचालित करता है?

21.5 चुनाव प्रक्रिया

21.6 प्रत्याशियों की बढ़ती संख्या

21.7 मतदान कैसे होता है?

21.8 भारतीय चुनावों में मतदान प्रतिशत

21.9 कौन सरकार बनाता है?

21.10 चुनाव और सामाजिक परिवर्तन

21.11 सारांश

21.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

21.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि समझ सकें :

- भारत में चुनाव का अभिप्राय और लोकतंत्र के साथ उसका सम्बन्ध;
- भारत में चुनाव प्रक्रिया;
- भारत में चुनाव प्रक्रिया के प्रवाही और बाधक तत्त्व;
- चुनाव में जाति, वर्ग, धर्म आदि की भूमिका;
- चुनावों में विचारार्थ विषय; और
- बदलती सामाजिक रूपरेखाएँ और चुनाव।

21.1 प्रस्तावना

किसी लोकतंत्र में चुनाव लोगों की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने का सर्वाधिक सशक्त माध्यम हैं। ये देश के प्रत्येक व्यस्क नागरिक को सरकार बनाने की प्रक्रिया में भाग लेने में समर्थ बनाते हैं। भारत में वे जो 18 वर्ष की आयु के हो चुके हैं, वोट देने और अपने प्रतिनिधियों को चुनने के हकदार हैं। हमारा संविधान लागू होने से पूर्व यह संभव नहीं था। पहले हमारे देश में सरकार

बनाने में समाज के केवल सुविधा प्राप्त वर्गों की भूमिका होती थी। सभी सामाजिक समूहों – जातियों, पंथों, जनजातियों, धर्मों और लिंगों, से सम्बद्ध सभी वयस्क नागरिकों को मताधिकार के अनुदान ने उन्हें अपने प्रतिनिधि चुनने, और शासन प्रक्रिया में सीधे भाग लेने में समर्थ बनाया है। समाज के सभी वर्गों ने प्रत्याशियों के रूप अथवा मतदाताओं के रूप में प्रतिद्वंद्विता कर चुनावों में भाग लिया है। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों हेतु विभिन्न विधायी निकायों और महिलाओं (33%) हेतु 73वें व 74वें संविधान संशोधनों के अनुच्छेद का पालन तथा स्थानीय शासन की संस्थाओं में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए सीटों के आरक्षण ने भारत में लोकतंत्र को और गूढ़ बनाया है। लोकसभा और राज्यसभा की शक्ति के बारे में आप पहले ही इकाई 10 में पढ़ चुके हैं।

21.2 भारत में चुनाव प्रणाली

लोकसभा तथा विधानसभा के चुनाव बहुमत अथवा 'फ़र्स्ट-पास्ट-दि-पोस्ट' निर्वाचन प्रणाली का प्रयोग कर कराए जाते हैं। देश को विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में बाँटा जाता है, जिन्हें निर्वाचन क्षेत्र कहते हैं। विभिन्न राजनीतिक दल चुनाव लड़ते हैं, तथा चुनाव लड़ने के लिए स्वतंत्र प्रत्याशियों पर कोई प्रतिबंध नहीं है। चुनाव के दौरान विभिन्न राजनीतिक दल अपने प्रत्याशी खड़े करते हैं और अपने प्रतिनिधियों को चुनने के लिए, अपनी पसंद के एक प्रत्याशी के लिए प्रत्येक व्यक्ति एक वोट डाल सकता है। प्रत्याशी जो अधिकतम मत संख्या प्राप्त कर लेता है, चुनाव जीत जाता है और निर्वाचित हो जाता है। इसलिए चुनाव ही वह साधन है जिसके द्वारा लोग अपने प्रतिनिधि चुनते हैं।

21.2.1 कौन मतदान कर सकता है?

जबकि मतदाता के लिए कोई निर्धारित अधिकतम आयु-सीमा नहीं है, परन्तु भारतीय संविधान के मूल प्रावधानों के अनुसार, 21 वर्ष आयु से ऊपर के सभी भारतीय नागरिक चुनावों के समय वोट देने के हकदार हैं। वर्ष 1988 में, तत्कालीन प्रधानमंत्री, राजीव गाँधी द्वारा कराये गए 61वें संविधान संशोधन द्वारा नागरिकों की निम्नतम मतदान आयु घटाकर 18 वर्ष कर दी गई जो 28 मार्च 1989 से प्रभावी हो गई। इसके अतिरिक्त किसी भी निर्वाचन-क्षेत्र में एक मतदाता के रूप में पंजीकृत किए जाने के लिए कोई व्यक्ति, अनावास के आधार पर, अथवा उसके अस्वस्थ होने पर, अथवा उसे अपराध या भ्रष्टाचार या अवैध व्यवसाय के आधार पर कानून के तहत अयोग्य घोषित न किया गया हो।

21.2.2 चुनाव कौन लड़ सकता है?

इकाई 10 में आप पहले ही पढ़ चुके हैं कि लोकसभा, विधानसभा, राज्यसभा और विधान परिषद् हेतु चुनाव लड़ने के लिए कौन सुयोग्य है। सभी प्रतिस्पर्धी प्रत्याशियों को यदि लोकसभा चुनाव लड़ना हो तो 10,000 रुपये और यदि विधानसभा चुनाव लड़ना हो तो 5,000 रुपये ज़मा कराने होते हैं। इसको प्रत्याशियों की प्रतिभूति राशि माना जाता है। अनुसूचित जाति अथवा अनुसूचित जनजाति समुदाय से सम्बद्ध प्रत्याशियों के लिए जमानत राशि यदि लोकसभा चुनाव लड़ना हो तो 5,000 रुपये और यदि विधानसभा चुनाव लड़ना हो तो 2,500 रुपये है। यह प्रतिभूति राशि उन सभी प्रत्याशियों को लौटा दी जाती है जो उस निर्वाचन क्षेत्र में डाले गए कुछ वैध मतों की संख्या के एक-बटा-छह से अधिक मत प्राप्त करते हैं। अन्य सभी प्रत्याशी अपनी प्रतिभूति राशि हार जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, नामांकन उस निर्वाचन क्षेत्र से जिससे प्रत्याशी, यदि – वह किसी पंजीकृत

राजनीतिक दल द्वारा प्रायोजित किया जा रहा हो; चुनाव लड़ना चाहता है, कम से कम एक पंजीकृत मतदाता द्वारा समर्थित हो, और यदि वह प्रत्याशी स्वतंत्र प्रत्याशी हो तो कम से कम दस पंजीकृत मतदाताओं द्वारा समर्थित हो।

21.3 भारतीय चुनावों का इतिहास

भारत में, हमारी सरकार संघीय स्वरूप वाली है, जहाँ हमारी सरकार के दो सेट होते हैं – राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीय सरकार और राज्य स्तर पर राज्य सरकार। जैसा कि आप इकाई 18 में पढ़ चुके हैं, 73वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 द्वारा स्थानीय स्वशासन को भी सरकार की तीसरी पंक्ति का संवैधानिक दरज़ा दे दिया गया है। इसी के साथ, ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राम पंचायत और शहरी क्षेत्रों में नगर-पालिका के रूप में भी हम सरकार को तीसरी पंक्ति रखते हैं। सरकार के ये तीनों ही स्तर लोकप्रिय रूप से निर्वाचित सरकार होते हैं, और लोग इन तीनों ही निकायों – संसद, विधानसभा और ग्राम पंचायत, के लिए अपने प्रतिनिधि चुनने हेतु मतदान करते हैं। यहाँ हम अपने देश में कराए जाने वाले संसदीय और विधानसभा चुनावों पर ही ध्यान केन्द्रित करेंगे।

भारतीय संविधान के प्रावधानों के अनुसार, नैत्य निर्वाचन प्रत्येक पाँच वर्ष बाद होना चाहिए, परन्तु सदन के असामयिक भंग होने की सूरत में (संसद के मामले में लोकसभा अथवा राज्य विधानसभा के मामले में विधानसभा) कारण चाहे जो हो, आगामी चुनाव यथाशीघ्र होना चाहिए। हमारे देश में पहले आम चुनाव (संसदीय चुनाव) 1952 में कराये गए। तब से 1999 तक 13 आम चुनाव (लोकसभा चुनाव) हो चुके हैं। यद्यपि अधिकांश लोकसभा चुनाव सदन के पाँच वर्ष की अवधि समाप्त करने पर कराये गए हैं, तथापि कुछ निर्धारित समय से काफी पहले हुए हैं। जब चुनाव नियत समय से क़ाफ़ी पहले कराए जाते हैं, इसको 'मध्यावधि चुनाव' कहा जाता है। 1980, 1991, 1998 व 1999 के लोकसभा चुनाव नियत समय से काफी पहले कराए गए मध्यावधि चुनाव थे। यद्यपि 1971 का लोकसभा चुनाव 1967 के लोकसभा चुनाव से चार साल बाद हुआ था, यह एक मध्यावधि चुनाव नहीं था। भारतीय चुनावों के इतिहास में, केवल 1977 के लोकसभा चुनाव देश में राष्ट्रीय आपात्काल की उद्घोषणा के कारण लगभग दो वर्ष के लिए आस्थगित किए गए थे।

अधिकतर राज्य स्वाधीनता के समय बनाए गए, परन्तु ऐसे भी राज्य हैं जो उसके बाद बने। जैसा कि आप इकाई 17 में पढ़ चुके हैं, राज्यों की सूची में नवीनतम संयोजन उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश तथा बिहार राज्यों से बनाए गए उत्तरांचल, छत्तीसगढ़ तथा झारखण्ड का है। वर्तमान में, भारत में 28 राज्य और सात केन्द्र-शासित प्रदेश हैं।

कुछ राज्यों में द्वि-सदनी व्यवस्था है – निम्न सदन को विधानसभा और उच्च सदन को विधान परिषद् कहा जाता है। द्वि-सदनी विधानमण्डल वाले राज्य हैं – बिहार, जम्मू-कश्मीर, कर्नाटक, महाराष्ट्र और उत्तरप्रदेश। अन्य सभी राज्यों में, राज्य विधानसभा में एक एकल सदन, विधानसभा होती है। संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार, किसी राज्य विधानसभा में निम्न सदन में सीटों की कुल संख्या 500 से अधिक नहीं होनी चाहिए, और साथ ही सदन में सदस्य-संख्या 60 से कम नहीं होनी चाहिए। सिक्किम, मिज़ोरम और गोवा राज्य इसके अपवाद हैं क्योंकि इन सभी तीन राज्यों में विधानसभा में सीटों की संख्या 60 से कम है।

राज्य विधानसभा में उच्च सदन (विधान परिषद्) की कुल सदस्य-संख्या के अनुसार, यह निम्न सदन (विधानसभा) की कुल सदस्य-संख्या के एक-तिहाई से अधिक नहीं होनी चाहिए, पर साथ ही यह 40 सदस्यों से कम नहीं होनी चाहिए। (अनुच्छेद 171)। जबकि विधानसभा के सदस्य जनता

द्वारा सीधे चुने जाते हैं, विधान परिषद् के सदस्य एक निर्वाचन-मण्डल द्वारा परोक्ष रूप से चुने जाते हैं। विधानसभा की कुल सदस्य-संख्या राज्य-राज्य के अनुसार भिन्न-भिन्न है। विधानसभा में सर्वाधिक, 403 विधानसभा सीट-संख्या उत्तरप्रदेश में है और सबसे कम सिक्किम राज्य में, जिसके पास विधानसभा में कुल 32 सीटें हैं। यदि हम राज्य विधानसभा चुनावों की जाँच करें, वर्ष 2002 तक देश में 263 राज्य विधानसभा चुनाव कराए जा चुके हैं।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) 61वाँ संविधान संशोधन क्या कल्पना करता है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) 'मध्यावधि चुनाव' से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

21.4 कौन चुनाव संचालित करता है?

भारतीय निर्वाचन आयोग भारत में चुनाव संचालन के लिए सर्वोच्च संवैधानिक प्राधिकरण है। संसद के लिए तथा प्रत्येक राज्य की विधायिका के लिए सभी चुनाव और राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति के कार्यालय के लिए भी चुनाव कराने के लिए निर्वाचन सूचियों की तैयारी के अधीक्षण, निर्देशन व नियंत्रण की शक्तियाँ इस संवैधानिक प्राधिकरण में ही निहित हैं।

निर्वाचन आयोग में होते हैं – मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य चुनाव आयुक्तों की वह संख्या जो राष्ट्रपति समय-समय पर तय कर उनकी नियुक्ति कर सकता है। चुनाव कानूनों के अनुसार, यदि निर्वाचन आयोग बहु-सदस्यीय निकाय बन जाता है, मुख्य चुनाव आयुक्त को चुनाव आयोग के अध्यक्ष की भाँति व्यवहार करना पड़ता है।

आरम्भ से ही, निर्वाचन आयोग में केवल मुख्य चुनाव आयुक्त ही रहा है। परन्तु वर्ष 1989 में, नौवीं लोकसभा से कुछ सप्ताह पूर्व ही, चुनाव आयोग को तत्कालीन कांग्रेस सरकार द्वारा एक बहु-सदस्यीय निकाय बना दिया गया। 1990 में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने चुनाव आयोग को पुन: एक एक-सदस्यीय निकाय बनाने के लिए नियमों को संशोधित किया। लेकिन वर्ष 1993 में, जब कांग्रेस फिर सत्ता में लौटी, उसने चुनाव आयोग को बहु-सदस्यीय निकाय बनाने के लिए एक अध्यादेश ज़ारी कर दिया। दो चुनाव आयुक्त नियुक्त किए गए और तब से, निर्वाचन आयोग एक तीन-सदस्यीय निकाय बना हुआ है। आज तक भारत में 12 चुनाव आयुक्त हो चुके हैं। श्री सुकुमार सेन भारत के प्रथम चुनाव आयुक्त थे। वर्तमान में, श्री जे.एम. लिंगडोह मुख्य चुनाव आयुक्त हैं, जिन्होंने जून 2001 में डॉ॰ एम.एस. गिल का स्थान लिया।

इसके अलावा, भारत के निर्वाचन आयोग में, प्रत्येक राज्य में एक मुख्य निर्वाचन अधिकारी होता है, जो कि राज्य में चुनाव संचालित कराने का समस्त प्रभारी होता है।

21.5 चुनाव प्रक्रिया

संपूर्ण निर्वाचन प्रक्रिया समाप्त होने में कुछ महीनों का समय लेती है। यद्यपि चुनाव कराने के लिए समय-सारिणी निर्वाचन आयोग द्वारा काफी पहले ही घोषित कर दी जाती है, वास्तविक प्रक्रिया भारतीय निर्वाचन आयोग द्वारा किसी निर्वाचन क्षेत्र को अपना प्रतिनिधि चुनने के लिए कहते हुए घोषित की जाती है। इसी को **विज्ञप्ति** या अधिसूचना कहा जाता है।

दूसरा चरण चुनाव लड़ने के इच्छुकों द्वारा **नामांकन भरे जाने** का है। पहले, सभी प्रत्याशियों को अपने नामांकन-पत्र भरने के लिए दस दिन का समय दिया जाता था। लेकिन 40वें संशोधन अधिनियम, 1961 के साथ ही, नामांकन भरे जाने के लिए दिनों की संख्या घटकर सात हो गई है। अब, विज्ञप्ति जारी किए जाने का सातवाँ दिन नामांकन-पत्र भरने का अन्तिम दिन होता है। सातवाँ दिवस अवकाश होने की स्थिति में उसके तुरंत बाद का दिवस ही नामांकन-पत्र भरने का अंतिम दिवस माना जाता है।

तीसरा चरण **नामांकनों की जाँच-पड़तालों** का है। पहले, नामांकनों की जाँच के लिए नामांकन के बाद दूसरा दिन निर्धारित था, परन्तु 47वें संशोधन अधिनियम, 1966 के साथ ही, नामांकन के तुरंत बाद का दिन नामांकनों की जाँच के लिए तय हो गया है।

अगला चरण है **प्रत्याशियों का नाम वापस लेना**, जो पहले नामांकनों के जाँच के बाद तीसरे दिन के लिए तय था, परन्तु बाद में 1966 में संशोधित कर दिया गया। वर्तमान में, जाँच के बाद का दूसरा दिन ही प्रत्याशियों के नाम वापस लेने की अन्तिम तिथि होता है। उस दिन अवकाश होने की स्थिति में नियत दिवस के तुरंत बाद का दिन ही नाम वापस देने का अंतिम दिन होता है।

मतदान होने से पूर्व चुनाव का अगला चरण चुनाव-प्रचार अभियान का है। यही वह समय है जब राजनीतिक दल अपने प्रत्याशी और उन तर्कों को सामने रखते हैं जिनके माध्यम से वे अपने प्रत्याशियों व दलों के लिए मतदान हेतु लोगों को राजी करते हैं। पहले प्रचार-अभियान अवधि तीन सप्ताह की होती थी, परन्तु 1996 से, प्रचार-अभियान अवधि घटाकर मात्र दो सप्ताह कर दी गई है। अब औपचारिक प्रचार-अभियान निर्वाचन आयोग द्वारा अन्तिम सूची जारी किए जाने की तिथि से दो सप्ताह तक चलता है और मतदान होने से 48 घण्टे पूर्व औपचारिक रूप से समाप्त हो जाता है। प्रचार-अभियान अवधि में, राजनीतिक दलों और प्रतियोगी प्रत्याशियों से आशा की जाती है कि

वे राजनीतिक दलों के बीच एक सहमति के आधार पर भारतीय निर्वाचन आयोग द्वारा विकसित की गई एक आदर्श आचार-संहिता का पालन करें। यह आदर्श संहिता विस्तृत दिशा-निर्देश देता है कि प्रचार-अभियान के दौरान राजनीतिक दलों और प्रतियोगी प्रत्याशियों को स्वयं किस प्रकार आचरण करना चाहिए। यह स्वस्थ परम्परा पर चुनाव-प्रचार अभियान को कायम रखने, राजनीतिक दलों व उनके समर्थकों के बीच झगड़ों व विवादों से बचने और अभियान के दौरान तथा परिणाम घोषित किए जाने तक शान्ति और व्यवस्था सुनिश्चित करने से अभिप्रेत है। यह अभियान निर्वाचन-क्षेत्र में नारे लगाने, पर्चे व इश्तेहार बाँटने, रैलियाँ व सभाएँ करने के रूप में चलाया जाता है। इस अवधि के दौरान, प्रत्याशी अपने पक्ष में मत दिए जाने हेतु अधिक से अधिक मतदाताओं को प्रभावित करने के लिए अपने निर्वाचन-क्षेत्र का दौरा करने का प्रयास करते हैं।

हाल के दिनों में, निर्वाचन आयोग ने सभी मान्यताप्राप्त राष्ट्रीय व प्रान्तीय दलों को अपने प्रचार-अभियान हेतु राज्य-स्वामित्व वाले इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों, आकाशवाणी (ए.आई.आर.) तथा दूरदर्शन पर मुफ़्त प्रसारण समय की अनुमति दे दी है। कुल मुफ़्त समय निर्वाचन आयोग द्वारा तय किया जाता है, जो कि सभी राजनीतिक दलों को इस बात को ध्यान में रखते हुए आबंटित किया जाता है कि राज्य में पिछले चुनाव के दौरान उनका प्रदर्शन कैसा था।

यद्यपि निर्वाचन आयोग सभी मान्यताप्राप्त राष्ट्रीय व प्रांतीय दलों को उनके प्रचार-अभियान के लिए एक सीमित समय हेतु मुफ़्त सुविधा प्रदान करता है, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि राजनीतिक दल अपने चुनाव-प्रचार अभियान पर कुछ भी खर्च नहीं करते। प्रतियोगी राजनीतिक दल व प्रत्याशी अपने चुनाव-प्रचार अभियान पर विशाल धनराशि व्यय करते हैं, परन्तु इसकी वैधानिक सीमा निर्धारित है कि अपने चुनाव-प्रचार अभियान पर एक प्रत्याशी कितना खर्च कर सकता है। अधिकांश लोकसभा निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए व्यय-अभियान के लिए वैध सीमा पंद्रह लाख रुपये तय की गई है यद्यपि कुछ राज्यों में यह सीमा छह लाख रुपये की है। विधानसभा चुनाव हेतु व्यय-अभियान के लिए वैध सीमा छह लाख रुपये तय की गई और कुछ राज्यों में यह तीन लाख रुपये निर्धारित की गई है।

निर्वाचन का अन्तिम चरण है **मतदान**। मतदान के संबंध में, पहले एक ही दिन में मतदान व्यवहार में था, परन्तु नवीन प्रथा चरणबद्ध मतदान हेतु चल रही है जिसमें मतदान वाले दो दिनों के बीच कुछेक दिनों का फ़ासला देकर एक दिन से अधिक दिन मतदान होता है। इससे उन सुरक्षा बलों को एक-स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में सुविधा रहती है, जो मतदान के दौरान कानून और व्यवस्था बनाने रखने में लगाये जाते हैं।

21.6 प्रत्याशियों की बढ़ती संख्या

यह ग़ौरतलब है कि गत पचास वर्षों के दौरान भारत में लोकसभा चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है। प्रथम लोकसभा चुनाव के दौरान मात्र 1874 प्रत्याशियों ने चुनाव लड़ा, जो संख्या 1996 के लोकसभा चुनावों में बढ़कर 13,952 हो गई। लेकिन इस दौरान जमानत जमा आदि बढ़ने जैसे चुनाव कानून में कुछ परिवर्तनों के कारण, गत दो लोकसभा चुनावों में प्रत्याशियों की संख्या में एक नियमित ह्रास हुआ है। 1998 में प्रतियोगी प्रत्याशियों की कुल संख्या 4753 थी, जो 1999 के लोकसभा चुनावों में 4648 तक गिर गई।

लोकसभा चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशियों की औसत संख्या मात्र 3.8 प्रत्याशी प्रति निर्वाचन-क्षेत्र थी, जो वर्ष 1977 तक अधिक नहीं बढ़ी, परन्तु 25.7 प्रत्याशी प्रति निर्वाचन-क्षेत्र तक चली गई। 1999 के लोकसभा चुनावों में घटकर यह 8.5 प्रत्याशी प्रति लोकसभा निर्वाचन-क्षेत्र ही रह गई।

आलेख 1 : लोकसभा चुनाव, 1952-1994 में प्रति निर्वाचन-क्षेत्र प्रत्याशियों की औसत संख्या

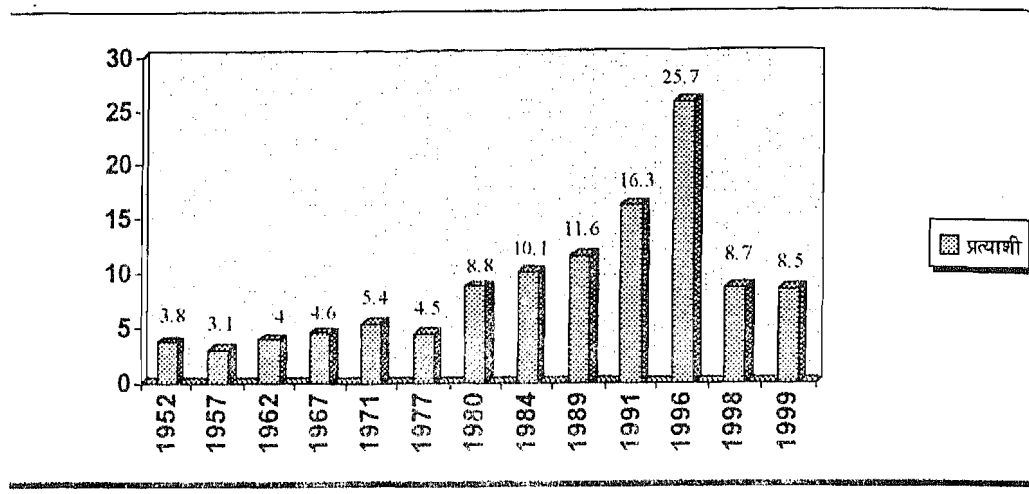

स्रोत : सी.एस.डी.एस. (सेंटर फॉर दि स्टडीज ऑफ डवलिंग सोसाइटी), डाटा इकाई।

21.7 मतदान कैसे होता है?

हमारे भारत में गुप्त मत-पत्र वाली व्यवस्था लागू है, जिसका अर्थ है सभी मतदाताओं का वोट गुप्त रखा जाता है। मतदान का पारम्परिक प्रतिमान मत-पत्रों व मत-पेटियों का प्रयोग रहा है परन्तु आधुनिक युग में इसका स्थान इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीनों (ई.वी.एम.) के प्रयोग ने ले लिया है।

यह निर्वाचन आयोग का कर्तव्य है कि वे सभी आवश्यक प्रबंध करे जिससे मतदाता अपने वोट डाल सकें। निर्वाचन आयोग यह सुनिश्चित करने का प्रयास करता है कि कोई मतदान-केन्द्र किसी मतदाता से दो किलोमीटर से अधिक दूरी पर न हो और एक मतदान-केन्द्र पर 1200 से अधिक पंजीकृत मतदाता न हों। मतदान के दिन सभी मतदान-केन्द्रों से कम से कम आठ घण्टे खुला रहने की अपेक्षा की जाती है। जब मतदाता वोट डालने जाते हैं, मतदाता-सूची में उसके नाम की प्रविष्टि की जाँच की जाती है और तब एक मत-पत्र और एक रबड़ को मोहर उसे दे दी जाती है। मतदाताओं को उस प्रत्याशी के चुनाव-चिह्न पर मोहर लगानी होती है। जिसे वह वोट देना चाहता है, फिर मत-पत्र को मोड़ना और तब मत-पत्र को मत-पेटी में डालना होता है। एक बार जब यह प्रक्रिया पूरी हो जाती है, मतदाता का वोट डल जाता है। आधुनिक युग में, ई.एम.वी. के पदार्पण के साथ, मतदाता को उस प्रत्याशी के चुनाव-चिह्न का बटन दबाना होता है जिसे वह वोट देना चाहता है और उसका वोट दर्ज़ हो जाता है।

21.8 भारतीय चुनावों में मतदान प्रतिशत

यद्यपि सभी अहर्त मतदाताओं, किसी विशेष निर्दिष्ट निर्वाचन-क्षेत्र में जिनके नाम मतदाता-सूचियों में प्रकाशित हैं, से वोट डाले जाने के समय मतदान की अपेक्षा की जाती है, जो कि व्यवहार्यत: होता नहीं है। फलत: पंजीकृत मतदाताओं की बड़ी संख्या ऐसे मतदाताओं की होती है जो भिन्न-भिन्न कारणों से वोट नहीं देते हैं। उनकी प्रतिशतता जो वोट डालते हैं अर्थात् मतदान प्रतिशतता, लोकप्रिय रूप से "मतदाताओं की उपस्थिति" कहलाती है। यदि हम अपने देश में गत तेरह लोकसभा चुनावों के आँकड़ों को देखें तो पाएँगे कि शुरुआती दिनों के दौरान कराए गए चुनावों के मुकाबले

अस्सी व नब्बे के दशकों में मतदान प्रतिशत बहुत बढ़ा है। निम्नतम मतदान प्रतिशत, मात्र 45.5 प्रतिशत, वर्ष 1952 में कराए गए लोकसभा चुनावों के दौरान था, तथा अधिकतम मतदान प्रतिशत, 64.1 प्रतिशत, 1984 के उस लोकसभा चुनाव में रहा जो तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या के बाद कराया गया। वर्ष 1998 व 1999 में कराये गए गत दो लोकसभा चुनावों के दौरान मतदान प्रतिशत क्रमश: 62 व 60 प्रतिशत के रूप में ख़ासा अच्छा रहा है। राज्य विधानसभा चुनावों में मतदान प्रतिशत में कोई एकरूप रुझान नहीं है। जबकि कुछ राज्य 90 प्रतिशत तक मतदान प्रतिशत दर्ज़ करते हैं, हमारे कुछ विधानसभा चुनावों में मतदान प्रतिशत मात्र 45 प्रतिशत के आसपास ही रहती है।

सामान्यतया छोटे राज्यों, और विशेषतौर पर उत्तर-पूर्वी पहाड़ी राज्यों ने अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक मतदान प्रतिशत दर्शाया है।

आलेख 2 : लोकसभा चुनाव, 1952-1999 में

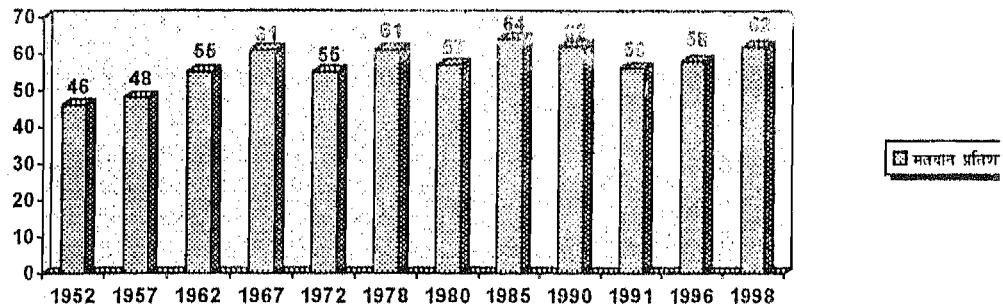

स्रोत : सी.एस.डी.एस. (सेंटर फार दि स्टडीज़ ऑफ सा. नई दिल्ली), आंकड़ा इकाई।

मतदान समाप्त हो जाने के बाद, प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र के हिसाब से सभी मतों की गिनती की जाती है। पहले, जब सिर्फ़ मत-पत्र ही प्रयोग होता था, सभी मतों की गिनती हाथ से ही होती थी और एक लोकसभा निर्वाचन-क्षेत्र हेतु लगभग पाँच लाख मतों की गिनती में दो-चार दिन लग जाते थे, परन्तु इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन के प्रवेश के साथ, गणना कार्य अधिक सरल और द्रुत हो गया है।

मतों की गणना में, वह जो अधिकतम संख्या में मत प्राप्त करता है, जीत जाता है यथा बहुमत प्रणाली, जो हमारे देश ने अंगीकार की है। लोकसभा अथवा विधानसभा के लिए चुनाव जीतने के लिए बहुमत वांछित नहीं है। ऐसे भी कुछ प्रत्याशी हैं जो चुनाव मतदान 50 प्रतिशत से भी अधिक वैध मतों से जीतते हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) उन चरणों पर चर्चा करें जिनसे चुनाव प्रक्रिया गुज़रती है।

.....

.....

.....

.....

2) मतदान के पारम्परिक प्रतिमान – मत-पत्र व मत-पेटी का प्रयोग, का क्या विकल्प है?

.....

.....

.....

.....

.....

21.9 कौन सरकार बनाता है?

राजनीतिक दल जिसके पास एक साधारण बहुमत होता है, जिसका अर्थ है कि उस दल को सरकार बनाने के लिए केन्द्र के मामले में लोकसभा अथवा राज्य के मामले में विधानसभा में कुल सीटों की संख्या के आधे से कम से कम एक अधिक जीता होना चाहिए, सरकार बनाता है। हमारे देश में कराए गए 13 लोकसभा चुनाव-परिणाम यह इंगित करते हैं कि यह कांग्रेस पार्टी ही है जिसने अनेक अवसरों पर भारतीय चुनाव में सीटों पर बहुमत हासिल किया, परन्तु यह दल चुनाव में वैध मतों के 50 प्रतिशत से अधिक कभी प्राप्त नहीं कर सका। कांग्रेस पार्टी के लिए सर्वाधिक शानदार जीत 1984 के लोकसभा चुनाव में रही जब पार्टी ने 415 सीटों की सर्वोच्च गणना प्राप्त की, परन्तु इसके बावजूद वह केवल 48 प्रतिशत वोट ही पा सकी। वास्तव में, इस देश के चुनावी इतिहास में किसी राजनीतिक दल का यह अब तक का सर्वोत्तम प्रदर्शन था।

किन्तु भारतीय राजनीति के रुझानों में एक बड़ा बदलाव आया है, विशेषकर नब्बे के दशक में। पिछले दशक के दौरान भारत में चार लोकसभा चुनाव हुए हैं, लेकिन कोई राजनीतिक दल बहुमत नहीं जुटा सका है। इन चुनावों के दौरान भी सर्वोत्तम प्रदर्शन कांग्रेस पार्टी का ही था – 1991 के लोकसभा चुनावों के दौरान, जब इसने 244 लोकसभा सीटें जीतीं और जनमत का 36.6 प्रतिशत मतदान हुआ। जब सदन में सीटों का बहुमत किसी राजनीतिक दल को नहीं मिलता है, उसे "त्रिशंकु सदन" माना जाता है। ऐसी परिस्थितियों में दो या दो से अधिक दल मिलकर सरकार बनाते हैं अथवा अधिकतम सीट-संख्या वाला राजनीतिक दल सरकार बनाता है और अन्य लघुतर राजनीतिक दलों द्वारा बाहर से समर्थन दिया जाता है। जब दो या दो से अधिक दल मिलकर सरकार बनाते हैं, उसे *गठबंधन सरकार* कहते हैं। आप गठबंधन सरकार के बारे में इकाई 23 में पढ़ेंगे। लेकिन यदि एक दल सरकार बनाता है, बेशक उसके पास बहुमत न हो तथा अन्य राजनीतिक दलों से समर्थन उसको बाहर से प्राप्त हो, उसको *अल्पमत सरकार* के रूप में देखा जाता है।

21.10 चुनाव और सामाजिक परिवर्तन

आप इकाई 31 में पढ़ेंगे कि चुनावों – आवधिक चुनावों, मतदान प्रतिशत और जनता की बृहद-स्तरीय भागीदारी ने भारत में लोकतंत्र को मज़बूत किया है। राष्ट्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय – विधायी निकायों के सभी स्तरों पर अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों के आरक्षण और 73 वें तथा 74 वें संविधान संशोधन अनुच्छेदों ने महिलाओं तथा अन्य पिछड़े वर्गों को भी ग्राम पंचायतों व नगरपालिकाओं में अपने लिए आरक्षित सीटों पर निर्वाचित होने में सक्षम बनाया है। ये वर्ग न सिर्फ़ विभिन्न विधायी निकायों हेतु चुने गए हैं अपितु मुख्यमंत्री, मंत्री तथा देश

के राष्ट्रपति भी बने हैं। राजनीति-शास्त्री आशुतोष वार्ष्णेय तर्क प्रस्तुत करते हैं कि चुनावी प्रक्रियाओं में दलित व अन्य पिछड़े वर्ग जैसे समूहों का पदार्पण होने से भारत और अधिक लोकतांत्रिक हो गया है। फिर भी, महिलाओं का प्रवेश इतना आसान नहीं रहा है। वस्तुतः, अधिकतर मामलों में, ख़ासकर ग्राम पंचायतों में, निर्वाचित महिला-सदस्य अपने परिवारों के पुरुष-सदस्यों की परोक्षी ही हैं। परन्तु चुनावों का लोकतांत्रिक सत्त्व सामाजिक व आर्थिक असमानताओं, अपराध तथा भ्रष्टाचार के कारण प्रभावित होता है। वे जिनके अख़्तियार में संसाधन नहीं है, अपराधियों आदि से कोई संबंध नहीं हैं, चुनाव लड़ना अथवा कभी-कभी मतदान करना भी कठिन समझते हैं। सामान्यतः राजनीतिक दलों द्वारा प्रत्याशियों को टिकट इस आधार पर दिया जाता है कि क्या वे गिनती में अधिक से अधिक जातियों व समुदायों का समर्थन जुटा सकते हैं और पर्याप्त संसाधनों पर नियंत्रण कर सकते हैं। यहाँ तक कि निर्वाचक भी जाति व समुदाय के आधार पर मतदान करते हैं। बड़ी संख्या में निर्वाचित प्रतिनिधि आपराधिक पृष्ठभूमि वाले हैं अथवा उनके विरुद्ध आपराधिक मामले दर्ज़ हैं। संसदीय, राज्य विधानसभाओं तथा परिषदों, और पंचायतों तथा नगरपालिकाओं – सभी स्तरों पर चुनावों में राजनीतिज्ञों तथा अपराधियों के बीच संबंध रहता है। अब ऐसे अन्तर्सम्बन्ध षड्यन्त्रकारी हो गए हैं, खासकर नब्बे के दशक से। यह लोकतांत्रिक मूल्यों की गिरती साख को प्रतिबिम्बित करता है। इकाई 32 में आप यह भी पढ़ेंगे कि वी.एन. वोहरा उप-समिति ने भी इंगित किया है कि अपराधियों, नौकरशाहों और राजनीतिज्ञों के बीच अन्तर्सम्बन्ध विद्यमान है। अपराध, जाति, साम्प्रदायिकता और भ्रष्टाचार की अकाट्य भूमिका के कारण ही लोगों की वास्तविक समस्याएँ – कानून व व्यवस्था, विकास, स्वास्थ्य, शिक्षा, मौलिक, जन-आवश्यकताएँ दूसरे दर्ज़े में डाल दी जाती हैं। यद्यपि ये मामले प्रत्येक चुनाव में राजनीतिज्ञों द्वारा उठाये भी जाते हैं, यह मुख्यतः शब्दाडम्बर के रूप में ही किया जाता है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारत में चुनावों का समाज के कमज़ोर वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ा है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में निर्वाचक नीतियों की मुख्य अड़चनें क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

21.11 सारांश

चुनाव लोकतांत्रिक राज्य का एक अभिन्न भाग हैं। भारत में प्रत्येक व्यस्क नागरिक, जो 18 वर्ष की आयु पार कर चुका है चुनावों में भाग लेने का अधिकार रखता है। चुनाव भारतीय निर्वाचन आयोग द्वारा संचालित किए जाते हैं। 1952 से स्वतंत्र भारत में अनेक चुनाव कराए जा चुके हैं – संसद, राज्य विधानसभाओं तथा परिषदों, और स्थानीय निकायों के प्रतिनिधियों को चुनने के लिए। इन्होंने दलितों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, अन्य पिछड़े वर्गों तथा महिलाओं समेत समाज के सभी वर्गों को अपने प्रतिनिधि चुनने और प्रतिनिधियों के रूप में चुने जाने हेतु सक्षम बनाया है। यह चुनावों तथा सामाजिक परिवर्तन के बीच सकारात्मक सम्बन्ध का एक संकेत है। लेकिन भारत में चुनावों का लोकतांत्रिक सत्त्व अपराध, धन तथा अन्य अनुचित साधनों की बढ़ती भूमिका द्वारा बिगड़ गया है। कुल मिलाकर, भारत में चुनावों ने सामाजिक बदलाव लाने में अत्यधिक योगदान दिया है।

21.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मित्रा, एस.के. तथा चिरियनकन्दाथ, जेम्स (सं०), *इलैक्टॉरल पॉलिटिक्स इन् इण्डिया : ए चेन्जिंग लैण्डस्केप*, सेगमॅण्ट बुक्स, नई दिल्ली, 1992।

मित्रा, एस.के. तथा सिंह, वी.बी. (सं०), *डिमोक्रेसी एण्ड सोशल चेन्ज इन् इण्डिया : ए कॉस सेक्शनल अनॉलिसिस ऑव दि इलेक्टोरेट*, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1999।

भामभ्री, सी.पी., *इलेक्शन्स 1991 : ऐन् अनॉलिसिल*, बी.आर. पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, दिल्ली, 1991।

21.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) 64वें संविधान संशोधन ने नागरिकों की मतदान आयु घटाकर 18 वर्ष कर दी।

2) जब चुनाव निर्धारित समय से काफ़ी पहले कराया जाता है तो यह 'मध्यावधि चुनाव' कहलाता है।

बोध प्रश्न 2

1) चुनाव प्रक्रिया क्रमश: इन चरणों से गुज़रती है : विज्ञप्ति या अधिसूचना ज़ारी करना, नामांकन का भरा जाना, नामांकनों की जाँच, प्रत्याशियों का नाम वापस लेना, चुनाव-अभियान और मतदान।

2) यह है – इलैक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन (ई.वी.एम.)।

बोध प्रश्न 3

1) भारत में चुनावों ने अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन-जातियों, अन्य पिछड़े वर्गों व महिलाओं जैसे कमज़ोर वर्गों को अपने प्रतिनिधि चुनने, और खुद को भी प्रतिनिधि के रूप में चुने जाने द्वारा लोकतांत्रिक निर्णयन् में भाग लेने में सक्षम बनाया है। इसने भारत में लोकतंत्र को मज़बूत किया है।

2) भारत में चुनावी राजनीति में मुख्य अड़चनें हैं – अपराध, काला-धन, भ्रष्टाचार, और सामाजिक व आर्थिक असमानताएँ।

इकाई 22 जाति, वर्ग तथा राजनीति

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 जाति क्या है?
22.3 जाति के मुख्य अभिलक्षण
22.4 सक्रिय सम्बन्ध
22.5 क्षेत्रीय भिन्नताएँ
22.6 जाति तथा वर्ग
22.7 जाति में स्तरीकरण
22.8 दवाब समूह : जाति संघ
22.9 राजनीतिक दल
22.10 मतदान व्यवहार में जाति
22.11 सारांश
22.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
22.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है – आपको (अ) भारतीय राजनीति में जाति की प्रकृति और भूमिका तथा (ब) इस प्रक्रिया में किस प्रकार जाति व राजनीति, दोनों में परिवर्तन आता है, से परिचित कराना। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ सकेंगे कि –

- किस सीमा तक और किन तरीकों से जाति राजनीति को प्रभावित करती है;
- जाति तथा राजनीति के बीच अन्तर्सम्बन्ध; और
- राजनीति जाति को किस प्रकार प्रभावित करती है।

22.1 प्रस्तावना

सिद्धान्ततः कहा जाये तो जाति तथा लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रणाली विपरीत मूल्य प्रणाली को इंगित करते हैं। जाति अधिक्रमिक होती है। जाति-मूलक सामाजिक प्रणाली में किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा उसके जन्म से निर्धारित होती है। उसको विभिन्न पवित्र अवतरणों द्वारा धार्मिक स्वीकृति प्राप्त है जिसको पादरियों/ पुरोहितों और कर्मकाण्डों द्वारा मज़बूती प्रदान की जाती है। पारम्परिक रूप से, उच्च जातियाँ न सिर्फ़ धार्मिक क्षेत्र में बल्कि आर्थिक, शैक्षिक व राजनीतिक क्षेत्रों में भी कुछ विशेषाधिकारों का उपभोग करती हैं। प्रथागत कानून जन्म व लिंग द्वारा व्यक्तियों में भेद करते हैं। यानी, कुछ नियम महिलाओं व शूद्रों के लिए कठोर हैं और पुरुषों व ब्राह्मणों के लिए नरम हैं। दूसरी ओर, लोकतांत्रिक राजनीति प्रणाली व्यक्ति की स्वतंत्रता और समान सामाजिक स्थिति की

पक्षधर है। यह कानून के शासन को इंगित करता है। कोई किसी भी प्रकार की प्रतिष्ठा वाला हो, कानून से ऊपर नहीं है। संविधान के तहत भारतीय लोकतांत्रिक प्रणाली सभी नागरिकों के बीच स्वतंत्रता, समानता और भाई-चारे की द्योतक है। यह समतावादी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण हेतु संघर्षरत है।

तथापि, किसी समाज में आदर्शों के बावजूद भी राजनीति निर्वात में नहीं चलती। यह सामाजिक वातावरण में ही चलती है। इसलिए, यह विद्यमान सामाजिक शक्तियों से शून्य नहीं है। सामाजिक जीवन के स्तर पर राजनीति शक्ति और संसाधनों हेतु संघर्ष और उनके वितरण से संबंधित है। राजनीति के महत्त्वपूर्ण कार्यों में एक है – समाज पर शासन। यह विभिन्न हितों के बीच विवाद को हल करने का आह्वान करती है। यह समय विशेष पर समाज की आवश्यकताओं को पहचानती है। आवश्यकताओं का प्राथमीकरण किया जाता है : क्या महत्त्वपूर्ण है तथा तुरंत प्राप्त करना है और क्या प्रतीक्षा कर सकता है। समाज की आवश्यकतापूर्ति के लिए उत्पादन प्रणाली की प्रकृति निर्धारित करनी पड़ती है – लाभ कमाने के लिए कारखाने, खेत अथवा खानें व्यक्ति द्वारा निजी रूप से स्वामित्व में ली गई हैं अथवा वे समुदाय या राज्य अथवा दोनों के संयोजन द्वारा स्वामित्व में रखी और चलाई जाती हैं। उसके लिए नियम बनाए जाते हैं और कार्यान्वित किए जाते हैं। संक्षिप्त में, समाज में कौन, क्या, कब और कैसे पाता है ही राजनीति का मुख्य चिन्तनीय विषय है। यद्यपि ऐसे निर्णय राज्य द्वारा लिए जाते हैं, लोकतांत्रिक प्रणाली में लोग निर्णयन् प्रक्रिया में शामिल होते हैं। वे अपने शासक चुनते हैं। अपने प्रतिनिधि चुनकर लोग आज और कल के लिए अपनी भौतिक व अभौतिक आवश्यकताओं, अपेक्षाओं और आकांक्षाओं को व्यक्त करते हैं। उनकी अपेक्षाएँ उनके स्वयं के लिए होती हैं तथा समुदाय – आसन्न आद्य समूह, जाति व बृहत्तर समाज जिसमें प्रदेश शामिल है, और देश के लिए भी। जनसाधारण संगठित या असंगठित संघर्षों, व्यक्तिगत सम्पर्कों व अन्य कई तरीकों से निर्णयकर्त्ताओं पर दवाब बनाते हैं। राजनीतिक नेता सामाजिक शक्तियों को नकार नहीं सकते क्योंकि वे स्वयं भी उनका हिस्सा होते हैं। लोकतांत्रिक प्रणाली में निर्णयकर्त्ताओं के लिए अत्यावश्यक है कि अपनी राजनीति शक्ति को प्राप्त करने व बरकरार रखने के लिए निर्वाचन-क्षेत्रों के समर्थन को तलाशें और बढ़ाएँ।

इसका हालाँकि, यह अर्थ नहीं है कि राजनीति समाजगत शक्तियों की मात्र एक परोक्षी अथवा एक रूपरेखा है। यह लक्ष्य और प्राथमिकताएँ तय करती है। यह परिवर्तन हेतु एक अभिदृष्टि रखती है, बहुजन हितार्थ विद्यमान की अपेक्षा एक बेहतर सामाजिक व्यवस्था हो। राजनीति नए मूल्य जैसे कि समानता और स्वतंत्रता; संस्थाओं जैसे कि राजनीतिक दल तथा श्रमिक संघ; जमींदारी व्यवस्था अथवा अस्पृश्यता निवारण जैसी सरकारी नीतियों को प्रस्तुत करती है और पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था तथा मूल्य प्रणाली को निर्मूल करती है। यह समाज में सत्ता-स्थान निर्धारण एक समूह से दूसरे को हस्तांतरित करती है। इसके अतिरिक्त, चुनावों जैसी प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति राजनीतिक पदों की अभिलाषार्थ एक समूह से अनेक व्यक्तियों को प्रेरणा प्रदान करती हैं। वे आपस में एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं अत: जाति-सदस्य भी विभाजित हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में जाति संसंजकता कमज़ोर पड़ जाती है; और नया संघटन होता है। इस प्रकार, न सिर्फ जाति राजनीति को प्रभावित करती है वरन् राजनीतिक प्रणाली भी जाति को प्रभावित करती है और इसमें परिवर्तन उत्पन्न कराती है। यह कोई इकतरफा आमदरफ़त (वन-वे-ट्रैफिक) नहीं है। दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह देखना होता है : कहाँ तक और किस रास्ते राजनीति सामाजिक कायांतरण का लक्ष्य प्राप्त करती है और कहाँ तक यह विद्यमान सामाजिक शक्तियों खासकर जाति, से प्रभावित होती है?

भारत 1950 में गणतंत्र बना। इतिहास में पहली बार देश के सभी वयस्क नागरिकों को वोट देने और ग्राम पंचायत से लेकर लोकसभा तक निर्णयन्-निकायों हेतु अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार

मिला है। उन्हें चुनाव लड़ने का अधिकार भी मिला हुआ है ताकि वे भी शासक बन सकें। परिणामत: बहुसंख्य सामाजिक समूहों ने, जो अब तक राजनीति सत्ता से वंचित थे, यह महसूस करना शुरू किया कि वे पारम्परिक रूप से प्रभुत्व सम्पन्न अभिजात्य वर्ग से टक्कर ले सकते हैं और अपनी शिकायतों, आवश्यकताओं, प्राथमिकताओं तथा आकांक्षाओं को व्यक्त करने के लिए सत्ता का प्रयोग भी कर सकते हैं। इस प्रकार निर्धारित होती है उनकी नियति। राजनीति प्रतिस्पर्धात्मक और अनवरुद्ध बन चुकी है। इसके अतिरिक्त, राज्य ने अनेक सामाजिक व आर्थिक कार्यक्रम चलाए हुए हैं, जिन्होंने पारम्परिक सामाजिक बन्धनों व लाभों पर एकाधिकार को प्रभावित करते मौद्रिक तथा संविदात्मक संबंध को विकसित किया है। और, जाति पंचायत के न्यायिक प्राधिकरण के स्थान पर राज्य न्यायपालिका पद्धति आ गई है।

22.2 जाति क्या है?

जाति एक भारतीय शब्द है जिसका अंग्रेजी अनुवाद है – कास्ट (Caste)। भारतीय होने के नाते हम जानते ही हैं कि जाति क्या है क्योंकि हम सब जन्म से ही जाति का लेबल लगाए रहते हैं। यह बात गैर-हिन्दुओं पर भी लागू होती है। परन्तु जाति का अर्थ हिन्दुओं व गैर-हिन्दुओं के बीच एक-सा ही नहीं है। जाति को गैर-हिन्दुओं के बीच धार्मिक मंजूरी प्राप्त नहीं है। यह एक सामाजिक स्तरीकरण है। हिन्दुओं के बीच यह माना जाता है कि किसी व्यक्ति की जाति पूर्व जन्म में उसके कर्म (कार्यों) की वजह से है। ऐसी बात गैर-हिन्दुओं के बीच नहीं है।

जाति का अर्थ अपने लिए तथा औरों के लिए हमेशा एक-सा तथा सभी के बीच सुसंगत नहीं होता है। यह लेबल जिस पर लगाया जाता है उस उद्देश्य के अनुसार यह भिन्न-भिन्न होता है। जाति का उस ग्राम समाज की सामाजिक व्यवस्था में किसी व्यक्ति के स्थान को पहचान प्रदान करता एक विशिष्ट सामाजिक अर्थ होता है, जहाँ कि वह व्यक्ति प्रतिदिन स्थानीय समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ परस्पर सक्रिय होता है। उदाहरण के लिए, केन्द्रीय गुजरात के एक गाँव में उसका निवासी, मान लीजिए श्रीमान एक्स पड़ौसी बस्ती के अन्य ग्रामीण के साथ परस्पर अंतक्रिया करते समय अपनी पहचान खान्त के रूप में कराते हैं और वह ग्रामीण अन्तर्भोज के उद्देश्य से स्वयं को एक बरीया बताता है। श्रीमान एक्स जब तालुका अथवा जिला स्थान में राजनीतिक पार्टी की सभा में भाग लेते हैं, अपना परिचय क्षत्रिय के रूप में देते हैं। जब वह ऋण अथवा सरकार द्वारा प्रायोजित कार्यक्रम के लिए आर्थिक सहायता लेने अथवा अपने बेटे के लिए छात्रवृत्ति लेने सरकारी कार्यालय में जाते हैं, अपनी जाति को ओ.बी.सी. (अन्य पिछडा वर्ग) बताते हैं। वैवाहिक तथा नाते-संबंध के लिए जाति का एक अर्थ होता है, आर्थिक अन्तर्क्रिया के लिए एक भिन्न अर्थ और राजनीतिक उद्देश्य के लिए एक तीसरा अर्थ होता है। जब कोई लोकसभा चुनावों की बजाय ग्राम पंचायत के लिए वोट का प्रयोग करता है, ज़रूरी नहीं है कि इसका एक ही अर्थ हो।

इस प्रकार, सभी परिस्थितियों में व्यवहार्य जाति का सुस्पष्ट अर्थ बताना मुश्किल है। यह अंशत: एक आत्मपरक श्रेणी है। कर्त्ताओं व अनुपालकों द्वारा जाति का सामजिक ढाँचा प्रसंग-प्रसंग में भिन्न-भिन्न होता है।

22.3 जाति के मुख्य अभिलक्षण

एक इकाई के रूप में जाति सटीक परिभाषा पर पहुँचने में मुश्किलों के बावजूद, एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में जाति-व्यवस्था के सामान्य लक्षणों के संबंध में विद्वानों के बीच एक मतैक्य है।

जाति पर अधिकांश समाजशास्त्रीय लेखों का निष्कर्ष है कि सम-श्रेणीबद्ध याजक समाज (होमो हाइरार्कीकस) ही जाति-व्यवस्था का केन्द्रीय व सत्तावाचक तत्त्व है। यह वाक्यांश एक फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुइस ड्यूमोण्ट द्वारा हिन्दू समाज-व्यवस्था को अन्य समाज-व्यवस्थाओं से भिन्न दर्शाने के लिए प्रयुक्त है – खासकर पाश्चात्य समाज-व्यवस्था से। पदानुक्रम ही जातीय सामाजिक व्यवस्था का सारभाग-केन्द्र है। इसमें शुद्धता-अशुद्धता के आधार पर प्रतिष्ठा, मूल्यों, रीतियों तथा व्यवहार का पदानुक्रम शामिल है। रक्त, भोजन व व्यवसाय; तथा कर्मकाण्ड-पद्धति के लिहाज से व्यक्तियों के बीच अन्तर्वैयक्तिक संबंध को दो व्यवस्थाओं में बाँटा जाता है : शुद्ध और अशुद्ध। कुछ जातियों के लिए कुछ व्यवसाय अथवा भोजन का प्रकार शुद्ध माने जाते हैं और वही अशुद्ध हैं इस कारण अन्य जातियों के लिए निषिद्ध हैं। प्रत्येक हिन्दू के लिए यह अवश्यकरणीय है कि वह जाति नामक एक प्रतिबंधित परिधि में ही संबंध तथा अंतर्क्रिया सीमित रखे, ताकि विवाह-सम्बन्धों; भोजन आदान-प्रदान तथा जाति-आधारित व्यवसाय को जारी रखने में शुद्धता बरकरार रहे। जाति व्यवस्था के चार अनिवार्य अभिलक्षण हैं। ये हैं : (1) पदानुक्रम; (2) सम्मेयता; (3) विवाह पर प्रतिबंध; तथा (4) पैतृक व्यवसाय।

22.4 सक्रिय सम्बन्ध

कोई भी सामाजिक व्यवस्था अचल नहीं रहती है। बदलती सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों के साथ समय-समय पर सामाजिक व्यवस्था परिवर्तित होती रहती है। यह जाति-व्यवस्था के बारे में भी सत्य है। अनुभवाश्रित स्तर पर जाति पदानुक्रम पूरे इतिहास में कभी अचल नहीं रहा है। सिद्धांततः, सभी जातियाँ एक पूर्वनिर्धारित सामाजिक स्थिति के भीतर पदानुक्रमानुसार रखी जाती हैं। कुछ जातियाँ उच्च पदस्थिति का उपभोग करती हैं और कुछ निम्न पदस्थिति पर रहती हैं। पदानुक्रम में, सामाजिक व्यवस्था में जाति का स्थान अन्तर्वैयक्तिक संबंध हेतु रीतियों के अनुपालन पर आधारित उसकी कर्मकाण्डीय पदस्थिति द्वारा निर्धारित होता है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि यह मूल्य-पद्धति – जीवन में किसी के व्यवसाय को स्वीकृति ही पूर्व-जन्म का परिणाम है – अछूतों समेत सभी हिन्दुओं के बीच सर्वसम्मति रखती है। लेकिन यह सत्य नहीं है। यद्यपि उच्च जातियाँ अपनी ऊँची पदस्थिति को बनाए रखने का प्रयास करती हैं, मध्यम व निम्न जातियों ने सफलतापूर्वक अपनी पदस्थिति को बदलने को प्रयास किया है। अपनी आर्थिक स्थिति को सुधार कर कुछ निम्न जातियों के एक प्रबल वर्ग ने अपने अड़ोस-पड़ोस में रहने वाली उच्च जातियों की प्रथाओं व आदर्शों का अनुकरण किया; इनमें वे समूह शामिल हैं जिनसे किसी समय अछूतों के रूप में व्यवहार किया जाता था। समाजशास्त्री इस प्रक्रिया को संस्कृतिकरण के रूप में जानते हैं। कुछ ऐसी जातियों अथवा व्यक्तियों के उदाहरण भी सामने आते हैं जो उच्च जातियों के आदर्शों तथा कर्मकाण्डों का पालन किए बग़ैर भी अपनी पदस्थिति को सुधारने में सफल हुए हैं। राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो जाने से न सिर्फ़ सत्ताधारक – शासक – को मदद मिलती है बल्कि उसके नाते-रिश्तेदारों को भी जाति पदानुक्रम में उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा का उपभोग करने में मदद मिलती है। इतिहास में ऐसे उदाहरण देखे जा सकते हैं जो दर्शाते हैं कि संस्कृतिकरण के मार्ग का अनुसरण किए बगैर ही सत्ता की स्थिति पर काबिज़ होकर शूद्रों व अतिशूद्रों ने क्षत्रियों की पदस्थिति अर्जित कर ली है।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया जो एक समय, खासकर 19वीं व 20वीं सदी के आरम्भ में, निम्न जातियों के बीच उत्कर्ष पर थी, साठ व सत्तर के दशक में धीमी पड़ चुकी थी। पहले अनेक जातियाँ अपने सदस्यों की खराब आर्थिक स्थिति के बावजूद 'पिछड़ी' पुकारे जाने पर संकोच करती थीं। उन्हें डर था कि 'पिछड़ी' के रूप में पहचाने जाने पर वे अपनी सामाजिक पदस्थिति नहीं सुधार सकेंगे।

परन्तु अब यह सत्य नहीं रहा है, क्योंकि राज्य ने पिछड़ी जातियों को कुछ निश्चित लाभ प्रदान किए हैं, क्योंकि राज्य ने पिछड़ी जातियों को कुछ निश्चित लाभ प्रदान किए हैं। इन जातियों को यह बोध हुआ है कि उच्च जातियों द्वारा अपनाए जाने वाले कर्मकाण्डों के अनुपालन की बजाय अपनी स्थिति को सुधार कर वे अपनी सामाजिक स्थिति सुधार सकते हैं। अब जातियों के बीच 'पिछड़ी' पुकारे जाने के लिए होड़ लगी है। यहाँ तक कि कुछ ब्राह्मण और राजपूत जातियाँ भी सरकार के पास 'पिछड़ी' के रूप में वर्गीकृत किए जाने के लिए पहुँची हैं। केन्द्रीय गुजरात के कोलियों ने राजपूतों के कर्मकाण्डों को अपनाया और क्षत्रियों के रूप में पहचाने जाने के लिए तीन दशकों तक संघर्ष किया। पूर्व काल में, कोली पुकारे जाने पर वे अपमानित महसूस करते थे। परन्तु अब उन्होंने स्वयं को कोली पुकारना शरू कर दिया है ताकि उनको वे भौतिक लाभ मिल सकें जो कि सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए सर्वाधिक सुनिश्चित रास्ता है। कर्मकाण्डों के अनुपालन पर आधारित सामाजिक स्थिति उत्तरोत्तर रूप से व्यर्थ हो चुकी है।

पारम्परिक रूप से जाति-सदस्यों को उन जातियों से संबंधित व्यक्तियों से पका भोजन स्वीकार करने को मना किया जाता है जिनको वे अपने से निम्नतर मानती हैं। गत पाँच दशकों में, खासकर शहरी क्षेत्रों में सार्वजनिक मण्डलों में, ये नियम कमज़ोर पड़ चुके हैं। विस्तृत समर्थनाधार प्राप्त करने के अपने प्रयास में ज़िला व राज्य स्तर पर राजनीतिक संभ्रांत वर्ग निचले सामाजिक स्तर (स्ट्राटा) से संबंधित जाति-सदस्यों के साथ भोजन करने में नहीं हिचकिचाते हैं।

अधिकतर जातियाँ अन्तर्जात हैं। कुछेक सामान्यत: जाति समूह के भीतर अति-विवाह का अनुसरण करते हैं। विवाह पर पूर्वकालिक प्रतिबंध अब सुनम्य हो गए हैं। कुछ जातियों में विवाह परिधियाँ बढ़ रही हैं। शिक्षा और शहरीकरण के साथ उच्चतर व मध्यम जातियों के बीच अन्तर्जातीय विवाहों के उदाहरण काफी हद तक बढ़े हैं यद्यपि ऐसे मामले अभी तक अपवाद हैं।

22.5 क्षेत्रीय भिन्नताएँ

सामाजिक समूहों के बीच अंतर्सम्बन्ध हेतु पदानुक्रम तथा सीमा-रेखा के लिहाज से जाति संरचना ग्राम-स्तर पर न्यूनाधिक साफ-सुथरी व अभिन्य है। परन्तु क्षेत्रीय स्तर पर ऐसा नहीं है। जबकि राष्ट्रीय स्तर पर जातियों की आनुभविक रूपाधारित व हद तस्वीर खींचना और भी अधिक कठिन व जोखिमपूर्ण है। जाति संरचना इस उप-महाद्वीप के सभी क्षेत्रों में समान रूप से विकसित नहीं हुई है। असम ने उत्तर प्रदेश अथवा बिहार की जाति संरचना की अपेक्षा कम कठोर पदानुक्रम वाली एक निर्बन्ध जाति संरचना विकसित की है। जाति विशेष के नियमों के अनुपालन के संबंध में भी यही बात है।

जातियों की संख्या भी क्षेत्रानुसार भिन्न-भिन्न है। गुजरात में पश्चिम बंगाल की अपेक्षा जातियों की अधिक बड़ी संख्या है। ऐतिहासिक अनुभवों ने विभिन्न क्षेत्रों में आज की सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं के सुगठन में योगदान दिया है। इसके अतिरिक्त, देश में और राज्यों में भी, असमान आर्थिक विकास हुआ है और होता रहा है। कुछ क्षेत्रों में ज़मींदारी और कुछ में रैयतबाड़ी भू-काश्तकारी प्रणाली थी। सामान्यत: राजस्थान में राजपूतों अथवा तमिलनाडु में ब्राह्मणों का खेतीहर व किसान जातियों में वर्चस्व उसी प्रकार कायम था जैसे कि महाराष्ट्र में मराठा तथा गुजरात में पटिदार प्रभावशाली जातियाँ थीं। सभी जातियों की संख्यात्मक शक्ति तथा फैलाव एकसमान नहीं हैं। कुछ की सदस्य-संख्या काफी बड़ी है और कुछ की बहुत कम है। कुछ जातियाँ तो पूरे क्षेत्र में छितरी हुई हैं और चंद कुछेक भौगोलिक लघुक्षेत्रों में सघनता से बसी हैं। इस प्रकार, राजनीति के संबंध में जाति की भूमिका और स्थिति समय-समय, क्षेत्र-क्षेत्र और जाति-जाति के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है।

22.6 जाति तथा वर्ग

कुछ विद्वानों के अनुसार, जाति प्रथा अनिवार्य रूप से एक वर्ग-व्यवस्था है। आरम्भ के रचनात्मक वर्षों में ऐसा आवश्यक भी था। ये वर्ग थे : राजण्य अथवा क्षत्रिय, अभिजात वर्ग, ब्राह्मण, पुरोहित, वैश्य, विशाल जनसाधारण, मुख्यत: कृषक व व्यापारी, और शूद्र, यानी सेवक समुदाय। इस व्यवस्था के उद्भव की विभिन्न परिकल्पनाएँ हैं। कुछ का मानना है कि यह व्यवस्था समाज में समरसता बनाए रखने के लिए दैविक शक्ति द्वारा बनायी गई। इसी के अनुसार, किसी का जन्म एक जाति विशेष में पूर्वजन्म के उसके कर्मों के कारण होता है। दूसरे यह मानते हैं कि यह व्यवस्था आर्थिक अतिरेक के विकास के साथ समय के साथ ही विकसित हुई। यह आर्थिक विभाजनों के साथ अस्तित्व में आई। अथवा आक्रान्ताओं ने स्थानीय जनजातीय लोगों को अधीन बनाने के लिए उसे रचा।

स्वतंत्रोत्तर काल में देश के विभिन्न भागों में किए गए अनेक ग्राम अध्ययन जाति व भूमि के जुड़वाँ पदानुक्रमों के बीच थोड़ा-बहुत अधिव्यापन दर्शाते हैं। एन.एम. श्रीनिवास का अवलोकन है – "ग्राम समुदाय में अधिक्रमिक समूह होते थे, प्रत्येक के अपने अधिकार, कर्त्तव्य तथा विशेषाधिकार थे। सर्वोच्च जाति के पास वो शक्ति व विशेषाधिकार होते थे जो निम्नतर जातियों के लिए मना थे। निम्न जातियाँ थीं – काश्तकार, सेवक, भूमिहीन श्रमिक, कर्जदार तथा उच्च जातियों के सेवार्थी।" सत्तर के दशकांत वर्षों में शिवकुमार व शिवकुमार द्वारा तमिलनाडु के दो गाँवों से एकत्रित किए आँकड़े यह दर्शाते हैं कि 59 प्रतिशत मुदालियर (उच्च जाति) तथा चार प्रतिशत पल्ली (अछूत जाति) धनी कृषक अथवा भू-स्वामी कुटुम्ब हैं। कोई भी मुदालियर कृषि-श्रमिक में रूप नहीं लगा है, जबकि 42 प्रतिशत पल्ली कुटुम्ब अपनी आजीविका खेत-मज़दूरों के रूप में अर्जित करते हैं। सत्तर के दशके में के. एल. शर्मा द्वारा किया गया राजस्थान के छह गाँवों का अध्ययन इसी प्रकार का प्रतिमान प्रस्तुत करता है : "मात्र 12.5 प्रतिशत निम्नवर्गीय कुटुम्ब ऊँची जातियों से संबद्ध हैं, 60 प्रतिशत उच्चवर्गीय कुटुम्ब ऊँची जातियों से संबद्ध हैं, 24 प्रतिशत ऊँची जातियाँ उच्च वर्ग से सम्बद्ध हैं, जबकि माध्यमिक तथा ''

भारतीय न -वैज्ञानिक सर्वेक्षण ने "भारत के लोग (पीपल ऑव इण्डिया)'' पर अपनी परियोजना में 4635 समुदायों/ जातियों का अध्ययन किया है। यह अध्ययन पुष्टि करता है कि उच्च स्थानासीन जातियों के संकेत हैं : (क) क्षेत्रीय सामाजिक-कर्मकाण्डयुक्त पदानुक्रम में एक उच्च स्थिति; (ख) भूमि व अन्य संसाधनों पर बेहतर नियंत्रण; और (ग) निचले दर्जे के अन्य समुदायों के साथ गैर-वाणिज्यिक संबंध। (निचली जातियाँ) निचले दर्जे पर रखी जाती हैं क्योंकि (क) भूमि पर कम अधिकार तथा आर्थिक संसाधनों पर कम नियंत्रण द्वारा जन्मी उनकी दीन-हीन दरिद्रता; (ख) शुद्धता तथा प्रदूषण के द्योतन पर आधारित उनका सामाजिक-कर्मकाण्डयुक्त निम्नपदारोपण; और उन काम-धंधों में उनका पारम्परिक विनियोजन जो कर्मकाण्डीय रूप से अस्वच्छ माने जाते हैं।

जाति तथा व्यवसाय/भूमिधारण पर क्षेत्रीय व राष्ट्रीय स्तर पर समस्त आँकड़े एक इसी प्रकार की तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। तालिका-1 के.एन.राज विश्लेषित, 1952 में संग्रहित राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण (एन.एस.एस.) द्वारा एकत्रित जाति व व्यवसाय आँकड़े प्रस्तुत करती है। ये आँकड़े दर्शाते हैं कि जाति व व्यवसायिक पदस्थिति के बीच एक सकारात्मक संबंध है। छोटे व उपान्त किसान तथा कृषि-श्रमिक मुख्यत: निम्न अथवा पिछड़ी जातियों तथा पूर्व-अछूत (अनुसूचित) जातियों से संबद्ध हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में निम्न व निम्नतम जातियों के सदस्यों के बीच व्यवसायों का एक उपान्त विविधीकरण है। बहरहाल, इस बात को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए कि निम्नतर तथा अनुसूचित जाति-कुटुम्बों का एक छोटा अनुपात उन धनी किसानों का है जो श्रमिकों को मेहताना

तालिका-1

विभिन्न जाति-समूहों का व्यवसायगत वितरण††

(हिन्दू ग्रामीण परिवारों के बीच)

(दस लाख)

व्यवसाय*	उच्च जातियाँ	मध्यम जातियाँ	निम्न जातियाँ	अनुसूचित जातियाँ	कुल योग
कृषि-कृषक	1.09 (24.38)	0.93	1.69 (6.95)	0.18 (1.54)	3.80 (7.35)
खेतिहर किसान	1.96 (43.91)	6.52 (53.30)	10.20 (41.79)	3.19 (27.05)	21.67 (41.35)
बटाई काश्तकार	0.17 (3.91)	0.76 (6.18)	1.51 (6.17)	1.00 (8.50)	3.44 (6.50)
कृषि-श्रमिक	0.05 (1.09)	1.46 (11.91)	4.11 (16.85)	4.27 (36.19)	9.89 (18.70)
वन कार्य, मत्स्य- व पशु-पालन†	0.02 (0.62)	0.17 (1.39)	0.81 (3.31)	0.28 (2.38)	1.28 (2.42)
कुल योग:कृषि	8.29 (73.91)	9.84 (80.35)	18.32 (75.07)	8.92 (75.66)	40.37 (76.33)
अन्य@	1.17 (26.09)	2.39 (19.65)	6.09 (24.93)	2.87 (24.34)	12.52 (23.67)
कुल योग : सभी	2.26 (100.00)	12.23 (100.00)	24.41 (100.00)	11.79 (100.00)	52.89 (100.00)

टिप्पणी : कोष्ठकों में दिए गए अंक प्रत्येक प्रसंग में अखिल भारतीय औसत की प्रतिशतता दर्शाते हैं।

* मुख्य कृषि व्यवसाय चार समूहों में बांटे गए हैं :

क) कृषक- किसान जो अपनी निजी भूमि पर खेती करता है, खासकर भाड़े के श्रमिकों के साथ; (ख) खेतिहर किसान – वह जो मुख्य अपने स्वामित्व वाली भूमि पर खेती करता है और कभी-कभी पट्टे पर ली गई भूमि अथवा अन्य कुटुम्ब-सदस्यों की मदद से तथा अंशत: भाड़े के श्रमिकों के साथ बटाई-काश्तकारी प्रणाली पर; (ग) बटाई काश्तकार–वह जो मुख्यत: औरों की भूमि पर बटाई काश्तकारी के आधार पर खेती करता है; और (घ) कृषि-श्रमिक–वह जो दूसरों की भूमि पर पगार हेतु अथवा प्रथागत भुगतान के लिए खेती करता है।

† लकड़हारे, बगान श्रमिक, माली, मछुआरे, पशु-प्रजनक, चरवाहे तथा पशुपालक शामिल हैं।

@ प्रशासनिक तथा व्यावसायिक सेवाओं, अध्यापन तथा चिकित्सा, विनिर्माण – विशेषत: खाद्य उत्पादों तथा वस्त्रों का, व्यापार तथा वाणिज्य, परिवहन तथा संचार, निर्माण तथा स्वास्थ्य-रक्षा, और खनन में लगे ग्रामीण क्षेत्र के कुटुंब शामिल हैं।

†† एन.एस.एस. के अनुसार, "उच्चतर जातियाँ उनके रूप में परिभाषित की गईं जो, प्रथानुसार, पवित्र धागा प्रयोग करते थे; मध्यम उनके रूप में जिनसे ब्राह्मण परम्परापूर्वक पानी ग्रहण करते थे; और निम्नतर उन अन्य जातियों के रूप में जो अनुसूचित नहीं थीं।"

देकर रखते हैं और बाज़ारयोग्य बेशी उत्पादन करते हैं। गुजरात में सामाजिक अध्ययन केन्द्र, सूरत द्वारा किए गए सर्वेक्षण के अनुसार, दस प्रतिशत निम्नतर जाति तथा पाँच प्रतिशत अनुसूचित जाति कुटुम्बों के पास 15 एकड़ से अधिक भूमि है। इसका विपरीत भी सत्य है। एन.एस.एस. आँकड़ों के अनुसार एक प्रतिशत उच्चतर जातियाँ और 12 प्रतिशत मध्यम जातियाँ कृषि-श्रमिक हैं। इसके अतिरिक्त, यह ग़ौरतलब है कि देश के कुछ हिस्सों में चंद उच्चतर जातियाँ हैं जिनके अधिकांश सदस्य उच्चतर वर्ग से संबद्ध नहीं हैं। गुजरात के राजपूत (उच्चतर जाति) का मामला ध्यातव्य है। भू-स्वामित्व व अन्य व्यवसाय के लिहाज से उनकी स्थिति अनेक अन्य-पिछड़े-वर्गों की अपेक्षा कोई खास भिन्न नहीं है।

22.7 जाति में स्तरीकरण

ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगीकरण तथा विपणन अर्थव्यवस्था के प्रवेश ने अनेक जातियों के पारम्परिक व्यवसाय को प्रभावित किया है। अधिकतर जातियों में कुछ सदस्यों ने अपने पारम्परिक व्यवसाय को छोड दिया है। 1950 के आसपास एफ.जी. बेली ने उडीसा जैसे एक अपेक्षाकृत पिछडे राज्य में स्थित एक गाँव में देखा, "हर व्यक्ति अपने परम्परागत व्यवसाय में काम नहीं करता है। आसवक शराब छूते ही नहीं हैं। नॉड कुम्हार (Knod potters) बर्तन बनाना ही नहीं जानते। मछुआरे मछली नहीं पकड़ते हैं। योद्धा खेतिहर किसान हैं। सर्वत्र एक वंशागत व्यवसाय अपनाने के लिए गुंजाइश है, जाति के सभी सदस्य काम में नहीं लगते हैं।" पचास के दशक में कैथलीन गॉफ ने भी तमिलनाडु में इसी तरह की बानगी देखी। उसने ग़ौर किया, "जाति समुदाय अब व्यवसाय व धन-दौलत में सजातीय नहीं रहा है, क्योंकि व्यवसाय चुनने में जाति आज एक निर्णायक की बजाय एक सीमाकारी कारक है। कुम्बरपेट्टई के वयस्क ब्राह्मणों के यथार्थत: आधे अब सरकारी नौकरों, पाठशाला-शिक्षकों अथवा रोकथामकर्मियों के रूप में शहरों में नियोजित हैं। शेष में से कुछ के पास तो 30 एकड़ तक ज़मीन है और कुछ के पास मात्र तीन ही। कोई पंसारी की दुकान करता है और तो कोई शाकाहारी रेस्तराँ चलाता है। ग़ैर-ब्राह्मणों के बीच, मछुआरों, ताड़ी-निष्कासकों, मराठाओं, कल्लनों, कोरवों तथा कुट्टादिसों ने अपना पारम्परिक काम छोड़ दिया है।" देश के विभिन्न भागों से पचास व साठ के दशकों किए गए ग्राम-अध्ययन भी यही प्रवृत्ति दर्शाते हैं। साथ ही, ग़ैर-कृषि क्षेत्र में व्यवसाय का विविधीकरण हरित-क्रांति के प्रसार के साथ अधिकांश जातियों के भीतर बढा है।

परन्तु अभी तक ऐसी अनेक जातियाँ हैं जिनके सदस्य न्यूनाधिक इसी प्रकार की आर्थिक स्थिति में हैं। ऐसे उदाहरण अनेक अनुसूचित जातियों और संख्यात्मक रूप से छोटी अन्य पिछड़ी जातियों के बीच देखे जा सकते हैं। ऐसी जातियों में अभी तक 10% साक्षरता दर है और सभी कुटुम्ब अपनी आजीविका के लिए शारीरिक श्रम पर निर्भर करते हैं। दूसरी ओर अनेक जातियाँ ऐसी हैं जो आंतरिक रूप से स्तरीकृत हैं। विभिन्न जातियों में आर्थिक विभिन्नता के तीन प्रकार पाए जाते हैं: (1) तीव्र ध्रुवीकरण के लक्षण वाली जाति; (2) उच्च सामाजिक स्तर से निकली बहुसंख्य सदस्यों वाली जाति; तथा (3) दरिद्र सामाजिक स्तर से सम्बद्ध एक बहुसंख्य सदस्यों वाली जाति। राजस्थान, उत्तरप्रदेश तथा गुजरात के राजपूत और ठाकुर पहली श्रेणी में आते हैं। कुछेक कुटुम्ब विशाल भू-सम्पत्तियों और कारख़ानों के स्वामी हैं और अनेक कृषि-श्रमिक हैं। ब्राह्मणों, बनियों और क्षत्रियों जैसी अनेक उच्चत्तर जातियों के अधिकांश कुटुम्ब धनी हैं। दूसरी ओर अनेक पिछड़ी जातियों के अत्यधिक बड़े कुटुम्ब हैं जो छोटे तथा उपान्त कृषक, काश्तकार व कृषि-श्रमिक हैं। आर्थिक स्तरीकरण जो राजनीतिक मुद्दों पर संसक्तिशीलता को प्रभावित करता है। प्रबल सामाजिक स्तर जाति के हितों के रूप में अपने हित परिलक्षित करता है; और सरकार के साथ सौदेबाजी के दौरान अपनी प्राथमिकता रखता है।

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) जाति के मुख्य अभिलक्षण क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) ग्रामीण भारत में जाति तथा भू-स्वामित्व के बीच क्या संबंध है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) बृहद-स्तरीकरण दर्शाती एक जाति का उदाहरण दें।

.....

.....

.....

.....

.....

4) सामाजिक जाति तथा राजनीतिक जाति के बीच क्या अंतर है?

.....

.....

.....

.....

.....

22.8 दवाब समूह : जाति संघ

किसी लोकतांत्रिक राज-व्यवस्था में किसी समूह की संख्यात्मक शक्ति महत्त्वपूर्ण होती है। सभी जातियाँ एकसमान संख्यात्मक शक्ति नहीं रखती हैं और एक भौगोलिक क्षेत्र – गाँव, गाँवों का समूह, तालुक अथवा ज़िला में फैली होती हैं। कुछ बहुत विशाल हैं, कुछ छोटी हैं, और कुछ बहुत ही छोटी। कुछ गाँव/ तालुक में संघनित हैं और कुछ किसी गाँव में चार-पाँच कुटुम्बों में छितरी हैं। संख्यात्मक रूप से बड़ी जातियाँ सरकार तथा राजनीतिक दलों के साथ राजनीतिक सौदेबाजी में अपना पलड़ा भारी रखती हैं। सजातीय विवाह से ही चिपकी जातियाँ राजनीतिक गतिविधियों के लिए ज़िला स्तरों और उससे परे कोई बहुत बड़ी संख्या नहीं जुटा सकतीं। ऐसी जातियों के कुछ नेता सभा अथवा संगम के नाम से जाति संघ बनाते हैं जिसमें किसी क्षेत्र में एक ही प्रकार के सामाजिक पदस्थिति वाली जातियों के समूह होते हैं। कुछेक जाति संघों में पारम्परिक व्यवस्था में विभिन्न सामाजिक पदस्थिति वाली बहु-जातियाँ भी होती हैं। इनको जाति ''महासंघ'' कहा जा सकता है।

यह याद रखा जाना चाहिए कि जाति संघ बिल्कुल जाति-पंचायत या सभा जैसा नहीं होता है। सामान्यत: जाति सभा के कार्यालय परिचर पदानुक्रम स्थिति पर रहते हैं। संघ के साथ ऐसी बात नहीं है। बहुधा संघ का लिखित संविधान होता है जिसमें विभिन्न कार्यालय परिचरों की शक्ति व उत्तरदायित्वों का उल्लेख होता है। जाति सभा के पास न्यायकारी अधिकार होते हैं जिसमें सदस्यों के विवाह, तलाक व अन्य पारिवारिक विवादों से संबंधित कर्मकाण्डीय तथा सामाजिक पहलुओं का ज़िक्र होता है। इसके निर्णय सभी जाति-सदस्यों के लिए बाध्यकारी होते हैं। जाति संघ आर्थिक, शैक्षणिक तथा राजनीतिक कार्यक्रम चलाते हैं। सभी जाति संगी इन सभाओं के सदस्य नहीं होते हैं। सभा के निर्णय सभी जाति सदस्यों के लिए बाध्यकारी नहीं हैं। जाति-पंचायत के साथ ऐसी बात नहीं है। इस संदर्भ में जाति संघ स्वयंसेवक संघठन से मिलता-जुलता है। अनेक जाति संघ यद्यपि ''समुदाय के हितों व अधिकारों के प्रोत्साहन तथा संरक्षण'' का उद्देश्य रखते हैं। वे अनिवार्यत: सीधे-सीधे चुनावीय राजनीति में लिप्त नहीं होते हैं। जाति संघ यदा-कदा चुनावीय राजनीति में सक्रिय होते हैं। रुडोल्फ-रुडोल्फ राजनीति में जाति संघों की भागीदारी को ''जाति का लोकतांत्रिक अवतार'' बताते हैं। कोठारी इसे जातियों का ''लोकतंत्रीकरण'' कहती हैं।

जाति संघों का इतिहास 19वीं शताब्दी से शुरू हुआ यद्यपि उनकी संख्या स्वतंत्रता के बाद बढ़ी। ये सभी राज्यों में पाये जाते हैं। हम कुछ उदाहरण लेते हैं। जैसा कि 80 के दशकारंभ में सरकार ने फैसला किया कि उत्तरप्रदेश के कुर्मियों को कुर्मियों के रूप में पुलिस सेवा में भरती होने से रोका जाए। कुर्मियों से संबद्ध सरकारी सेवाकर्मियों ने इस निर्णय के खिलाफ विरोध करने के लिए 1884 में ''सरदार कुर्मी क्षत्रिय सभा'' बना ली। एक अन्य उदाहरण तमिलनाडु के नाडारों का देखा जा सकता है। अपने आर्थिक विकास को बढ़ाने के लिए, 1895 में तमिलनाडु के धन-सम्पन्न शनारों ने नाडार महाजन संगम बनाया। गुजरात में, स्वतंत्रता के बाद राजपूतों ने शासकों के रूप में राजनीतिक सत्ता तथा भूमि-सुधारों के तहत भू-स्वामित्व को खोने के बाद एक बृहत्तर संख्यात्मक समर्थनाधार की आवश्यकता महसूस की, क्योंकि वे कुल आबादी के मात्र चार प्रतिशत थे। कुछ राजनीतिक उच्चाकांक्षी राजपूतों ने गुजरात क्षत्रिय सभा बनायी। कोलियों की विभिन्न जातियों ने जाति-संगठन अपना लिया जो कि क्षत्रिय पदस्थिति की आकांक्षा रखते थे। क्षत्रिय बांधव के रूप में राजपूतों तथा कोलियों के बीच जाति गौरव तथा विचारों को विभिन्न माध्यमों से बढ़ावा दिया गया। जाति संघ अपने जाति सदस्यों के लिए शैक्षणिक सुविधाओं, भूमि के स्वामित्व तथा उसके वितरण, सरकारी नौकरियों की माँग करते हुए सरकार के समक्ष प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें से कुछ सिंचाई, विद्युत्, कृषि विकास हेतु उर्वरक के लिए ऋण तथा अनुदान जैसी आधारभूत सुविधाओं की माँग करते हुए ज्ञापन देते हैं तथा जनसभाएँ आयोजित करते हैं।

22.9 राजनीतिक दल

अनेक जातियाँ साथ जुड़ती हैं और आंदोलन चलाती हैं। तमिलनाडु तथा महाराष्ट्र में ग़ैर-ब्राह्मण आंदोलन इसके उदाहरण हैं। ज्योतिराव फुले ने ब्राह्मणवादी आधिपत्य को चुनौती देते हुए 1873 में 'सत्य शोधक समाज' शुरू किया। तमिलनाडु में वेल्ला, गोण्डा तथा पदयाची जैसी अनेक कृषक जातियों; चैत्री जैसी व्यापारिक जातियों, शिल्पकार जातियों – तच्चान (बढ़ई), कोल्लन (लोहार), तट्टन (सुनार), ने वैयक्तिक तथा सम्मिलित रूप से ग़ैर-ब्राह्मण आंदोलन चलाए। इस आंदोलन के बाद 1890 में पारायण महाजन सभा, आदि-द्रविड़ महाजन सभा जैसे अनेक जाति संघ आए। 1916 में सरकारी नौकरियों में ब्राह्मणों के प्रभुत्व और उन ग़ैर-ब्राह्मणों के प्रति अन्याय को उजागर करता हुआ एक ग़ैर-ब्राह्मण घोषणा-पत्र बनाया गया जो विशाल बहुमत में थे। जस्टिस पार्टी का गठन 1916 में हुआ। इस पार्टी ने 1919 में उस संयुक्त संसदीय समिति के समक्ष ग़ैर-ब्राह्मण मुद्दा प्रस्तुत करने एक शिष्टमंडल इंग्लैण्ड भेजा जो 'गवर्मेण्ट ऑव इण्डिया बिल' तैयार करने के लिए उत्तरदायी था। 'द्र.मु.क.' इसी की प्रशाखा है। नाडारों के वन्नियाकुला क्षत्रिय संगम ने दो गुट – तमिलनाडु टॉइलर्स पार्टी तथा कॉमनवैल्थ पार्टी, बनाए और 1952 के चुनाव लड़े। फिर उन्होंने राज्य मंत्रीमण्डल में स्थान पाने के लिए कांग्रेस के साथ सौदेबाजी की। अनुसूचित जाति संघ डॉ. अम्बेडकर के द्वारा चालीस के दशक में बनाया गया और रिपब्लिकन पार्टी दलित नेताओं द्वारा 1956 में बनायी गई। वे प्राथमिक रूप से दलितों की तथा दलितों द्वारा पार्टियाँ ही रहीं। बिहार के आदिवासी नेताओं द्वारा बनायी गई झारखण्ड पार्टी एक आदिवासियों की ही पार्टी रही। कांशीराम द्वारा शुरू की गई बहुजन समाज पार्टी दलितों, अल्प संख्यकों तथा अन्य पिछडे वर्गों के गठबंधन के लक्ष्य को लेकर चलती दलितों की एक पार्टी है।

स्वंतत्रता के बाद चुनाव में प्रतिस्पर्धा के लिए राजनीतिक उद्देश्यों को लेकर कुछ जाति संघ बनाए गए। गुजरात में पचास के दशकारंभ में क्षत्रियों की एक पार्टी बनाने के लिए क्षत्रिय सभा के कुछ नेताओं ने विचार किया। शीघ्र ही उन्होंने महसूस किया कि मात्र क्षत्रियों की शक्ति के बलबूते चुनाव लड़कर वे अधिक समर्थन नहीं जुटा सकते थे। इसी प्रकार, चुनाव लड़ने के लिए कुर्मियों, यादवों और कोरियों के राजनीतिक आभिजात्य वर्ग ने 1947 में 'बिहार राज्य पिछड़ी जाति संघ' बनाया। इन जातियों से सम्बद्ध कांग्रेसी नेताओं के प्रतिरोध के चलते यह योजना शुरू ही नहीं हो पायी।

ऐसी जाति संघों ने विभिन्न अग्रणी राजनीतिक दलों के साथ हक कायम किया ताकि जाति-सदस्य चुनावों में पार्टी टिकट पा सकें। इन पार्टियों ने आरंभत: ऐसे दबावों का प्रतिरोध किया क्योंकि उन प्रभावी जातियों का उन पर प्रतिकूल दबाव था जो पार्टी को नियंत्रित करती थीं। परवर्ती ने पूर्ववर्ती पर जातिवादी अथवा साम्प्रदायिक होने का आरोप लगाया परन्तु जैसे-जैसे दलों के बीच प्रतिस्पर्धा बढ़ी और राजनीतिक गतिविधियों के लिए जाति संघ ने सदस्यों को सफलतापूर्वक लामबंद किया, सभी पार्टियों ने उन अग्रणी जाति प्रत्याशियों को लुभाना शुरू कर दिया जो जाति-वोटों को लामबंद कर सकते थे। ऐसे राजनीतिक प्रत्याशी विभिन्न राजनीतिक दलों में शामिल हो गए। चूँकि वे जाति के सामाजिक अथवा कर्मकाण्डीय हितों की रक्षा करने की बजाय स्वयं के लिए राजनीतिक पद प्राप्त करने में प्राथमिक रूप से इच्छुक थे, उन्होंने या तो एक नया संघ शुरू कर लिया अथवा जो था उसको तोड़ दिया। उनके लिए जाति संघ राजनीतिक सत्ता हासिल करने के अनेक औज़ारों जैसा ही है।

चुनावों में पार्टी प्रत्याशियों के नामांकन और लामबंदी हेतु कुछ राजनीतिक दल कुछ निश्चित जातियों के साथ पहचाने जाते हैं। 1969 के चुनावों में भारतीय क्रांति दल ने उत्तर प्रदेश की चार प्रमुख कृषक जातियों का एक गठजोड़ बनाया। इस गठजोड़ को 'अजगर' (AJGAR) कहा गया;

यानी अहीर, जाट, गूजर तथा राजपूत। 1977 में गुजरात में कांग्रेस (इं.) ने क्षत्रियों, हरिजनों, आदिवासियों तथा मुसलमानों का गठबंधन 'खाम' (KHAM) बनाया। 1977 तथा 1980 के संसदीय चुनावों में उत्तरप्रदेश में लोकदल जाटों से पहचाना गया। उत्तरप्रदेश में समाजवादी पार्टी 1977 के राज्य विधानसभा चुनावों में आमतौर पर पिछड़ी जातियों और खासतौर पर यादवों से पहचाना गया। भा.ज.पा. आमतौर पर उच्च जातियों से और कांग्रेस मध्यम व पिछड़ी जातियों से पहचानी जाती है। यह बात अस्सी के दशक में गुजरात तथा महाराष्ट्र के उनके समर्थनाधार में प्रकट हुई। नब्बे के दशक में भा.ज.पा. ने कांग्रेस की रणनीति अपनायी जिसके तहत चुनावों में पिछड़ी जातियों के प्रत्याशियों को शामिल किया और उनके जाति भाइयों का सफलतापूर्वक समर्थन प्राप्त किया।

जाति संघों तथा राजनीतिक दलों के इस प्रकार के अंतर्संबंध के तीन परिणाम हुए। एक, खासकर ग़रीब तथा हाशिये के वे जाति-सदस्य जो अब तक राजनीतिक प्रक्रियाओं से अछूते थे, राजनीतिकृत हो गए और उन्होंने इस उम्मीद के साथ चुनावीय राजनीति में भाग लेना शुरू कर दिया कि उनके हितों की रक्षा होगी। दूसरे, जाति-सदस्य जाति की पकड़ को कमज़ोर करते हुए विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच छितर गए। तीसरे, संख्यात्मक रूप से बड़ी जातियों ने निर्णयन्-निकायों में प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लिया और पारम्परिक रूप से प्रबल जातियों के शक्ति कमज़ोर पड़ गई। इससे अधिकांश राज्य विधानसभाओं में मध्यम व पिछड़ी जातियों का प्रतिनिधित्व स्पष्ट होता है। तालिका-2 1957 से 1990 के दौरान गुजरात विधानसभा में विधायकों का जातीय संयोजन प्रस्तुत करती है। यह तालिका दर्शाती है कि एक समयावधि विशेष में ब्राह्मणों और बनियों की संख्या गंभीर रूप से घटी, जबकि एक समय कोलियों व राजपूतों ने क्षत्रियों के रूप में अपनी संख्या दुगनी कर ली। 1967 और 1995 के दौरान उत्तर प्रदेश में, राज्य विधानसभा में ऊँची जातियों का अनुपात घटकर 42 प्रतिशत से 17 प्रतिशत रह गया; जबकि अन्य पिछड़े वर्गों के सदस्य उसी अवधि के दौरान 24 प्रतिशत से बढ़कर 45 प्रतिशत हो गए।

तालिका 2 : 1957 से 1995 तक गुजरात विधानसभा में विधायकों का जाति संयोजन

जाति	प्रथम 57-62	द्वितीय 62-67	तृतीय 67-72	चतुर्थ 72-75	पंचम 75-80	षष्ठम 80-85	सप्तम 86-90	अष्टम 91-95
ब्राह्मण	18 (16)	25 (18)	20 (14)	17 (12)	14 (8)	20 (10)	14 (8)	10 (6)
बनिया	19 (17)	16 (12)	21 (15)	17 (12)	26 (14)	13 (10)	13 (7)	7 (4)
पटिदार	26 (24)	27 (27)	32 (23)	35 (25)	49 (27)	37 (20)	39 (22)	44(27)
क्षत्रिय (राजपूत व कोली)	13 (12)	14(10)	19 (20)	24(17)	32 (18)	38 (21)	44(25)	40(25)
मुस्लिम	4 (4)	9 (7)	3 (3)	3 (2)	5 (2)	11 (6)	7 (4)	3 (2)
अनु. जा.	10 (9)	11 (8)	11 (8)	1 (8)	14 (8)	13 (7)	13 (7)	14 (9)
अनु.जनजा.	15 (14)	21 (15)	22 (15)	22 (15)	27 (15)	29 (16)	29 (16)	30(19)
अ. पि. व.	5 (5)	3 (2)	3 (2)	9 (7)	14 (8)	16 (9)	18 (10)	14 (9)
लागू नहीं	22	18	26	30	1		5	20
कुल योग	132	154	154	168	182	182	182	182

22.10 मतदान व्यवहार में जाति

चुनावों में जाति की भूमिका के दो आयाम हैं। एक है दलों व प्रत्याशियों का, दूसरा मतदाताओं का। पूर्ववर्ती अपने आपको विशिष्ट सामाजिक व आर्थिक हितों के धुरंधरों के रूप में प्रक्षेपित करके मतदाताओं का समर्थन ढूँढते हैं। परवर्ती किसी एक पार्टी या प्रत्याशी के पक्ष में अपने वोट का प्रयोग करते समय जातीय आधार पर दोनों में से किसी को भी वोट दे देते हैं। और यदि ऐसा होता है तो यह कितना अनन्य है? जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है विभिन्न दल पार्टी टिकट बाँटने में कुछ निश्चित जातियों को समायोजित करते हैं। प्रत्याशियों का नामांकन करते समय पार्टियाँ किसी निर्वाचन क्षेत्र में खड़े होने वाले प्रत्याशी की जाति तथा विभिन्न जातियों की संख्यात्मक शक्ति को ध्यान में रखती हैं। जाति के नेता भी अपने अनुयायियों को जातीय आधार पर अपने अनुयायियों को लामबंद करते हैं ताकि वे अपना शक्ति-प्रदर्शन कर सकें। पचास के दशक में जहाँ जाति संघ अपनी एकता बनाए रखने में सक्षम थे और किसी एक दल के साथ औपचारिक रूप से नहीं जुड़े थे, वे अपने सदस्यों का अपने पार्टी संबंधन की बजाय अपने जाति भाइयों के लिए मतदान करने का आह्वान करते थे। राजस्थान में मीणाओं से कहा गया, "अपनी पुत्री अथवा अपना वोट" किसी ओर को न देकर किसी मीणा को ही दें। इसी प्रकार का नारा तमिलनाडु में प्रयोग किया गया : "वन्निया वोट किसी ओर के लिए नहीं है।" परन्तु जहाँ कहीं जाति संघ किसी पार्टी विशेष से जुड़ा, जाति-नेताओं ने जाति-सदस्यों से उसी पार्टी के लिए मत देने के लिए कहा। 1952 के चुनावों में गुजरात के क्षत्रिय नेताओं ने क्षत्रिय मतदाताओं को कहा कि यह उनका क्षत्रिय धर्म है कि वो कांग्रेस को वोट दें क्योंकि यही "महान् संस्था है और देश के विकास के लिए काम कर रही है।" आगामी चुनावों में जैसे ही जाति-नेता बिखर गए कुछ क्षत्रिय नेताओं ने आह्वान किया, "यह हमारा प्रण है कि गुजरात के क्षत्रिय कांग्रेस को वोट दें, तथा किसी और को नहीं।" दूसरों ने आह्वान किया कि यह क्षत्रियों का धर्म है कि महागुजरात जनता परिषद् (एक क्षेत्रीय दल) को वोट दें।

यद्यपि जाति सदस्यों के बीच एक प्रवृत्ति है कि एक पार्टी विशेष को वोट दें, कभी भी सामूहिक रूप से संपूर्ण जातीय मतदान नहीं हुआ। कुछ जातियाँ अपनी पार्टी विशेष को अपने दल के रूप में पहचानती हैं। यह उम्मीद की जाती थी कि यह उनके हितों की रक्षा करेगा। पश्चिमी उत्तरप्रदेश में जाटों ने लोकदल को अपनी पार्टी के रूप में पहचान दी। न सिर्फ इसलिए कि पार्टी के नेता जाट थे, परंतु इसलिएं भी कि इस पार्टी ने किसानों से संबंधित मुद्दे उठाए। लेकिन सभी जाटों ने इस पार्टी को वोट नहीं दिया क्योंकि कुछ ऐसे भी थे जो कांग्रेस के पारम्परिक समर्थक थे, और वे अपने हितों को उन अन्य जाट किसानों से भिन्न रूप में देखते थे जो वे पूर्वप्रभावी रूप से स्वयं थे। 1988 के उत्तरप्रदेश राज्य विधानसभा चुनावों में 51 प्रतिशत अनुसूचित जाति के मतदाताओं ने ब. स.पा. को वोट दिया। 18 प्रतिशत ने भा.ज.पा. को वोट दिया। ब.स.पा. के अनुसूचित जाति के मतदाताओं का खासा बहुमत ग़रीब सामाजिक स्तरों से संबद्ध था और भा.ज.पा. का मध्यम वर्ग से संबद्ध था। चुनावी आँकड़ों का विश्लेषण करते समय पुष्पेन्द्र पाते हैं, "व्यावसायिक रूप से ब.स.पा. के मतदाता मुख्यत: अकुशल कर्मचारी, कृषि व उससे जुड़े कर्मचारी, शिल्पकार, तथा छोटे व उपांत कृषक थे। भा.ज.पा. मतदाताओं (उत्तरप्रदेश में) में व्यवसाय व सफ़ेदपोश नौकरियों में लगे लोग केवल 2.6 और 1.6 प्रतिशत थे।"

विकासशील समाज अध्ययन केन्द्र (C.S.D.S.) द्वारा किए गए 1972 के राष्ट्रीय चुनाव सर्वेक्षण में एक प्रश्न पूछा गया, "इस प्रत्याशी/ दल/ चिह्न को वोट देना आपने क्यों चुना?" उत्तरदाताओं की एक बहुत ही नगण्य संख्या (एक प्रतिशत से भी कम) का मुख्य मापदंड प्रत्याशी की जाति था। कुछ उत्तरदाताओं ने उन व्यक्तियों को वोट दिया होगा जो उनकी अपनी जाति के थे। परंतु यह जाति मतदान नहीं था। उन्होंने प्रत्याशी को वोट दिया न केवल इसलिए कि वह उनकी जाति का

था/थी बल्कि उनकी पार्टी का था/थी और सक्षम था/थी। उन्होंने वोट इसलिए दिया क्योंकि वह उनकी पार्टी का/की प्रत्याशी था/थी जिसके प्रति उत्तरदाता उन अनेक कारणों से जुड़ा हुआ महसूस करता था जिनमें कि यह शामिल था कि वह पार्टी "उसके हितों की रक्षा" करेगी अथवा उस पार्टी ने उसके जैसे लोगों के लिए अच्छा काम किया था। अथवा, वे उस प्रत्याशी के संपर्क में थे कि जो उनकी मदद करता था। या वे महससू करते थे कि वह उनकी आवश्यकता पड़ने पर मदद करेगा। उनका प्राथमिक मापदंड है कि उनके हितों को समझा जाना। किसी दिए गए वैकल्पिक दलों/ प्रत्याशियों में तय करते हैं : कौन उनके हितों की रक्षा औरों से बेहतर करेगा। यदि प्रत्याशी उनकी अपनी जाति का है और उसी की पार्टी का है जिसे वो अपना मानते हैं, उसी को वोट देते हैं। अगर उन्हें लगता है कि प्रत्याशी उस पार्टी का है या तो उनके हितों की रक्षा करने में सक्षम है अथवा विरोधी है। अथवा निर्वाचन क्षेत्र की राजनीति में नगण्य है, वे उस प्रत्याशी को वोट नहीं देते बेशक वह उनकी जाति का हो। यही कारण है कि अनेक जाति-नेता अपने जाति-सदस्यों के पूर्वप्रभावी निर्वाचन क्षेत्र में कभी न कभी तब चुनाव हार जाते हैं जब वे दल बदलते हैं अथवा उनकी पार्टी लोकप्रियता खो देती है। इसी कारण प्रत्याशी की जाति तथा मतदाताओं के बीच कोई एक-से-एक का संबंध नहीं है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) जाति पंचायत तथा जाति सभा के बीच क्या अंतर है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) "जाति का लोकतांत्रिक अवतार" स्पष्ट करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) मतदान व्यवहार को जाति किस प्रकार प्रभावित करती है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) उन तीन दलों के नाम दें जो जाति विशेष के निकट सम्पर्क में हैं।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

22.11 सारांश

राजनीति निर्वात में नहीं काम करती। यह उस समाज में व्यवहृत है जिसमें वह सामाजिक बलों द्वारा प्रभावित होती है। राजनीति सामाजिक बलों को प्रभावित करती है और उनको बदल डालती है। यदि राजनीतिक संस्थाएँ और राजनीतिक नेता सामाजिक बलों में हस्तक्षेप करने में संज्ञापूर्ण प्रयास करें तो वे सामाजिक व्यवस्था और संबंध में काफी हद तक प्रभाव डाल सकते हैं और परिवर्तन ला सकते हैं। भारत में लोकतांत्रिक राजनीति जाति द्वारा प्रभावित रहा है परंतु उसने पारम्परिक जातीय व्यवस्था उसके मूल्यों को भी परिवर्तित किया है। विभिन्न स्तरों पर चुनावी प्रक्रियाओं में भाग लेते समय जाति की संरचना और कार्यकलाप बदले हैं। शुद्धता और अशुद्धता का इसका पारम्परिक पहलू उल्लेखनीय रूप से कमज़ोर हुआ है। जाति ने राजनीतिक भागीदारी के लिए दरिद्र व पारम्परिक रूप से वंचित समूहों को सांस्थानिक यंत्र रचना प्रदान की है। जाति अपने सदस्यों के कर्मकाण्डीय के बजाय आर्थिक व सामाजिक विषय के निष्पादनार्थ राजनीतिकृत की गई है। इस संदर्भ में यह जाति का लोकतांत्रिक अवतार है। परंतु इस प्रक्रिया ने विभिन्न गतिरोधों का सामना किया है और विभिन्न परिधियों में फँसी है। राजनीतिक नेता लामबंदी के लिए जातीय चेतना का प्रयोग करते हैं। परंतु उन आर्थिक व सामाजिक समस्याओं को उत्साह के साथ जारी नहीं रखते जो जाति के अधिकांश सदस्यों के सामने आती है। जातीय ढाँचे की अपनी सीमाएँ हैं। यह विभाज्य और पदानुक्रमिक है। यह जातिमूलक राजनीति के सामने एक चुनौती है।

22.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कोठारी, रजनी, *कास्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया,* हैदराबाद, ऑरिएण्ट लॉन्गमैन, 1970।

बैटिल, एन्द्रे, *एसेज़ इन् कम्पैरिटिव पर्सपैक्टिव,* अध्याय 4, दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1992।

रुडोल्फ, एल.आई. एवं रुडोल्फ एस.एच., *दि मॉर्डिनिटी ऑव ट्रॅडीशन,* दिल्ली, लॉन्गमैन, 1961।

शाह, घनश्याम, *कास्ट इन् इण्डियन पॉलिटिक्स,* दिल्ली, परमानेण्ट ब्लैक, 2000।

सामाजिक अध्ययन केन्द्र, *कास्ट, कास्ट कॅन्फ्लिक्ट एण्ड रिज़र्वेशन,* अध्याय 1, 2 व 8, दिल्ली, अजन्ता पब्लिकेशन, 1985।

22.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) ये चार हैं, यथा (1) पदानुक्रम, (2) समानुपातिकता, (3) विवाह पर प्रतिबंध, तथा (4) वंशानुगत व्यवसाय।

2) जाति व भूमि के बीच में एक सकारात्मक संबंध है। इस संबंध के विषय में मुख्य प्रवृत्ति यह दर्शाती है कि निम्न अथवा पिछड़ी जातियाँ तथा पूर्व-अछूत कृषि-श्रमिकों, छोटे व उपांत किसानों से संबंधित हैं, और उच्च व माध्यमिक जातियाँ धनी व मध्यवर्गीय किसानों से संबंधित होती हैं। बहरहाल, ऐसे उदाहरण हैं जहाँ उच्च जातियाँ ग़रीब कृषिवर्गों से संबंध रखती हैं, और निम्न जातियाँ धनी व मध्य-वर्गीय किसानों से।

3) अंतर्जातीय स्तरीकरण का एक उदाहरण है राजस्थान, उत्तरप्रदेश व गुजरात के राजपूतों व ठाकुरों का। उनमें से अधिकांश उच्च सामाजिक स्तर से संबद्ध हैं, कुछ अपनी ज़मीन रखते हैं और उनमें से बड़ी संख्या कृषि-श्रमिकों की है।

4) सामाजिक जाति सामाजिक स्तर पर जाति के संचलन को इंगित करती है – इसकी भूमिका सामाजिक व सांस्कृतिक पहलुओं से जुड़ी है। जब जाति चुनावों में अथवा किसी अन्य राजनीतिक उद्देश्य से लामबंदी का प्रतीक बन जाती है यह राजनीतिक जाति बन जाती है।

बोध प्रश्न 2

1) किसी जाति के सभी सदस्य जाति सभा के सदस्य होते हैं; इसका नेतृत्व अनुक्रमिक होता है; इसके पास कर्मकाण्डों और विवाह, तलाक तथा परिवार के अन्य विवाद जैसे दूसरे सामाजिक पहलुओं से निबटने के लिए न्यायिक अधिकार होता है। दूसरी ओर, किसी जाति के सभी सदस्य जाति संघों के सदस्य नहीं होते; इसका नेतृत्व अनुक्रमिक नहीं होता; इसके निर्णय जाति के सभी सदस्यों के लिए बाध्यकारी नहीं होते; इसके पास आर्थिक, शैक्षणिक तथा राजनीतिक कार्यक्रम होते हैं।

2) राजनीति में जाति संघों की भागीदारी को रुडोल्फ-रुडोल्फ द्वारा "जाति का लोकतांत्रिक अवतार" कहा गया है।

3) मतदान व्यवहार में जाति का प्रभाव दो तरीकों में प्रकट होता है – प्रत्याशियों को टिकट आबंटित करने में, और जातीय आधार पर मतदाताओं द्वारा वोट डाले जाने में। सामान्यत: किसी जाति के वोट एक पार्टी अथवा प्रत्याशी के लिए जाति के आधार पर डाले जाते हैं। परंतु कभी भी संपूर्णत: सामूहिक मतदान नहीं हुआ।

4) (1) गुजरात में कांग्रेस (इं.) 'खाम' **(KHAM)** – क्षत्रियों, हरिजनों, आदिवासियों तथा मुसलमानों का एक गठबंधन से पहचानी गई; (2) उत्तरप्रदेश में भारतीय क्रांति दल 'अजगर' (AJGAR) – अहीरों, जाटों, गूजरों तथा राजपूतों का एक गठबंधन; और, **(3)** बहुजन समाज पार्टी दलितों से पहचानी जाती है।

इकाई 23 गठबन्धन की राजनीति

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 गठबंधन राजनीति के प्रकार
23.3 गठबंधन व्यवहार
23.4 गठबंधन सरकार : एक तुलनात्मक अध्ययन
23.5 भारत में गठबंधन राजनीति (1947-1967)
23.6 भारत में गठबंधन सरकारों का उद्‌गमन (1967-1977)
23.7 केन्द्र में गठबंधन सरकार का उद्‌गमन (1977-1979)
23.8 गठबंधन राजनीति का पतन (1980-1989)
23.9 गठबंधन सरकारें और गठबंधन राजनीति (1989 से)
23.10 भारत में गठबंधन सरकारों का कामकाज
23.11 सारांश
23.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
23.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

23.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- गठबंधन का अर्थ समझ सकें;
- विभिन्न प्रकार की गठबंधन राजनीति पर चर्चा कर सकें; और
- 1967 के विधानसभा चुनावों के बाद राज्य स्तर पर गठबंधन सरकारों की प्रकृति व उद्‌गमन की चर्चा कर सकें।

23.1 प्रस्तावना

'गठबंधन' शब्द अंग्रेजी के 'कोअलिशन' (Coalition) शब्द का अनुवाद है जो लैटिन शब्द के 'कोअलिशियो' (Coalitio) शब्द से निकला है। यह शब्द 'कोअलैसर' यानी सम्मिलन – सह अथवा साथ-साथ, और 'अलैसर' यानी मिलन – बढ़ना का क्रिया-संबंधी सत्तावाचक है, जिसका अर्थ है बढ़ना अथवा साथ-साथ। इस प्रकार गठबंधन का अर्थ है सम्मिलन की क्रिया अथवा एक निकाय – दलों के एक संघ, में संगठित होना। विशिष्ट राजनीतिक संदर्भ में गठबंधन शब्द किसी एकल सरकार को बनाने के लिए राजनीतिक ताकतों के एक गठजोड़ अथवा अस्थायी संगठन को इंगित करता है। इस प्रकार के गठबंधन किसी लोकतांत्रिक राज्य में किसी बहुदलीय प्रणाली की आकस्मिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप सीधे उत्पन्न होते हैं। गठबंधन सरकारों को सामान्यत: उन एकदलीय सरकारों के विषम रूप में देखा जाता है जिनमें एक दल ही सरकार बनाता है।

कोई गठबंधन किसी सामान्य ख़तरे के बोध से एक साथ लाए गए प्रतिद्वंद्वी राजनीतिक कर्त्ताओं का समूहीकरण होता है, अथवा इस मान्यता के फलस्वरूप उनके लक्ष्य विलग रूप से काम करके नहीं प्राप्त किए जा सकते। सामान्य शब्दों में किसी गठबंधन को उस संसदीय अथवा राजनीतिक समूहीकरण के रूप में लिया जाता है जो किसी दल अथवा गुट अथवा किसी हित-समूह की बनिस्पत कम टिकाऊ होता है।

23.2 गठबंधन-राजनीति के प्रकार

किसी देश की संवैधानिक संरचना और निर्वाचन प्रणाली उसी आकार को निर्धारित करती है जो गठबंधन राजनीति धारण करती है। ये स्वभावत: तीन हैं : संसदीय, चुनावीय और सरकारी।

संसदीय गठबंधन में उस स्थिति में हो सकता है जब किसी एक दल के पास पूर्ण बहुमत न हो। वह दल जिसको सरकार बनाने को कहा जाता है, अपने अस्तित्व के लिए अन्य दल अथवा दलों के साथ समझौते पर भरोसा करते हुए एक अल्पसंख्यक सरकार के रूप में शासन करने का प्रयास करता है। 1989 में विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व वाली जनता दल सरकार एक ऐसी ही सरकार थी। ऐसी सरकार विधि-निर्माण के विभिन्न मुद्दों के लिए विपक्षी राजनीतिक दलों से समर्थन माँग सकती है अथवा वह सरकार मात्र इसलिए चल सकती है कि विपक्ष या तो राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए अथवा उसको वर्तमान राजनीतिक आधार से वंचित न किए जाने के लिए सरकार को हराना पसंद ही न करता हो। 1991 में नरसिम्हा राव के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार अपने आरंभिक कार्यकाल में इसी प्रकार की सरकार थी।

चुनावीय गठबंधन दो अथवा दो से अधिक ऐसे राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो ऐसा समझौता करते हैं कि जिससे किसी चुनाव में आपस में प्रत्याशियों के नाम वापस ले सकें ताकि संबद्ध दल द्वारा उन निर्वाचन क्षेत्रों में वोट कटने से बच सकें जहाँ वे क्रमानुसार मज़बूत स्थिति में हैं। ऐसे गठबंधन बनाना तब मुश्किल होता है जब सुदृढ़ स्थानीय आधार वाले दल और संगठन किसी प्रत्याशी को खड़ा करने के लिए अपने अधिकारों का समर्पण नहीं कर सकते। संयुक्त मोर्चा तथा राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन के रूप में ऐसे चुनावीय गठबंधन हाल के बीते दिनों में भारत में आम हो गए थे।

गठबंधन सरकारें सामान्यत: ऐसी एकदलीय सरकार के विषम रूप में देखी जाती है जिसमें एक ही दल सत्तारूढ़ होता है। ऐसी सरकारों को उन ग़ैर-पक्षावलम्बी सरकारों से भी भिन्न रूप से देखा जाना चाहिए जिनमें मंत्रिपरिषद् के सदस्य राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों के रूप में कार्य नहीं करते। गठबंधन सरकारें दलीय सरकारें होती हैं। किसी गठबंधन सरकार की सदस्यता प्रचलित रूप में उन दलों के रूप में परिभाषित की जाती है जिनको मंत्रिपरिषद् में प्रतिनिधित्व दिया जाता है। कुछ संसदीय सरकारें, तथापि, उन दलों के साथ भी सुसंगत रूप से सहयोग करती हैं जिनका मंत्रिपरिषद् में प्रतिनिधित्व नहीं होता।

सरकारी के स्तर पर विभिन्न प्रकार के गठबंधन हुआ करते हैं। पहला प्रकार है राष्ट्रीय सरकार जिसमें अधिकांश, यदि सब नहीं, मुख्य दल युद्ध अथवा आर्थिक संकट से पैदा हुई एक राष्ट्रीय आपात् स्थिति से निबटने के लिए एकजुट होते हैं। इस प्रकार की सरकार गठित किए जाने के पीछे तर्क यह है कि राष्ट्रीय संकट के दौरान दलगत झगड़ों को छोड़ने की आवश्यकता होती है और किसी सर्वमान्य दिशा में सभी ताकतों को संकेंद्रित किया जाना होता है। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान आस्किथ तथा लॉयड जार्ज और द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान विन्सटन चर्चिल के नेतृत्व वाली गठबंधन सरकारें राष्ट्रीय सरकारों के उदाहरण थे।

सत्ता-बाँट गठबंधन सरकारें उस वक्त बनायी जाती हैं जब दो अथवा दो से अधिक राजनीतिक दल जो अपने बूते बहुमत सुनिश्चित करने में सक्षम नहीं हैं, एक बहुमत सरकार बनाने के लिए एकजुट होते हैं। नब्बे के दशक में संयुक्त मोर्चा और भा.ज.पा. के नेतृत्व वाली गठबंधन सरकारें ऐसी ही थीं। सत्ता-बाँट गठबंधन सरकारें उन नीतियों एवं कार्यक्रमों को लागू करने के लिए भरसक प्रयास करती हैं जो कि गठबंधन साझीदारों के बीच तय हुआ होता है। योरोप महाद्वीप के देशों को ऐसी सरकारों का बहुधा अनुभव हुआ है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) गठबंधन का अर्थ संक्षेप में स्पष्ट करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) गठबंधन राजनीति के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ट करें।

.....

.....

.....

.....

23.3 गठबंधन व्यवहार

गठबंधन व्यवहार का अध्ययन निम्नलिखित प्रश्न सामने रखता है : वे विशिष्ट परिस्थितियाँ क्या हैं जो विभिन्न रानीतिक दलों को गठजोड़ करने के लिए प्रवृत्त करती हैं? एक दल विशेष अन्य दलों के साथ गठजोड़ करना क्यों पसंद करता है? कोई राजनीतिक दल किसी गठबंधन में शामिल होकर किन लाभों की उम्मीद कर सकता है?

विभिन्न देशों तथा विभिन्न कालों में गठबंधन राजनीतिक के ऐतिहासिक अनुभवों से लेकर किए गए एक तुलनात्मक अध्ययन से निम्नलिखित प्रव त्तियाँ उजागर हुई :

प्रथम, वे सभी राजनीतिक दल जो गठबंधन में शामिल होते हैं, का उद्देश्य होता है निर्णयन् प्रक्रिया पर अपने दीर्घकालीन प्रभाव को बढ़ा सकें।

दूसरा, गठबंधन के पुनर्वितरणीय परिणामों से संबंधित जागरुकता के चलते, सदस्य दल पुनर्वितरण के लाभों के आबंटन पर एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं।

तीसरा, गठबंधन साझीदारों के बीच प्रतिस्पर्धा उस सीमा से बँधी है जहाँ तक प्रत्येक साझेदार सहयोगियों की तरफ से प्रतिस्पर्धात्मक माँगों को बर्दाश्त कर सकने के इच्छुक हैं।

चौथा, ऐसी परिस्थिति में जहाँ गठबंधन साझीदारों के बीच सहनशीलता उच्च स्तर की हो, प्रतिस्पर्धात्मकता को राजनीतिक प्रभाव के लिहाज से ग़ैर-आनुपातिक रूप से उच्च लाभों के साथ नवाज़ा जाता है।

23.4 गठबंधन सरकार : एक तुलनात्मक अध्ययन

यूनाइटिड किंगडम, न्यूज़ीलैण्ड तथा कनाडा जैसी शुद्ध अथवा परिष्कृत द्वि-दलीय राजनीतिक प्रणालियों में गठबंधन सरकारें शांतिकाल में कम ही होती हैं। बहुदलीय प्रणाली वाले देशों में, जैसे बेल्जियम तथा नीदरलैण्ड्स, लगभग सभी सरकारें गठबंधन वाली ही रही हैं। डेनमार्क तथा स्वीडन जैसे बहुदलीय प्रणाली वाले अन्य योरोपीय देश भी हैं जहाँ सरकारें गठबंधनात्मक अथवा एकदलीय (अक्सर अल्पमत वाली) में से कोई एक हैं। सामान्य परिस्थितियों में गठबंधन सरकारें दो से पाँच दलों द्वारा बनायी जाती हैं। तथापि, विगत दिनों में भारत जैसे देशों में देखा गया है कि गठबंधन सरकार 18 दलों की नींव पर बनायी जा रही है यथा 1998 में वाजपेयी के नेतृत्व वाली सरकार। स्विट्ज़रलैण्ड एक अनोखा उदाहरण है जहाँ सभी बड़े दल गठबंधन सरकारों में नियमित रूप से शामिल किए जाते हैं।

गठबंधन सरकारें अनिवार्य रूप से संसदीय प्रकार की सरकारों का अभिलक्षण होती हैं, परन्तु वे फ्रांस तथा स्विट्ज़रलैण्ड जैसे देशों में भी बनायी गई हैं जहाँ 'परिष्कृत' संसदीय अथवा 'अर्ध-अध्यक्षीय' प्रणाली है। विकसित देशों में लगभग सभी दल केन्द्रवादी विचारधारा अपनाते हैं। सत्ता-बाँट अधिकांशतः इस प्रकार की सरकारों का मुख्य आधार होता है। बहरहाल, भारत तथा श्रीलंका जैसे विकासशील देशों में गठबंधन सरकारें सैद्धांतिक आधार पर बनायी गई हैं। इटली, डेनमार्क, फ्रांस तथा स्वीडन जैसे कुछ विकसित देशों को भी सैद्धांतिक समांगता के आधार पर बनी गठबंधन सरकारों का अनुभव है।

विकसित तथा विकासशील, दोनों प्रकार के देशों में गठबंधन सरकारों के व्यापक अस्तित्व के बावजूद, गठबंधन सरकारों के गठन तथा विलय की प्रक्रिया के संबंध में कोई पर्याप्त संवैधानिक प्रावधान नहीं है। जर्मन का संविधान एक महत्त्वपूर्ण अपवाद है जिसमें ऐसे प्रावधान हैं जो किसी विकल्प को समर्थन देने के लिए तैयार हुए बग़ैर किसी सरकार को गिरा देना ग़ैर-जिम्मेदार सांसदों के लिए असंभव बनाते हैं। स्वीडन में, सरकारी दस्तावेज़ 1974 कुछ विस्तार के साथ गठबंधन सरकार की निर्माण-प्रक्रिया की व्याख्या करने का प्रयास करता है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) गठबंधन व्यवहार में विभिन्न प्रवृत्तियाँ क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) गठबंधन सरकारों के गठन और विलय की प्रक्रिया के संबंध में क्या कोई संवैधानिक प्रावधान हैं? स्पष्ट करें।

.....

.....

.....

.....

.....

23.5 भारत में गठबंधन राजनीति (1947-1967)

1947 से 1967 तक का काल भारतीय राजनीति में स्वभावत: गठबंधनात्मक रहा। यह राजनीतिक दलों अथवा राजनीतिक संगठनों के स्तर पर था। रजनी कोठारी, मोरिस-जोन्स तथा मायरन वीनर जैसे क्रियाशीलवादी राजनीति-शास्त्रियों ने एक एकदलीय प्रभुत्व प्रणाली अथवा कांग्रेस प्रणाली के विचार के माध्यम से साठ के दशकांत में इस स्तर पर एक सैद्धांतिक आदर्श विकसित किया। कांग्रेस का प्रभुत्व उसके द्वारा केन्द्र में संसद में प्राप्त सीटों की संख्या के तथा राज्यों में बनायी गई सरकारों के लिहाज़ से, दोनों में प्रकट हुआ, साथ ही विधानमंडल निकायों के बाहर उसकी दुर्जेय संगठनात्मक शक्ति के लिहाज़ से भी। इस प्रकार पहले तीन आम चुनावों में कांग्रेस ने 45 प्रतिशत के आसपास वोट प्राप्त किए और संसद में 75 प्रतिशत सीटें जीतीं। छोटे-मोटे व्यवधानों को दरकिनार करते हुए कांग्रेस लगभग सभी राज्यों में तथा केन्द्र में सत्ता सम्भालती रही। मोरिस-जोन्स के अनुसार, कांग्रेस प्रणाली 'प्रतिस्पर्धा के साथ सह-अस्तित्व वाले प्रभुत्व नहीं वरन् लेशमात्र भी विकल्प के बग़ैर' में प्रतिबिंबित हुई। राजनीतिक व्यवस्था में कांग्रेस के इस प्रकार के विराट् प्रभुत्व ने अन्य दलों को हाशिये पर धकेल दिया।

इससे यह बात सामने आती है कि इस काल के दौरान भारत की राजनीतिक प्रणाली को सरकार व विपक्ष की मानक पाठ्यपुस्तक आरूप को साथ लेकर नहीं समझा जा सकता था। ये राज्य स्तर के साथ-साथ राष्ट्रीय स्तर पर विराट् कांग्रेस बनाम छोटी व बिखरी विपक्षी ताकतें थीं। कांग्रेस ने मौरिस डुवर्जर के उस नियम को सफलतापूर्वक परिभाषित किया जो द्वि-दलीय प्रणाली से अपेक्षा करता था कि वह उसकी सीमाओं के भीतर राजनीति प्रतिस्पर्धा तथा मण्डलीय व्यवस्था लागू करते हुए तथा फिर भी गुटों के एक उत्कृष्ट प्रबंध माध्यम से इसे एकजुट रखते हुए एक बाहुल्य निर्वाचन प्रणाली में प्रकट हो। गुटों के इस प्रकार के वृहद् गठजोड़ को रचने और बनाये रखने में भारतीय समाजों की उन जटिलताओं और संदिग्धार्थताओं से बड़ी ही मदद मिली जिन्होंने ध्रुवीकरण अथवा अन्तर्विरोधों को पैदा किए जाने की जाने की अनुमति नहीं दी वरना उससे सर्व-समाविष्ट्य

गठबंधन में दरार पड़ जाती। इसमें, मायरन वीनर के अनुसार, उन पारम्परिक मूल्यों तथा समझौते की भूमिकाओं से भी मदद मिली जो कांग्रेस पार्टी ने चतुरता से अपना लीं। ठीक इसी प्रकार, रजनी कोठारी ने भी कांग्रेस पार्टी द्वारा अपनाए गए अनेकवाद, समायोजन तथा सौदेबाज़ी पर आधारित सहमतिजन्य राजनीति पर विशेष प्रकाश डाला है।

इस प्रकार, सर्वसम्मति वाली एक केन्द्रीय ग़ैर-आनुपातिक रूप से बड़ी पार्टी के इर्द-गिर्द ऐसे दवाब वाले काफी मिलते-जुलते विपक्षी दल खड़े हो गए जिन्होंने सत्तारूढ़ दल तथा विपक्षी दलों व समूहों, दोनों पर एक गठबन्धनात्मक युक्तियुक्त विचार थोप दिया। कांग्रेस के अत्यधिक संगठनात्मक आकार, क्षेत्रीय प्रसार, तथा सैद्धान्तिक विविधता ने कांग्रेस को वैचारिक रूप से भिन्न समूहों वाले एक निर्बन्ध संगठन में बदल दिया। वैचारिक तथा क्षेत्रीय रूप से इन अपसारी समूहों ने उन विपक्षी दलों के साथ अनुबद्धता में प्रतिपक्षी की भूमिका अदा की जिनके साथ उन्होंने विचारधारा व हितों के लिहाज से समरूपता निभाई थी। विपक्षी दलों के लघु आकार ने सुनिश्चित कर दिया कि अप्रत्यक्ष दवाब-समूहों की भाँति और अधिक कार्य करके ही वे राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित कर सकते हैं। कोठारी के तर्कानुसार, "कांग्रेस प्रणाली लक्षणत: हमेशा रही है।" गठजोड़ बहु-गुट वाली और आन्तरिक सौदेबाज़ी तथा लामबन्दी की एक सतत् प्रक्रिया के द्योतन वाली प्रणाली गठबंधन का युक्तियुक्त विचार न सिर्फ़ कांग्रेस के अन्त: समूहों पर वरन् विपक्षी दलों पर भी थोपा गया। इस अवधि के दौरान सरकारी नीतियाँ अधिकतर प्रतिदल समूह-दलों द्वारा तय की जाने लगीं बजाय इसके कि वे आन्तरिक पार्टी मतदान अथवा सरकार अथवा विपक्ष के किसी परम्परागत मत-विभाजन की लीक पर तय की जातीं।

भारतीय राजनीति का गठबन्धात्मक स्वभाव तब स्पष्ट हुआ जब केन्द्र में कांग्रेस नेतृत्व ने अक्सर विजयी गठबंधन के समर्थन के प्रति निश्चिंत होने पर कोई न कोई निर्णय पार्टी के भीतर ही ले लेने की बजाय पूरी राजनीति व्यवस्था पर छोड़ दिया। यही वह तरीका था जिससे कांग्रेस के संकट दूर हुए जैसा कि मैक्स जिनका कांग्रेस का अध्ययन उजागर करता है।

23.6 भारत में गठबंधन सरकारों का उद्गमन (1967-1977)

1967 के चुनावों में गठबंधन राजनीति एक अन्य रूप में देखी गई – अब ग़ैर-कांग्रेसी विपक्षी दलों को भी शामिल किया जाने लगा। विपक्षी दल एक चुनावी गठजोड़ में शामिल होकर छह राज्यों में विधानसभा चुनावों में कांग्रेस को हराने में सक्षम थे। आर्थिक कठिनाइयाँ, घटती औरसता और यह तथ्य कि कांग्रेस ने डाले गए वोटों के लिहाज से कभी भी पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं किया, कांग्रेस की बाधा को स्पष्ट करते हैं।

1967 के चुनावों ने, मोरिस-जोन्स के अनुसार, एक प्राय: नियमित और सतत् दलबदलू-बाज़ार' की ओर ले जाती एक 'बाज़ार नीति' के उद्गमन की ओर प्रवृत्त किया। इस प्रकार, विपक्षी दलों द्वारा सत्ता-बाँट गठबंधन के निर्माण और कांग्रेस गुटों के दल-त्याग ने नौ राज्यों में ग़ैर-कांग्रेसी गठबंधन सरकारों की ओर प्रवृत्त किया।

बहरहाल, गठबंधन तकनीक जो कांग्रेस के लिए बड़ी कारगर थी, ने विपक्षी दलों के मामले में ठीक उलटा किया। यह इस तथ्य द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है कि अपसारी विचारधाराओं वाले विपक्षी दलों को व्यापक समर्थनाधार मिलने से चुनावी रूप से फ़ायदा हुआ। तथापि, गठबंधन सरकारों की विफलता की ओर ले जाते प्रशासन में संकट की ओर इसी कारक ने प्रवृत्त किया।

कांग्रेस, इस प्रकार, 1967 के चुनावों में हारे गए राज्यों में से अधिकांश में फिर से सत्तारूढ़ होने में सक्षम थी। तथापि, 1967-उपरांत कांग्रेस ने एक नई राजनीतिक प्रक्रिया अपनायी जिसकी पहचान थी – सहमतिजन्य राजनीति का स्थान विपक्ष के प्रति मुकाबलावादी राजनीति द्वारा लिया जाना। इसे नीति के 'बाज़ारीकरण' के साथ-साथ पार्टी में सत्ता के अति-केन्द्रीकरण से भी, यानी दोनों से, निबाहना था। कांग्रेस ने इस प्रकार चुनावी राजनीति का एक जनमत तरीका अख़्तियार कर लिया जिसने पार्टी में संस्थागत ह्रास की ओर प्रवृत्त किया। इससे राज्य स्तर के उन कांग्रेसी नेताओं की अक्षमता स्पष्ट होती है जो हित-सम्मिलन और गुटीय राजनीति के सृजन और परिचालन द्वारा राज्यों में राजनीतिक संतुलनों को कायम रखने में 'निर्वाचित' की बजाय 'नामांकित' थे। एक अति-केन्द्रीकृत राजनीतिक नेतृत्व द्वारा राज्य-स्तरीय कांग्रेस के विध्वंस ने राज्य स्तर पर कांग्रेस से वास्तविक प्रतिस्पर्धा के उद्गमन की ओर प्रवृत्त किया।

यद्यपि 1971 के चुनाव में इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस की अभूतपूर्व चुनावी जीत प्रारम्भत: कांग्रेसी आधिपत्य के पुनरुत्थान के रूप में देखी गई, अनुदर्शन में यह स्पष्ट है कि कांग्रेस का आभासी सातत्य भ्रामक था। वह कांग्रेस जिसको 1971 में इन्दिरा गाँधी सत्ता में लाईं, अनेक प्रकार से ऐसी नई पार्टी थी जिसको उस चुनावी राजनीति के एक नए मैदान हेतु मोल-तोल करना पड़ा, जो इसे वास्तविक प्रतिस्पर्धा में बदलती चुनावी राजनीति के खेल में 'मध्यम' कृषक जातियों व क्षेत्रीय समूहों से आते अनेक नए प्रवेशकों की उपस्थिति से संकेतित थी।

इससे पता चलता है कि कांग्रेस अब कोई एकल प्रबल दल नहीं रही थी परन्तु पूरे सत्तर व अस्सी के दशक में यह लगातार शासन करने वाली स्वाभाविक पार्टी बनी रही यानी वह ध्रुव जिसके इर्द-गिर्द चुनावी प्रतिस्पर्धा आयोजित थी। इसके उपरांत, कांग्रेस के विरुद्ध एक चुनावी गठबन्धन खड़ा करने के लिए विपक्षी दलों द्वारा किए गए प्रयासों की सफलता अथवा विफलता ने चुनावी नतीजों के प्रति एक निर्णायक भेद उत्पन्न किया।

23.7 केन्द्र में गठबंधन सरकार का उद्गमन (1977-1979)

गठबन्धन राजनीति के उद्भव में तीसरा चरण 1977 के संसदीय तथा विधानसभा चुनावों में कांग्रेस की हार से संकेतित था। पार्टी में राजनीति के जनवादी, दफ़्तरशाह और सत्तावादी तरीके के पदार्पण ने कांग्रेस सरकार द्वारा थोपी गई आपात्स्थिति की ओर प्रवृत्त किया। आपात्स्थिति और विपक्षी दलों का एक जल्दबाज़ी में जुटा गठजोड़, दोनों ही मुख्य कारक थे जो केन्द्रीय व राज्य, दोनों स्तरों पर कांग्रेस की चुनावी पराजय हेतु उत्तरदायी थे।

चार विपक्षी दलों – कांग्रेस (पु.), जनसंघ, भारतीय लोकदल और सोशलिस्ट पार्टी, का विलय कर 'जनता पार्टी' बनाई गई। जनता पार्टी ने बाद में, 1977 का आम चुनाव लड़ने के लिए एक परस्पर मान्य चुनाव-चिह्न लेकर तथा प्रतिस्पर्धी प्रत्याशियों की एक ही सूची बनाकर अकाली दल जैसे क्षेत्रीय स्तर के विपक्षी दलों के साथ गठजोड़ कर लिया।

मोरारजी देसाई के नेतृत्व वाली गठबन्धन सरकार अपने पूरे कार्यकाल नहीं चल सकी क्योंकि पार्टी के भीतर संघटक गुटों ने अपने वे वैचारिक मतभेद बनाए रखे जो उनके विलय-पूर्व दिनों की विरासत थे। आपात्स्थिति के दौरान लेकर चले गए जुड़वाँ उद्देश्यों को पूरा करते हुए एक बाद गठबन्धन सरकार बनायी गई और संशोधक अधिनियम पारित किए गए – इसके नेताओं की महत्त्वाकांक्षाओं को पार्टी में फूट का सामना करना पड़ा और 1979 में सरकार गिर गई।

दलबदल – भारतीय राजनीति के बाज़ारीकरण की उपज, का पदार्पण 1967 के चुनावों से हुआ। जनता पार्टी से दलबदल ने वाम दलों तथा कांग्रेस का बाहरी समर्थन लेकर लोकदल तथा कांग्रेस (एस.) की चरणसिंह के नेतृत्व वाली गठबंधन सरकार के गठन की ओर प्रवृत्त किया। इस गठबंधनात्मक प्रबंध से फिर वैचारिक विसंगति का संकेत मिला और कोई कौतुक नहीं कि जैसे ही कांग्रेस ने अपना समर्थन वापस लिया, अपने बनने के तीन सप्ताह में ही सरकार गिर गई।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारत में एक-दल प्रभुत्व प्रणाली के दौरान राजनीति की गठबंधन प्रकृति को स्पष्ट करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) 1967 के विधानसभा चुनावों के उपरांत उन गठबंधन सरकारों की प्रकृति क्या थी जो राज्यों में बनाई गईं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) जनता गठबंधन सरकार ने अपना कार्यकाल पूरा क्यों नहीं किया?

.....

.....

.....

.....

.....

23.8 गठबंधन राजनीति का पतन (1980-1989)

जनता गठबंधन सरकार द्वारा उसके कार्यकाल पूरा करने में असफलता के रूप में गठबन्धन प्रयोग की विफलता ने 1978 की फूट से उबरती कांग्रेस को एक अवसर दिया कि वह 1980 के चुनावों में इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में सत्ता हासिल करे। कांग्रेस ने 1984 के आम चुनावों में भी एक महाकाय जीत हासिल की। इस प्रकार, दशक भर के लिए केन्द्र में गठबन्धन राजनीति का पटाक्षेप हो गया। राज्य स्तर पर, बहरहाल, गठबन्धन राजनीति जारी रही। कांग्रेस ने, उदाहरण के लिए, जम्मू-कश्मीर में नैशनल कान्फ्रैंस के साथ और तमिलनाडु में 1980 में द्र.मु.क. तथा 1984 के चुनावों में अन्ना-द्र.मु.क. के साथ गठजोड़ किया। इस अवधि के दौरान केरल, त्रिपुरा एवं पश्चिम बंगाल राज्यों में वाम दलों के नेतृत्व वाली गठबन्धन सरकारें बनाई गईं।

यही वह काल था जब भावी गठबन्धन राजनीति के बीज अंकुरित हुए। जनमत्य चुनावों में अपनी चुनावी विजयों के बावजूद कांग्रेस अपना सैद्धांतिक व संस्थागत आधार निरन्तर खोती जा रही थी। लगता था कि वह लोकतांत्रिक रूप से जाग्रत उन ग्रामीण सामाजिक समूहों की माँगों व आकांक्षाओं का समुचित उत्तर देने में असमर्थ थी जो अपनी चुनावी शक्ति के महत्त्व के प्रति उत्तरोत्तर जागरूक होते जा रहे थे। इसके अतिरिक्त, कांग्रेस में सत्ता के अति-केन्द्रीकरण ने केन्द्र-राज्य तनावों के उच्चीकृत स्तर की ओर प्रवृत्त किया।

भारतीय राजनीति के ग्राम्यकरण और क्षेत्रीयकरण ने उन क्षेत्रीय दलों के उद्‌गमन की ओर प्रवृत्त किया जिनको संख्यात्मक रूप से सशक्त और आर्थिक रूप से शक्तिशाली धनी कृषक जातियों द्वारा समर्थन प्राप्त था। आन्ध्र प्रदेश में तेलुगु देशम, पंजाब में अकाली दल तथा असम में अ.ग.प. उन क्षेत्रीय दलों में से थे जिन्होंने राजनीतिक दलों के बीच एक सर्वसुलभ प्रतिस्पर्धा सुनिश्चित की और विभिन्न समूह आदि में झुकाव के हेर-फेर को बढ़ावा दिया। इन सभी कारकों ने राज्य स्तर पर कांग्रेसी प्रभुत्व की समाप्ति हेतु राह गढ़ी।

राज्यों में एक चीज तेजी से उभरी, वह थी द्वि-ध्रुवीकरण, क्योंकि क्षेत्रीय दलों के साथ-साथ कांग्रेस भी अभी तक दलीय प्रणाली पर चुप्पी साधे थी। ऐसा इस कारण था कि कांग्रेस को राष्ट्रीय स्तर के किसी भी अन्य दल की अपेक्षा अधिक जनाधार निरन्तर प्राप्त था और इस कारण भी कि यही वह अभ्यन्तर था जिसके इर्द-गिर्द दलीय प्रणाली रची गई थी। राज्य स्तर पर इस द्वि-ध्रुवीयता ने, फिर भी, इस द्वि-ध्रुवीयता को राष्ट्रीय स्तर पर नहीं पहुँचाया, जो 1989 के आम चुनावों से प्रकट हुआ।

23.9 गठबंधन सरकारें और गठबंधन राजनीति (1989 से)

1989 के चुनावों की ओर बढ़ते हुए एक अन्य जल्दबाजी में जुटा गठबंधन 'जनता दल' के रूप में साकार हुआ जो जनता पार्टी, लोकदल (ए), लोक दल (बी) जैसी अनेक पार्टियों के विलय के फलस्वरूप अस्तित्व में आया। जनता दल ने बाद में द्र.मु.क., कांग्रेस (एस.) अ.ग.प., भा.क.पा., मा. क.पा. व अन्य छोटी क्षेत्रीय पार्टियों से चुनावी गठजोड़ कर लिया। यह चुनावी गठजोड़ 'राष्ट्रीय मोर्चा' पुकारा जाने लगा जिसने 1989 के संसदीय चुनावों में सीटों के बँटवारे पर भा.ज.पा. के साथ समझौता कर लिया। चूँकि कांग्रेस व उसके सहयोगी दलों ने सरकार बनाने का दावा पेश नहीं किया, जनता दल के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय मोर्चा को ही राष्ट्रपति द्वारा सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया गया। विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चा की गठबंधन सरकार को भा.ज.पा. तथा वाम दलों द्वारा बाहर से ही समर्थन दिया गया, वे सरकार में शामिल नहीं हुए।

राष्ट्रीय मोर्चा की अल्पमत सरकार केन्द्र में पहली वास्तविक गठबंधन सरकार थी क्योंकि जनता सरकार एक 'प्रतिनिधि गठबंधन सरकार' थी और चरणसिंह के नेतृत्व वाली लोकदल तथा कांग्रेस (एस.) की गठबंधन सरकार लोकसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने से पहले ही गिर गई।

राष्ट्रीय मोर्चा सरकार व्यापक स्तर पर लोकतांत्रिक सत्ता-बाँट पर आधारित, एक दृढ़ सहमतिजन्य राज्याधार देने में असफल रही। हरियाणा जनता दल सरकार में नेतृत्व परिवर्तन के कारण इसको आन्तरिक संकट का सामना करना पड़ा। बाहरी संकट 'अयोध्या' मुद्दे पर भा.ज.पा. के साथ मतभेद से पैदा हुआ। जनता दल के भीतर नेतृत्व हेतु गहन प्रतिस्पर्धा ने जनता दल में फूट को प्रवृत्त किया। भा.ज.पा. द्वारा समर्थन वापस लिए जाने के बाद लोकसभा में विश्वास-मत हासिल करने में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार द्वारा असफल रहने के उपरांत कांग्रेस द्वारा बाहर से समर्थन पाकर, नव-गठित जनता दल (शेखर) ने चन्द्रशेखर के नेतृत्व वाली एक अल्पमत सरकार बना ली। 1991 में जब कांग्रेस ने अपना समर्थन वापस ले लिया, जनता दल (शे.) की अल्पमत सरकार गिर गई।

1991 के संसदीय चुनावों ने फिर से 'त्रिशंकु' लोकसभा को जन्म दिया। कांग्रेस सबसे बड़े दल के रूप में उभरी ज़रूर पर बहुमत के आसपास भी नहीं थी। किसी गठजोड़ की सम्भावना न रहने पर, कांग्रेस ने नरसिम्हा राव के नेतृत्व में एक अल्पमत सरकार बना ली। सत्ता में रहने के लिए इस अल्पमत सरकार ने संसदीय युक्ति-चालन में बड़ी ही निपुणता दर्शायी। अपने हित में जनता दल में फूट डलवाकर तथा उप-चुनावों में विजय दर्ज कराकर यह सरकार अपने बूते एक बहुमत सुनिश्चित कर सकी।

तथापि, 1993 से 1995 के मध्य हुए विधानसभा चुनावों ने पहले ज़माने की एक-दल-प्रमुख बहु-दलीय प्रणाली को समाप्त ही कर दिया। कांग्रेस अब वह अभ्यंतर नहीं रही जिसके इर्द-गिर्द दलीय प्रणाली रची गई थी। इन चुनावों ने केरल व पश्चिम बंगाल जैसे राज्यों को छोड़कर, जहाँ गठबंधन राजनीति अभी जीवित है, पूरे देश में द्विध्रुवीय समेकन की प्रक्रिया को तीव्र किया। इस प्रकार, कम-से-कम बारह राज्यों में ग़ैर-कांग्रेसी सरकार ने 1995 के अंत तक शासन किया।

राज्य स्तर पर एक द्विध्रुवीय राजशासन की दिशा में बढ़ते रुझान ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि राष्ट्रीय स्तर पर एक द्वि-दलीय प्रणाली असंभावित हो गई। उत्तरप्रदेश व बिहार – दो सबसे बड़े राज्यों – में प्रतिस्पर्धा के असली अखाड़े से कांग्रेस के प्रभावशाली उपांतकरण के साथ ही अब यह स्पष्ट हो गया था कि कांग्रेस भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के केन्द्र में (मध्यम आधार कब्जाने व सीमांकित करने तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने, दोनों के लिहाज से, अपनी स्थिति को अब अपने बूते बनाये नहीं रह सकती थी। राज्यों में ज़िला क्षेत्रीय दल-प्रणालियों के उद्गमन के साथ ही क्षेत्रीय स्तर पर बहुजन समाज पार्टी, तेलुगु देशम पार्टी, असम गण परिषद्, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, अकाली दल आदि दलों के उदय का संकेत मिला; कांग्रेस अब उन अनेक क्षेत्रीय समूहों में ही स्थित अनेक पार्टियों में से एक थी। यह अब वो ध्रुव नहीं रही थी जिस पर प्रत्येक राजनीतिक संरचना सीमांकित होती थी। उन राज्यों में भी जहाँ कांग्रेस व उसके प्रतिद्वंद्वियों के बीच सीधे-सीधे होड़ थी कांग्रेस अब जन्मजात शासक पार्टी नहीं रही थी।

उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ 1996 के संसदीय चुनावों में पुष्ट हो गईं। भा.ज.पा. ने उत्तरी व पश्चिमी राज्यों, खासकर बिहार व उत्तरप्रदेश, में काफी अच्छा प्रदर्शन किया और लोकसभा में सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। इस पार्टी ने एक अल्पमत सरकार बनायी जो लोकसभा में विश्वास-मत खो देने से पूर्व मुश्किल से दो सप्ताह चली। क्षेत्रीय दलों, यथा तेलुगु देशम पार्टी, द्र.मु.क., अ.ग.प. तथा तमिल मनीला कांग्रेस, ने जनता दल से गठजोड़ कर राष्ट्रीय मोर्चा बनाया जिसमें वाम दल शामिल थे।

परिणामी संयुक्त मोर्चा पहले हरदनहल्ली देवगौड़ा और फिर इंद्रकुमार गुजराल के नेतृत्व में कांग्रेस व वाम दलों (संसदीय इतिहास में पहली बार भा.क.पा. सरकार में शामिल हुई) के बाहर से समर्थन के साथ एक गठबंधन सरकार बनाने में सक्षम था। 1998 में, कांग्रेस द्वारा समर्थन वापस ले लिए जाने के बाद संयुक्त मोर्चा गठबन्धन सरकार गिर गई।

1996 के अपने अनुभव से सबक लेते हुए भा.ज.पा. ने तमिलनाडु में अन्ना-द्र.मु.क., बिहार में समता पार्टी, पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस, पंजाब में अकाली दल आदि क्षेत्रीय पार्टियों के साथ चुनावी गठबंधन कर लिया। तदोपरांत इन पार्टियों ने (संख्या में अठारह) एक गठबंधन सरकार बनाई जो मुश्किल से एक वर्ष चली क्योंकि 1999 में अन्ना-द्र.मु.क. ने अपना समर्थन वापस ले लिया। 1999 के संसदीय चुनाव से यह प्रकट होता है कि दो दलों, कांग्रेस व भा.ज.पा. का क्षेत्रीय दलों के साथ इस प्रकार चुनावी गठबंधन हुआ कि गठबंधन सरकार का उभरना अपरिहार्य हो गया।

1996 के चुनाव-परिणाम तथा 1998 या 1999 के चुनाव-परिणामों का तुलनात्मक अध्ययन दोनों के बीच एक बड़ा भेद उजागर करता है। 'त्रिशंकु' संसद जो 1996 के चुनावों के बाद सामने आयी, मसला किसी एक दल को बहुमत न मिलने का नहीं था बल्कि स्पष्ट गठजोड़ न होने का था। 1998 व 1999 के चुनावों में, तथापि, भा.ज.पा. व कांग्रेस ने दिखा दिया था कि अपने बूते पर किसी भी पार्टी को बहुमत न मिलने के बावजूद, क्षेत्रीकृत बहु-दलीय प्रणाली के भीतर दो 'ध्रुव' सुस्पष्ट हो गए हैं – कांग्रेस तथा भा.ज.पा.। तब यह स्वाभाविक ही है कि दोनों दल गठबंधन राजनीति तथा गठजोड़ किए जाने के आदेशों को धीरे-धीरे मानते जा रहे हैं।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) क्षेत्रीय दलों के उद्‌गमन में किन कारकों का योगदान रहा?

.....

.....

.....

.....

.....

2) 1993-1995 के विधानसभा चुनावों के उपरांत गठबंधन राजनीति में क्या नए रुझान दिखाई दिए?

.....

.....

.....

.....

23.10 भारत में गठबंधन सरकारों का कामकाज

परम्परागत रूप से यह मान लिया गया है कि सामूहिक उत्तरदायित्व, समांगता तथा गोपनीयता के सिद्धांत सरकार के प्रभावशाली कार्य-संचालन हेतु अत्यावश्यक हैं। भारत में, खासकर केन्द्र में, बनी गठबन्धन सरकारों में इन बातों का अभाव पाया गया है। गठबन्धन सरकारों का कामकाज अन्तर्दलीय मतैक्य सुनिश्चित करने की आवश्यकता द्वारा प्रभावित हुआ है। अपने सामाजिक आधार तथा विचारधाराओं के लिहाज से गठबन्धन साझीदारों की अनेकरूपता राजनीतिक तथा विभागीय मसलों पर कैबिनेट मंत्रियों के बीच अक्सर असहमतियों में प्रकट होती रही है। इससे कैबिनेट की मंत्रणात्मक तथा निर्णयन् प्रक्रिया पर दुष्प्रभाव पड़ता रहा है। संयुक्त मोर्चा अथवा राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन के छत्रछाया में गठजोड़ करती पार्टियों को सरकार के ऐक्य-रक्षा की स्थिति के साथ-साथ गठबंधन में एक साझीदार के रूप में अपनी पृथक्-कृत पहचान का भी सामना करना पड़ा है। केन्द्र में गठबंधन सरकारें सैद्धान्तिक अथवा योजनाबध्य समांगता के सकारी आधार पर नहीं, बल्कि सत्ता हथियाने (जैसे 1998 में भा.ज.पा. के नेतृत्व वाली गठबंधन सरकार) अथवा कांग्रेस व भा.ज.पा. को सत्ता से बाहर रखने (जैसे 1996 में संयुक्त मोर्चा सरकार) के नकारी आधार पर बनायी गई हैं। इस कारक ने इन सरकारों में गुणकारिता के साथ-साथ उनकी स्थिरता के अभाव में भी योगदान किया है। गठबंधन में क्षेत्रीय दलों के होने से इस धारणा को बल मिला है कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्राय: किसी-न-किसी क्षेत्रीय दृष्टिकोण द्वारा अति छायाकृत किए जाने का आश्रय लेता है और इसको भी कि व्यक्तिगत या दलगत लाभों को प्राय: सामूहिक लाभों से ऊपर रखा जाता है। कैबिनेट की बजाय गठबंधन साझीदारों की परिचालन समिति अक्सर वास्तविक मंत्रणात्मक निकाय के रूप में काम करती है और इस प्रकार शासन-प्रक्रिया निर्धारित करती है। हाल के वर्षों में बनी गठबंधन सरकारों में प्रधानमंत्री की ढुलमुल स्थिति के कारण शासन को भी हानि उठानी पड़ी है। प्रधानमंत्री ऐसी स्थिति में नहीं रहा है कि मंत्रिपरिषद् में उन मंत्रियों को चुन सके जो उसकी अपनी पार्टी से संबद्ध नहीं हैं क्योंकि वे अपने-अपने पार्टी नेताओं द्वारा चुने जाते हैं। इसने प्रधानमंत्रीय कार्यवाही के प्राधिकार की जड़ों को इस कदर खोखला कर दिया है कि वह संबद्ध दल के रोष को आमंत्रण दिए बग़ैर उन्हें बरखास्त करने में भी बाधित महसूस करता है।

हाल में, गठबंधन सरकारें एक 'सर्वमान्य अल्पतम कार्यक्रम' (सी.एम.पी.) को लागू करने के लिए गठबंधन साझीदारों द्वारा एक आम समझौते के आधार पर बनायी गई हैं। बहरहाल, गठबंधन साझीदारों के बीच झगड़ा अक्सर इसकी क्रियान्वयन प्रक्रिया में बाधक रहा है। इसके अतिरिक्त यह नितान्त तथ्य कि 1996 व 1998 में हुए चुनावों ने असंचालनीय, अस्थिर तथा अल्पायु गठबंधन सरकारें दीं, सी.एम.पी. के परिपालनहीनता हेतु काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार था।

23.11 सारांश

गठबंधन राजनीति दो तरीकों से व्यवहृत होती है – एक, सरकार के बाहर राजनीतिक दलों के गठबंधन द्वारा; दूसरे, दो अथवा अधिक राजनीतिक दलों द्वारा सरकार के गठन द्वारा। परवर्ती को एक गठबन्धन सरकार के रूप में जाना जाता है। किसी गठबन्धन सरकार का मूल उद्देश्य होता है – विधानसभा/संसद के बहुमत नियंत्रण के साथ-साथ सर्वमान्य अल्पतम कार्यक्रम के क्रियान्वयन को सुनिश्चित करना। गठबंधन सरकारें बाहर से भी समर्थन प्राप्त कर सकती हैं। भारत में दलीय प्रणाली तथा राजनीतिक व्यवस्था पर आज़ादी के कोई पहले पच्चीस वर्षों तक चुनावी तथा संगठनात्मक प्रसंग, दोनों में कांग्रेस का प्रभुत्व रहा। अपनी ऐतिहासिक विरासत का पालन करती कांग्रेस ने एक व्यापक आधार वाले सामाजिक गठबंधन का प्रतिनिधित्व किया। 'कांग्रेस प्रणाली'

राजनीति के लिहाज से भी गठबंधन पर आधारित थी क्योंकि शासन-प्रणाली में विपक्षी दलों के साथ अपने व्यवहार में वह गठजोड़ युक्ति अपनाती थी। अस्सी के दशक के उत्तरार्ध काल में राजनीतिक मतैक्य को कायम रखने और पुनर्गठित करने में कांग्रेस की केन्द्रीय भूमिका का क्षय होता देखा गया। इस प्रकार, राजनीतिक लामबन्दी तथा राजनीतिक भरती प्रक्रिया ने दलीय प्रतिस्पर्धा के एक अधिक पृथक्त ढाँचे के अनुकरण का उद्घोष किया। नए क्षेत्रीय व सामाजिक समूहों के द्रुत सैन्य-संघटन तथा राजनीतिकरण के परिणामस्वरूप दलों व गुटों की एक नई पीढ़ी का विकास हुआ, इनमें से अनेक उन नेताओं विशेष पर फ़ोकस करते थे जो विशिष्ट जातियों व समुदायों के साथ तादात्म्य स्थापित करने में सक्षम थे। विशेषत: नब्बे के दशक में बीते वर्षों की प्रबल बहु-दलीय प्रणाली का एक निर्णायक अन्त देखा गया। इसने केन्द्रीय व राज्य, दोनों स्तरों पर एक प्रतिस्पर्धात्मक बहु-दलीय प्रणाली की दिशा में कार्रवाई का संकेत दिया। 1989 में हुए आम चुनावों तथा 1993-95 के राज्य विधानसभा चुनावों ने इस रुझान को पुष्ट किया। नए सामाजिक समूहों व पहचानों की एक लहर के साथ ही राष्ट्रीय दलों (कांग्रेस व भा.ज.पा. को छोड़कर नहीं) का बढ़ता क्षेत्रीयकरण भी बड़ी संख्या में पार्टियाँ गठित किए जाने की व्याख्या करता है। नतीजतन, राष्ट्रीय व प्रान्तीय दल-प्रणाली, तथा दलीय प्रणाली में 'संघीकरण' की प्रक्रिया के बीच सीमारेखाओं की एक अस्पष्टता रही है। राष्ट्रीय व प्रान्तीय दल-प्रणालियों के बीच इस जटिल व परस्पर जुड़ते सम्बन्ध में, परवर्ती में परिवर्तन पूर्ववर्ती को उत्तरोत्तर रूप से प्रभावित करते रहे हैं। गठबन्धन राजनीति तथा गठबन्धन सरकारें एक एकल-प्रभुत्व से लेकर एक क्षेत्राधारित बहु-दलीय प्रणाली तक चल रही कायांतरण प्रक्रिया से संबंध रखती हैं। इस प्रकार, एक वर्धमान रूप से क्षेत्रीकृत बहु-दलीय प्रणाली में क्षेत्रीय दलों के समर्थन से केन्द्र में एक द्वि-ध्रुवीयता का उद्गमन हुआ है – कांग्रेस व भा. ज.पा. ही ये दो 'ध्रुव' हैं।

23.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

करुणाकरण, के.पी., *कोअलिशन गवर्नमैण्ट इन् इण्डिया,* भारतीय उन्नत अध्ययन संस्थान, शिमला, 1975।

कोठारी, रजनी, *पॉलिटिक्स इन् इण्डिया,* ओरिएण्ट लॉन्गमैन, बम्बई, 1970।

चटर्जी, पार्थ, *स्टेट एण्ड पॉलिटिक्स इन् इण्डिया,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1998।

बॉग्डानॉर वरॉन, *दि ब्लैकवैल एन्साइक्लॅपीडिआ ऑव पॅलिटिकल इंस्टीट्यूशन्स,* ब्लैकवैल रैफरैन्स, ऑक्सफोर्ड, 1987।

23.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) गठबंधन का अर्थ है – पार्टियों का एक संघ। राजनीतिक संदर्भ में गठबंधन सरकार बनाने हेतु राजनीतिक ताकतों के किसी गठजोड़ अथवा अस्थायी संघ को इंगित करता है।

2) तीन प्रकार के गठबंधन होते हैं – संसदीय, चुनावी तथा सरकार-संबंधी। संसदीय गठबंधन तब किया जाता है जब सरकार बनाने हेतु किसी भी एक दल के पास बहुमत नहीं होता। चुनावी गठबंधन तब किया जाता है जब दो या दो से अधिक राजनीतिक दल प्रत्याशियों के नाम वापस

लेने के लिए परस्पर सहमत हो जाते हैं ताकि अपने उन निर्वाचन क्षेत्रों में जहाँ वे मज़बूत स्थिति में हैं, उनके वोट न कटें। तीसरे प्रकार का गठबंधन तब किया जाता है जब किसी देश में राष्ट्रीय आपात्स्थिति में राजनीतिक दल सरकार बनाते हैं। ऐसे मामले में पार्टियाँ एक सर्वमान्य राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए अपने मतभेद भुलाने हेतु कठोर प्रयास करती हैं।

बोध प्रश्न 2

1) ये हैं : सभी दल एक गठबंधन बनाते हैं; गठबंधन के सदस्य पुनर्वितरण लाभों के आबंटन पर एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं; गठबंधन साझीदारों के बीच प्रतिस्पर्धा एक सीमा से बँधी है; और, गठबंधन साझीदारों की प्रतिस्पर्धात्मकता को राजनीतिक प्रभाव के लिहाज से असंगत रूप से उच्च लाभों के साथ नवाज़ा जाता है।

2) जर्मन संविधान को छोड़कर, कहीं भी कहीं भी ऐसे कोई प्रावधान नहीं है।

बोध प्रश्न 3

1) इस चरण में कांग्रेस ही केन्द्र व राज्यों, दोनों जगह प्रभुत्वसम्पन्न पार्टी थी उस काल के गठबंधन की प्रवृत्ति कांग्रेस के आलोक में समझायी जा सकती है। रजनी कोठारी के अनुसार, यह बहुवाद, उपकारिता तथा सौदेबाज़ी पर आधारित सहमतिजन्य थी।

2) इस काल में, नौ राज्यों में ग़ैर-कांग्रेसी गठबंधन सरकारों का गठजोड़ संघटन देखा गया। कांग्रेस प्रणाली के गठजोड़ से भिन्न, इस प्रकार का गठबंधन अपसारी विचारधाराओं तथा समर्थनाधार वाले दलों बनाया गया था।

3) निम्नलिखित कारणों से जनता गठबंधन ने अपना कार्यकाल पूरा नहीं किया –

   अ) गठबंधन सदस्यों के बीच वैचारिक मतभेद थे; और

   ब) घटक दलों के नेताओं की महत्त्वाकांक्षाओं के कारण।

बोध प्रश्न 4

1) भारतीय राजनीति के ग्राम्यकरण और क्षेत्रीयकरण ने क्षेत्रीय राजनीति के उदय को बढ़ावा दिया। क्षेत्रीय दलों ने उस ग्रामीण धनी वर्ग का व्यापक रूप से समर्थन किया है जो विशाल जनसंख्या शक्ति रखते हैं।

2) ये हैं – एक-दल-प्रभुत्व बहु-दलीय प्रणाली का अंत; देश के अधिकांश भागों में द्वि-ध्रुवीय समेकन की प्रचण्डता; और, भिन्न क्षेत्रीय दलों का उदय।

इकाई 24 महिलाएँ

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 19वीं और 20वीं सदी-पूर्वार्ध में महिलाओं हेतु सुधार

- 24.2.1 "सती" के विरुद्ध
- 24.2.2 विधवा-पुनर्विवाह
- 24.2.3 वैश्याओं का पुनर्वास
- 24.2.4 आर्य समाज
- 24.2.5 बाल-विवाह निषेध

24.3 महिलाओं हेतु शिक्षा और पहचान के साथ उभरती महिलाएँ

- 24.3.1 साहित्य में महिलाएँ और महिलाओं द्वारा साहित्य
- 24.3.2 अधिकारों हेतु महिलाएँ
- 24.3.3 महिलाओं हेतु महिलाएँ
- 24.3.4 राष्ट्रवादी संघर्ष में महिलाएँ
- 24.3.5 समानता हेतु महिलाएँ

24.4 महिलाओं की स्वतंत्र राजनीतिक पहचान

- 24.4.1 राजनीति में महिलाओं के प्रति भेदभाव
- 24.4.2 राजनीति में महिलाओं की पहल
- 24.4.3 महिला "आतंकवादी"

24.5 महिला एकता अथवा संयुक्त संचलन के सामने मुख्य मुद्दे

- 24.5.1 सम्प्रदाय और जातिवाद
- 24.5.2 दमन से दैनिक मुठभेड़
  - i) मद्य के विरुद्ध
  - ii) दहेज के विरुद्ध
  - iii) यौन दुष्प्रयोग के विरुद्ध
- 24.5.3 पर्यावरण और जीवंतता

24.6 राजनीति में महिलाएँ या महिलाओं 'द्वारा' राजनीति

- 24.6.1 तेलंगाना आंदोलन
- 24.6.2 बोध गया आंदोलन
- 24.6.3 दलित महिला आंदोलन
- 24.6.4 आदिवासी महिला आंदोलन
- 24.6.5 साहित्य, रंगमंच व अन्य अभिव्यक्ति-विधाओं के माध्यम से संचलन

24.7 शब्दावली

24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें व लेख

24.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

24.0 उद्देश्य

इस इकाई में दिया गया है – भारत में विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों में महिलाओं की भूमिका और योगदान। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद, आप जान सकेंगे :

- भारत में महिला आंदोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि;
- महिला एकता के सामने मुख्य मुद्दे; और
- राजनीति में महिलाओं की भूमिका।

24.1 प्रस्तावना

भारत के सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों में महिलाओं की भूमिका को समझना आसान होगा यदि हम इस अध्ययन को निम्नलिखित श्रेणियों में बाँट दें।

प्रथमत:, हम 19वीं और 20वीं शताब्दियों, यानी पूर्व- तथा पश्च-औपनिवेशिक युग में महिलाओं की भूमिका का एक विशालदर्शी अवलोकन करने का प्रयास करेंगे।

तत्पश्चात्, हम इन आंदोलनों की जाँच दो विस्तृत दृष्टिकोणों से करेंगे, नामत: (i) महिलाओं 'हेतु'' और (ii) महिलाओं "dm''।

i) सुधारों और राष्ट्रवादी संघर्ष के काल को महिलाओं 'हेतु'' के रूप में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है क्योंकि उन्नति के लिए सभी हितों और अवसरों के लिए संघर्ष और प्राप्ति उन समाज-सुधारकों द्वारा ही की गई जो, अपरिहार्य रूप से, पुरुष थे। भारत के स्वतंत्रता संघर्ष में महिलाओं की व्यग्र और वास्तविक भागीदारी थी, लेकिन नेतृत्व पुरुष हाथों में ही था। अभी तक, यह काल महिलाओं हेतु "स्वतंत्रता के आरंभ'' के रूप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

ii) स्वतंत्रोत्तर काल में महिलाओं ने अपनी निजी स्वतंत्रता पर ध्यान केन्द्रित किया। इस आंदोलन की नींव अंग्रेजी राज-विरोधी दिनों में ही डाली जा चुकी थी जब महिलाओं ने अपनी पहचान को साहित्य के माध्यम से और अपनी गतिविधियों को "आतंकवादियों'' के रूप में खोजना प्रारंभ कर दिया था। वे धीरे-धीरे संसार के महिला आंदोलन का हिस्सा बन गईं और उनके अपने ही देश में सामाजिक व राजनीतिक आंदोलनों में उनकी भूमिका उत्तरोत्तर उदग्र होनी प्रारंभ हो गई।

24.2 19वीं और 20वीं सदी-पूर्वार्ध में महिलाओं हेतु सुधार

उन्नीसवीं सदी को महिला युग पुकारना ठीक ही होगा। उनके अधिकार और उनके प्रति किए जाने वाले अन्याय, साथ ही उनकी क्षमताएँ और अन्त:शक्तियाँ, यूरोप में और उपनिवेशों में भी गर्मागर्म बहस के मुद्दे हुआ करते थे। इस शताब्दी के अंत तक, नारी अधिकारीवादी विचार इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, और रूप में थी, "उग्र उन्मूलनवादियों'' के दिमाग में थे। भारत में, महिलाओं के प्रति अन्याय पर समाज-सुधारकों द्वारा खेद प्रकट किया जाने लगा। महिलाओं हेतु', पुरुषों 'द्वारा' को इस प्रकार का आंदोलन बंगाल और महाराष्ट्र में उद्भूत हुआ।

24.2.1 "सती" के विरुद्ध

भारतीय बुर्जुआ वर्ग, जो पाश्चात्यकरण के फलस्वरूप जन्मा था, जाति बहुदेववाद, मूर्ति-पूजा, जीववाद, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि के विरुद्ध अभियान छेड़कर समाज-सुधार करने के प्रयास में था। ये, उनके अनुसार, 'पूर्व-आधुनिक' या आदि समाज के तत्त्व थे। विदेशी धर्म-प्रचारकों ने इन्हें "हिन्दू बर्बरता" के उदाहरणों का छद्म नाम देकर कर औपनिवेशिक ताकतों के शासन हेतु एक खासा आधार प्रदान कर दिया। राममोहन राय और विद्यासागर वांछित प्रशासनिक व कानूनी समर्थन प्राप्त करने में इसी की वजह से सफल हुए। 1817 में, पंडित मृत्युञ्जय विद्यालंकार ने घोषित किया कि सती को कोई "शास्त्रीय" अनुमति नहीं है। एक वर्ष बाद गवर्नर विलियम बैंटिंक ने अपने प्रान्त, नामत: बंगाल, में सती-प्रथा निषिद्ध कर दी। इस निषेध को सती निषेध अधिनियम, 1929 के रूप में भारत के अन्य भागों में सती निषेध अधिनियम, पहुँचने में 11 वर्ष लग गए।

24.2.2 विधवा-पुनर्विवाह

1850 के दशक में पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने, पंडित मृत्युञ्जय की ही भाँति, शास्त्रों से सिद्ध किया कि किसी विधवा का पुनर्विवाह स्वीकृत है। उन्होंने रूढ़िवादी पंडितों के साथ तर्क-वितर्क और तत्कालीन हिन्दू-समाज के कुछ स्तंभों द्वारा उपहास के बीच से एक लम्बी, कठिन यात्रा तय की। वर्नाक्यूलर (बंगाली) प्रैस समर्थन में और विरुद्ध दोनों ही प्रकार के स्तुति-गान और व्यंग्यों से भर गई। इस प्रकार के पद्य-छंद बुने हुए कपड़ों के डिज़ायनों पर दिखाई पड़ते थे। इन्होंने समाज में उथल-पुथल पैदा कर दी। विद्यासागर ने 1855 में गवर्नर-जनरल के पास एक याचिका दायर की।

सन् 1871 में मद्रास में एक विधवा पुनर्विवाह परिषद् बनी, पर ज़्यादा चली नहीं। 1879 में, वीरसालिंगम ने मुख्यत: विधवा पुनर्विवाह पर संकेन्द्रित राजमुन्द्री समाज-सुधार परिषद् शुरू की। 1892 में, यंग मद्रास पार्टी या हिन्दू समाज-सुधार परिषद् प्रारंभ की गई। आर्यन् ब्रदरहुड कान्फ्रेंस, जिसके रानाडे व एन.एम. जोशी सदस्य थे, ने एक बाद अपनी एक सभा में घोषणा की, "हमें इस अनुरक्त विश्वास के साथ रूपाली पुलाव बनाते और अधिक नहीं रहना है कि चूँकि हम अब तक ख्याली पुलाव बनाते और अधिक नहीं रहना है कि चूँकि हम अब तक उत्तरजीविता कायम रखने में सफल रहे हैं अपनी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के रहते, हम हमेशा इसे कायम रख सकेंगे"

अधिनियम पास किए जाने से लेकर कोई चालीस वर्षों में मात्र 500 विधवाओं के पुनर्विवाह हुए, यद्यपि इस सिद्धांत की हिमायत करते समाज-सुधार संगठन देश भार में कुकरमुत्तों की तरह फैले थे। उनमें से अधिकांश थीं बाल अथवा अक्षत विधवाएँ। उच्च जाति की विधवाएँ, जो अक्षत नहीं थीं, न तो पुनर्विवाह कर सकती थीं। न ही उन्होंने किया।

24.2.3 वैश्याओं का पुनर्वास

अन्य उल्लेखनीय, जो नारी-विरोधी सामाजिक-धार्मिक प्रथाओं में सुधारों के लिए लड़े, थे – ज्योतिबा फुले, सरस्वती कर्वे तथा पंडिता रमाबाई, सिस्टर निवेदिता और टैगोर की बहन स्वर्णकुमारी देवी जैसी महिलाएँ। बंगाल मधुसूधन दत्त और हेनरी डिरोज़िओ जैसे दुर्जेय मनीषियों का प्रत्यक्ष गवाह था। ये दोनों सशक्त कवि भी थे। उन्होंने पुरुष नैतिकता पर भी प्रहार कर सुधारकों के क्रोध को बुलावा दिया। मधुसूदन ने वैश्याओं को संगठित किया और उन्हें इस की बजाय अभिनय के पेशे को चुनने के लिए प्रेरित किया।

सन् 1869 के 'अमृत बाज़ार पत्रिका' में छपी एक रिपोर्ट के अनुसार, कलकत्ता की नब्बे प्रतिशत वैश्याएँ विधवाएँ ही थीं, जिनमें से अधिकांश कुलीन ब्राह्मण परिवारों से आई थीं। यह "कुलीन" था ब्राह्मणों का सर्वाधिक घृणित वर्ग जिसका सामाजिक रूप से स्वीकृत जीवकोपार्जन था विवाह करते रहना और दहेज जोड़ते रहना। उनका दैनिक जीवन भी सर्वथा स्वतंत्र था जैसा कि वे अपनी पत्नियों के पैतृक घरों को जाते ही रहते थे क्योंकि इन 'ब्याहता' स्त्रियों को अपने पिताओं के घर पर ही रहना पड़ता था। ऐसी 'पत्नियों' की संख्या बड़े आराम से 100 तक हो सकती थी। इस प्रकार, मृत्यु (एक पति की) के एक धक्के से ही कम-से-कम 100 विधवाएँ वैश्याओं के रूप में बाज़ार में उपलब्ध हो जाती थीं।

हमें इस तथ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि विद्यासागर, विधवा-पुनर्विवाह के सूत्रधार और महान् नायक, वैश्याओं के पुनर्वास की इस योजना के प्रति एक नैतिक जुगुप्सा-भाव रखते थे और बहुविवाह की इस बीभत्स प्रथा को रोके जाने का कोई विचार नहीं रखते थे। कौतुक की बात है, वह यह नहीं समझ सके कि यदि बहुविवाह को सख़्ती से रोका जाए तो विधवाओं की संख्या प्रबल रूप से घटेगी और इस प्रकार इस समस्या की भयावहता काफ़ी कम हो जाएगी।

24.2.4 आर्य समाज

स्वामी दयानन्द अपने समय के सच्चे क्रांतिकारी थे। उन्होंने जाति-प्रथा का परित्याग किया और शास्त्रों से उद्धृत कर महिलाओं से समाज बरताव निर्धारित किया। उनके आर्य समाज ने महिलाओं पर ऐसे कोई कर्त्तव्य या दायित्व नहीं थोंपे जो हिन्दू विधिप्रदायों के अनुसार पुरुषों के लिए प्रयोज्य नहीं थे। अपनी प्रतिनिधि पुस्तक "सत्यार्थ प्रकाश" में, दयानन्द ने इस बात पर ज़ोर दिया कि आर्य-भारत में बहुविवाह, बाल-विवाह और नारी-विविक्ति अस्तित्व में नहीं थे। उन्होंने आह्वान किया कि लड़के और लड़कियाँ दोनों के माध्यम से परम्परा और आधुनिकता पर समान ज़ोर दिया जाए। उन्होंने लड़कियों और लड़कों के लिए विवाह-योग्य आयु बढ़ाकर क्रमशः 16 और 25 वर्ष कर दी।

परन्तु लाला लाजपतराय और लालचन्द जैसे आर्यसमाजी महिलाओं की उच्च शिक्षा के खिलाफ थे। उनका मानना था कि आख़िरकार, 'लडकियों की शिक्षा का स्वरूप भिन्न होना चाहिए, क्योंकि 'उनको दी जाने वाली शिक्षा ऐसी हो जो उन्हें नारी भूमिका से अनजान न बना दे (unset them)। मौलिक साक्षरता के अलावा, अंकगणित और कुछ काव्य आर्य-समाज धार्मिक साहित्य, सिलाई, कढ़ाई, खाना-पकाना, स्वच्छता, चित्रकला तथा संगीत पढ़ाए जाने वाले विषय पढ़ाए जाते थे। ब्रह्म समाज जो मूर्ति-पूजा और ब्राह्मणवादी हिन्दूवाद के पतनोन्मुखी आदर्शों और प्रथाओं के विरोधी के रूप में आरंभ हुआ, लड़कियों और स्त्रियों के विषय में इस रूढ़िबद्ध धारणा के द्योतन से युक्त नहीं था। यह द्योतन हमारे स्वतंत्रता आंदोलन के परवर्ती चरणों तक जारी रहा। एकमात्र असहमत स्वर सुभाषचन्द्र बोस का था। युगों को महिलाओं के "हेतु" और "द्वारा" में बाँटे जाने के पीछे जो औचित्य था वो नहीं छुपा था। महिलाएँ, उस समय, पुरुषों को स्वीकृत अथवा प्रदत्त हर चीज़ की माँग करने के लिए न तो जागरूक थीं न ही संवेदनशील।

24.2.5 बाल-विवाह निषेध

सन् 1860 में एक अधिनियम पास करके विवाह-योग्य आयु 10 वर्ष निर्धारित कर दी गई। बहरम मालाबारी, स्वयं कोई हिन्दू नहीं, (एक पारसी) ने शताब्दी के अंत में इस अधिनियम के समर्थन में एक अभियान शुरू किया। वह काफ़ी संख्या में वकीलों, डॉक्टरों, अध्यापकों और जन-सेवकों को राज़ी करने में सफल रहे। वे मानते थे, जो कि जैसोर इण्डियन एसोसिएशन के एक वक्तव्य में

प्रतिध्वनित हुआ, कि "अल्पायु विवाह किसी देश की शारीरिक शक्ति को कमज़ोर करता है; यह उसकी पूर्ण वृद्धि व विकास को रोकता है; यह व्यक्तियों के साहस और ऊर्जा को प्रभावित करता है और शक्ति और दृढ़ निश्चय में कमज़ोर लोगों की प्रजाति को जन्म देता है।'' 1891 में, तिलक ने इस अधिनियम के ख़िलाफ एक आंदोलन चलाया और टैगोर जैसे एक आधुनिक दृष्टा ने कथनी और करनी में विरोध किया!

सुधार आंदोलन बम्बई-पूना सांस्कृतिक क्षेत्र में सशक्त थे कि कुछ तो हिन्दूवाद के यथार्थवाद ब्राह्मणवाद पर प्रश्न करने का साहस भी रखते थे। उदाहरण के लिए, जी० एच० देशमुख, एक समाज-धर्म सुधारक, ने 1840 के दशक में तर्क प्रस्तुत किया कि "ब्राह्मणों को अपनी मूर्खतापूर्ण धारणाओं को त्याग देना चाहिए और उनको यह स्वीकार करना चाहिए कि सभी मनुष्य समान हैं और यह कि सभी को ज्ञानार्जन का अधिकार है ''। लेकिन 1871 में, उन्होंने जातिच्युत किए जाने की धमकी के आगे हार मान ली। परिणामत:, वे नरम पड़ गए।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) उन्नीसवीं सदी को क्यों महिलाओं का युग कहा जा सकता है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) विधवा-पुनर्विवाह को लागू करने के विभिन्न प्रवासों के विषय में आप क्या जानते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) दयानन्द सरस्वती का समाज सुधार में क्या योगदान था?

.....

.....

.....

.....

.....

24.3 महिलाओं हेतु शिक्षा और पहचान के साथ उभरती महिलाएँ

24.3.1 साहित्य में महिलाएँ और महिलाओं द्वारा साहित्य

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक, समाज-सुधार आंदोलन प्रभाव दिखाने लगे थे; आत्मविश्वास और दृढ़निश्चय कुछ महिलाओं के जीवन और कार्य में दिखाई देना शुरू हो गया। निरूपमा देवी और अनुरूपा देवी जैसे उपन्यासकारों का संदर्भ बांग्ला साहित्य समाजों में दिया जाने लगा था और उन्हें उन साहित्य क्लबों की सदस्यता भी दी गई जहाँ पुरुषों का वर्चस्व था। टैगोर के उपन्यास और लघु-कथाएँ उन स्त्री-पात्रों से भरे हैं जो अपने पतियों व अन्य पुरुष-प्रेमियों कुछेक उदाहरण हैं– टैगोरकृत 'गोरा' और 'घरे-बायरे', बंकिमचन्द्र कृत 'आनंदमठ' और 'देवी चौधरानी' तथा शरत्चन्द्र कृत 'पाथेर देवी'। टैगोरकृत 'चार अध्याय' में, अपनी पहचान तलाशती एक राष्ट्रवादी महिला, उस पुरुष-नेतृत्व द्वारा आलोचना का शिकार बनती है और दबा दी जाती है, जोकि आज भी उस राजनीति का प्रतीक है जो विस्तीर्ण रूप से एक पुरुष अधिकार-क्षेत्र रही है। प्राय: सभी महिला सक्रियतावादी साहित्य-लेखक भी थीं; साहित्यिक पुट लिए मुद्रित-सामग्री व लेख सामान्यत: अधिकांश पुरुष स्वतंत्रता सैनानियों द्वारा सह-हथियार के रूप में भी प्रयोग किए जाते थे। महिलाओं के बीच कुछ उल्लेखनीय नाम थे – नागेन्द्रकला मुस्तफ़ी, मनकुमारी बसु और कामिनी रॉय। काशीबाई कानित्कर महाराष्ट्र से प्रथम महिला-उपन्सायकार थीं। अन्य थीं – मैरी भोरे, गोदावरीबाई समस्कर, पार्वतीबाई और रुक्मिणीबाई। दक्षिण में, कमला साथीनन्दन, 'इण्डियन लेडीज़ मैगज़ीन' की सम्पादक, एक लेखक भी थीं। सरला देवी, कुमुदिनी मित्रा और मैडम कामा ने क्रांति के सिद्धांत को बढ़ावा देने हेतु पत्रकारिता में अपनी पहचान छोड़ी।

24.3.2 अधिकारों हेतु महिलाएँ

मैडम कामा को स्टुटआर्ट में 1907 में कांग्रेस ऑव दि सोशिअलिस्ट इण्टरनैशनल में एक 'वन्दे मातरम्' ध्वज फहराने का सम्मान प्राप्त था, और 1913 में, कुमुदिनी मित्रा, एक "आतंकवादी" के रूप में अधिक विख्यात, को बुडापेस्ट, इंगरी में इण्टरनैशनल विमन्'स सफ़रिज कॉन्फ्रैंस में आमंत्रित किया गया। सरोजिनी नायडू ने भारतीय महिलाओं की स्थिति में सुधारों की एक श्रृंखला की माँग करने हेतु मोण्टैग्यू और लॉर्ड चैम्सफोर्ड की अध्यक्षता वाली समिति से भेंट की। सरला देवी ने भारत स्त्री महामण्डल की ओर से अनेक बार इस समिति के समक्ष प्रतिनिधित्व किया। 1892 में छठी नैशनल सोशल कॉन्फ्रैन्स में, हरदेवी रोशनलाल, 'भारत-भगिनी' की सम्पादक, ने इस बात पर ज़ोर दिया कि यह मंच कांग्रेस की अपेक्षा 'अधिक महत्त्वपूर्ण' है, क्योंकि यह मानता है कि :

> महिला का हेतुक पुरुष का है
>
> वे साथ-साथ उदित हों, अथवा निमग्न,
>
> वामनकृत अथवा देव-तुल्य, अथवा मुक्त।

आनन्दीबाई जोशी प्रथम महिला-डॉक्टर थीं। उन पर और कान्तिबाई पर पत्थर फेंके गए जब उन्होंने जूते पहनने और गलियों में छतरियाँ लेकर चलने का साहस किया। ये पुरुष और जाति-प्रभुत्व के प्रतीक थे। महिलाओं की स्थिति निम्न जातियों अथवा अछूतों की स्थिति से क्या बेहतर थी? 1882 में, ताराबाई शिन्दे की पुस्तक, *स्त्री-पुरुष तुलना* ने हर ओर गर्मागर्म बहस को जन्म दिया। उन्होंने जोर देकर कहा कि वे दोष जो सामान्यत: स्त्रियों के मत्थे मढ़ दिए जाते हैं, जैसे कि अंधविश्वास, संदेह, विश्वासघात और औद्धत्य, पुरुषों में भी समान रूप से पाए जा सकते

हैं। उन्होंने स्त्रियों को सुझाव दिया कि, अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति से, वे हमेशा सद्व्यवहार करें, अग्नि की भाँति शुद्ध रहें और आन्तरिक और बाह्य रूप से निष्कलंक रहें। ताराबाई ने यह भी जताया कि पुरुषों को अपना सिर शर्म से झुकाना पड़ेगा।

माई भगवती, आर्यसमाज की एक 'उपदेशिका', हरियाणा में एक विशाल जन-सभा में बोलने को आत्मविश्वास रखती थीं। 1881 में, घर पर ही अपने पति द्वारा शिक्षित, मनोरमा मजूमदार बारीसाल ब्रह्म समाज द्वारा धर्म-प्रचारिका नियुक्त की गई। जैसा कि शंका थी, बड़ी गर्मागर्म बहस छिड़ी, जिसमें महिला समानता के विषय को लेकर चलती 'बुद्धिमानी' को कुछ ज्यादा ही आगे ले जानेपर सवाल किए गए। राष्ट्रवादी अभियानों और संगठनों और संगठनों ने एक ऐसा जोश पैदा किया कि ब्रह्म समाज की कुछ महिलाओं ने पर्दा-प्रथा की बुराइयों के विरुद्ध गीत और भाषण प्रस्तुत करते हुए कलकत्ता की गलियों में मार्च किया। ये महिलाओं "द्वारा" पहल अथवा आंदोलन किए जाने के निर्विवाद दृष्टांत हैं। लेकिन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस व अन्य राजनीतिक दल महिलाओं के बीच इस आंतरिक शक्ति को स्वीकार करने को अभी तक तैयार नहीं थे। यद्यपि महिला प्रतिनिधियों को उन परिधियों में बैठने की स्वीकृति होती थी, उन्हें प्रस्तावों पर बोलने अथवा मत व्यक्त करने की अनुमति नहीं थी।

24.3.3 महिलाओं हेतु महिलाएँ

रवीन्द्रनाथ टैगोर की बहन स्वर्णकुमारी देवी ने विधवाओं को सीखने, पढ़ाने और इस प्रकार महिलाओं के बीच शिक्षा के सर्वाधिक सशक्त प्रसार-अभिकर्त्ता बनने हेतु प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से 'सखी समिति' शुरू की। इस समिति ने आत्म-विश्वास (आत्म-शक्ति) और राष्ट्रवाद का विकास करने के एक साधन के रूप में महिला-केन्द्रिक कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए शिल्प-मेलों का आयोजन किया। कांग्रेस को इस प्रकार के मेलों की बड़ी उपयोगिता नज़र आई, लेकिन पुरुष नेतागण एक पृथक् महिला-वर्ग को संगठित करने के सिवा कुछ नहीं सोच सके।

स्वर्णकुमारी देवी की पुत्री, सरला देवी, आश्चर्यजनक रूप से दुर्जेय थी। वह घर के 'पिंजरे' या 'कैद' से निकलना चाहती थी और पुरुष की भाँति एक स्वंतत्र आजीविका का अपना अधिकार प्रमाणित करना चाहती थी। उसने 1902 में एक व्यायामशाला शुरू की, जहाँ स्त्रियों को तलवार और लाठी चलाने का प्रशिक्षण दिया जाता था। उसको युद्धप्रिय राष्ट्रवाद या फिर क्रांतिकारी आतंकवाद का शिल्पकार कहा जा सकता है।

24.3.4 राष्ट्रवादी संघर्ष में महिलाएँ

बंगाल में 1905-8 का स्वदेशी आंदोलन एक वृहद् स्तर पर राष्ट्रवादी गतिविधियों में महिलाओं की भागीदारी की शुरुआत को दर्शाता है। इस आंदोलन हेतु अनेक पत्नियों, बहनों और पुत्रियों ने समर्थन गुट बनाने शुरू कर दिए। मध्यम-वर्ग राष्ट्रवाद ने औरतों और लड़कियों को ऐसी प्रेरणा दी कि उन्होंने धन के साथ-साथ आभूषण भी अर्पित कर दिए। गाँवों में से योगदान के रूप में मुट्ठी भर-भर अनाज आया।

युद्धप्रियता महिलाओं की सक्रिय अन्तर्भावितता वाली समितियों का एक ऐसा लक्षण बन गया कि जनवरी 1909 में पश्चिम बंगाल में ऐसी पाँच समितियों पर प्रतिबंध लगा दिया गया, नामत: स्वदेशी, बांधव, ब्राती, ढाका अनुशीलन सुहृद और साधना।

पुराणी अज्ञावती, हिसार आर्य समाज की एक महिला-सदस्या, ने इस बात का निवेदन करते हुए लगभग पूरे पंजाब का भ्रमण किया कि माँएँ अपने लड़कों की परवरिश विनिर्माताओं व व्यापारियों

के रूप में करें। उन्होंने लोगों को इस बात पर राजी करने को प्रयास भी किया कि जातिगत आदर्शों का सख्त और अन्ध अनुपालन माँओं को महान् सपूत देश को अर्पित करने से रोकता है। दिल्ली में, अज्ञावती ने विधवाओं को संगठित करने हेतु एक "विधवा आश्रम" खोला; न सिर्फ दमन के सिरुद्ध व उनके शिक्षा के अधिकार हेतु, बल्कि उनको युद्धप्रिय राष्ट्रवाद में प्रशिक्षित करने हेतु भी। सरकार जो उनकी गतिविधियों से काफ़ी भयभीत थी, ने उनका "एक बहुत बहादुर महिला" के रूप में वर्णन किया।

24.3.5 समानता हेतु महिलाएँ

1906 में कलकत्ता में भारतीय समाज सम्मेलन को संबोधित करते हुए सरोजिनी नायडू ने कहा, "शिक्षण का अर्थ ज्ञान का संचय हो सकता है, किन्तु शिक्षा एक अपरिमेय, सुंदर और अपरिहार्य वातावरण है जिसमें हम रहते हैं और आगे बढ़ते हैं तथा अपना अस्तित्व रखते हैं तब कैसे कोई आदमी एक मानवीय आत्मा को उसकी स्वतंत्रता और जीवन के स्मरणातीत उत्तराधिकार से वंचित करने की हिम्मत कर सकता है? तुम्हारे पुरखों ने तुम्हारी माताओं को उस जन्माधिकार से वंचित करते-करते तुम्हें, अपनी संतानों को, तुम्हारी विधिसंगत विरासत से वंचित कर दिया। इसीलिए, मैं तुम्हें अपनी स्त्रियों को फिर से पुनर्प्रतिष्ठित करने का कार्य सौंपती हूँ उनके अधिकार तुम, इसी वज़ह से, वास्तविक राष्ट्र-निर्माता नहीं हो अपनी स्त्रियों को शिक्षित करो और राष्ट्र इनका ध्यान स्वयं रखेगा "

1920 में, महिलाओं के बीच जो महान् उपलब्धि का और उनके लिए खुल रहे नए दरीचों का भाव था वह तमिल राष्ट्रवादी कवि सुब्रह्मण्यम भारती द्वारा उनकी कविता "मुक्ति का नृत्य" (दि डांस ऑव लिबरेशन) में बड़ी सुंदरता से व्यक्त हुआ –

नाचो! खुशियाँ मनाओ!

वे जो कहते थे

महिलाओं के लिए पुस्तकें छूना पाप है,

मर चुके हैं।

वे पागलव्यक्ति जो कहते थे

महिलाओं को उनके घरों में कैद कर देंगे,

अब अपना मुँह नहीं दिखा सकते हैं।

उन्नीसवीं सदी के 10वें व 20वें दशक के उत्तरार्ध में, महिलाओं के बीच समानता पर एक संलाप विकसित होना शुरू हो गया। उन्होंने समान अधिकारों के लिए अपनी माँगों के पक्ष में राष्ट्रवादियों की दलीलों का प्रयोग किया। उर्मिला देवी, एक युद्धप्रिय महिला, ने 'स्वराज' को स्व-शासन के रूप में और 'स्वाधीनता' को अपने पर शासन करने की "शक्ति और सत्ता" के रूप में परिभाषित किया। अमिया देवी ने ठीक ही महसूस किया कि 'स्वाधीनता' दी नहीं जा सकती, यह बलात् लेनी पड़ती है अगर वह "शुभेच्छु" पुरुषों के पास छोड़ दी जाती है, तो महिलाओं की अधीनता (निर्भरता) साथ ही बलवान हो जाएगी। राष्ट्रवादी नेतागण, जो महिलाओं को विश्वास रखते थे न कि समरूपता में, जो कि क्रांतिकारी महिलाओं की माँग थी। सुधारक और 'प्रदायक' मानते थे कि माँओं के रूप में महिलाओं की सामाजिक रूप से उपयोगी भूमिका के कारण ही महिला-अधिकारों को मान्यता मिलनी चाहिए। महिलाओं ने समान अधिकारों की माँग इसलिए की कि मानव के रूप में उनकी भी वही आवश्यकताएँ, वही इच्छाएँ और वही क्षमताएँ हैं, जो पुरुषों की हैं।

प्रभावती संयुक्त राज्य अमेरिका में "फ्रीडम फॉर एण्ड आयरलैण्ड" नायक एक गुट के लिए काम करती थीं और रेणुका राय इंग्लैंड में "लीग अगेन्स्ट ब्रिटिश इम्पिरिअलिज़्म" के साथ जुड़ी थीं। प्रभावती ने एम.एन. रॉय, भारत में कम्यूनिस्ट आंदोलन के अग्रणी, से विवाह किया और क्रांतिकारियों व कम्यूनिस्टों के साथ समान रूप से शामिल हो गईं। उन्होंने 'कामगार व किसान पार्टी' के एक सदस्य के रूप में सफ़ाईकर्मियों को संगठित करने के लिए मुज़फ्फर अहमद, कवि नज़रुल इस्लाम और हेमन्त कुमार सरकार के साथ-साथ मिलाया।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) औपनिवेशिक काल में अधिकारों के लिए महिलाओं के प्रथम संघर्ष पर संक्षेप में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) राष्ट्रवादी संघर्ष में पुराणी अज्ञावती की क्या भूमिका थी?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान महिलाओं ने "स्वराज" और "स्वाधीनता" को कैसे परिभाषित किया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

24.4 महिलाओं की स्वतंत्र राजनीतिक पहचान

24.4.1 राजनीति में महिलाओं के प्रति भेदभाव

गाँधीजी द्वारा उनकी 71 दांडी-मार्चकर्त्ताओं की सूची में एक भी महिला को नहीं चुना गया था। सुविख्यात महिलाओं, जैसे खुर्शीद नौरोजी और मागरिट, कज़िन्स, ने प्रबल विरोध किया। लेकिन यह नेता यह तर्क देते हुए अपने निर्णय पर अडिग रहे कि उन्होंने "महिलाओं को मात्र नमक-कानूनों को तोड़ने से कहीं अधिक बड़ी भूमिका'' सौंपी है। लेकिन सरोजिनी नायडू खुले आम विरोध किया और मार्च के अंतिम चरण में दांडी में शामिल हो गईं तथा उस आंदोलन में गिरफ्तार होने वली प्रथम महिला हुईं। एक बार की अवज्ञा ने ही रास्ता साफ कर दिया, और हज़ारों महिलाएँ नमक सत्याग्रह में शामिल हो गईं। इसको सामान्यत: इस रूप में याद किया जाता है कि स्वतंत्रता हेतु संघर्ष में पहली बार "भारतीय महिलाओं का हुजूम'' शामिल हो गया। खाबिंद अपनी बीवियों के जेल में होने पर फ़क्र महसूस करने लगे; लेकिन वे बुरा मान जाते थे यदि उनकी पत्नियों ने पहले उनकी अनुमति न ली हो। इन पत्नियों में कुछ ग़ौरतलब थीं – कस्तूरबा गाँधी, कमलादेवी चटोपाध्याय, नेल्ली सेनगुप्त, बसन्ती देवी (रॉय), दुर्गाबाई देशमुख और अरुणा आसफ अली।

24.4.2 राजनीति में महिलाओं की पहल

1890 के दशक में लीलावती मित्र ने विधवा-पुनर्विवाह सम्पन्न कराने के लिए इच्छुक वरों को आश्रय देकर विद्यासागर की मदद की। इलबर्ट बिल के समर्थन में सभाएँ करने और बिल्ले लगाने हेतु बेथ्यून स्कूल में लड़कियों को संगठित करते हुए, कामिनी रॉय इलबर्ट बिल आंदोलन में सक्रिय थीं। उन्होंने बंग महिला समिति के साथ उनके समाज-सुधार परियोजनाओं में काम किया। अघोरकामिनी नारी समिति ने चाय-बागान मालिकों द्वारा महिलाकर्मियों से दुर्व्यवहार के विरुद्ध जनमत तैयार किया। प्रभावती मिर्जा ने अरविन्द के आतंकवाद से प्रेरणा प्राप्त की। मात्र दस वर्ष की आयु में उन्होंने खुदीराम की फाँसी के विरोध में उपवास किया और बाद में 1930 के दशक की एक प्रतिबद्ध श्रमिक-संघवादी के रूप में उभरकर आयीं।

24.4.3 महिला "आतंकवादी"

कुमुदिनी मित्र ने उन शिक्षित ब्राह्मण महिलाओं के एक समूह को संगठित किया था जो छुपे हुए क्रांतिकारियों के बीच संपर्क करके उन्हें एक साथ मिलाती थीं। "आतंकवादियों'' के रूप में जाने, भय खाने और आदर दिए जाने वाले क्रांतिकारी गुटों के साथ महिलाएँ उत्तरोत्तर रूप से शामिल हुईं। दिसम्बर 1931 में, शांति घोष और सुनीति चौधरी ने एक जिला दण्डाधिकारी, मि. स्टीवन्स को गोली मार दी, जिसने महिलाओं को इतना परेशान कर रखा था कि जितना शायद कानून इजाज़त नहीं देता था। मीना दास ने 1922 में बंगाल के गवर्नर, स्टेनली जैक्सन को गोली मारने का प्रयास किया था। उन्होंने सब अपने आप ही किया था और प्रथम दो को उम्रभर के लिए देश-निकाला मिला। प्रीतिलता वाडेकर के नेतृत्व में एक ऐसे क्लब पर धावा बोला गया जहाँ यूरोपियन बहुधा आया-जाया करते थे। इस बम से एक मरा और चार घायल हुए। पुरुष-परिधान पहले प्रीतिलता ने गिरफ़्तारी से बचने के लिए सायनाइड खा लिया। इस आशय का एक कागज़ उसके पास से बरामद हुआ कि यह धावा एक "संग्राम-प्रदर्शन'' था। उसी दिन ब्रिटिश शासकों व यूरोपियनों के विरुद्ध अभियान में शामिल होने के लिए अध्यापकों, छात्रों व जनता को प्रेरित करते पर्चे बाँटे गए। सरला देवी एवं सिस्टर निवेदिता भी बंगाल आतंकवादियों से काफी नज़दीक से जुड़ी थीं और उनसे प्रेरित भी थीं।

24.5 महिला एकता अथवा संयुक्त संचलन के सामने मुख्य मुद्दे

24.5.1 सम्प्रदाय और जातिवाद

अखिल-भारतीय महिला सम्मेलन (ऑल-इण्डिया विमिन्स कॉन्फ्रेन्स – ए. आई. डब्ल्यू. सी.) द्वारा तीसरे दशक में उठाया गया। 1932 में उनकी जिला शाखाओं एवं वार्षिक सम्मेलन दोनों ने साम्प्रदायिक मापदण्ड अपनाने वाले विधान-मंडलों में महिलाओं के लिए अलग सीटों के आरक्षण के खिलाफ़ विरोध आयोजित किए। बम्बई शाखा, उदाहरण के लिए, धावा राहत में शामिल हो गई और आंध्र प्रदेश शाखा ने स्कूलों में धार्मिक प्रार्थनाओं के विरुद्ध एक अभियान छेड़ा। इस संगठन ने, शायद, पहली बार एक समान व्यवहार संहिता हेतु माँग उठायी ताकि महिलाओं को धार्मिक फैसलों व जाति बंधनों द्वारा दमित व उत्पीड़ित न किया जा सके। उन्होंने भारत की सभी महिलाओं के लिए पूरी तरह से समान कानून की माँग की – उनकी जाति अथवा धर्म चाहे जो भी हो।

24.5.2 दमन से दैनिक मुठभेड़

i) मद्य के विरुद्ध

दुर्भाग्यवश, चालीस के दशक तक कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच उत्तरोत्तर बढ़ते शत्रुतापूर्ण संबंधों के फलस्वरूप साम्प्रदायिक खुद इनके सदस्यों में ही दिखलाई पड़ते थे। 1944 तक अधिकांश मुस्लिम महिलाएँ ए.आई.डब्ल्यू.सी. छोड़ चुकी थीं। विभाजन और पाकिस्तान प्रवसन के बाद उन्होंने इस संगठन का उद्देश्य ही भुठला दिया और 'ऑल-पाकिस्तान विमिन्स कॉन्फ्रेन्स' बना ली। भारत में ए.आई.डब्ल्यू.सी. ने सम्प्रदायवाद, जातिवाद और पितृतंत्रीय दमन के विरुद्ध कार्य जारी रखा और सभी धार्मिक गुटों से सदस्य बनाना आरंभ कर दिया, यद्यपि हिन्दू और दलितों की संख्या कहीं अधिक है।

जब से साम्प्रदायिक आधार पर देश को बाँटा गया है, साम्प्रदायिक और जातिवाद ने भयावह रूप से हिंसात्मक और भद्दा रूप ले लिया है; निम्न जातियों की और धार्मिक व प्रजातीय अल्संख्यकों की असहिष्णुता कुलाँचें भरती बढ़ चुकी है; विरोध और आत्म-रक्षा में महिलाओं के बीच संघटन भी और अधिक सशक्त और व्यापक हो गया है। पितृतंत्र से संबंधित व उससे जन्मे दमन के अन्य तरीकों तथा कुछ ही हाथों में धन व सत्ता के संकेन्द्रण ने भी संख्या इतनी बड़ी है व उनकी गतिविधियों का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इस अध्याय की अत्यधिक सीमित परिधि में उनमें से प्रत्येक पर टिप्पणी करना नितान्त असंभव है। छात्रों को अपने सामान्य ज्ञान व दैनिक समाचारपत्र पठन पर भरोसा करना होगा।

1972 में मद्य-पात्रों को तोड़कर भील महिलाओं ने सबसे पहले मद्य संतर्जना के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई। उसके बाद ऐसे अनेक आन्दोलनों का पता लगा जिनमें सबसे अधिक कायम और कामयाब रहा आंध्र प्रदेश के नेलौर में ताड़ी-विरोध आंदोलन। महिला-हितों के लिए संघर्षरत स्त्रियों व पुरुषों द्वारा पत्नी से मारपीट व पारिवारिक हिंसा के पीछे एक महती कारण के रूप में मदात्यय को ही समझा गया। किसी परिवार की अनन्त वा निरंतर दरिद्रता का कारण मुख्यत: है भी यही क्योंकि आदमी की आय इसी संतर्जन पर ही अपव्यय होती है। यही कारण है कि सभी महिला-विकल्प दहेज व यौन-उत्पीड़न के अलावा, शराब को भी एक मुख्य मुद्दे के रूप में लेते हैं, वास्तव में सभी मद्य-विरोधी आंदोलन धीरे-धीरे महिलाओं के सामने खड़ी अन्य सभी समस्याओं के साथ घनिष्टता से सम्बद्ध हो गए। यहाँ तक कि पर्यावरण-रक्षा हेतु आंदोलन, यानी चिपको आंदोलन; समान

भू-सम्पत्ति अधिकारों हेतु आंदोलन, यानी बोध गया; और उत्तरांचल की भाँति एक अलग राजनीतिक सत्ता हेतु आंदोलन भी अपने को युग-युग से चल रही रोज़ाना को उन समस्याओं से अलग नहीं कर सके जिन्होंने महिलाओं, खासकर सामाजिक व आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग को स्वतंत्रता की किरण भी न देखने दी।

ii) दहेज के विरुद्ध

1975 में दहेज के विरुद्ध प्रथमत: सशक्त आंदोलन आयोजित करने वाला था प्रगतिवादी महिला-संगठन, हैदराबाद। यह अपने प्रदर्शनों में 2000 से भी अधिक स्त्री-पुरुषों को आकृष्ट कर लिया करता था तथा यह शेष महाराष्ट्र, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, गुजरात और यहाँ तक कि पंजाब व बंगाल तक भी फैल गया। लेकिन इस आंदोलन ने गहरी जड़ें दिल्ली व उसके आसपास ही जमाईं क्योंकि उक्त समस्या इस सांस्कृतिक क्षेत्र में ही अधिक प्रचण्ड व वीभत्स थी, और है। इस विषय में दिल्ली में महिला दक्षता समिति अग्रणी थी। अब इसका कार्यक्षेत्र, इस प्रकार के अन्य सभी संगठनों के उदाहरण की ही भाँति, महिला-उत्पीड़न व दमन से संबंधित अन्य सभी क्षेत्रों में व्याप्त हो चुका है।

iii) यौन दुष्प्रयोग के विरुद्ध

महिलाओं के विरुद्ध अपराधों में सर्वाधिक सामान्य व प्रापिक, तथा अभी सबसे ज्यादा लुके-छिपे, हैं– बलात्कार व यौन-उत्पीड़न के अन्य प्रकार। यही है पुरुष सत्ता के हाथों में सर्वाधिक सुलभ और अहं-तुष्टिपूरक हथियार, न सिर्फ स्त्रियों के अभिभूत करने के लिए भी। परिवार के भीतर अथवा स्वयंकृत कायेच्छा या विद्वेषवश बलात्कारों के अतिरिक्त, साम्प्रदायिक और जातीय तनावों में और पुलिस हिरासत में बलात्कार नितान्त सामान्य घटना है। बलात्कार के विरुद्ध आंदोलन, प्रथम बार, पुलिस बलात्कार के विरुद्ध आरंभ हुआ। पुलिस हिरासत में रलमेज़ा बी का बलात्कार प्रतीक बन गया। क्षेत्र, समर्थन और शेष में यह आंदोलन हमेशा बढ़ता रहा है, अभी वारदातों की संख्या में ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति पर लगाम नहीं लग पा रही है। शक्ति शालिनी, सासबाला महिला संघ व जनवादी महिला समिति इस क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय नाम है। तीसरा नाम अपने राजनीतिक संघर्षों में भी महिलाओं को संगठित करता रहा है। सभी वर्ग की महिलाओं के लिए नवीनतम अभिभावी विषय, वास्तव में रहा है – देश के उच्चतम निर्णय-लेने वाले निकायों में सीटों का आरक्षण।

पुरुष प्रभुत्व के सभी रूप, वास्तव में, महिलाओं की आर्थिक निर्भरता पर आधारित थे। इस प्रकार नारी उत्पीड़न के दो प्राथमिक आधारभूत ढाँचे थे – श्रम का लैंगिक विभाजन तथा संस्कृति व राजनीति जिसने इसको युक्ति-संगत बनाया। दूसरी ओर, महिला समता सैनिक दल, अन्य अधिकांश महिला-निकायों की भाँति, यह मानता था कि पुरुषों की लैंगिक सुख की निकृष्ट इच्छा ने ही उन्हें नारी को दासी बनाने की ओर प्रवृत्त किया है। हिंसा के विभिन्न प्रतिरूपों के विरुद्ध आंदोलनों के विषय में जो ध्यानाकर्षक है और महिला-आंदोलन मूल रूप से, प्रतिरोध हेतु आग्रह और विरोध के रूप में उभरे हैं, यह है कि इन्होंने महिलाओं के प्रति अनेक विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों को एक साथ कैसे सन्निविष्ट कर दिया : नारी अधिकारवादी से पितृतंत्र-विरोधी से पूँजीवादी-विरोधी से कल्पनालोकी पितृतंत्रवाद। इनमें अंतिम को कथित स्थिति में वे पुरुष रखते हैं जो यह महसूस करते हैं कि अपनी स्त्रियों हेतु विरोध करना और उन्हें संरक्षण देना उनकी ही जिम्मेदारी है।

उन मित्रताओं के नारी-अधिकारवादी आंदोलन में व्यक्तिगत संबंधों का एक सम्पूर्ण नया समुच्चय विकसित हुआ, जो वर्ग, जाति सांस्कृतिक व्यवधानों की सीमा से बाहर हैं, यद्यपि, कुछ हद तक, ये मित्रताएँ असमान भी बनी रहीं। मध्यवर्गी महिलाएँ, जो आमतौर पर नेत्रियाँ अथवा आयोजक थीं, एक कर्त्तव्य भाव से कहीं अधिक सक्रिय थीं, और असहायपन व कृतज्ञता की स्थिति वाली अभागियाँ थीं। इससे भी अधिक, 'वैयक्तिकता' के एक नए भाव का विकास स्पष्टतया दृश्य था।

24.5.3 पर्यावरण और जीवंतता

जैसा कि एन्जेल्स ने स्पष्ट किया है, भूमि व उत्पादन के साधनों का स्वामित्व ही मानव संबंधों की सभी श्रेणियों को संचालित करता है और यह, इसीलिए, पितृतंत्र का आधार है। उच्च रूप से उन्नत विज्ञान व प्रौद्योगिकी के युग में भी खाद्य व वह सब जो एक इंसान की जरूरत है, प्रकृति व पर्यावरण से ही आता है। हम यह भी जानते हैं कि मानव अस्तित्व के पहले ही दिन से, स्त्रियाँ खाद्य एकत्रक व खाद्य प्रदायक रही हैं; और इसीलिए स्त्रियाँ ही पर्यावरणीय निम्नीकरण व प्रकृति की अंधाधुंध लूट के परिणामस्वरूप सर्वाधिक दुष्प्रभावित हैं। यही कारण है, महिला-आंदोलन उनके व उनके परिवार की आजीविका तथा प्रकृति-संरक्षण के संबंध में सर्वाधिक प्रबल रहा है। यह स्वतंत्रतापूर्व भारत में वन-कानूनों को तोड़ने वाली महिलाओं के साथ शुरू हुआ। इस संबंध में 'चिपको' और 'नर्मदा बचाओ' आंदोलन अच्छे उदाहरण हैं। 'स्व-नियोजित महिला-परिषद् (सेवा–SEWA) भारत व दक्षिण एशिया में प्रथम विख्यात संगठन है, जिसने असंगठित व गृह-आधारित क्षेत्रों में महिला कर्मियों को संगठित किया। जब से यह, महिला कोष' या महिला-सरकारी बैंक से गहनता से जुड़ा है, शायद सर्वाधिक सफल और पोषित महिला-आंदोलन रहा है। उसने बंगलादेश, नेपाल व दक्षिण एशिया में अन्यत्र भी इसी प्रकार के अनेक आंदोलनों को प्रेरणा दी है। दक्षिण अफ्रीका के स्व-नियोजित महिला-संघ ने इस आदर्श का पूरी तरह से अनुकरण किया है और ये दोनों, एक साथ, अंतर्राष्ट्रीय क्षय संगठन (आई.एल.ओ.) पर इस बात के लिए प्रभाव डाल सके हैं कि गृह-आधारित कर्मियों को पहचान व संरक्षण देने वाले अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का अधिनियम किया जाए (इन कर्मियों में अधिकांश महिलाएँ किसी अर्थव्यवस्था के सर्वाधिक वंचित वर्गों से हैं)। बंगलादेश का 'ग्रामीण बैंक' महिलाओं की आर्थिक स्वाधीनता हेतु एक जन्म व्यापक रूप से स्वीकृत आदर्श बन चुका है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) कुछ महिला आतंकवादियों की गतिविधियों के विषय में आप क्या जानते हैं? लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के लिए मद्यपान को क्यों एक मुख्य कारण माना जाता है, स्पष्ट करें।

.....

.....

.....

.....

.....

3) महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के पीछे आप क्या मूल कारण समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

24.6 राजनीति में महिलाएँ या महिलाओं 'द्वारा' राजनीति

भाग 24.4 में आपने संक्षिप्त में महिलाओं की स्वतंत्र राजनीतिक पहचान अथवा पहलकारी के बारे में पढ़ा है। इस भाग में आप ऐसे दृष्टांतों से अवगत हो सकेंगे जहाँ इस प्रकार की पहलकारियाँ अधिक सुनिर्दिष्ट दिखाई दीं।

24.6.1 तेलंगाना आंदोलन

भूमि व संबंधित पारिस्थितिक-राजनीतिक अधिकारों हेतु तेलंगाना आंदोलन में महिला-भागीदारी महत्त्वपूर्ण थी। यद्यपि इसका नेतृत्व पुरुषों के पास था, यदि महिलाओं से सशक्त व सतत प्रेरणा न मिलती तो यह कब का समाप्त हो गया होता। यह ब्रिटिश राज (1941) के लिए उसके अन्यायों के विरुद्ध शुरू हुआ, और उनकी अपनी सरकार (1952 तक) के तले भी अन्यायों की निरंतरता के विरुद्ध जारी रहा।

24.6.2 बोध गया आंदोलन

भूमि, यानी आजीविका, अथवा महिलाओं "द्वारा" आर्थिक अधिकारों हेतु एक अन्य महत्त्वपूर्ण आंदोलन था – उन कृषक स्त्रियों द्वारा 'पट्टे' का बलात् अधिग्रहण, जो बोधगया (बिहार) में अथवा उसके आसपास से एकत्रित हुई थीं। मद्यपान व अन्य दुर्व्यसनों के कारण पुरुष भूमि में पर्याप्त श्रम व संसाधन नहीं लगा रहे थे। अनापेक्षित सफलता महिलाओं द्वारा सभी संयुक्त प्रयासों के लिए एक उत्कृष्ट प्रेरणा बन गई। लेकिन, यहाँ सफलता अद्भुत और विशिष्ट थी; अन्य अधिकांश मामलों में सफलता उनके भाग्य में नहीं थी, और बिहार सामाजिक अन्याय व महिला-उत्पीड़न में शीर्षस्थ राज्यों में एक अभी तक बना हुआ है।

24.6.3 दलित महिला आंदोलन

यह कहना गलत न होगा कि दलित महिलाएँ सर्वप्रथम महाराष्ट्र में एक स्वयं-शिक्षित दम्पत्ति, फुले, द्वारा संगठित की गईं। इनको (फुले दम्पत्ति) 19वीं सदी में महिला-अधिकारों हेतु आंदोलन के संस्थापकों में से एक भी कहा जा सकता है। वर्तमान में, जनवादी महिला समिति इस आंदोलन की प्रबलतम समर्थक है। दलित महिलाओं ने मुख्यत: दो कारणों से स्वयं को, अपने पुरुषों व अन्य महिलाओं, दोनों से अलग रहकर संगठित करने की आवश्यकता महसूस की : (i) दलित पुरुष, तथापि स्वयं उत्पीड़ित हों, अपनी ही स्त्रियों को उत्पीड़ित हों, अपनी ही स्त्रियों को उत्पीड़ित करने से बाज़ नहीं आते; और (ii) ग़ैर-दलित महिलाएँ, हालाँकि निष्कपट हैं, उस 'दोहरे' दमन को नहीं समझ पाती हैं जो एक दलित महिला स्थिर रूप से झेलती है।

24.6.4 आदिवासी महिला आंदोलन

नागालैण्ड की उत्तरी कछार पहाड़ियों में, गुडियालो, प्यार से जिसे 'रानी' बुलाते हैं, नागरिक अवज्ञा आंदोलन में अपनी भूमिका के लिए प्रसिद्ध हो गई। अपने चचेरे/ ममेरे भाई जादोनांग द्वारा प्रेरणा पाकर जादोनांग मणिपुर में ग्रामवासियों को संघटित करने में सक्रिय था। वह मात्र 13 वर्ष की अल्पायु में ही इसमें शामिल हो गई। जादोनांग मणिपुर में ग्रामवासियों को संघटित करने में सक्रिय था। 1931-32 में, अपने इस भाई, जिसे 'राज' द्वारा फाँसी दे दी गई थी, के नेतृत्व वाले शासन का अधिकार अपने हाथ में लेकर गुडियालो ने एक 'महसूल इनकारी' अभियान शुरू किया। इन ग्रामवासियों ने दुलाई पर अनिवार्य उपग्रहणों का भुगतान रोक दिया और बलात् श्रम के रूप में काम करने से इनकार करना शुरू कर दिया।

यह इस प्रकार के अनेक देशी व स्वैच्छिक जन-आंदोलनों में से एक है जिसको 'मुख्यधारा' राष्ट्रवादी राजनीति द्वारा प्रबल रूप से हतोत्साहित व अस्वीकृत किया जाता था। यह प्रवृत्ति और निर्णय लेने की अभिवृत्ति कि दूसरे या दूसरों के लिए क्या अच्छा है और क्या आवश्यक है, ही पितृतंत्र और पूँजीवाद (और, वास्तव में, साम्राज्यवाद) का आधार है, तथा स्वतंत्रता के बाद आज भी जारी है। यही कारण है कि भारत के आज़ादी हासिल करने के आधे से भी अधिक सदी गुज़रने के बाद भी आदिवासी, दलित व महिलाएँ अपनी लड़ाई लड़ रहे हैं। वर्तमान में, पर्यावरणीय निम्नीकरण के विरुद्ध लड़ाई मुख्यत: आदिवासियों अथवा प्रकृति के पुत्र व पुत्रियों द्वारा लड़ी जाती है, क्योंकि प्रकृति की लूट का अर्थ है उनकी आजीविका व संस्कृति को लूटना। स्वाधीन भारत की मुख्यधारा सरकार को यह अहसास नहीं है कि हमारा देश, एक बार फिर, विश्व बाज़ार शक्तियों द्वारा उपनिवेश बनाया जा रहा है।

24.6.5 साहित्य, रंगमंच व अन्य अभिव्यक्ति-विधाओं के माध्यम से संचलन

उप-भाग 24.3.1 ने स्वतंत्रतापूर्व समाज-सुधार व राजनीतिक आंदोलन काल में साहित्य के माध्यम से अपने खुद के आंदोलन में महिलाओं के योगदान के बारे में एक संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया। स्वतंत्रता के पश्चात् शुरू के कुछ दशकों में कुछ सन्नाटा छाया रहा। हो सकता है महिलाओं ने यह अनुभव करने में कुछ देर की कि 1947 उनके लिए कोई स्वाधीनता नहीं लाया। तदोपरांत, समानता के लिए महिला-आंदोलन में बढ़ती शक्ति के साथ, महिलाओं द्वारा व महिलाओं पर लेखों, फिल्मों और नाटकों की एक लहर चली है। अरुंधती रॉय जैसी सशक्त लेखिकाएँ 'केवल नारी' क्षेत्र को ध्यान से देख रही हैं और मानववाद अथवा सार्वभौमिक मानवाधिकारों के सिद्धांत पर पुरुषों से कहीं अहसास करा रही हैं कि उनका भला महिलाओं के भले में ही निहित है और कि महिलाओं का भला संपूर्ण मानवता की भलाई में निहित है।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) किसी दलित महिला के सामने आने वाली बड़ी ही ख़ास समस्या क्या है?

.....

.....

.....

24.7 शब्दावली

आमूल परिवर्तनवादी : रिवाजी अथवा पारम्परिक से एक विचारणीय प्रस्थान द्वारा लक्षणान्वित; उग्र परिवर्तन के विकारों, व्यवहारों व नीतियों से जुड़ा एक राजनीतिक गुट।

औपनिवेशिक : एक उपनिवेश अथवा उसके अभिलक्षणों से संबंधित उपनिवेश किसी साम्राज्यिक शक्ति अथवा साम्राज्यिक मानसिकता द्वारा अधिगृहीत व शासित एक राज्य क्षेत्र एवं राष्ट्र है।

पाश्चात्यकरण : उच्चरूप से औद्योगीकृत देशों, सामान्यतः पश्चिमी गोलार्द्ध में, की परम्पराओं व आधुनिकतम संस्कृति में ढलना अथवा उनको अंगीकार कर लेना।

बहुविवाह प्रथा : एक ही समय में एक से अधिक पत्नियाँ रखने की रूढ़ि।

मताधिकार : वोट देने का अधिकार (राजनीतिक मामलों में अथवा सरकार के निर्माण हेतु)।

मध्यवर्ग : निजी परिसम्पत्ति हितों व उपभोक्तावाद द्वारा प्रभावित सामाजिक व्यवहार एवं राजनीतिक विचारों वाला।

नारी अधिकारवादी विचार : इस धारणा से जन्मे विचार कि महिलाएँ राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक अधिकारों के संबंध में पुरुषों के समान हैं।

लिंग इस समाविष्ट धारणा के साथ पुरुष व स्त्री के बीच सामाजिक रूप से स्थापित मतभेद कि जीवन के हर पहलू में स्त्रियाँ पुरुषों से निकृष्ट हैं।

सुधार : संशोधन उसका जो दोषपूर्ण, पापमय, अनैतिक अथवा भ्रष्ट है; किसी कुप्रथा, अन्याय अथवा त्रुटियों का निराकरण अथवा ठीक करने का कार्य।

24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें व लेख

कुमार, राधा, *दि हिस्ट्री ऑव डूइंग,* काली फॉर विमिन, नई दिल्ली, 1993।

गेल ओमवेद्त : *कल्चरल रिवोल्ट इन् ए कॅलोनियल सोसाइटी।*

गेल ओमवेद्त : *वी विल स्मैश दिस प्रीज़न।*

लिडिल, जोआना तथा जोशी, रमा (सं०), *डॉक्टर्स ऑव इण्डियेन्डेन्स : जैण्डर, कास्ट एण्ड क्लास,* काली फॉर विमिन, नई दिल्ली, 1986।

संहारी, कुमकुम तथा वैद, सुरेश (सं०), *रीकास्टिंग विमिन : ऐल्सेज़ इन कॅलोनियल हिस्ट्री,* काली फॉर विमिन, नई दिल्ली, 1989।

24.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) इसको इस प्रकार इसलिए पुकारा जाता था क्योंकि महिलाओं की स्थिति सुधारने हेतु सामाजिक सुधारों को आरंभ करने के प्रयास इसी काल में किए गए। वे बुराइयाँ जिनका उन्मूलन किए जाने के प्रयास किए जाने थे, में शामिल थे – सती-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह पर पाबन्दी, पर्दा-प्रथा, इत्यादि।

2) पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और पंडित मृत्युञ्जय ने सिद्ध कर दिया कि शास्त्र विधवा-पुनर्विवाह की स्वीकृति देते हैं; विधवा-पुनर्विवाह संस्थाएँ बनाई गईं और विधवा-पुनर्विवाह नियम बनाए गए।

3) उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की जिसने जाति-प्रथा, बहुविवाह-परम्परा, बाल-विवाह, तथा संस्कृत व अंग्रेजी की अनिवार्य शिक्षा हेतु संघर्ष करने का प्रयास किया।

बोध प्रश्न 2

1) ये घटनाएँ : 1907 में मैडम कामा ने स्टुट्गार्ट में सोशलिस्ट इण्टर-नेशनल की कांग्रेस में "वन्दे मातरम्" ध्वज फहराया; 1913 में कुमुदिनी मित्रा को बुडापेस्ट में अंतर्राष्ट्रीय नारी-मताधिकार सम्मेलन में आमंत्रित किया गया; सरोजिनी नायडू, सरला देवी तथा हरदेवी रोशनलाल भी महिलाओं के मुद्दों को उठाने वाली प्रथम महिलाओं में थीं।

2) आर्य समाज के सदस्य के नाते उन्होंने लगभग पूरे पंजाब का भ्रमण किया और महिलाओं से निवेदन किया कि वे अपने पुत्रों को सरकारी नौकरियों में जाने के लिए न प्रेरित करें बल्कि "स्वदेशी" बनने के लिए करें।

3) उनके मतानुसार "स्वराज" व "स्वाधीनता" का क्रमश: अर्थ है– स्व-शासन, तथा "स्वयं पर शासन करने की शक्ति व सत्ता"।

बोध प्रश्न 3

1) ब्रिटिश अधिकारियों को मारकर तथा औपनिवेशिक व्यवस्था के विरुद्ध छात्रों, अध्यापकों व जनता का आह्वान कर उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लिया।

2) मद्यपान पूरे परिवार पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। देश के अनेक भागों, खासकर, आंध्रप्रदेश व उत्तरांचल, में ताड़ी-विरुद्ध आंदोलनों को शुरू कर महिलाओं ने इसके विरुद्ध क्रांति की।

3) महिलाओं के विरुद्ध हिंसा बलात्कार, दहेज-मृत्यु, घरेलू हिंसा, इत्यादि के रूप में व्यक्त हुई। इसके लिए मुख्य कारण उनकी नाजुक सामाजिक, आर्थिक व शैक्षिक प्रतिबंधों, तथा लोगों के मूल्यों में निहित हैं।

बोध प्रश्न 4

1) दलित महिलाएँ भेदभाव की दोहरी समस्याएँ झेलती हैं : वे उन सामान्य समस्याओं का सामना करती हैं जो सभी जातियों से सम्बंध रखने वाली महिलाएँ झेलती हैं, और वे समस्याएँ भी जो दलित महिलाओं द्वारा उनकी जाति की सामाजिक स्थिति के कारण झेली जाती हैं।

इकाई 25 दलित

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 दलित कौन है और दलित आंदोलन क्या है?

25.3 भारत में दलित आंदोलन

25.3.1 औपनिवेशिक काल में दलित आंदोलन

25.3.2 औपनिवेशोत्तर काल में दलित आंदोलन

25.4 सारांश

25.5 शब्दावली

25.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें व लेख

25.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

25.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप इस योग्य होंगे कि :

- भारत में दलित आंदोलन का अर्थ समझ सकें;
- दलित आंदोलन में शामिल मुद्दे/ समस्या समझ सकें;
- दलित आंदोलन के विभिन्न प्रकार जान सकें;
- उन चरणों को जान सकें जिनसे होकर दलित आंदोलन गुज़र चुका है; और
- चुनावीय राजनीति में दलितों की भूमिका व उनके संगठनों का विश्लेषण कर सकें।

25.1 प्रस्तावना

पिछले कुछ दशकों में देश के विभिन्न हिस्सों में दलित आंदोलन की एक बाढ़-सी देखी गई। यह विभिन्न स्तरों यानी राज्य, स्थानीय व अखिल भारतीय स्तर, पर उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक गतिविधियों में प्रतिबिम्बित होती है। एक बड़ी संख्या में दलितों के सामाजिक व सांस्कृतिक संगठन, उनके राजनीतिक दल व नेता देश के विभिन्न भागों में उद्गमित हुए हैं। हालाँकि देश के अधिकतर भागों में वे स्वयं अपना हक़ कायम नहीं कर पाए हैं। अब भी उन क्षेत्रों में जहाँ अनुकूल परिस्थितियाँ विद्यमान हैं दलित स्वयं अपना हक़ कायम कर रहे हैं। वे देश की सामाजिक व राजनीतिक प्रक्रियाओं में एक निर्णायक शक्ति बन चुके हैं। समसामयिक दलित आंदोलन महिलाओं, जनजातियों, पर्यावरणविदों, कर्मियों व कृषकों जैसे अनेक अन्य सामाजिक समूहों के सामाजिक व राजनीतिक आंदोलनों के साथ हो रहा है।

25.2 दलित कौन है और दलित आंदोलन क्या है?

दलित वे जन-समूह हैं जिन्होंने अस्पृश्यता समेत सामाजिक भेदभाव को झेला है वे वृहद् रूप से हमारे समाज के आर्थिक रूप से अलाभान्वित समूहों से संबंध रखते हैं। वे हमारे संविधान में अनुसूचित

जाति श्रेणियों में रखे जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में 'दलितों की श्रेणी' प्रथमत: ज्योतिबा फुले द्वारा प्रयोग किया गया। लोक प्रचलित रूप से इसका प्रयोग सत्तर के दशक में दलित पंथेर द्वारा किया गया। लेकिन यह प्रचलन में अभी हाल ही में आया है – अस्सी के दशकोपरांत ही। दलित अथवा अनुसूचित जातियों हेतु प्रयुक्त 'हरिजनों' की श्रेणी का स्थान इसने ले ही लिया है। अस्सी के दशकोपरांत 'दलित' शब्द ही सामान्य व्यवहार में आया गया है। हमारे संविधान में उनके हितों के संरक्षण हेतु विशेष प्रावधान हैं – सार्वजनिक नौकरियों, छात्रवृत्तियों, विधायी निकायों, इत्यादि में आरक्षण। सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार व अन्य संवैधानिक अधिकारों ने उन्हें राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने में सक्षम बना दिया है।

दलित आंदोलन जाति-आधारित भेदभाव तथा आर्थिक असमानता के मुद्दों को उठाता है। यह सामाजिक न्याय हेतु एक संघर्ष है। वे मुद्दे जिन पर दलित आंदोलन शुरू किया गया है, हैं : आत्म-सम्मान, महिलाओं का उत्पीड़न, वेतनों का भुगतान, बलात् श्रम अथवा बेगार, भूमि-विवाद, आरक्षण नीति का कार्यान्वयन, नौकरी में पदोन्नति, मतदान करने जैसे लोकतांत्रिक अधिकारों से इंकार, डॉ० भीमराव अम्बेडकर। उनकी प्रतिमा का अनादर, आदि। दलितजन इन मुद्दों पर विरोध-प्रदर्शन व आंदोलन विभिन्न तरीकों से करते हैं, जिनमें शामिल हैं – मुख्यत: अनौपचारिक तरीके, व्यक्तिगत, आधार पर, संगठित तरीकों, सत्याग्रह व मुकदमे के माध्यम से, इन्हें या तो संसद में अथवा विधान सभाओं में उठवाकर। दलित आंदोलन/ हलचल को प्रदर्शन, रैलियों, जुलूस जैसे सामूहिक कृत्य के माध्यम से; हस्ताक्षर अभियान, विरोधस्वरूप मुद्रित-सामग्री, इत्यादि के माध्यम से भी व्यक्त किया जाता है। कभी-कभी उनका आंदोलन दलितों, पुलिस व समाज के उन तत्त्वों के बीच संघर्ष में परिणत होता है जो दलितों के हितों के प्रति विद्वेष रखते हैं।

बोध प्रश्न 1

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) 'दलित' शब्द से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) दलित आंदोलन द्वारा उठाए गए मुख्य मुद्दे क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

25.3 भारत में दलित आंदोलन

भारत में दलित आंदोलन विभिन्न स्तरों पर हो रहा है जैसे कि ग्रामों व कस्बों, राज्य व अखिल भारतीय (राष्ट्रीय) स्तर पर। यह उन क्षेत्रों में हो रहा है जहाँ दलित जन हलचल मचाने की स्थिति में हैं, क्योंकि देश के अनेक भागों में अब भी वे अपनी आवाज़ उठाने के काबिल नहीं हैं। इसी कारण, देश में दलित आंदोलन में कुछ प्रवृत्तियाँ उन्हीं क्षेत्रों से पहचानी जा सकती हैं जहाँ यह हो रहा है। भारत में दलित आंदोलन को दो कालों में बाँटा जा सकता है : स्वतंत्रतापूर्व काल और स्वतंत्रोत्तर काल।

25.3.1 औपनिवेशिक काल में दलित आंदोलन

स्वतंत्रतापूर्व काल में, भारत में दोनों स्तरों पर दलित आंदोलन हुए – राष्ट्रीय तथा प्रांतीय। राष्ट्रीय स्तर पर मोहनदास गाँधी व डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने दलितों की समस्याओं को उठाया। लेकिन अम्बेडकर व गाँधीजी ने उन्हें सुलझाने के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग अपनाए। गाँधीजी ने अस्पृश्यता को हिन्दूवाद का एक विकृत रूप पाया, और सुझाव दिया कि इसका समाधान हिन्दुओं के नैतिक सुधार द्वारा किया जा सकता है। उन्होंने ''हरिजन'' शब्द यही कहने के उद्देश्य से गढ़ा कि दलित अथवा अछूत भी उच्च जाति के लोगों जैसे ही ''ईश्वर की प्रजा'' हैं। दूसरी ओर, अम्बेडकर ने अस्पृश्यता का वास्तविक कारण हिन्दूवाद के स्वभाव में ही देखा और सुझाव रखा कि अस्पृश्यता अथवा जाति-भेद का एकमात्र समाधान हिन्दूवाद के उन्मूलन अथवा दलितों का अन्य किसी धर्म, अधिमानत: बुद्ध-धर्म में परिवर्तित किए ही निहित है। हिन्दूवाद के सिद्धांतों पर वास्तव में प्रश्न करने अथवा धर्मांतरण की वकालत करने से पूर्व अम्बेडकर ने अस्पृश्यता को हिन्दू क्षेत्र की तह से मिटा देने का प्रयास किया था। इस संबंध में उन्होंने मंदिर-प्रवेश आंदोलन शुरू किया। सबसे महत्त्वपूर्ण घटना, जिसने हिन्दू धर्म के विषय में अम्बेडकर का रुझान प्रबलतापूर्वक बदल दिया, थी महाराष्ट्र में 1927 का 'महाद सत्याग्रह'। इस घटना में अम्बेडकर ने उस चौदार जलाशय में प्रवेश करने के लिए बड़ी संख्या में दलितों का नेतृत्व किया, जो रूढ़िवादी हिन्दुओं द्वारा अछूतों के लिए प्रतिबंधित था। अम्बेडकर की चेष्टा का रूढ़िवादी हिन्दुओं द्वारा विरोध किया गया, जिन्होंने फिर इस हौज़ को कर्मकाण्डता से शुद्ध किया। रूढ़िवादी हिन्दुओं की प्रतिक्रिया ने अम्बेडकर को 'मनुस्मृति' जलाने और 1935 में यह टिप्पणी करने को मजबूर कर दिया कि ''मैं पैदा हिन्दू ज़रूर हुआ हूँ लेकिन मरूँगा हिन्दू नहीं।'' उन्होंने महसूस किया कि मूल समस्या हिन्दूवाद में ही निहित है और दलितों को छुआछूत की धमकी से मुक्त कराने के लिए धर्मांतरण ही एक रामबाण है। अम्बेडकर का यह दृढ़ विभाजक 1956 में उनके द्वारा एक बड़ी संख्या में अपने समर्थकों के साथ बुद्ध-धर्म अपना लेने में परिणत हुआ।

प्रांतीय स्तरों पर भी कई नेता थे जो दलितों की समस्याओं से संघर्ष में शामिल थे। भारत में विभिन्न भागों में एकल जातीय आंदोलन भी थे – दक्षिण में नाडारों, पुलयों, इज़ाहबों के आंदोलन; पश्चिम बंगाल में नामशूद्र आंदोलन; पंजाब व उत्तर प्रदेश के चमारों के बीच क्रमश: मंगूराम के नेतृत्व में 'आदि धर्म' आंदोलन तथा अछूतानंद के नेतृत्व में 'आदि हिन्दू' आंदोलन। त्रावनकोर में इज़ाहबों के बीच नारायण गुरु ने आंदोलन चलाया और केरल में पुलयों के बीच अय्याकली ने। ये आंदोलन कर्मकाण्ड में स्वयं-सुधार, उनकी शिक्षा की उन्नति, राज्य के तहत रोज़गार में प्रवेश प्राप्त करने के प्रति वचनबद्ध थे। पुलयों के दलित आंदोलन ने अपना उद्गम आर्य-पूर्व काल में खोजा और अपना देश के मूल निवासियों के रूप में वर्णन किया – हिन्दू अथवा उच्च जातियाँ बाद में आयी थीं। मंगूराम ने अछूतों के धर्म को हिन्दू धर्म से पहले का खोजकर बताया। उनके अनुसार अछूत ही भारत के मूल निवासी (आदि) थे; उनका अपना धर्म था – 'आदि धर्म' बाद के आगंतुकों द्वारा 'आदि

धर्मियों' को पुनर्जीवित स्थानों पर धकेल दिया गया। उन्होंने 'आदि धर्म' को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। तीसवें दशक के मध्य तक यह आंदोलन समाप्त हो गया। श्री नारायण गुरु (1857-1928) ने त्रावनकोर में हिन्दूवाद की एक समीक्षा विकसित की जिसका प्रभाव उनके अपने इज़ाहवा समुदाय से लेकर पुलयों, आदि से भी आगे तक पड़ा। उनका तत्त्वज्ञान था "मनुष्य के लिए एक जाति, एक धर्म तथा एक ईश्वर"। अय्याकली (1863-1941) के उद्‌गमन के साथ ही पुलय भी प्रभावी हो गए। हैदराबाद राजसी राज्य में, पी.आर. वैंकटस्वामी ने अछूतों को उद्यत करने का प्रयास किया। उनके आह्‌वान के मुख्य मुद्दे थे – स्वयं-सुधार, शिक्षा व समानता। बीसवें व तीसवें दशक के दौरान दक्षिण व पश्चिम में हो रहे दलित आंदोलन ने भी मंदिरों में प्रवेश की अनुमति पर ध्यान केन्द्रित किया।

प्रांतीय स्तर के दलित नेतृत्व ने उत्तर भारत के उन समाज-सुधार आंदोलनों का भी प्रत्युत्तर दिया जो बीसवीं सदी के पूर्व-दशकों में हुए, जैसे आर्य समाज। लेकिन इन आंदोलनों के नेतृत्व को उच्च जातियों से संबद्ध, बहुत अधिक सरपरस्त व समानता के उनके द्योतन को बहुत संकीर्ण पाकर, उन्होंने इन आंदोलनों का संग छोड़ दिया। इसके बाद, शुरू हुई उनकी स्वतंत्र कार्य-प्रक्रिया। यह घटना उत्तर प्रदेश व पंजाब में हुई। इसी प्रकार, मद्रास में एम.सी. राजा ने पाया कि ग़ैर-ब्राह्मण न्याय पार्टी अछूतों के हितों के प्रति विद्वेष रखती है।

इनसे कहीं दूर, मध्य प्रदेश (छत्तीस गढ़) के दलित, खासकर चमार, गुरु घासीदास के नेतृत्व की विरासत द्वारा प्रेरित 'सतनामी आंदोलन' से 18वीं शताब्दी से ही प्रभावित थे। सतनामियों ने सामाजिक व औपचारिक पुरोहिततंत्र के द्योतन पर एक ही साथ दो तरीकों से आपत्ति की : हिन्दू देवी-देवताओं को नकार कर और मंदिर के भीतर 'पूजा' व 'पुराहित' को अस्वीकार करके। यह 'भक्ति परंपरा' की दिशा में था।

अम्बेडकर के पदार्पण करने और उनका अछूतों के लिए अलग निर्वाचक वर्ग के मुद्दे पर गाँधीजी से विवाद होने के साथ ही, अम्बेडकर भारत में अछूतों के राष्ट्रीय स्तर की राजनीति में आ गए। तीसवें दशक से ही अम्बेडकर ने मंदिर-प्रवेश मुद्दे को लेकर आंदोलन शुरू कर दिया था।

बीसवीं सदी के आरंभ के वर्षों में कांग्रेस व अम्बेडकर के बीच मतभेद का एक बड़ा क्षेत्र उस मुद्दे के विषय में था जिसे कांग्रेस के कार्यक्रमों में अन्यों से ऊपर रखा गया था। अम्बेडकर का मानना था कि कांग्रेस को सामाजिक मुद्दे राजनीतिक मुद्दों से ऊपर रखने चाहिए। उन्होंने महसूस किया कि राजनीतिक अधिकारों का उपयोग सामाजिक समानता लाए बगैर नहीं किया जा सकता है। कांग्रेस दूसरी और यह मानती थी कि एक बार लोगों को राजनीतिक अधिकार देकर ही सामाजिक समानता स्थापित की जा सकती है।

आने वाले काल में दलित राजनीति अम्बेडकर व गाँधीजी के बीच विवाद द्वारा ही निर्देशित हुई। वह अवसर जब अम्बेडकर और गाँधीजी के बीच मतभेद सामने आए, था – 1930-31 का गोल-मेज सम्मेलन। तब तक मंदिर या हौज़ प्रवेश आंदोलन की व्यर्थता को समझकर, अम्बेडकर ने विभिन्न सार्वजनिक निकायों में एक पृथक् व अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में दलितों को प्रतिनिधित्व दिए जाने की आवश्यकता पर ध्यान केन्द्रित किया।

लंदन में 1931 के द्वितीय गोल-मेज सम्मेलन में निर्वाचक-वर्गों के स्वभाव पर अपने मतभेदों के मद्देनज़र अम्बेडकर राष्ट्रीय उत्कर्ष की खोज में लग गए; यह सम्मेलन सायमन आयोग की उस रिपोर्ट पर चर्चा के लिए आयोजित हुआ था जिसमें पद-दलित वर्गों के लिए संयुक्त निर्वाचक-वर्ग तथा आरक्षण का सुझाव दिया गया था। अम्बेडकर इस सम्मेलन में आमंत्रित दो पद-दलित वर्गों के

प्रतिनिधियों में से एक थे। अम्बेडकर ने पद-दलित वर्गों के लिए पृथक् निर्वाचक-वर्ग की माँग की। अम्बेडकर की माँग को पद-दलित वर्गों के एक अन्य प्रतिनिधि का समर्थन मिला – मद्रास के एम. सी. राजा से। लेकिन गाँधीजी ने पद-दलित वर्गों के लिए पृथक् निर्वाचक-वर्ग हेतु अम्बेडकर के प्रस्ताव का विरोध किया। राजा ने पैंतरा बदला और संयुक्त निर्वाचक-वर्ग के समर्थन में हिन्दू महासभा के प्रधान, मुन्ने के साथ एक समझौता कर लिया। राजा-मुञ्जे करार ने अछूतों के नेतृत्व को विभाजित कर दिया। अम्बेडकर की महाराष्ट्र से माहर नेताओं, पंजाब से 'आदि धर्म मंडलों' और बंगाली 'नामशूद्रों' के अंगों में से एक द्वारा समर्थन दिया गया। राजा के समर्थकों में महाराष्ट्र से प्रमुख 'चैम्बर' नेता शामिल थे। गाँधीजी, दूसरी ओर, ब्रिटिशों के उस सम्प्रदाय पुरस्कार (कम्यूनल अवार्ड) के खिलाफ़ 20 सितम्बर, 1932 को आमरण अनशन पर बैठ गए, जो पृथक् निर्वाचक-वर्ग की वकालत करता था। गाँधीजी के अनशन के चलते स्थिति को बिगड़ने से बचाने के लिए, अम्बेडकर नरम पड़ गए और गाँधीजी के साथ एक करार कर लिया जिसे 'पूना पेक्ट' के नाम से जाना जाता है। इसके अनुसार, पृथक् निर्वाचक-वर्ग हटा दिया गया और इसके बदले अछूत जातियों के लिए विधायी निकायों में आरक्षण पुरस्थापित किया गया। पूना संधि की सिफारिशें भारत सरकार अधिनियम, 1935 में सम्मिलित कर ली गईं। परिणामस्वरूप 1937 के चुनावों के दौरान विधानसभाओं में आरक्षण हुआ। अम्बेडकर की पार्टी स्वतंत्र श्रमिक पार्टी (आई.एल.पी.) ने इस चुनाव को लड़ा। आपने आई.एल.पी. को बाद में अनुसूचित जाति महासंघ (एस.सी.एफ.) में बदल दिया। तदोपरांत, राजा अम्बेडकर के समर्थक बन गए। उनकी मृत्यु के बाद, अम्बेडकर के समर्थकों ने भारतीय रिपब्लिकन पार्टी (आर.पी.आई.) बना ली। दूसरी ओर, कांग्रेस व गाँधी जी अछूतों के प्रति प्रोत्साहन प्रदान कर रहे थे; जगजीवन राम ऐसी ही सरपरस्ती से उभरे।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) औपनिवेशिक काल के दौरान प्रांतीय स्तर पर हुए दलित आंदोलनों पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर व मोहनदास गाँधी के बीच संबंधों पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

25.3.2 औपनिवेशोत्तर काल में दलित आंदोलन

भारत में स्वतंत्रोत्तर काल में दलित आंदोलन को तीन चरणों में बाँटा जा सकता है, यानी, प्रथम चरण (पचास से साठ का दशक); द्वितीय चरण (सत्तर से अस्सी का दशक); और तृतीय चरण (नब्बे के दशक से आगे)। सम्पूर्ण स्वतंत्रोत्तर काल में दलित राजनीति का एक सामान्य अभिलक्षण रहा है, खासकर साठ के दशक के बाद, यानी, अपनी स्वयं की पार्टी अथवा दलितों के नेतृत्व वाली एक पार्टी बनाने हेतु संघर्ष। साठ के दशक में कांग्रेस से आर.पी.आई. को, 1977 में जनता पार्टी को, 1989 में जनता दल को और नब्बे के दशक व बाद में बी.एस.पी. (बहुजन समाज पार्टी) को दलित समर्थन का स्थानांतरण, आदि दलितों की इसी इच्छा के उदाहरण हैं। दलित आंदोलन के उदय में अनेक कारकों का योगदान है, खासकर अस्सी के दशक से आगे। इनमें दलितों के बीच उस नई पीढ़ी का उद्‌गमन शामिल है जो अपने अधिकारों, जनसंपर्क साधनों के विस्फ़ोट व डॉ० भीमराव अम्बेडकर के विचारों के प्रभाव के प्रति सचेत है।

प्रथम चरण ('50 से '60 का दशक)

सार्वभौमिक, वयस्क मताधिकार, संविधान के प्रावधानों के अनुसार अनुसूचित जातियों के लिए शैक्षिक व राजनीतिक संस्थाओं व नौकरियों में उनकी काफी बड़ी संख्या को आरक्षण ने स्वतंत्रोत्तर काल में इन सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए राह आसान कर दी। इनके साथ ही भारत में राज्य ने समाज के अलाभान्वित समूहों की बेहतरी के लिए अनेक कार्यक्रम शुरू किए, खासकर अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए। यद्यपि देश के अधिकांश भागों में अनुसूचित जातियाँ अनेक व्यावहारिक कारणों से राज्य द्वारा उठाए गए कदमों से लाभान्वित नहीं हो सकीं, तथापि इन्होंने जहाँ भी उनके लिए उपयुक्त स्थितियाँ थीं, मदद की। इसके अलावा, राजनीतिक दलों, खासकर कांग्रेस पार्टी ने, उन्हें अपने वोट-बैंक के रूप में संघटित की कोशिश की। देश के अनेक भागों में वोट देने के अपने अधिकार का लाभ उठाने में मुश्किलों के बावजूद, दलितों का राजनीतिकरण एक बड़े पैमाने पर हुआ। इस प्रकार की प्रक्रिया ने उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सचेत कर दिया। कांग्रेस की नीतियों व रणनीतियों ने उसको अपना एक ऐसा सामाजिक आधार बनाने में मदद की जिसमें दलित मुख्य सामाजिक समूह के रूप में थे। इस चरण में दलितों का राजनीतिकरण राजनीतिक दलों, खासकर कांग्रेस, के सामाजिक आधार के एक संघटक के रूप में हुआ। इसी बीच, स्वतंत्रता के उपरांत जन्मी दलित नेतृत्व की प्रथम पीढ़ी उद्‌गमित हुई, जिसमें शिक्षित मध्यवर्ग व्यवसायी भी समान रूप से शामिल थे।

यह समूह प्रबल राजनीतिक दलों व सांस्कृतिक लोकाचार, खासकर, कांग्रेस व हिन्दू आस्था प्रणाली, का आलोचक हो गया। उन्होंने यह महसूस करना शुरू कर दिया कि कांग्रेस उनका वोट-बैंक के रूप में इस्तेमाल कर रही है; उच्च जातियाँ इस दल के नेतृत्व पर कब्जा किए हैं और दलितों को नेतृत्व नहीं करने दे रही हैं। सांस्कृतिक मोर्चे पर उनको लगा कि हिन्दू धर्म उन्हें कोई आदरपूर्ण स्थान नहीं देता है। इसीलिए, सम्मानजनक रूप से जीने के लिए उन्हें हिन्दू धर्म को त्यागकर बौद्ध-धर्म अपना लेना चाहिए। इस मत के पक्षधर डॉ० भीमराव अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित थे। उन्होंने अम्बेडकर के विचारों व सिद्धांतों पर आधारित भारतीय रिपब्लिकन पार्टी (आर.पी. आई) बनाई। पचास व साठ के दशकांत में आर.पी.आई. ने प्रबल संघटकों से राजनीतिक व सांस्कृतिक स्वायत्तता प्राप्ति हेतु उत्तरप्रदेश व महाराष्ट्र में एक सांस्कृतिक व राजनीतिक आंदोलन शुरू किया। एक बड़ी संख्या में दलित धर्मांतरण कर बौद्ध हो गए। यह आर.पी.आई. साठ के दशक में हुए विधानसभा व संसदीय चुनावों में एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक पार्टी बनकर उभरी। लेकिन साठ के दशकोपरांत आई.पी.आई. उत्तरप्रदेश में सबल नहीं रही क्योंकि इसका मुख्य नेतृत्व उसी कांग्रेस पार्टी में सहयोजित हो गया जिसके खिलाफ इसने पूर्व-दशक में आंदोलन शुरू किया था।

द्वितीय चरण ('70 से '80 का दशक)

यह चरण वर्ग व जाति संघर्षों के संयोग द्वारा अभिलक्षित हुआ। पश्चिम बंगाल बिहार व आंध्रप्रदेश के ग्रामीण इलाकों में, नक्सलवादी आंदोलन ने जाति व वर्ग शोषण के खिलाफ़ एक जंग शुरू की। बम्बई व पूना शहरों में, 'दलित पंथेर' ने इसी प्रकार का आंदोलन चलाया।

दलित पंथेर आंदोलन

सन् 1972 में, महाराष्ट्र के दो मुख्य शहरों में, दलितों के एक शिक्षित समूह – युवा दलित लेखकों व कवियों ने 'दलित पंथेर' नामक एक संगठन बनाया। अम्बेडकरवाद, मार्क्सवाद व "नीग्रो साहित्य'' से प्रभावित इन लोगों ने उस जाति-व्यवस्था के बहिष्कार को लक्ष्य बनाया जो उनके अनुसार ब्राह्मणवादी हिन्दूवाद पर आधारित थी। सार्वजनिक स्थल, यानी, कार्यालय, घरों, चाय की दुकानों, सार्वजनिक पुस्तकालयों में चर्चाओं व वाद-विवादों के मार्फ़त जन-संपर्क व संचार नेटवर्क के माध्यम से, दलित लेखकों व कवियों ने हिन्दू जाति-व्यवस्था व शोषक आर्थिक व्यवस्था की समालोचना प्रस्तुत की।

'दलित पंथेर' के मूल को उस विवाद में खोजा जा सकता है जो एक सामाजिक पत्रिका 'साधना' में दलित लेखकों द्वारा लिखे गए लेखों व कविताओं के इर्द-गिर्द केन्द्रित था। इन लेखों में सार्वजनिक विवादास्पद था राजा धाले का लेख। यह विवाद दो बिन्दुओं के आस-पास केन्द्रित था; एक, दलित महिला के अपमान पर पचास रुपये के जुर्माने की तुलना सौ रुपये में करना, जो राष्ट्रीय झण्डे के अपमान पर जुर्माना होता है। दूसरा, बिन्दु था उन बातों का दोहराया जाना, जो एक अन्य विख्यात दलित-मार्क्सवादी लेखक, नामदेव धासल के कविता-संग्रह – गोलपिता, के प्रकाशन समारोह में पहले हो चुकी थीं। 'गोलपिता' की कविताएँ महिलाओं के शोषण से भी संबंधित थीं।

उच्च जाति के मध्यवर्ग ने उन लेखों द्वारा घोर अपमान महसूस किया और 'साधना' के उस अंक पर प्रतिबंध लगाने की माँग की जिसमें राजा धाले कृत लेख थे। प्रतिक्रियास्वरूप, दलित युवाओं ने हाथों में लाल-व-काला पंथेर ध्वज लेकर एक रक्षा-मार्च भी आयोजित किया। पारम्परिक संगठनात्मक नामकरण को छोड़ने के लिहाज से, उन्होंने अपने संगठन को नया नाम दिया – दलित पंथेर। 'दलित पंथेर' के कार्यकर्त्ता प्रथम-सीढ़ी के शिक्षित युवा थे, जिसके माता-पिता वे ग़रीब किसान व श्रमिक थे जिनको अम्बेडकर आंदोलन की बपौती विरासत में मिली थी।

प्रारंभिक रूप से इस आंदोलन ने शोषित लोगों – दलितों, पिछड़े वर्गों, कामगारों व किसानों, का एक गठजोड़ बनाने की उद्घोषणा की। इसका कार्यक्रम महिलाओं की समस्याओं, शुद्धता व प्रदूषण के ब्राह्मणवादी सिद्धांतों का परित्याग, तथा सभी प्रकार के राजनीतिक व आर्थिक शोषणों के खिलाफ़ जंग के इर्द-गिर्द केन्द्रित था। अम्बेडकरवाद की परम्परा में, उनका लक्ष्य था राजनीतिक सत्ता हासिल करना। यह आंदोलन सत्तर के दशक के इस रिपब्लिकन आंदोलन की असफलता को देखते हुए जन्मा जिसने अपने नेतृत्व के व्यक्तित्व मतभेदों की वजह से हानि उठाई थी। अपने मुख्य नेतृत्व द्वारा कांग्रेस अथवा किसी अन्य संगठन में शामिल हो जाने के साथ ही, आर.पी.आई. आंदोलन एक महत्त्वहीनप्राय शक्ति बन चुका था। लेकिन इस आंदोलन द्वारा बोए गए बीज दलित पंथेर व उसके आंदोलन के संघटन में फलीभूत हुए। परन्तु आर.पी.आई. आंदोलन की भाँति, इसको भी विच्छेद का कष्ट भोगना पड़ा। दलित पंथेर के दो नेताओं, राजा धाले और नामदेव धासल ने वैचारिक आधार पर मतभेद बढ़ा लिए। पहले एक उत्साही अम्बेडकरवादी रहे व्यक्ति ने नामदेव धासल, एक मार्क्सवादी, पर जाति-समस्या की अनदेखी करने और दलित पंथेर आंदोलन में कम्यूनिस्टों की घुसपैठ में मदद करने का आरोप लगाया। यह अन्ततः 1974 में दलित पंथेर से धासल के निष्कासन में परिणत हुआ। राजा धासल ने दलित पंथेर का एक पृथक् गुट बना लिया।

1976 में, अरुण काम्बले और रामदास अथावले के नेतृत्व वाले धाले गुट के युवा सदस्यों ने, इसको एक अखिल भारतीय रूप देने के प्रयास में, एक नया संगठित 'भारतीय दलित पंथेर' बना लिया। इसने शिक्षा-प्रणाली, बौद्ध-धर्मान्तरितों को सुविधाएँ, औरंगाबाद-स्थित 'मराठवाड़ा विश्वविद्यालय' का पुनर्नामंकरण 'अम्बेडकर विश्वविद्यालय' किए जाते, तथा "प्राथमिक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण" से संबंधित मुद्दे उठाए। परन्तु यह भी कोई छाप नहीं छोड़ सका।

दलित पंथेर सभी शोषितों का गठजोड़ करने में सफल नहीं हो सका। यह अम्बेडकरवादियों और मार्क्सवादियों में बँट गया, विशेषत: बम्बई संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र के 1974 के उप-चुनाव के बाद।

बिहार में नक्सलवादी आंदोलन

पश्चिमी उत्तरप्रदेश अथवा महाराष्ट्र के दलितों से भिन्न, बिहार के दलितों ने औपनिवेशिक काल में जाति-विरोधी आंदोलन का अनुभव नहीं किया। जबकि ग़ैर-दलित कृषि-वर्ग बिहार में विभिन्न कृषक अथवा जाति-संगठनों द्वारा संचालित किया जा रहा था, दलितजन ही बृहद्त: राजनीतिक दलों के वोट-बैंक रहे। जगजीवन राम ने सिवाय उनके वोट हासिल करने के, उनको संचालित करने का कोई प्रयास नहीं किया। यह केवल साठ के दशक से ही था कि केन्द्रीय बिहार के दलितों ने राजनीतिक आंदोलन में भाग लेना शुरू किया। परन्तु यह केवल भारतीय आधार पर नहीं था; यह जाति और वर्ग शोषण के घालमेल पर था। भू-स्वामियों ने अपने वर्गगत हितों के रक्षार्थ अपनी जाति सेवाएँ (निजी फ़ौजें) तैयार कर लीं। दलितजन यहाँ जाति और वर्ग के आधार पर संगठित हो गए। जगदीश महतो नामक एक कोयरी, पिछड़े वर्ग का, नेता था जिसने आरा जिले के दलितों को लामबन्द करने का पहली बार प्रयास किया। मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के दोहरे विचारों से प्रभावित हो, उसने आरा जिले में "हरिजनिस्तान" (दलित देश) पुकारा जाने वाला पत्र शुरू किया। वह उन हिंसात्मक तरीकों में विश्वास रखता था जिनमें शामिल था दलितों के हितार्थ लड़ाई में भू-स्वामियों की हत्या। उसने भूमिहीन कामगारों हेतु कम मज़दूरी, दलित महिलाओं की इज़्जत की रक्षा और सामाजिक सम्मान आदि मुद्दे उठाए। 1971 में उसकी हत्या कर दी गई।

दलितों पर "भूमि सेना" (कुर्मियों की), "लोरिक सेना" (राजदूतों की) आदि भू-स्वामियों की निजी सेनाओं द्वारा हमलों की गाज गिरते ही अस्सी के दशक में फिर से बिहार में दलित लामबंदी को गति मिल गई। इसके श्रमिकों ने "लाल सेना" बनाई। चूँकि भू-स्वामियों की सेना के अधिकतर शिकारों में दलित शामिल थे, वे नक्सलवाद-समर्थकों का भी एक बड़ा भाग इन नक्सलावादियों ने मध्यम जाति व मध्यम कृषकों को संगठित करने का प्रयास किया। उन्होंने पटना व जेहानाबाद जिलों में "लिबरेशन", "पार्टी यूनिटी" जैसे संगठन बना लिए। पार्टी यूनिटी ने पूर्व-समाजवादी डॉ० विनायन के साथ मिलकर मज़दूर किसान संग्राम समिति (मकिसंस) नामक एक जन-संगठन तैयार कर लिया। 'मकिसंस' ने एक अन्य संगठन (बिहार प्रदेश किसान सभा – बिप्रकिस) जो उसी समय बनाा गया था, के साथ मिलकर 1981 में प्रदर्शन आयोजित किए। इन दोनों संगठनों ने भूमिगत सेनाएँ बनाई और भू-स्वामियों के गिरोहों से लोहा लिया। वे आपस में भी लड़ मरे। 1983 में, लिबरेशन गुट ने एक अन्य जन-मोर्चा बनाया – इण्डियन पीपल्स फ्रंट (आई. पी.एफ.)। आई.पी.एफ. ने 1985 का चुना लड़ा। इसने नक्सलवादी गुटों के परिप्रेक्ष्य में एक परिवर्तन दर्शाया, जो "किसान आंदोलन" पर ज़ोर देने से बदलकर "राज्य सत्ता हथियाना" हो गया था।

if, 41

कर्नाटक में दलित आंदोलन

कर्नाटक में भी दलितजन 'दलित संघर्ष समिति' (दसंस) में संगठित हुए। यह एक ऐसा संगठन था जो 1973 में बना और उसने अपनी इकाइयाँ कर्नाटक के अधिकांश जिलों में स्थापित कर लीं।

बिहार की भाँति इसने भी जाति व वर्ग आधारित मुद्दे लिए और शोषित वर्गों के भिन्न-भिन्न गटों का एक गठजोड़ बनाने का प्रयास किया। यह विभिन्न धारणाओं वाले दलितों – मार्क्सवादी, समाजवादी, अम्बेडकरवादी, इत्यादि, को भी एक ही संगठन के झण्डे तले ले आया। 1974 व 1984 के दौरान इसने कृषि-श्रमिकों के पारिश्रमिक, देवदासी व आरक्षण से संबंधित मुद्दे भी उठाए। इसने दलितों की समस्याओं पर विचार-विमर्श के लिए अध्ययन-समूह भी बनाए। 'दसंस' एक दलित नेता बासवलिंगप्पा के त्यागपत्र के बाद बनाया गया था, उक्त नेता को ऐसा करने हेतु मुख्यमंत्री देवराज अर्स ने निर्देश दिया था। इस नेता ने उच्च जाति के साहित्य को 'भूसा' (मवेशी-चारा) बताया था। इससे उच्च जातियों के छात्र नाराज़ हो गए, और फिर उच्च जातियों व दलितों के बीच दंगे भड़क उठे। उक्त मंत्री की टिप्पणी के दुष्परिणामों की भनक लगते ही मुख्यमंत्री ने उसका इस्तीफा माँग लिया था। इस 'भूसा' विवाद ने एक सशक्त जाति-विरोधी प्रवृत्ति को जन्म दिया, जिसका प्रतिनिधित्व किया एक पत्रकार राजशेखर द्वारा चलाए जा रहे समाचार-पत्र 'दलित वॉइस' ने। 'दलित वॉइस' ने ब्राह्मणों पर "नाज़ियों" की तरह और वामपंथी आंदोलन पर "ब्रह्म-कम्यूनिस्ट" की भाँति प्रहार किया और दलितों को "जन्मजात मार्क्सवादी" नाम दिया। 'दलित वॉइस' के सम्पादक के अनुसार दलित-अ.पि.व. (अन्य पिछडे mi) की लामबन्दी में मुख्य मुद्दा दलितों a अन्य पिछड़े वर्गों के बीच गठजोड़ नहीं है, बल्कि अन्य पिछड़े वर्गों पर दलितों का नेतृत्व है।

तृतीय चरण (नब्बे के दशक से आगे)

नब्बे के दशक ने देश के विभिन्न राज्यों में दलित संगठनों का प्रचुरोद्भव देखा है। उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी (बसपा) का विषय महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि आर.पी.आई. पचास के दशक से ही महाराष्ट्र की भाँति उत्तर प्रदेश में प्रभावी रही थी, 'बसपा' का उदय भारत में दलित पहचान व राजनीति का सर्वाधिक प्रभावी अभिलक्षण रहा। मुख्यमंत्री के रूप में एक दलित महिला, मायावती, के साथ उत्तर प्रदेश में तीन बार सरकार का नेतृत्व करने में यह सफल रही है। 'बसपा' की स्थापना इसके अध्यक्ष काशीराम द्वारा 14 अप्रैल, 1984 को की गई। 'बसपा' बनाने से पहले काशीराम ने दलितों को दो संगठनों, यानी, 'बामसेफ' (अखिल भारतीय पिछड़े व अल्पसंख्यक कर्मचारी संघ) तथा डी.एस-4 (दलित शोषित समाज संघर्ष समिति) के झण्डे तले लामबन्द किया। ये दोनों दलित मध्यवर्गों की लामबन्दी पर अपना ध्यान केन्द्रित किए हुए सामाजिक व सांस्कृतिक व सांस्कृतिक संगठनों को एक राजनीतिक दल – 'बसपा' में बदल दिया। 'बसपा' ने समाज के अन्य वर्ग-बहुल, बहुजन समाज, को लामबंद करने का लक्ष्य निर्धारित किया, जिसमें आते थे – दलित जन, पिछड़े वर्ग तथा वे धार्मिक अल्पसंख्यक जो ब्राह्मण, राजपूत, बनिया, आदि उच्च जातियों से बहिष्कृत थे। 'बसपा' का मानना है कि अल्पसंख्यक उच्च जातियाँ बहुसंख्यक समुदायों अथवा 'बहुजन समाज' के वोटों का प्रयोग करती रही हैं। उन्होंने इन्हें कभी नेता अथवा शासक नहीं बनने दिया। चुनांचे लोकतंत्र में बहुमत को ही शासन करना चाहिए, 'बहुजन समाज' को शासक वर्ग बन जाना चाहिए। देश में सत्ता-खेल पैटर्न को बदल डालने की आवश्यकता है, 'बहुजन समाज' द्वारा अल्पसंख्यक उच्च जातियों को उन्हें वोट-बैंक के रूप में इस्तेमाल करने की अब और अधिक इजाज़त नहीं दी जानी चाहिए। इसकी बजाय 'बहुजन समाज' ही शासक हों। इसी परिप्रेक्ष्य में 'बसपा' ने 1985 से आगे देश में अनेक राज्यों में विधानसभा व संसदीय चुनाव लड़े। 'बसपा' ने उत्तर भारतीय राज्यों में अपनी उपस्थिति का अहसास करा दिया, खासकर पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान व मध्य प्रदेश में।

'बसपा' मुख्यत: अपनी चुनावी गठजोड़ों व आम नीतियों की रणनीति के लिए दलितों के बीच अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में सफल रही है। 'बसपा' के चुनावी गठजोड़ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण उत्तर प्रदेश राज्य में रहा है, तथापि इसने अन्य राज्यों में भी चुनावी गठजोड़ों का प्रयास किया है।

उत्तर प्रदेश के '93 के विधान सभा चुनावों के बाद से, 'बसपा' अनेक बड़े राजनीतिक निरूपणों के साथ गठबंधन कर चुकी है; जैसे उत्तर प्रदेश में कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी व समाजवादी पार्टी से अथवा पंजाब में अकाली दल व कांग्रेस से, जो उसे विधान सभा व संसदीय चुनाव जीतने में अथवा चुनावोपरांत गठजोड़ में मदद कर सकते थे, जो सरकार बनाने में इसकी मदद करता। पहला गठबंधन जो 'बसपा' ने बनाया, '93 के चुनावों में उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव के नेतृत्व वाली 'समाजवादी पार्टी' के साथ था। तब यह गठबंधन 'बहुजन समाज' की एकता के उदाहरण के रूप में देखा गया – 'बसपा' ने दलितों के साथ और समाजवादी पार्टी ने पिछड़े वर्गों व अल्पसंख्यकों के साथ पहचान बनाई। यह गठबंधन, बहरहाल, तभी तक चला जब तक 1995 में मुलायम सिंह यादव के नेतृत्व वाली 'सपा-बसपा' सरकार से 'बसपा' ने समर्थन वापस नहीं ले लिया। मुलायम सिंह के नेतृत्व वाली सरकार के पतन के बाद 'बसपा' का 'भाजपा' से गठबंधन हुआ, जिसके परिणामस्वरूप ही मायावती किसी राज्य की प्रथम दलित महिला के रूप में मुख्यमंत्री हो सकीं। मुख्यमंत्री बनने के तुरंत बाद ही, मायावती घोषणा की कि उनकी पार्टी 'सर्व समाज' की सेवा करेगी; यह उनकी पूर्व-स्थिति से पालयन था जहाँ उन्होंने 'बहुजन समाज' हेतु लड़ने की शपथ ली थी। यह 'बसपा' की चुनावी अथवा गठबंधन रणनीति में बदलाव की शुरुआत थी। आगामी चुनावों में, मूल सिद्धांतों के विपरीत, पार्टी ने न सिर्फ उच्च जातियों – ब्राह्मण, राजपूत, बनिया व कायस्थ– को टिकट दिए, बल्कि मायावती-सरकार में मंत्रियों के रूप में उनको प्रतिनिधित्व भी दिया।

तथापि, अपने मुख्यमंत्रीकाल में, मायावती ने दलितों के लिए विशेष नीतियाँ आरंभ कीं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं : ऐसे गाँव जो पर्याप्त दलित जनसंख्या के आधार पर 'अम्बेडकर ग्रामों' के रूप में पहचाने जाते हैं, में कमज़ोर वर्गों के कल्याण हेतु विशेष कार्यक्रमों वाले 'अम्बेडकर ग्राम कार्यक्रम', तथा सार्वजनिक संस्थानों का नामंकरण निम्नजाति के ऐतिहासिक महापुरुष के नाम पर करना। इसने उनके लोगों के खिलाफ द्रुत कार्यवाही की जो दलितों के विरुद्ध भेदभावपूर्ण गतिविधियों में शामिल थे। 'बसपा' के उद्भव ने देश में दलितों के बीच गौरव और आत्मविश्वास का भाव जगाया है।

उत्तरप्रदेश में 'बसपा' के नेतृत्व वाली गठबंधन सरकारों द्वारा अपनी नीतियों में दलितों पर विशेष ध्यान दिए जाने के फलस्वरूप ग़ैर-दलितों – उच्च जातियों के साथ-साथ पिछड़े वर्गों – के बीच असंतोष उभरा। 'बसपा' अपनी गठबंधन रणनीति में बदलाव के द्वारा इसका सामना करने में भी सफल रही है। अपनी प्रारंभिक रणनीति से भिन्न, 'बसपा' उच्च जातियों को भी टिकट देती रही है। वास्तव में, उत्तरप्रदेश विधानसभा चुनाव हेतु 2002 में कराए गए चुनावों में, उत्तरप्रदेश विधानसभा चुनाव में विधायकों का सबसे बड़ा समूह उच्च जातियों से संबंध रखता है। चुनाव जीतने की उम्मीदवारों की योग्यता ही गठजोड़ बनाने के लिए मुख्य मापदण्ड नज़र आती है, जिसको दलितों व उच्च जातियों के उन उम्मीदवारों के गठजोड़ द्वारा संभव किया जा सकता है जिनको 'बसपा' द्वारा टिकट दिए जाते हैं।

यद्यपि 'बसपा' ने दलितों के राजनीतिकरण में काफी हद तक योगदान दिया, यह 'बहुजन समाज' की एकता को कायम नहीं रख सकी। इसकी सफलता का मुख्य कारण 'बसपा' की चुनावी रणनीति में ही निहित है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) पचास व साठ के दशक के दौरान भारत में दलित आंदोलन के मौलिक अभिलक्षण क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) दलित पंथेर के उदय के लिए जिम्मेदार कारकों पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) नब्बे के दशक के दौरान दलित आंदोलन के मौलिक अभिलक्षणों का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

25.4 सारांश

वे सामाजिक समूह जिन्होंने अस्पृश्यता समेत भेदभाव का सामना किया है, दलित कहलाते हैं। गत दो दशकों ने देश के विभिन्न भागों में दलित आंदोलन का उद्‌गमन देखा है। दलित आंदोलन पर्यावरणविदों, जनजातियों, महिलाओं तथा कृषकों व कामकारों जैसे अन्य सामाजिक समूहों के सामाजिक व राजनीतिक आंदोलनों का एक भाग के रूप में है। देश के विभिन्न भागों में दलितों के बहुसंख्य संगठन – सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक, उद्‌गमित हुए हैं। 'बसपा' ऐसे ही संगठनों का एक उदाहरण है। ये संगठन स्वायत्तशासी हैं और दलितों के मुद्दों के अनन्य रूप से उठाते हैं। दलित आन्दोलन के उद्‌भव हेतु कारणों में शामिल हैं – दलितों की एक ऐसी नई पीढ़ी का उदय जो अपने अधिकारों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक संगठित और सचेत हैं, जनसंपर्क माध्यमों का विस्फोट

और डॉ० भीमराव अम्बेडकर के विचारों व जीवन का प्रभाव। 'बसपा' ही किसी दलित पार्टी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है जिसने उत्तर भारत में अपने लिए एक उपयुक्त जगह तराशी है। उत्तर प्रदेश में यह तीन बार राज्य सरकार का नेतृत्व करने में सफल रही है, 'बसपा' की सफलता उसकी चुनावी रणनीति व लामबन्दी के पैटर्न पर आधारित है।

25.5 शब्दावली

दलित : वे सामाजिक समूह जो अस्पृश्यता समेत भेदभाव का सामना कर चुके हैं, दलित कहलाते हैं।

दलित आंदोलन : इसका अर्थ है सभी प्रकार के अपने भेदभाव के विरुद्ध और अपने अधिकारों की रक्षा के लिए दलितों का विरोध-प्रदर्शन।

सामाजिक न्याय : इसका अर्थ है सामाजिक व आर्थिक भेदभाव का अभाव; परिस्थितियाँ जो समानता, आत्म-सम्मान व अन्य अधिकारों की रक्षा व संरक्षण हेतु हैं।

25.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें व लेख

ओम्वेद्त, गेल, *रिइनवेंटिंग रिवल्यूशन : न्यू सोशल मूवमेण्ट्स एण्ड सोशलिस्ट ट्रेडीशन्स इन् इण्डिया,* एम.ई.शार्पे, इंग्लैंड, 1993.

दुबे, सौरभ, *अनटचेबल्स पास्ट्स : रिलीजन, आइडेंटिटी, एण्ड पॉअर अमंग ए सैंट्रल इण्डियन कम्यूनिटी, 1780-1950,* स्टेट यूनीवर्सिटी ऑव न्यू यॉर्क प्रैस, 1998.

पाई, सुधा, *दलित एसर्सन एण्ड दि अनफिनिश्ड डेमोक्रेटिक रिवल्यूशन : बहुजन समाज पार्टी इन् उत्तर प्रदेश,* नई दिल्ली सेज पब्लिकेशन्स, 2002.

मेण्डलसोन, ऑलीवर एण्ड बिब्ज़िअनी, मरिका, *दि अनटचेबल्स : सबोर्डिनेशन, पॉवर्टी एण्ड दि स्टेट इन् मॉडर्न इण्डिया,* कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रैस, कैम्ब्रिज, 1998.

25.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) दलित वे समूह हैं जिनसे अस्पृश्यता सहित सामाजिक भेदभाव किया जाता है। वे अधिकांशत: समाज के आर्थिक रूप से पिछड़े समूहों से संबंधित हैं। वे हमारे संविधान में प्रतिष्ठापित अनुसूचित जातियों से संबंध रखते हैं।

2) ये सामाजिक न्याय से संबंधित हैं, और उनमें से कुछ आते हैं – सभी प्रकार के मतभेद के खिलाफ़ विरोध-प्रदर्शन, आत्म-सम्मान के रक्षार्थ संघर्ष, पगारों का भुगतान, बलात् श्रम के विरुद्ध, भूमि-विवाद, आरक्षण नीति का क्रियान्वयन, डॉ० भीमराव अम्बेडकर के प्रति अनादर के विरुद्ध, वोट डालने जैसे लोकतांत्रिक अधिकारों से इंकार, इत्यादि।

बोध प्रश्न 2

1) ये एकल जाति आंदोलन थे, यानी, दक्षिण में नाडारों, पुलयों और इज़ाइबों के; पश्चिम बंगाल में नामशूद्र के; पंजाब में 'आदि धर्म' आंदोलन व उत्तरप्रदेश में 'आदि हिन्दू' आंदोलन; और मध्यप्रदेश में 'सतनामी' आंदोलन। ये आंदोलन स्वयं-सुधार कर्मकाण्ड, दलितों की शिक्षा की उन्नति और राज्याधीन रोज़गार में प्रवेश के प्रति वचनबद्ध थे।

2) जाति व अस्पृश्यता की समस्या तक पहुँचने के लिए गाँधीजी व अम्बेडकर के रास्ते अलग-अलग थे। गाँधीजी के अनुसार, अस्पृश्यता हिन्दूवाद का एक विकृत रूप है और इसको हिन्दुओं के नैतिक सुधार द्वारा ही मिटाया जा सकता है। अम्बेडकर का सोचना था कि अस्पृश्यता का वास्तविक कारण हिन्दू धर्म का स्वभाव ही है, और तर्क प्रस्तुत किया कि अस्पृश्यता व जातिवाद को हिन्दूवाद को निरस्त करके – हिन्दूवाद से अन्य अन्य धर्म, अधिमानत: बुद्ध धर्म, में धर्मान्तरण करके ही मिटाया जा सकता है।

बोध प्रश्न 3

1) ये थे : दलितों के बीच, सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के कार्यान्वयन, शैक्षणिक व राजनीतिक संस्थानों व सरकारी नौकरियों में आरक्षण जैसी राज्य-नीतियों का लाभ उठाने वालों का उदय। इस चरण में दलित कोई स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति के रूप में नहीं उभरे; इसकी बजाए वे ही कांग्रेस जैसे बड़े राजनीतिक दलों द्वारा लामबंद किए गए। बहरहाल, उनमें से बहुसंख्यक उत्तर-प्रदेश व महाराष्ट्र में आर.पी.आई. के प्रभाव आ गए।

2) ये थे : अम्बेडकरवाद, मार्क्सवाद व "नीग्रो साहित्य" का प्रभाव, और एक विवाद जो महाराष्ट्र में दलित बुद्धिजीवियों द्वारा लिखे गए लेखों व कविताओं से और उच्च जातियों की प्रतिक्रिया से उठा।

3) इस काल ने देखा देश के विभिन्न भागों में दलित संगठनों के प्रचुरोद्भव द्वारा इंगित एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति के रूप में दलितों का उद्भव। उत्तर भारत में 'बसपा', विशेषत: उत्तर प्रदेश में, एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति के रूप में उनके उदय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

इकाई 26 जनजातियाँ

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 जनजातीय समाज और अर्थव्यवस्था

26.3 भारत में सामाजिक एवं राजनीतिक आन्दोलन

26.3.1 उपनिवेशपूर्व काल

26.3.2 उपनिवेशोपरांत काल

26.4 जनजातीय आन्दोलनों के लक्षण और परिणाम

26.5 सारांश

26.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें व लेख

26.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

26.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप पाएँगे भारत ने सामाजिक व राजनीतिक आन्दोलनों में से एक, यथा, जनजातीय आन्दोलन। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप इस योग्य होंगे कि समझ सकें :

- भारत में जनजातियों का अर्थ व उनके अभिलक्षण;
- उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ;
- उपनिवेशपूर्व और उपनिवेशोपरांत कालों में उनके आन्दोलन; और
- भारत में जनजातीय आन्दोलनों के कारण एवं परिणाम।

26.1 प्रस्तावना

जनजाति भारत में सभी समुदायों की कमोवेश पूर्ण व्याख्या करने को औपनिवेशिक अधिकारियों व नृजाति वर्णनकर्त्ताओं द्वारा 19वीं सदी में प्रचलित की गई एक औपनिवेशिक संकल्पना है। इसी शताब्दी के उत्तरार्ध में, जनजाति की संकल्पना जातियों से भिन्न के रूप में आदिम समूहों तक संकुचित हो गई। यह भारत सरकार अधिनियम, 1935 तथा भारतीय संविधान के तत्त्वावधान में ही था कि अनुसूचित जनजाति की नामावली पूर्णत: उद्गमित हुई। भारतीय संविधान जनजाति की कोई परिभाषा नहीं देता है। अनुसूचित जनजाति का द्योतन दो पहलू रखता है। यह पिछड़ेपन व निर्जनता के मानदण्डों द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ प्रशासकीय रूप से निर्धारित की जाती हैं। वनों में और पहाड़ों पर रहने वाले लोग। इन्हें आदिवासी – मूल निवासी, भी कहा जाता है। कई अन्य सामाजिक समूहों की ही भाँति इन जनजातीय लोगों ने अपनी शिकायतों के प्रतिकार हेतु सामाजिक व राजनीतिक आन्दोलन शुरू किए हैं।

दक्षिणी आंतर-निवासों को छोड़कर अधिकांश क्षेत्रों, उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र व द्वीपों, ने औपनिवेशिक एवं उपनिवेशोपरांत कालों में जनजातियों के अनेक आन्दोलन देखे हैं। उपनिवेशपूर्व काल में जनजातियों ने मराठाओं या राजपूतों की क्षेत्रीय शक्तियों के विरुद्ध उठ खड़े हुए। उन्होंने ज़मींदारों

व ग़ैर-जनजातीय प्रशासकों के खिलाफ़ प्रतिरोध किया। उपनिवेश काल के दौरान उन्होंने अपनी स्वायत्तता के लिए ब्रिटिशों के खिलाफ़ संघर्ष किया। केन्द्रीय भारत में बिरसा मुण्डा क्रांति इसका सर्वाधिक सुपरिचित उदाहरण है। धार्मिक विचारों के माध्यम से ग़ैर-जनजातीय सांस्कृतिक प्राधिकार के खिलाफ़ प्रतिरोध करते क्षेत्रीय-राजनीतिक आन्दोलन भी हुए।

26.2 जनजातीय समाज और अर्थव्यवस्था

बहरहाल, भारत में जनजाति आज उत्पादन की एकल प्रौद्योगिक-अर्थव्यवस्था पर जीवन-निर्वाह करती है। उनमें से अधिकांश भरण-पोषण के पाँच या उससे भी अधिक तरीकों के एक सम्मिलन पर जीवन-निर्वाह करते हैं। आदिम प्रौद्योगिकी, नामतः, आखेट, खाद्य-संग्रहण तथा झूम व समतल खेती उत्तर-पूर्व में उष्णकटिबन्धी वनों, पूर्वी व केन्द्रीय क्षेत्रों के भागों, नीलगिरी तथा अण्डमान द्वीपसमूह द्वारा घिरे भारी मानसून कटिबंध तक सीमित है। चारागाही अर्थव्यवस्था जो जनजातीय अर्थव्यवस्था के लगभग 10 प्रतिशत व निर्माण करती है, उप-हिमालयी क्षेत्रों के ऊँचाई वाले स्थानों, गुजरात व राजस्थान के शुष्क कटिबंधों में तथा नीलगिरी में एक छोटे-से आंतर-निवास में जीवनयापन करती है। जनजातीय कामगारों में से तीन-चौथाई से अधिक अर्थव्यवस्था के प्राथमिक क्षेत्र से जुड़े हैं, जिनमें से बहुसंख्य कृषि-श्रमिकों के बाद आए किसान हैं। उनमें से बड़ी संख्या में पशु-पालन, वन विद्या, मत्स्य उद्योग, आखेट आदि में, और निर्माण क्षेत्र, खनन व खदान-कार्य में कर्मचारियों के रूप में संलग्न हैं।

यद्यपि ग़ैर-जनजातियों के मुकाबले एक बड़े पैमाने पर जनजातीय समुदायों के बीच वस्तु-विनिमय पद्धति पायी जाती है, लगभग सम्पूर्ण जनजातीय अर्थव्यवस्था आज बाज़ारी शक्तियों के भँवर में है। जनजातीय समुदायों में पारम्परिक से नए व्यवसायों की ओर एक उल्लेखनीय विचलन रहा है। उदाहरणार्थ, आखेट व खाद्य-संग्रहण करने वाले अनेक समुदायों की संख्या घटी है क्योंकि जंगल ग़ायब हो गए हैं और वन्य-जीवन घट गया है। पारिस्थितिक निम्नीकरण ने जनजातीय समुदायों के संबद्ध पारम्परिक व्यवसायों को तेजी से घटा दिया है। तथापि, बाग़वानी, समतल खेती, स्थिर खेती, पशु-पालन, रेशम कीट-पालन तथा मधुमक्खी-पालन में एक उछाल आया है। ये जनजातियाँ अपने पारम्परिक व्यवसायों से दूर होती जा रही हैं और किसानों के रूप में स्थापित होती जा रही हैं एवमेव उन्होंने अपनी आय वृद्धि व उत्पादकता बढ़ाने के लिए नए धन्धे हाथ में लिए हैं। जनजातीय अर्थव्यवस्था में हम विविधीकरण के प्रमाण भी पाते हैं। सरकारी व निजी नौकरियों, स्वरोज़गार, आदि में लगे जनजातीय लोगों की संख्या में तीव्र उछाल आया है। अनेक पारम्परिक शिल्पकर्म, ओझल हो चुके हैं और विशेषतः कताई पर दुष्प्रभाव पड़ा है। उससे सम्बन्धित कार्यों जैसे बुनाई, रंगाई व छपाई पर भी ऐसा ही दुष्प्रभाव पड़ा है। खाल व पशु-चर्म कार्य ने परिवर्तन झेला है; प्रस्तर नक्काशी में कमी आयी है। लेकिन खनन व राजगिरी में लगी जनजातियों की संख्या तेजी से बढ़ी है जो एक नई गतिशीलता का संकेत देती हैं।

ये जनजातियाँ शिल्पकार भी हैं। नक्काशी व देह गुदाई में जनजातीय लोगों के बीच विद्यमान कलाओं व शिल्पों के ही रूप आते हैं। हाल के वर्षों में कला की अन्य मुख्य विधाओं के रूप में भित्ति चित्रकला व चित्रांकन उद्गमित हुए हैं। वास्तव में वार्लियों, राबड़ियों व राठवों व अन्य के बीच एक वाणिज्यिक स्तर पर कला की इन विधाओं का एक महत्त्वपूर्ण पुनरुत्थान हुआ है। बास्केत्री में सबसे अधिक संख्या में जनजातियाँ हैं, जिनमें वे आती हैं जो बुनाई, कढ़ाई व भण्डकर्म में संलग्न हैं।

विकास प्रक्रियाओं के प्रभाव, विशेषतः शिक्षा ने जनजातियों के बीच उद्यमियों, व्यापारियों, प्रशासकों, अभियन्ताओं/ डॉक्टरों तथा रक्षा-सेवा सदस्यों के एक नए सामाजिक स्तर को जन्म दिया है।

विकास प्रक्रिया ने जनजातीय समाज में विभाजन भी पैदा किया है। विषमताएँ बढ़ी हैं। संसाधनों व जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण खोने के साथ ही जनसांख्यकीय वृद्धि पर राष्ट्रीय औसत की अपेक्षा जनजातियों के बीच अधिक उच्च रही है, जनजातियों के बीच ग़रीबी भी नानाविध बढ़ी है। उनमें से कुछ जनजातियों अथवा कुछ वर्गों को छोड़कर, जनजातीय लोग देश की जनता के सर्वाधिक पिछड़े व दरिद्रतम वर्गों में ही आते हैं।

26.3 भारत में सामाजिक एवं राजनीतिक आन्दोलन

26.3.1 उपनिवेशपूर्व काल

उपनिवेशपूर्व काल में कुछ जनजातियों ने उत्तर-पूर्व से लेकर, मध्य भारत होते हुए पश्चिमी व दक्षिणी भारत तक फैले अपने अधिकार क्षेत्र में राज्य स्थापित किए। जहाँ उन्होंने राज्य स्थापित नहीं किए, भरपूर स्वायत्तता व स्वतंत्रता कायम रखते हुए वे क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था में समाहित कर लिए गए। कहीं-कहीं जनजातियाँ के औपनिवेशिक शासन से पूर्व अशांत स्थितियों में होने की भी खबर थी। उदाहरणार्थ, एक रिपोर्ट के अनुसार, पश्चिमी भारत में गोंड, भील, कोली, जैसी जनजातियाँ अशांत स्थिति में थीं। यह सब आमूल रूप से औपनिवेशिक शासन के दौरान बदल गया जबकि जनजातीय स्वायत्तता और भूमि, वन, खनिज, आदि जैसे संसाधनों पर जनजातियों के नियंत्रण पर पहला बड़ा आघात देखा गया। उपनिवेशवाद ने जनजातियों अथवा वे जिन्होंने उन्हें समाहित किया था, द्वारा बनाए गए उपनिवेशपूर्ण राजनीतिक ढाँचों का विध्वंस भी देखा। इसी कारण, जनजातियाँ आयेदिन विद्रोह करती रहीं तथा औपनिवेशिक काल में उन्होंने किसी भी अन्य समुदाय की अपेक्षा एक वृहत्तर स्तर पर आन्दोलन व विरोध-प्रदर्शन आयोजित किए।

प्रथम चरण (1795-1860)

ब्रिटिश शासन के उदय और स्थापना के दौरान जनजातीय विद्रोहों का पहला चरण (1795-1860) दृष्टिगोचर हुआ जिसका वर्णन प्राथमिक विरोध आन्दोलनों के रूप में किया जा सकता है। संथाल विद्रोह (1855-6) ने कृषिक विद्रोह व पुनरुत्थान द्वारा संकेतित एक अन्तरवर्ती चरण का प्रतिनिधित्व किया।

उत्तर-पूर्व में भी जनजातीय क्रांतियों के उप-चरण इसी प्रकार सीमांकित किए जा सकते हैं। गारो और हजोंग जो अपने ज़मींदारों की नादिरशाही से मुक्त होने के लिए ब्रिटिश शासन के आगे झुक गए थे, पगाल पंथी के प्रभाव में आ गए। उनका मुखिया, टीपू जो दमित कृषि-वर्ग का नेता बन गया था, ने एक साम्राज्य स्थापित किया और गिरफ़्तार कर लिया गया। खासी उन मैदानी इलाकों में लूटपाट में लगे थे जहाँ उन्होंने 1787 से 1825 तक धावा बोले रखा। सिंगफो, मिशनी, लुशैस, खम्पती और दफ़्लाओं ने मैदानी इलाकों में धावा बोला और लोगों को मार डाला। खासियों ने सड़क-निर्माण का विरोध किया, और तिरोत सिंह के नेतृत्व में खासी सरदारों के परिसंघ ने उनके देश पर कब्ज़ा किए जाने हेतु ब्रिटिश प्रयास क़ा प्रतिरोध किया। ब्रिटिशों ने लुसही, मिशमी आदि को दण्डित करने के लिए अभियान दल भेजे। मध्य भारत में, यह चरण 1857 में असम के मणिराम दीवान और सारंग राजा की क्रांति के साथ ही समाप्त हो गया।

द्वितीय चरण (1860-1920)

दूसरा चरण (1860-1920) उपनिवेशवाद के गहन काल के साथ ही शुरू हुआ, जहाँ जनजातीय व कृषि-वर्ग अर्थव्यवस्थाओं के भीतर व्यापारिक पूँजी, उच्चतर लगान-भार, आदि की कहीं अधिक

गहरी घुसपैठ देखी गई। उच्चतर जनजातियों के शोषण को प्रबल कर दिया। इसके परिणामस्वरूप, अनेक जनजातियों को शामिल कर, मुल्कुइ लराई, फितूरी, मेली, उलगुलन और भूमअकाल जैसे इस प्रकार के उद्‌बोधक देशज शब्दों द्वारा अभिव्यक्त, बहुसंख्य आन्दोलन तो हुए ही बल्कि एक कहीं अधिक जटिल प्रकार का आन्दोलन भी हुआ, जिसने कृषिक, धार्मिक व राजनीतिक मामलों के एक विलक्षण घल्लमेल का भी प्रतिनिधित्व किया। एकेश्वरवाद, शाकाहारवाद, स्वच्छता, मद्य-निषेध, आदि के अपने मतों के साथ भक्ति आन्दोलन जनजातीय क्षेत्रों में सक्रिय भिखारियों (गोसाईं), शिल्पकारों और कृषकों द्वारा शुरू किया गया। ईसाई धर्म भी आया और उसी के प्रभाववश एक नया जनजातीय मध्यवर्ग उद्‌गमित हुआ, जो शिक्षित, सचेत व स्वाभिमानी था। ईसाई धर्म व भक्ति आन्दोलन, दोनों ने सहस्त्राब्दिक आन्दोलनों के उदयार्थ इस चरण में योगदान दिया। जनजातीय आन्दोलनों ने विविध सोपानों में, अपनी व्यवस्था पर धावों और अपनी गढ़ी जाती इमारतों को टेक देने के प्रयास के विरुद्ध जनजातीय प्रतिरोध का प्रदर्शन किया। उनका अनुसरण सामाजिक-धार्मिक अथवा पुनर्जागरण आन्दोलनों द्वारा किया गया, नामतः, संथालों के बीच खेरवाड़ आन्दोलन (1871-80), मुण्डा व ओराओं के बीच 'सरदार' पुनर्जागरण आन्दोलन (1881-90), छोटानागपुर में ताना 'भगत' और हरिबाबा आन्दोलन, मध्यप्रदेश में 'भगत' आन्दोलन तथा भील पुनर्जागरण, जो नए नई व्यवस्था बनाने हेतु जनजातीय आग्रह की अभिव्यक्ति से परिपूर्ण थे। आन्दोलन की ये दो पंक्तियाँ, इस उप-महाद्वीप की लम्बाई और चौड़ाई के माध्यम से विस्मयकारी समानताएँ सामने लायीं– चुनौती देती ताकतों के प्रायः उसी जटिल विचार के प्रत्युत्तर की आधारभूत एकता।

बिरसा मुण्डा (1874-1901) द्वारा चलाया गया आन्दोलन इस चरण के सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है क्योंकि यह आन्दोलन मुण्डा राज स्थापना और स्वाधीनता की फ़िराक में था। इसके सामाजिक-धार्मिक पहलुओं में, यह किसी दूसरे भगत आन्दोलनों की भाँति ही था, फ़र्क था तो यह कि उक्त आन्दोलन ईसाई धर्म से भी प्रभावित था, और इसने मुण्डा विचारधारा व विश्व परिदृश्य को बनाने के लिए हिन्दू व ईसाई दोनों ही वाग व्यवहारों का प्रयोग किया। क्रांतिकारियों ने पुलिस थानों व कार्यालयों, गिरजाघरों व मिशनरियों पर हमला किया। यद्यपि दिकुओं (बाहरियों) के विरुद्ध शत्रुता का एक अन्तः प्रभाव था, कुछेक विवादास्पद मामलों को छोड़कर, उन पर कोई खुल्लमखुल्ला प्रहार नहीं हुआ। विद्रोह को कुचल दिया गया, परन्तु इससे मिले सबक छोटानागपुर किराएदारी कानून पास करने में कबूल किए गए। इसने मुण्डा भू-व्यवस्था की रक्षा करने, जनजातीय भूमि हस्तांतरण निषेध करने, भूमि का पुनः दावा करने के लिए जनजातीय अधिकार को मान्यता दिलाने और एक नई प्रशासनिक इकाई बनाने का प्रयास किया। उनकी क्रांति के मेवाड़ दरबार पर एक 21-सूत्रीय समझौता मसविदे पर हस्ताक्षर करने के लिए दवाब डाला।

तृतीय चरण (1920-1947)

तीसरे चरण (1920 से 1947) में, जनजातीय आन्दोलनों में हम तीन रुझान देखते हैं। पहला रुझान है – महात्मा गाँधी के नेतृत्व वाले स्वतंत्रता संघर्ष का प्रभाव, जहाँ उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन और पुनर्निर्माण कार्यक्रम में प्रमुख जनजातीय समूहों में से कुछ को लामबन्द किया। दूसरे रुझान का प्रतिनिधित्व भूमि व वन पुनरुत्थान तथा जनजातीय समाज के सुधार पर केन्द्रित आन्दोलनों द्वारा किया जाता है। तीसरा रुझान, जनजातीय मध्यवर्ग के नेतृत्व में स्वायत्तता, राज्य का दर्ज़ा, पृथक्करण और स्वाधीनता की खोज करते आन्दोलनों के उदय द्वारा प्रतिबिम्बित होता है।

हम संक्षिप्त में तीन आन्दोलनों का वर्णन कर सकते हैं : ओराओं के बीच तानाभगत आन्दोलन, हो एवं सम्बद्ध जनजातियों के बीच हरिबाबा आन्दोलन, और गोंड के बीच राजमोहिनी आन्दोलन। मध्यकालीन 'भक्ति' परम्परा में डूबे हिन्दू कृषि-वर्ग के लिए महात्मा एक 'भक्ति' प्रचारक की भाँति

प्रतीत हुए, और जनजातीय लोगों के लिए एक भगत की भाँति। सर्वाधिक प्रसिद्ध भगत आन्दोलन था – तानाभगत आन्दोलन जो एक सहजवादी आन्दोलन की तर्ज पर शुरू हुआ। जबकि जनजातियों ने राष्ट्रीयवादी कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्यधारा में शामिल हो गए, उन्होंने आर्थिक व सांस्कृतिक शोषण के खिलाफ प्रतिरोध किया। स्वराज का अर्थ ब्रिटिश शासन से मुक्ति मात्र नहीं था, बल्कि दिकुओं, साहूकारों, ज़मींदारों व सामंत-उच्चाधिपति के दमन से मुक्ति भी था।

राज़सी राज्यों में जहाँ ज़नजातीय लोग अपेक्षाकृत अधिक पिछड़े थे, उन्हें लामबंद कर सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध प्रजा मण्डलों ने आन्दोलन शुरू किए। जिन जनजातियों ने खासकर इन आन्दोलनों का प्रत्युत्तर दिया, वे थीं – भील, गोंड, खारवाड़, मुण्डा और खोण्ड। उनमें से अधिकांश देश में सम्पत्ति, निजी या सामुदायिक, की द्योतक थीं, जिस पर औपनिवेशिक व्यवस्था और सामन्ती शोषण का ख़तरा मंडरा रहा था। कृषिक विषय जिन्होंने उन्हें उत्तेजित किया, थे – *बेगार* अथवा *वेथ* (बिना भुगतान अनिवार्य श्रम), *रसाल* अथवा *मगान* (आगन्तुक अधिकारियों हेतु रसद की मुफ़्त आपूर्ति), और लगान के अलावा अन्य बलात् करों (अबलाओं) की माँग।

दो स्वदेशी आन्दोलन जनजातीय संस्कृति के विशुद्ध व मौलिक तत्त्वों को पुनर्जाग्रत करने के प्रयास में लगे थे। 1889 के आरम्भ होते-होते खासी जीवन-शैली के संरक्षणार्थ सैंग खासी, खासियों के एक सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन, की स्थापना हो चुकी थी। इसी मंच के माध्यम से ग़ैर-ईसाई खासियों ने कुल संबंध की उस प्राचीन व्यवस्था को दृढ़ करने का प्रयास किया है जो बृहद्स्तर पर धर्म-परिवर्तन – खासी से ईसाई बनाने, से भंग हो गई थीं। दूसरा आन्दोलन, ज़ेलीआंगग्रोंग आन्दोलन, जादूनांग के तत्त्वावधान में एक धार्मिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में शुरू हुआ। यह एक ऊँचे राजनीतिक सुर में ढल गया और राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन से संबंध स्थापित कर लेने वाला एकमात्र आन्दोलन बन गया। गैडिनलियू के नेतृत्व में यह प्रबल रूप से राष्ट्रवादी रहा, उसने जनजातीय भाई-चारे को प्रोत्साहित किया और ज़ेलीआंगग्रोंग लोगों के लिए एक पृथक् प्रशासनिक इकाई बनाने की माँग की जो कि मणिपुर, असम और नागालैण्ड के निकटवर्ती क्षेत्रों में निर्वाचक जनजातियों द्वारा आवासित राज्यक्षेत्रों में से ही बनाई जानी थी, और जिसके लिए ये राज्य सहमत नहीं हुए।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) सैंग खासी क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) 1920-47 के दौरान भारत में जनजातीय आन्दोलनों की मुख्य प्रवृत्तियों को पहचानें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

26.3.2 उपनिवेशोपरांत काल

उपनिवेशोपरांत काल में, शिक्षा व रोज़गार में प्रगति, राजनीति में प्रतिनिधित्व तथा सत्ता में भागीदारी, और जनजातीय मध्यवर्ग के एक भाग की समृद्धि के बावजूद, जनजातीय लोगों की भू-संसाधन दोहन की उत्कटता और उनका उपांतकरण, आप्रवासन अथवा दारिद्र्य देखा गया। इसी कारण, इस काल में पहचान, समानता, अधिकार-प्रदान, स्व-शासन, आदि विषयों पर केन्द्रित बड़ी संख्या में आन्दोलनों का उदय देखा भी गया। जनजातीय आन्दोलन सामान्यत: दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं :

- स्वायत्तता, स्वाधीनता, राज्य-निर्माण, और स्व-शासन हेतु राजनीतिक आन्दोलन।
- कृषिक व वनाधारित आन्दोलन – भूमि व वन जैसे संसाधनों पर नियंत्रण हेतु आन्दोलन अथवा भू-स्वत्व-अंतरण व विस्थापन के विरुद्ध तथा वन में प्रतिबंधों के विरुद्ध और वन संरक्षण हेतु दिशानिर्देशित आन्दोलन।

राजनीतिक आन्दोलन

स्वतंत्रोत्तर काल में गोंडों और भीलों के बीच राजनीतिक स्वायत्तता हेतु संसाधनों की अभिव्यक्ति के प्रयास हुए। राज्य पुनर्संगठित आयोग के समक्ष प्रस्तुत किए गए एक ज्ञापन-पत्र में, राजा नरेश सिंह जैसे राज गोंड नेताओं ने छत्तीसगढ़ तथा रेवा क्षेत्र में विदर्भ के निकटवर्ती जिलों के जनजातीय क्षेत्रों में से काटकर निकाले जाने वाले आदिवासियों हेतु एक पृथक् राज्य निर्माण की माँग की। 19 मई, 1963 में नारायण सिंह उकी, गोंडवाना आदिवासी सेवा मंडल के प्रधान, ने गोंड तथा छत्तीसगढ़ तथा महाराष्ट्र में विदर्भ के निकटवर्ती ज़िलों के अन्य जनजातीय क्षेत्रों को सम्मिलित कर, गोंडवाना राज्य के निर्माण की माँग दोहराई।

यह बिहार के छोटानागपुर-संथाल परगना क्षेत्र में ही था कि जहाँ राजनीतिक स्वायत्तता और एक राज्य निर्माण हेतु आन्दोलन वास्तव में आगे बढ़ा। 1949 में, आदिवासी महासभा समाप्त कर दी गई और वह एक नए क्षेत्रीय दल, झारखण्ड पार्टी में विलय हो गई। इसके पीछे थे – अतिवादी आन्दोलनों की विफलता और भारतीय संविधान निर्माण के अनुभव। झारखण्ड पार्टी, कम-से-कम, सिद्धांतत: ही, छोटानागपुर के सभी निवासियों के लिए खुली थी। इस प्रकार, आन्दोलन में निर्माणकारी कारक के रूप में नृजातीयता से क्षेत्रवाद के बीच एक संक्रमण काल था। झारखण्ड आन्दोलन व दल के लिए 1952 से 1957 का काल अनेक विध उत्कर्ष काल था, जब वह छोटानागपुर-संथाल परगना क्षेत्र में प्रमुख दल के रूप में उद्गमित हुआ। 1957 में हुए दूसरे आम

चुनावों में, इसका प्रभाव उड़ीसा तक फैलता देखा गया, जहाँ उसने पाँच सीटों पर कब्ज़ा कर लिया और प्रदेश की राजनीति में सत्ता संतुलन बनाए रखा जो कि अस्थिरता की मारी थी। इसने उल्लेखनीय एकता दर्शायी, जनजातीय क्षेत्र में कानून लागू किए, यही हज़ारों लोगों को लामबन्द कर सका और अल्पकाल में ही अनेक विशालकाय जुलूस निकाल सका। साठ के दशकारंभ में इस दल का पतन शुरू हो गया। इसके पतन के निम्नलिखित कारण थे : विकास प्रक्रिया लोगों की संबद्धता; विकास के लिए शिक्षा पर प्रतिस्पर्धा, रोज़गार तथा संसाधनों पर नियंत्रण से उन्नत ईसाई जनजातीय लोगों तथा पिछड़े ग़ैर-ईसाई जनजातीय लोगों के बीच पनपती प्रतिद्वंद्विता; और झारखण्ड से कांग्रेस व जनसंघ को ग़ैर-ईसाई जनजातीय लोगों के समर्थन का विचलन।

छोटानागपुर के औद्योगिक और खनन पट्टी में और 1980 के आम चुनावों के बाद प्रदेश की राजनीति में झारखण्ड मुक्ति मोर्चा एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति के रूप में उद्गमित हुआ। अपने दायरे में कृषिक व कामगार वर्गों को शामिल कर इसने अलगाववादी आन्दोलन को विस्तृत आधार प्रदान करने का प्रयास किया। झारखण्ड का वर्णन उसके विचारधारकों द्वारा उस अन्त:उपनिवेश के रूप में किया जाता है जिसका बाहरी व्यक्तियों द्वारा शोषण किया जा रहा हो। यद्यपि क्षेत्र खनिजों के 28 प्रतिशत का विवरण देता है, यह अपने विकासार्थ राज्य के बजट का मात्र 15 प्रतिशत ही प्रयोग करता है। विकास प्रक्रिया स्वयं ही स्थानीय निवासियों की शोषक है और बाहरी व्यक्ति रोज़गार के सभी अवसरों पर कब्ज़ा करने को घुस आए हैं।

उन अनेक परिवर्तनों के माध्यम से जिन्होंने झारखण्ड आन्दोलन को प्रभावित किया, एक पृथक् राज्य हेतु समर्थनाधार का बढ़ना जारी रहा और प्रमुख राजनीतिक दलों को अपने विस्तार में लेते हुए, प्रचण्ड भी हुआ। उन्होंने अस्सी के दशक में क्षेत्रीय ढाँचों को खड़ाकर शुरुआत की। 1980 में प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने घोषणा की कि छोटानागपुर एक सांस्कृतिक रूप से भिन्न क्षेत्र है। नब्बे के दशकारंभ में यही बात एक स्वायत्त राजनीतिक प्राधिकार के शब्दों में तब्दील हो गई। 1988 में, भारतीय जनता पार्टी ने क्षेत्रीय पिछड़ेपन का वास्ता देकर 'वनांचल राज्य' गठित किए जाने हेतु स्वयं को वचनबद्ध किया। इस प्रकार, उन दो मुख्य पात्रों ने अपनी भूमिकाएँ ही बदल डालीं जो काफी लम्बे समय से झारखण्ड के विरोध में थे। अस्सी के दशक में, भू तथा वन विषय राष्ट्रीयता, वर्ग तथा नृजाति प्रश्न, जो प्रमुख दलों द्वारा प्राय: उपेक्षित रहते थे, पर ज़ोर देते हुए भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्स०) को छोड़कर सभी वामपंथी दल ने एक पृथक् राज्य हेतु माँग का समर्थन किया। इस प्रकार, जबकि एक ओर झारखण्ड राज्य दृढ़ता से विकसित हो रहा था, नब्बे के दशक में यही बात, खासकर 'भाजपा' द्वारा राज्य-समर्थक दलों हेतु चुनावी फ़ायदों के शब्दों में रूपांतरित हो गई।

'झारखण्ड विषयक समिति' ने एक स्वायत्त शासन स्थापित किए जाने की सिफ़ारिश की। 1993 में झारखण्ड क्षेत्र स्वायत्त परिषद् (जे.ए.ए.सी.) अस्तित्व में आई, लेकिन यह उन लोगों की आकांक्षापूर्ति नहीं कर सकी जो एक सम्पूर्ण राज्य की माँग से कम पर राज़ी हो जाते। 1995 व 1996 में हुए दो आम चुनावों में, एक पृथक् राज्य की वकालत करते अखिल भारतीय दल चुनाव जीत ले गए। 15 नवम्बर 2000 को, 1950 में झारखण्ड पार्टी द्वारा रखे गए एक झारखण्ड राज्य के लक्ष्य को वास्तविक रूप से प्राप्त करते और लगभग एक सौ वर्ष पूर्व, बिरसा मुण्डा द्वारा देखे गए एक जनजातीय राज के सपने को साकार करते हुए, झारखण्ड राज्य एक वास्तविकता बन गया।

उत्तर-पूर्व में राजनीतिक आन्दोलन

क्षेत्र की अनोखी भौगोलिक स्थिति और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की वज़ह से उत्तर-पूर्व में जनजातीय आन्दोलन स्वयं ही एक श्रेणी में खड़े हैं। सत्ता-हस्तांतरण की पूर्व-संध्या पर उत्तर-पूर्वी पहाड़ियों

में राजनीतिक प्रक्रियाएँ अकस्मात् ही शुरू हो गईं जब जनजातीय जनों की एक काफ़ी संख्या और खासी, मिज़ो, गारो आदि के बीच उनके अभिजात्यों का एक बड़ा वर्ग तथा नागाओं के बीच से भी एक वर्ग भारत की संवैधानिक प्रणाली में भाग लेने को राज़ी हो गए। पुरानी जनजातियों ने नए नाम रख लिए, छोटी जनजातियाँ बड़ी जनजातियों में विलय हो गईं, और ये जनजातियाँ एक नई नृजाति-व-राज्यक्षेत्र वाली पहचान बनाने को आपस में मिल गईं। जबकि स्वायत्त परिषदों अथवा राज्य के गठन तक की प्रक्रियाएँ सभी जनजातियों हेतु लगभग एक-सी ही थीं, राष्ट्र-राज्य के साथ उनके संबंध के प्रश्न पर मतभेद थे। नागाओं के वर्ग ने विद्रोह का रास्ता चुना जिसका मिज़ो, मीति और त्रिपुरी आदि ने अनुसरण किया। इन्हीं जनजातियों के अन्य वर्गों ने बाद में अखण्डता को सर्वोपरि रखा। उदाहरण के लिए, नागालैण्ड में अन्गामी, आओ तथा सेमा, जिन्होंने नागा विद्रोह के आरम्भ में प्रमुख भूमिका निभाई थी, ने गंभीर क्षेत्रीय राजनीति का विकल्प चुना। गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र इन जनजातियों के प्रभुत्व वाले क्षेत्र से कोण्यक व लोथा की ओर अब अन्तर्राष्ट्रीय सीमा तक खिसक गया है। विद्रोह पर अब हेमी, और कोण्यक व तैंगखुल आदि का प्रभुत्व है। वास्तव में, इन अल्पसंख्यक जनजातियों के बीच हेमी, और कोण्यक व तैंगखुल आदि के प्रभुत्व वालों के खिलाफ़ एक विरोध रहा है। दूरस्थ व अल्पविकसित मोन व ट्यून्सैंग जिलों के एक संघीय राज्यक्षेत्र में गठन हेतु माँग भी उठी है।

नागा आन्दोलन

नागा आन्दोलन स्वायत्तता अथवा स्वाधीनता हेतु चल रहा प्राचीनतम आन्दोलन है। वर्तमान नागा आन्दोलन का मूल 1918 में कोहिमा हुए एक नागा क्लब के गठन में तलाशा जा सकता है जिसकी एक शाखा मोकोक्चुंग में है। इसमें ईसाई शैक्षणिक संस्थाओं से शिक्षाप्राप्त कोहिमा व मोकोक्चुंग के प्रशासनिक केन्द्रों से आए सरकारी अधिकारियों, और आसपास के गाँवों के कुछ अग्रणी मुखियाओं समेत, मुख्यत: उद्गमित होते नागा आभिजात्य वर्गों के सदस्य हैं। इस क्लब ने नागा हिल्स की सभी जनजातियों को शामिल कर सामाजिक व प्रशासनिक समस्याओं पर विचार-विमर्श किया।

नागा क्लब ने 1929 में सायमन आयोग के समक्ष विज्ञप्ति-पत्र प्रस्तुत कर दिया। इसमें सुधार-योजना से इन पहाड़ियों को बाहर रखने और इन पर सीधे ब्रिटिश प्रशासन को ज़ारी रखने हेतु आग्रह किया गया था। अप्रैल 1945 में, नागा हिल्स ज़िले के तत्कालीन उपायुक्त की पहल पर नागा पहाड़ियों में 'ज़िला जनजातीय परिषद्' बनाई गई जिसने पृथक् जनजातीय परिषदों को एकीकृत किया। 1946 में इस परिषद् का नामकरण 'नागा राष्ट्रीय परिषद्' (एन.एन.सी.) के रूप में कर दिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जापानियों ने अपनी अंतिम लड़ाई नागा हिल्स ज़िले के मुख्यालय कोहिमा में लड़ी थी। नागा जनजातियों के राजनीतिक मंच के रूप में 'नागा राष्ट्रीय परिषद्' के गठन को नागा आन्दोलन के आधुनिक चरण की शुरुआत माना जा सकता है। इसने नागा जनजातियों को राजनीतिक एकता का अर्थ प्रदान किया और इसी ने नागा राष्ट्रीयता की संकल्पना को मूर्त स्वरूप दिया।

1946 में, ब्रिटिश सरकार ने नागा हिल्स, तत्कालीन, नेफा (NEFA) क्षेत्र और बर्मा के एक हिस्से को लेकर लन्दन से नियंत्रित एक 'सर्वोच्च-शक्ति उपनिवेश' (क्राउन कॉलोनी) के रूप में एक 'न्यास राज्यक्षेत्र' को गठित किए जाने की योजना का प्रस्ताव किया। नागा राष्ट्रीय परिषद् के शिक्षित नागाओं ने, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की भाँति ही, ब्रिटिश उपनिवेशवाद के इस विचार का त्वरित विरोध किया और घोषणा की कि ब्रिटिश जब भारत छोड़ें, नागा पहाड़ियाँ भी छोड़कर जाएँ।

नागा राष्ट्रीय परिषद् के उद्देश्य स्वायत्तता से लेकर स्वाधीनता तक अनेक चरणों से गुज़र कर विकसित हुए। 27-29 जून, 1947 को परिषद् और असम के तत्कालीन राज्यपाल, स्वर्गीय सर

अक़बर हैदरी के प्रतिनिधित्व में, भारत सरकार के बीच हुए 9-सूत्रीय समझौते में ये प्रावधान थे – भू-स्वत्व-अंतरण पर रोक, प्रशासनिक स्वायत्तता लाना तथा उनके कार्यान्वयन हेतु भारत सरकार का एक विशेष उत्तरदायित्व। 1947 से 1954 तक नागा हिल्स में नागा आन्दोलन शांतिपूर्ण और संवैधानिक रहा। 1947 के अन्त तक आते-आते, नागा राष्ट्रीय परिषद् ने भारतीय संघ से बाहर स्वतंत्रता का पक्ष लेते हुए अपने लक्ष्य बदल दिए।

1954 में, नागाओं ने 'होंग्किन् सरकार' यथा 'स्वतंत्र नागालैण्ड का सर्वसत्ताक जन गणतंत्र' (पीपल'स सॉवरिन रिपब्लिक ऑव फ्री नागालैण्ड) के गठन की घोषणा की। 1954 में हिंसा फैली और भारतीय सेना व क्रांतिकारियों से जुड़ी अनेक घटनाएँ हुईं। जुलाई 1960 में, प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू और एक नागा शिष्टमण्डल के बीच एक 16-सूत्रीय समझौता हुआ। एक अगस्त, 1960 को, प्रधानमंत्री नेहरू ने 'नागालैण्ड' को भारतीय संघ का 16वाँ राज्य बनाए जाने हेतु सरकार के निर्णय की संसद में घोषणा की। अब तक नागालैण्ड में 'भूम्योपरी' (overground) नागा नेताओं का एक गुट उद्गमित हो चुका था, जिन्होंने 'नागालैण्ड राष्ट्रवादी संगठन' (एन.एन.ओ.) बनाया। यह एन.एन.ओ. मुख्यत: उन नेताओं द्वारा बनाया गया था जो नागालैण्ड को राज्य का दर्ज़ा दिलाने में सहायक रहे थे। इसी तर्ज पर, नागालैण्ड लोकतांत्रिक पार्टी उद्गमित हुई। यह उनके द्वारा बनाई गई थी जो एन.एन.ओ. से मतभेद रखते थे और मन में पृथक्वादी भूमिगत गुट के लिए सहानुभूति रखते थे। बहरहाल, 1954 और 1964 के बीच, एक दशक से अधिक, नागा आन्दोलन का उग्रवादी वर्ग भूमिगत रहा। 1968 तक, भूमिगत नेताओं के बीच वार्ताओं के अनेक दौर चले। एक अन्य महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी – 11 नवम्बर, 1975 को 'शिलांग समझौते' पर हस्ताक्षर किया जाना, जिसकी शर्तों के तहत भूमिगत नागाओं ने भारतीय संविधान स्वीकार कर लिया, उन्होंने अपने हथियार जमा कर दिए और भारत सरकार ने बदले में नागा राजनीतिक क़ैदियों को रिहा कर दिया तथा उनके पुनर्वास का वचन दिया। तथापि, जबकि विद्रोह के कोई आसार नहीं थे व हिंसा छोड़कर अधिक से अधिक भूमिगत नागा भूमि पर आ चुके थे और अशांत उत्तर-पूर्व में नागालैण्ड सामान्यत: शांति व स्थिरता का एक नख़लिस्तान रहा था, यह समझौता स्वयं फ़िज़ो व उसके विरोधियों द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया है। ये विरोधी तीन दलों में बँटे रहे : (i) फ़िज़ो-समर्थक फैडरल पार्टी; (ii) माओन् अन्गामी के नेतृत्व वाला गुट – अन्गामी भूमिगत नागा राष्ट्रीय परिषद् के उपाध्यक्ष बन गए जिन्होंने फैडरल पार्टी की नई दिल्ली के साथ पुन: सुलह की निंदा की और ईसाई धर्म से विश्वासघात करने के लिए विद्रोहियों पर दोष लगाया; और (iii) एक तैंगखुल नागा, टी॰ मुइवाह तथा ईसाक स्वू, जिन्होंने नागालैण्ड राष्ट्रीय समाजवादी परिषद्' (एन.एस.सी.एन.) की स्थापना की, के नेतृत्व में माओवाद विचारधारा से ओतप्रोत विद्रोही। भारत-बर्मा सीमाओं पर फ़िज़ो-समर्थक व मुइवाह-ईसाक गुटों के बीच गोली बौछार-युद्ध, आपसी गोली-बारी, क़ातिलाना हमले और अनिर्धार्य मारकाट की घटनाएँ हुईं।

नागा राजनीति के प्रस्तार और संयोजन के पीछे विभिन्न जनजातियों के बीच बदलते समीकरण दिखाई देते हैं। अन्गामी, आओ व सेमा जिन्होंने नागा विद्रोह के आरम्भ में प्रमुख भूमिका निभायी थी, गंभीर क्षेत्रीय राजनीति हेतु आगे आए हैं। गुरुत्वाकर्षण केन्द्र इन जनजातियों के तथा कोण्यक व लोथा के प्रभुत्व वाले क्षेत्र से अंतर्राष्ट्रीय सीमा तक खिसक गया है। विद्रोह पर अब हेमी का प्रभुत्व है, और फ़िज़ो-समर्थक पार्टी के प्रति निष्ठावान कोण्यक व तैंगखुल अन्गामी, खोमैनगन व चाकेसांग की हत्याएँ करते रहे हैं। दरअसल, आओ, अन्गामी, चाकेसांग और लोथा जैसी उन्नत जनजातियों के प्रभुत्व के विरुद्ध इन जनजातियों के बीच प्रत्याक्रमण की भावना रही है।

इस बीच, नागालैण्ड की राजनीति मुख्यधारा व क्षेत्रीय ध्रुवों के बीच भटकती रही है। नागालैण्ड राष्ट्रीय संगठन ने सरकार 1964 से 1975 तक चलाई। 1976 में, एक राष्ट्रीय पहचान बनाने

के लिए यह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में विलय हो गई। नागा इस बीच उत्तर-पूर्व में सर्वाधिक सक्रिय व प्रगतिशील लोगों के रूप में उद्गमित हुए हैं जिन्होंने ग्रामीण विकास के उत्प्रेरक के रूप में ग्राम विकास बोर्ड स्थापित किया है और उस नागा रेजिमेंट को भी ऊपर उठाया है जो कारगिल में लड़ी। और अभी तक, नागा समस्या का अन्तिम समाधान दिखाई नहीं दे रहा, यद्यपि हल ढूँढने के लिए भारत सरकार और विद्रोह गुट के बीच बातचीत अक्सर होती रहती है।

कृषिक व वनाधारित आन्दोलन

उपनिवेशोपरांत काल में जनजातियों के भूमि जैसे संसाधनों के स्वत्व-अंतरण का पैटर्न एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दर्शाता है। जनजातीय लोग विस्थापित न सिर्फ़ ग़ैर-जनजातियों द्वारा विस्थापित किए जा रहे हैं बल्कि राज्य व उन दूसरे संगठनों द्वारा भी किए जा रहे हैं जिन्हें विकासार्थ भूमि चाहिए। वे अब न सिर्फ़ अन्य लोगों के विरुद्ध गड्ढे में धकेल दिए गए हैं बल्कि उस राज्य के विरुद्ध भी, जिसे वे अपनी भूमि से खुद को विस्थापित किए जाने हेतु प्रमुख हथियार के रूप में देखते हैं।

ये जनजातियाँ न सिर्फ़ उस भूमि की पुनर्प्राप्ति हेतु निवेदन कर रही हैं जो उन्होंने 1963 में लागू हुए 'आंध्र प्रदेश अनुसूचित क्षेत्र भू-हस्तांतरण अधिनियम, 1959' के प्रावधान का आह्वान करते खोई थी, बल्कि उनको आबंटित भूमि के संबंध में स्वत्व-अंतरण और स्वामित्व सौंपे जाने के लिए भी कर रहे हैं। हाल ही में, ये पीपल्स वार ग्रुप (पी.डब्ल्यू.जी.) की भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (मा. ले.) द्वारा संगठित किए गए हैं। फरवरी 1981 में, वे ज़मीनें जो उनसे ग़ैर-जनजातीय लोगों द्वारा छीन ली गई थीं, पर बलात् फसल एकत्रण करने, साहूकारों के घरों पर छापा मारने और गिरवी रखे गहने आदि को ले भागने की एक अनूठी लहर चली। जनजातीय लोगों को संगठित करने के लिए संचार की पारम्परिक व्यवस्था को पुनर्जाग्रत किया गया। ढोल पीट-पीटकर संकेत इधर से उधर भेजे गए। 6 फरवरी, 1981 को केस्लापुर में हुए 'गोंड दरबार' ने यह घोषणा की कि जनजातीय जन-समस्याएँ अब उबाल पर हैं। गोंडों ने वनोन्मूलन हेतु भूमि-सीमांकन को भी रोका। इससे पूर्व 1977 में, उन्होंने व्यापारियों व साहूकारों के एक समुदाय -- लम्बरदारों, को एक जनजाति के रूप में अनुसूचित किए जाने का पुरजोर विरोध किया था, क्योंकि लम्बरदारों ने जनजातीय लोगों का हमेशा शोषण किया था और एक जनजाति के रूप में उनकी सामाजिक स्थिति गोंडों की ज़मीन पर उनके अवैध कब्ज़े को वैध करार देने में उनकी मदद करती थी। 20 अप्रैल, 1981 को इंदरवल्ली में भा.क.पा. (मा.ले.) द्वारा एक सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सभा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और जनजातीय लोगों को वहाँ न इकट्ठा होने हेतु राज़ी किया गया। बहरहाल, उन्होंने एक जुलूस निकाला जो एक पुलिस बल से विवाद में पड़ गया। लगभग 15 जनजातीय लोगों की जानें गईं।

26.4 जनजातीय आन्दोलनों के लक्षण और परिणाम

जनजातीय आन्दोलनों का नेतृत्व मुख्यत: उनसे स्वयं ही उद्गमित हुआ है। जबकि प्रथम चरण का नेतृत्व जनजातीय समाज की ऊपरी परत से उभरा, दूसरे का इसकी निम्नतम सीढ़ी से उभरा। संथाल बंधु भूमिहीन थे – बिरसा मुण्डा एक रैयत अथवा एक परजा (फसल-बटाईदार) था और गोविंद गिरी एक हाली था। तीसरे चरण और उपनिवेशोपरांत कालों का नेतृत्व उभरते जनजातीय मध्यवर्ग के सदस्यों द्वारा किया गया, मध्य भारत व उत्तर-पूर्व दोनों में। ये शिक्षित लोग थे जिनमें पादरी, प्रश्नोत्तरवादी, अध्यापक, जन-सेवक, ग्रामीण नेता और व्यवसायी शामिल थे जो अधिकतर धर्मनिरपेक्ष वाग व्यवहार करते थे। समाज-सुधार आन्दोलन का गाँधीवादी कार्यकर्त्ता जैसे बाहरी

व्यक्तियों द्वारा, परजा मण्डल आन्दोलन का मोतीलाल तेजावत जैसे बाहरी व्यक्तियों द्वारा और नागेशिया जैसे कुछ जनजातीय विद्रोहों को "बनियों" द्वारा भी नेतृत्व किया गया।

आन्दोलन के लक्ष्य उपनिवेशपूर्व राजतंत्र की पुनर्प्राप्ति, सेवा कार्यकाल (चुअर), और भूमि (सरदार) और वृक्षारोपण अधिकार से लेकर बाहरी व्यक्तियों के निष्कासन, करारोपण की समाप्ति, समाज सुधार, राजनीतिक स्वतंत्रता, या जनजातीय राज की स्थापना अथवा संवैधानिक और लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रणाली, जनजातीय राज्यों की रचना, समानता लाना और शोषण का अन्त करने तक विस्तीर्ण थे।

आन्दोलनों का सामाजिक व नृजातीय विषयक संयोजन एक एकल जनजाति के नेतृत्व वाले आन्दोलन से लेकर इन जनजातियों की अधीनस्थ जनजातियों व जातियों के संघ, शिल्पकारों व सेवा-समूहों, तक विस्तीर्ण था। अधिकतर आन्दोलन एक जनजाति तक सीमित थे लेकिन प्रथम चरण में इस प्रकार के आन्दोलन, जैसे कोल व संथाल विद्रोह, अनेक जनजातीय व ग़ैर-जनजातीय समूहों पर छा गए। तीसरे व उपनिवेशोपरांत काल में जनजातियों के बीच विस्तृत आधार वाले राजनीतिक दल उभरे, उत्तर-पूर्व तथा मध्य भारत दोनों जगह। अखिल भारतीय जनजातीय मंच शनै: शनै: साठ के दशक में उभरे।

सभी जनजातीय आन्दोलन सीमित स्तर के थे परन्तु उनका प्रभाव उस नीति पर तत्काल पड़ा जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। उनके प्रभाव का तथापि लघु- व दीर्घावधि दोनों ही परिप्रेक्ष्यों में अध्ययन करना होता है। शुरू-शुरू में प्राधिकारियों ने जनजातीय मसलों को सम्बोधित करने, उनके संसाधनों के रक्षार्थ कदम उठाने, अधिकारियों तक पहुँच आसान बनाने आदि के लिए तत्काल उपाय करके प्रत्युत्तर दिया। लम्बे समय में औपनिवेशिक नीति ने जनजातियों हेतु पृथक्करण का संस्थाकरण किए जाने के लिए एक ढाँचा तैयार किया–प्रत्यक्ष व परोक्ष शासन तत्त्वों का संयोजन (राजसी राज्यों में, उत्तर-पूर्व आदि में), ग़ैर-जनजातियों हेतु स्वत्व-अंतरण के विरुद्ध भूमि रक्षार्थ और वन में प्रथागत अधिकारों के रक्षार्थ वैधानिक व प्रशासनिक उपायों का संयोजन। तथापि, किस प्रकार का कोई विकास नहीं होना था – मिशनरियों को शिक्षा व स्वास्थ्य सेवाओं का प्रबंध करने को आज़ाद छोड़ दिया गया था। जनजातिजनों की ग़रीबी ऋणग्रस्तता और पिछड़ेपन के विषय में पूछताछ संस्थापित करने और कल्याणकारी उपायों का पहला चक्र चलाने का काम गाँधीवादी कार्यकर्त्ताओं और तीस की दशकांत में कार्यभार ग्रहण करने वाले कांग्रेसी मंत्रिमंडलों पर छोड़ दिया गया।

विद्रोहों के परिणाम, इस प्रकार, सम्पूर्ण जनजातीय भारत के लिए एकसमान नहीं रहे। जबकि ब्रिटिश भारत में उन्होंने जनजातियों के लिए एक इतर-नियम प्रशासनिक व्यवस्था और जनजातीय ज़मीन के रक्षार्थ विशेष कृषिक कानून साधित किए थे, राजसी राज्यों में उनके लिए थोड़ा ही किया गया अथवा करने की अनुमति दी गई। तथापि, राजनीतिक एजेण्ट ने परिवर्तन को प्रोत्साहित करने की बजाय यथापूर्व स्थिति बनाए रखने के लिए हस्तक्षेप ज़रूर किया। यह उभयभाविता औपनिवेशिक व्यवस्था की अभिलक्षक थी।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) साठ के दशक में झारखण्ड पार्टी के पतन हेतु क्या कारण थे?

.....

2) "क्राउन उपनिवेश" क्या था?

3) शिलोंग समझौता क्या था?

4) भारत में जनजातीय आन्दोलनों के मुख्य उद्देश्य क्या रहे हैं?

26.5 साराश

जनजातीय आन्दोलन अब उन पहचानाधारित आन्दोलनों के रूप में अभिलक्षित किए जा रहे हैं, स्वायत्तता, भूमि, वन, भाषा व लिपि से संबंधित विभिन्न अन्य विषय जिनका शाखा-विस्तार मात्र हैं। यह पहचान ही है जिस पर बल दिया जाता है। पहचान केन्द्र-मंच पर खड़ी होती है। यह बोध-परिवर्तन अब लोगों द्वारा स्थिति की निजी समझ, उनकी पहचान पर बढ़ते खतरे के अवबोधन, सक्रिय पर्यावरणीय तथा देशज लोगों के आन्दोलन, इत्यादि से संभव बना दिया गया है। जनजातीय आन्दोलन अब सत्ता संबंधों, सत्तार्थ छीना-झपटी, किसी क्षेत्र में विभिनन समुदायों के बीच समीकरण की खोज के संदर्भ में रखकर देखे जा रहे हैं। अन्य समुदायों की भाँति, ये जनजातियाँ भी राजनीतिक समुदायों के रूप में उभरी हैं।

जनजातीय आन्दोलन किसी एक निदर्श से सम्बन्धित अब नहीं माने जाते। जटिल सामाजिक स्थितियों से निकलकर उठ खड़े होते आन्दोलन अब निदर्शों व विशेषताओं के एक संयोजन के रूप में लिए जाते हैं। ऐसी ही हैं हेतुक और प्रक्रियाएँ, जिनको अब अन्तर्जातीय व बहिर्जातीय– संसाधनों, संस्कृति व पहचान से संबंधित विषयों के एक संयोजन के रूप में देखा जाता है।

26.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सिंह, के० एस० (सं०), *ट्राइबल मूवमेण्ट्स इन् इण्डिया*, खण्ड 1 व 2, मनोहर, दिल्ली, 1982-83।

शाह, घनश्याम (सं०), *सोशल मूवमेण्ट्स एण्ड दि स्टेट*, सेज पब्लिकेशन इण्डिया, नई दिल्ली, 2001।

26.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) यह खासियों का एक सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन था, जो 1889 में स्थापित हुआ। यह बृहद् स्तर पर खासियों द्वारा ईसाई धर्म अपनाए जाने के विरुद्ध खासी जीवन-शैली की रक्षा पर· अभिलक्षित था।

2) जनजातीय आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्तियाँ थीं :

   i) प्रथम प्रवृत्ति : भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव और इसमें जनजातियों की भागीदारी।

   ii) भूमि व वन से संबंधित जनजातीय आंदोलन और जनजातीय समाज में सुधारार्थ आंदोलन का सम्मिलन।

   iii) स्वायत्तता, राज्य का दर्ज़ा, पृथक्करण और स्वाधीनता की खोज में आंदोलन का उदय, और जनजातीय मध्यवर्गों का नेतृत्व।

बोध प्रश्न 2

1) कारण निम्नलिखित थे

   i) निवास प्रक्रिया में जनजातियों का आवेष्टन।

   ii) विकासार्थ शिक्षा, रोज़गार और संसाधनों पर नियंत्रण को लेकर प्रतिस्पर्धा से उभरी उन्नत ईसाई जनजातियों और पिछड़े ग़ैर-ईसाई जनजातियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता।

   iii) ग़ैर-ईसाई जनजातियों के समर्थन का झारखण्ड से कांग्रेस और जन-संघ को हस्तांतरण।

2) यह ब्रिटिश सरकार द्वारा सुझाया गया एक प्रस्तावित "न्यास राज्य क्षेत्र" था जिसमें नागा हिल्स, तत्कालीन नेफ़ा (NEFA) क्षेत्र और "क्राउन कॉलोनी" नामक बर्मा का एक हिस्सा शामिल थे। यह लन्दन से नियंत्रित होना माना गया था। इसका नागाओं और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा विरोध किया गया।

3) भूमिगत नागाओं और भारत सरकार के बीच यह एक समझौता था जिस पर 11 नवम्बर, 1975 को हस्ताक्षर किए गए। इस समझौते की शर्तों के तहत नागाओं ने भारत का संविधान स्वीकार कर लिया, अपने हथियार जमा कर दिए। भारत सरकार ने नागा राजनीतिक क़ैदियों को दिया और उनके पुनर्वास का वचन दिया।

4) जनजातीय आन्दोलनों के मुख्य उद्देश्यों में शामिल थे : उपनिवेशपूर्व राज्य, सेवा कार्यकाल, भूमि, वृक्षारोपण अधिकार, बाहरियों का निष्कासन, समाज-सुधार, करारोपण की समाप्ति, आदि।

इकाई 27 पर्यावरण

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य

27.1 प्रस्तावना

27.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

- 27.2.1 मानव-प्रकृति संबंध
- 27.2.2 पारि-राजनीति का उद्‌गमन
- 27.2.3 विकास व चिरस्थायित्व पर बहस

27.3 मुख्य विषय

- 27.3.1 राज्य की भूमिका
- 27.3.2 न्यायपालिका की भूमिका
- 27.3.3 पर्यावरण बनाम आजीविका

27.4 पर्यावरण आन्दोलनों की प्रकृति

27.5 दो प्रकरणों का अध्ययन

- 27.5.1 मूक घाटी (साइलैंट वैली) आन्दोलन
- 27.5.2 चिपको आन्दोलन

27.6 सारांश

27.7 शब्दावली

27.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें व लेख

27.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

27.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप पाएँगे राजनीति शास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण और अब तक बिल्कुल उपेक्षित विषय-वस्तु, नामत: भारत में पर्यावरण आन्दोलन। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- मानव व प्रकृति के बीच ऐतिहासिक सम्बन्ध, पारि-राजनीति का उद्‌गमन और विकास व निरंतरता पर तर्क-वितर्क समझ सकें;
- राज्य, न्यायपालिका, ग़ैर-सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.), आम जनता, राजनीतिक दलों, स्थानीय निकायों व विधानमण्डलों की भूमिका के रूप में पर्यावरण आन्दोलनों द्वारा सम्बोधित मुख्य मुद्दों के विषय में जान सकें; तथा
- हित-विवादों के स्रोतों की रूपरेखा दे सकें और दो प्रकरण-अध्ययनों द्वारा विभिन्न पर्यावरणीय विध्वंस पीड़ितों के संघटन की प्रक्रियाओं का वर्णन कर सकें।

27.1 प्रस्तावना

पर्यावरण में आती हैं – भौतिक, रासायनिक व जैविक परिस्थितियाँ, जो पृथ्वी पर जीवन को प्रभावित करती हैं। पर्यावरण कोई वायु, जल व वनों जैसे प्राकृतिक तत्त्वों का अस्तित्वमात्र नहीं है। यह अनिवार्यत: प्रकृति व मानव-निर्मित दोनों ही परिस्थितियों का बना हुआ है। प्रकृति की वजह से हो या मानव की, पर्यावरण में कोई भी असंतुलन पृथ्वी पर जीवन के हर पहलू पर सकारात्मक अथवा नकारात्मक प्रभाव डालता है। पर्यावरण में फ़ेरबदल करने की मानव की असीम योग्यता दो मुख्य परिणाम देती है। उनमें से एक है स्वयं उसी पर और दूसरा, पर्यावरण के सभी इतर-मानव घटकों पर, चाहे वे वायु, जल, मृदा, वन हों अथवा प्राणी।

सभी समाजों में, चाहे वे लोकतांत्रिक हों अथवा सत्तावादी, मानव द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का मूर्खतापूर्ण व प्रलोभनपूर्ण प्रयोग किए जाने के कारण पर्यावरण की गुणवत्ता में ह्रास होता रहा है। एक मुख्य हित-विवाद उनके बीच पनपा है जो प्रकृति को लूटते रहते हैं और दूसरे, वे जो इसके ख़िलाफ़ हैं। प्राकृतिक संसाधनों के संतुलित प्रयोग हेतु आवाज़ उठाई जा रही है ताकि इससे पर्यावरण का विनाश न हो बल्कि साथ-ही-साथ इसका संरक्षण भी हो सके। स्पष्टतया, विधान अथवा किसी अन्य माध्यम से पर्यावरण रक्षण करने की इस दिशा में सभी प्रयास पर्यावरण आन्दोलन की सीमा में आते हैं। यह देखा जा सकता है कि यह एक बृहत् व जटिल कार्य है। पर्यावरण आन्दोलन प्रथमत: लूट-पीड़ितों को जागरूक बनाने व सचेत करने से संबंधित है और फिर उन्हें रक्षात्मक व संरक्षात्मक सामूहिक कृत्यों की ओर उन्मुख करने से। वह कैसे तथा सफलता या असफलता की किस कोटि तक किया जाता है, यहाँ यही विचार किया गया है।

27.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

27.2.1 मानव-प्रकृति संबंध

पृथ्वी पर अनेक जातियों (स्पीशीज़) में से एक है मानव। वह पर्यावरण में एक मुख्य कर्त्ता व घटक है। अपने विभिन्न घटकों के बीच संतुलन पैदा करने व बनाए रखने के प्रकृति के अपने ही तरीके हैं। तथापि, मानव औद्योगीकरण के विकास के साथ गत शताब्दियों में विकास व उत्पन्न होती समृद्धि के लिए प्राकृतिक संसाधनों का बुद्धिहीनता से दोहन करता रहा है। इससे एक असंतुलन पैदा हुआ है। अन्य शब्दों में, औद्योगिक क्रांति द्वारा लाए विकास की प्रक्रिया ने संसाधनों का अवक्षय पर्यावरण की प्राकृतिक पुनर्नवीकरण क्षमता से कहीं अधिक तेजी से किया है। इसके फलस्वरूप ही पर्यावरण संकट पैदा हुआ। सीमितता से उबरने के चक्कर में मानव को पर्यावरण पर प्रतिकूल परिणामों से दो-चार होना पड़ा है। उदाहरण के लिए, परिवहन व संचलन की गति बढ़ाने को विभिन्न प्रकार के वाहनों का आविष्कार हुआ। प्रतिकूल प्रभाव है – जैव मण्डल में हरित-गृह प्रभाव पैदा करते वाहनों से होते विषैले उत्सर्जन।

27.2.2 पारि-राजनीति का उद्गमन

पारि-राजनीति' अर्थात् पारिस्थिति-राजनीति शब्द अभी हाल ही में जन्मा है। पारि-राजनीति पर्यावरणीय व राजनीतिक विषयों के बीच अन्तर्सम्बद्धता व परस्पर मेल के बारे में होती है। पहले, पारिस्थितिकी विषयों पर तभी ध्यान दिया जाता था यदि वे राष्ट्रीय रक्षा अथवा सामूहिक सुरक्षा से संबंधित होते थे, जैसे परमाणु नि:क्षेप अथवा तेल संकट। समय बीतने पर, ध्यान विकास के विषयों

की ओर गया। पारि-राजनीति प्राकृतिक संसाधनों के प्रयोग से संबंधित मूल्याधारित नियमों की इस प्रकार वकालत करती है कि यह एक ओर संकीर्ण एकपक्षीय दोहन को रोकती है तो दूसरी ओर, विकास परिणामों के न्यायोचित वितरण को सुनिश्चित करती है।

तीसरी दुनिया या विकासशील देशों में विकास के विषय पर विवाद एक अलग रूप ले लेता है। यहाँ मतभेद उनके बीच में है जो हर कीमत पर पर्यावरण की रक्षा करना चाहते हैं और जो किसी भी कीमत पर विकास के प्रति वचनबद्ध हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि ये पर्यावरणविद् इस प्रकार के विकास के विरुद्ध हैं, पर वे एक पारि-मित्रतापूर्ण विकास की दुहाई देते हैं। वे वैकल्पिक अथवा सतत् विकास को प्राथमिकता देते हैं। पारि-राजनीति विकास के वरीय मार्ग-निर्धारण प्रक्रिया में फलित होती है।

27.2.3 विकास व चिरस्थायित्व पर बहस

विकास एक बड़ी ही धुंधली, भ्रामक और, इसी कारण, अनेकार्थ संकल्पना है। यह सामान्यत: आधुनिकता, औद्योगीकरण, शहरीकरण, विज्ञान व प्रौद्योगिकी से जुड़ी होती है। यह अनिवार्यत: परिवर्तन, वृद्धि व प्रगति का संकेत करती है। जहाँ तक पर्यावरण हितों का सम्बन्ध है, एक ध्यानाकर्षक त्रूटि में परिणत होते हुए औद्योगिक क्रांति ने विकास की इसी त्रूटि का संकेत दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत, उपनिवेशवाद समाप्त हो गया और नए राष्ट्रों का उदय हुआ। उत्पादकता बढ़ाने के उद्देश्य से, पूँजी व संसाधन-प्रगाढ़ प्रौद्योगिकी नियोजित करके विशाल उद्योग लगाए गए। दुर्भाग्यवश, यह उपगमन बढ़ती असमानताओं, दारिद्र्य व पर्यावरणीय संकट में परिणत हुआ। दक्षिण आयोग की रिपोर्ट (1992:38) में कहा गया कि "जैसे ही अर्थव्यवस्था विकसित हुई तथा और अधिक औद्योगीकृत हो गई, असमानताएँ बढ़ने लगीं आय, ज्ञान व शक्ति में अंतर बढ़ रहा था और जनसमुदाय के विशाल खण्डों ने अपने जीवन-स्तर में किसी महत्त्वपूर्ण सुधार का अनुभव ही न किया था"। इस प्रकार के औद्योगीकरण के मार्फ़त विकास की विचारधारा में अन्धास्था ने एक विशाल संसाधन-अवक्षय व प्रदूषण को प्रेरित किया। विकास के इस आदर्श द्वारा मानव-कल्याण व लोगों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सका।

विकासशील देशों में आते हैं – दरिद्र व शक्तिहीन। इन देशों में औद्योगीकरण के माध्यम से तीव्र आर्थिक विकास के लिए सभी प्रयासों ने वित्तीय व राजनीतिक संभ्रांतों को अधिक-से-अधिक शक्ति प्रदान की है। दीर्घकालिक दरिद्रता और असमान औद्योगीकरण, दोनों के ही कारण पर्यावरण का पतन हुआ है। आम स्थिति ऐसी है कि संभ्रांतजन पर्यावरणीय मूल्यों से सिर्फ़ दिखावटी प्रेम करते हैं और वास्तव में पारिस्थितिक क्रोधोन्माद पर गुज़ारा करते हैं। यदि वे पर्यावरण की कदर करते भी हैं तो अक्सर इसके लाभों के साथ चलने के अनिच्छुक होते हैं। अपनी सफाई में दो-टूक जवाब और सीधा-सा बहाना उनके उस तर्क में निहित होता है जो वित्तीय जीवनक्षमता के अभाव और सफाई करने (अथवा पर्यावरण स्वच्छ रखने) की जीवनक्षम तकनीकी विशेषज्ञता की ग़ैर-मौजूदगी के बारे में होता है। यह बहस वास्तव में उत्पादन की सामाजिक अथवा पर्यावरणीय लागत बनाम इनेगिने लोगों हेतु चिरस्थायी लाभों के लिए पारिस्थितिकी की मूर्खतापूर्ण लूट पर केन्द्रित होनी चाहिए। यह बहस खासकर वित्तीय, औद्योगिक व राजनीतिक-नौकरशाह संभ्रांतों के बीच एक अनौपचारिक गठजोड़ के कारण किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाती है। राजनीतिक व्यवस्था सामान्यत: जनता और खासतौर पर पर्यावरणीय विसम्मति की निरोधक है। यह प्राय: उग्र रूप से व्यक्त की जाती है और साथ ही दबा दी जाती है। पर्यावरण के रक्षार्थ विरोध-प्रदर्शन अक्सर देखे जाते हैं और संभ्रांतवर्ग-हित द्वारा ख़ारिज दिए जाते हैं। इस प्रकार, विकासशील देशों में स्थिति नाजुक व निर्णायक है। भू-अवक्रमण, मरुस्थलीकरण, वननाशन तथा उद्योगों द्वारा वायु, जल व मृदा

का प्रदूषण जैसे मामले या तो उपेक्षित रहते हैं या फिर उन पर अपर्याप्त रूप से व नाममात्र को ध्यान दिया जाता है। कुल मिलाकर, दरिद्रता, अवक्रमण व संवेदनहीन राजनीतिक व्यवस्था मामलों को बदतर बनाती हैं। आशा की एक किरण यूरोप में हरित दलों व समूहों द्वारा सकारात्मक पारि-राजनीति और विकासशील देशों में पर्यावरण संगठनों द्वारा लघु पर्यावरण-आन्दोलनों के उद्‌गमन में दिखाई पड़ती है। यह हमें नागरिक समाज, राज्य व पारि-राजनीति के बीच संबंध तार्किक रूप से खोजने की ओर उन्मुख करता है।

27.3 मुख्य विषय

जैसा कि पिछले पाठांश में की गई चर्चा से स्पष्ट है, पर्यावरण आन्दोलन ने किसी समाज में विद्यमान भुक्तभोगियों व क्षतिपूर्ति प्रणालियों के बीच अत्यावश्यक अंतर्क्षेत्रीय सम्बन्ध विषयक विभिन्न मामलों को उठाया है। वे जो पर्यावरणीय समस्याओं द्वारा प्रतिकूल रूप से प्रभावित हैं और निहित स्वार्थों के एक दमनकारी गठजोड़ के ख़िलाफ़ विरोध-प्रदर्शन व प्रतिरोध कर रहे हैं, उन पर पर्यावरण आन्दोलन की गत्यात्मकता को समझने हेतु ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। प्रथम और अग्रतम मुख्य विषय राष्ट्र की प्रकृति व भूमिका से सम्बन्ध रखता है। न्यायिक विकल्प व हस्तक्षेप यहाँ चर्चित दूसरा मुख्य विषय है। तीसरा विषय पर्यावरण बनाम आजीविका के बीच बहस से संबंधित है।

27.3.1 राज्य की भूमिका

यह समझने के लिए कि राज्य की क्या भूमिका रही, हमें राज्य की सैद्धांतिक संकल्पना और तत्कालीन संदर्भ को समझना होगा। राज्य की एक व्याख्या यह है कि यह उन हित-विवादों को सुलझाने हेतु एक तटस्थ स्थान अथवा निष्पक्ष माध्यम है, जो बाज़ार व नागरिक समाज में हुआ करते हैं। तथापि, गत पाँच दशकों में भारतीय राज्य की कारगुज़ारी प्रतिकूल साक्ष्य देती है। भारतीय राज्य अपनी भूमिका को निभाने में असफल रहा है और इस कारण नागरिक समाज को अभावपूर्ति करनी पड़ी है। चलिए, पहले राज्य की तत्कालीन स्थिति को उजागर करते हैं। जब से भी शीत-युद्ध की समाप्ति, सम्प्रदायवाद का विध्वंस और उन्नतशील पूँजीवाद की जीत हुई है, अधिकतर राष्ट्र-राज्य निष्ठुरतापूर्वक कुचले गए हैं। सम्प्रदायवाद के विध्वंस के परिणामस्वरूप भूमण्डलीय लोकतांत्रिक महत्त्वाकांक्षाओं में एक लहर-सी चली है। मुक्त-बाज़ार शक्तियाँ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं को भूमण्डलीय आर्थिक व्यवस्थाओं से जोड़ रही हैं। राजनीति व अर्थव्यवस्था का भूमण्डलीकरण होता जा रहा है। राज्य इसी प्रक्रिया में फँसा है और भीतर व बाहर से दवाबों में है।

यह पाया गया है कि राज्य अथवा किसी स्थानीय नगरीय निकाय के रूप में उसके प्रतिपक्ष ने पर्यावरण प्रदूषण के विषय में एक पक्षपाती ढंग से व्यवहार किया है। पर्यावरण रक्षा का विषय दो धड़ों में बँटा हुआ है। एक ओर है – नौकरशाहों-उद्योगपतियों-राजनीतिज्ञों के रूप में संभ्रांत साम्राज्य का 'लौह त्रिकोण', और दूसरी ओर, प्रदूषण व पर्यावरण-अध:पतन के शक्तिहीन शिकार। अध्ययनों ने दर्शाया है कि एक मध्यस्थ और संतुलनकारी अभिकरण के रूप में संचालित होने की बजाय, राज्य जन-हितों के विरुद्ध विषय के पक्षकार के रूप में कार्य करता है। यदि हम प्रदूषण पर विधान का इतिहास देखें, हम पाएँगे कि इस विषय के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए सबसे पहले कोई तैयार नहीं हैं। वे लोग जो वायु या जल प्रदूषण के शिकार हैं अपने कंधों पर सबूत के बोझ के साथ ठंडे बस्ते में डाल दिए गए हैं। चाहे गैरी इण्डियाना में यू.एस. स्टील मिल हो या गुजरात के वापी, अंकलेश्वर, नान्देसरी और बड़ौदा में कारख़ाने व उद्योग, जब लोग वस्त्रों व बर्तनों में छेद हो जाने अथवा भैंसों व हाथियों की निकट के खुले स्थानों, गाँव के पोखरों, दर्रों, नदियों में

चोरी-छिपे छोड़े गए प्रदूषित जल पीने से मौत हो जाने के रूप में प्रदूषण के प्रभाव के बारे में शिकायत करने जाते हैं तो प्रदूषणकारी उद्योगों की प्रथम प्रतिक्रिया होती है – ऐसी कोई बात नहीं है। जब गुजरात के बड़ौदा क्षेत्र के गाँवों में आलू व केला उगाने वाले किसानों ने वायु-प्रदूषण के कारण फल-बरबादी के विषय में शिकायत की तो प्रदूषणकारी उद्योग तत्काल उत्तरदायित्व लेने और स्वीकार करने पीछे हट गया।

प्रदूषण का प्रभाव सबसे पहले जनसाधारण द्वारा ही महसूस किया जाता है परन्तु 'लौह-त्रिभुज' सामान्यत: इसके अस्तित्व के विरुद्ध है। जनसाधारण के पास अन्तत:, समस्या को एक मुद्दा बनाने हेतु पहले एक आन्दोलन शुरू करने के सिवा कोई विकल्प नहीं बचता। यह भुक्तभोगी जनसाधारण ही है जो स्वयं को एक अज़ीब अशक्त और असहाय स्थिति में पाता है। विद्यमान संगठित जन-सत्ता, राज्य व इससे संबद्ध संगठनों के रूप में, उनकी मदद नहीं करती। इसी कारण वे पहले राज्य को मुद्दे का अस्तित्व पहचानने पर बाध्य कर अपने पक्ष में सत्ता संसाधनों को प्रयोग करने हेतु एक आन्दोलन शुरू करते हैं और फिर प्रदूषण पर निवारक कानून लागू करते हैं। लौह-त्रिभुज यहाँ रुकता नहीं बल्कि वैधानिक नीति- व कानून-परिपालन के आगामी कार्यक्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। तनूकरण द्वारा यह प्रभाव को कमज़ोर व निष्फल करता है। जनसाधारण का संघर्ष इस अवस्था में भी चलता ही रहता है। जब तक कि भोपाल गैस त्रासदी नहीं हो गई, प्रदूषण कानूनों के उल्लंघन से दृढ़ता से नहीं निबटा गया।

27.3.2 न्यायपालिका की भूमिका

भारत में पर्यावरण आन्दोलन अनिवार्यत: तीन चरणों से गुज़रा है। प्रथम चरण में, जो सबसे लम्बा चरण था, वैधानिक बाधाओं को दूर किया गया। कहना होगा, विधानों में रचे जाते समय प्रदूषण कानूनों का विरोध, अवरोध व तनूकरण किया गया। दूसरे चरण में पहले से ही बने प्रदूषण-विरोधी कानूनों के निष्पादन का विरोध देखा गया। यहाँ भी लौह-त्रिभुज प्रदूषण-शिकारों के हितों की रक्षा करने दी बजाय प्रदूषणों के पक्ष में संचलित हुआ। वर्तमान चरण में, उत्तरोत्तर कमज़ोर होते पारिस्थितिक तन्त्र को प्रदूषित करने व ख़तरे में डालने वालों के विरुद्ध उनकी शिकायतों के निवारणार्थ एक अन्तिम आश्रय के रूप में न्यायालय के दरवाज़े खटखटाए जाते हैं। प्रसिद्ध विधिवेत्ता उपेन्द्र बक्शी (1991) के अवलोकनानुसार, "भारत में पर्यावरणीय विधिशास्त्र का विकास अभी हाल ही की घटना है। और अब भी यह कुछेक सक्रियतावादी न्यायाधीशों, वकीलों, विधि अकादमियों और सक्रिय नागरिकों तक परिसीमित है।'' बक्शी का तर्क है कि ऐसा मुख्यत: इसलिए है कि "संविधान स्वयं ही पर्यावरण-अंध है।'' संविधान में अधिकारों वाला सम्प्रदाय नागरिकों को वायु व जल-प्रदूषण, वननाशन, वन्य जीवन के विध्वंस और निवासियों के विस्थापन से बचाव के विषय में सुव्यक्त रूप से नहीं बताता है। काफी बाद में, 42वें संविधान संशोधन ने एक प्रावधान जोड़ा; देखें अनुच्छेद 48-A जो राज्य को पर्यावरण, वन व वन्य जीवन की रक्षा व उनमें सुधार करने हेतु प्रयास करने का निर्देश देता है। अनुच्छेद 51-A नागरिकों के मौलिक कर्त्तव्य "वनों, झीलों, नदियों व वन्य जीवन समेत प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा करने व उसमें सुधार करने '' के विषय में है। संविधान में पर्यावरणीय महत्त्वों का अभाव इसके विकास के साथ सम्मोह के कारण है।

इन प्रावधानों ने न्यायिक हस्तक्षेप की संभावनाओं में उल्लेखनीय रूप से सुधार किया है। इसने प्रदूषण अथवा पर्यावरण ह्रास के भुक्तभोगियों द्वारा पर्यावरणीय वाद को बढ़ावा दिया है। तथापि, 1950-84 से, न तो राज्य न सभ्य समाज ही महाकाय औद्योगीकरण के माध्यम से उपजती सम्पन्नता की नीति का अनुकरण करते हुए पर्यावरण के क्रमबद्ध व संरचित निम्नीकरण व विध्वंस के बारे में सचेत था। इस उपेक्षा के जवाब में न्यायिक सक्रियतावाद का उदय हुआ। रतलाम

नगर-निगम मामले में, न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने एक नई, प्रगतिशील व पर्यावरण-मैत्र्य व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि संविधान "सर्वतोमुखी प्रयोग का एक उपचारी शस्त्र" है। उन्होंने यह भी माना कि लोगों के "सामाजिक न्याय" हेतु संघर्ष में पर्यावरणीय न्याय शामिल है और उनको यह "उपचारी शस्त्र" उपलब्ध होना ही चाहिए। सन् 1979 में नाजुक मूक घाटी (साइलैण्ट वैली) पारिस्थितिक तंत्र के रक्षार्थ केरल शास्त्र साहित्य परिषद् द्वारा बिजली-परियोजना विरोधी आन्दोलन में न्यायाधिपति अय्यर के इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक न्यायिक हस्तक्षेप द्वारा मदद मिली।

राज्य व केन्द्रीय स्तर पर शीर्ष न्यायालय पर्यावरण के रक्षार्थ याचिकाओं से भरे पड़े हैं। प्रबुद्ध न्यायिक प्रणाली की यह एक बड़ी उपलब्धि है। पर्यावरण-संबंधी न्याय अथवा क्षतिपूर्ति की तलाश में विभिन्न मामलों में न्यायालयों द्वारा की गई रचनात्मक व्याख्याओं व निर्णयों ने इस विषय में न्यायपालिका की परिधि और भूमिका को विस्तृत किया है। उदाहरण के लिए, श्रीराम उर्वरक मामले में न्यायालय ने ख़तरनाक पदार्थ, कच्चे-माल, प्रक्रियाओं या उत्पादों वाले निर्माताओं में "नितान्त दायित्व का विचार" उत्पन्न किया, ताकि ऐसा न हो कि आम जनता अथवा कर्मचारियों को कोई नुकसान पहुँचे।

27.3.3 पर्यावरण बनाम आजीविका

पर्यावरण अध:पतन उस दुश्चक्र का परिणाम है जिसमें अधिकांश समाज बुरी तरफ फँसे हुए हैं। यह तर्क दिया जाता है कि विकास ग़रीबी हटाने व लोगों के जीवन-स्तर को सुधारने के लिए आरम्भ किया जाता है। लेकिन विकास का तरीका जो अनुसरण किया जाता है, पर्यावरणीय रूप से अनर्थकारी निकल कर आया है। ग़रीबी घटाने की बजाय, इसने असमानता, वंचन, उपान्तकरण को बढ़ाया है और व्यापक पर्यावरणीय ह्रास उत्पन्न किया है। बाज़ारोन्मुखी विकास रणनीति का वर्धन व विस्तार, चाहे समाजवादी हो या पूँजीवादी, "उसी समस्या का हल करने में असमर्थ है जो वह पैदा करती है" (शिवा; 1991 : 342)। वन प्रबंधन एक और क्षेत्र है जहाँ विकास की प्रमुखता व मौलिक आवश्यकताएँ पर्यावरणीय मामलों पर अधिक भारी हैं। उद्योगपतियों, राजनीतिज्ञों व वन अधिकारी-वर्ग ने वनों के बेरोक-टोक उपभोग हेतु एक अन्तर्सम्बन्ध कूटरचित किया है।

भारी उद्योगीकरण प्रदूषण व पर्यावरण पर ख़तरे का एक अन्य प्रभावकारी स्रोत है। अनियन्त्रित औद्योगीकरण ने वायु, जल व मृदा में विषाक्त गैसें, रासायन, स्राव व ख़तरनाक पदार्थ छोड़े हैं। इस विषय का एक अन्य आयाम रासायन, पेट्रो-रासायन, भेषजीय, कीटनाशक व उर्वरक जैसे कुछ विशिष्ट उद्योगों के कर्मचारियों के स्वास्थ्य व सुरक्षा पर व्यवसायगत जोख़िमों से संबंधित है। ये कर्मचारी व स्थानीय जन कैन्सर, वास-रोगों, बाँझपन, अंगुलि-पदांगुलि क्षय तथा नाक (नलिकाओं को अलग करती भित्ति) में छेद होने से पीड़ित पाए जाते हैं। मत्स्य-पालन, कृषि व बाग़वानी कार्यों से आजीविका संभावनाओं में कमी आयी है। ऐसे व्यापक प्रभाव ने भुक्तभोगियों के बीच संताप को जन्म दिया और जन-आंदोलन शुरू किए गए।

यह चर्चा दर्शाती है कि विकासशील समाज वस्तुत: निर्विकल्प व असहाय स्थिति में फँसे हैं। आर्थिक विकास की विपणन-केंद्रित व प्रतिसंवेदी रणनीति ने हमारे पास संशोधनों की थोड़ी ही गुंजाइश छोड़ी है। एक को बचाने के लिए रणनीति में कोई भी परिवर्तन दूसरे को अपंग कर सकता है अथवा मार सकता है। यदि आजीविका पैदा की जाती है, पर्यावरण को ख़तरा हो जाता है और यदि पर्यावरण की रक्षा की जाती है, आजीविका को ख़तरा हो जाता है। यह एक अजीब दर्दनाक स्थिति है। भारत में पर्यावरण आन्दोलन इस दर्दनाक स्थिति व भ्रमजाल को प्रचुरता से प्रकट करता है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) पर्यावरण आंदोलन से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) विकास को पर्यावरणविद् किस नज़र से देखते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) "लौह-त्रिभुज" क्या है और पर्यावरण आन्दोलन से इसका क्या संबंध है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) पर्यावरण आन्दोलन में न्यायपालिका की भूमिका पर टिप्पणी करें।

.....

.....

.....

.....

27.4 पर्यावरण आन्दोलनों की प्रकृति

हमने देखा कि मानव-प्रकृति संबंधों में परिवर्तनों हेतु कारण तलाशने बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। यह स्पष्ट हो चुका है कि प्राकृतिक संसाधनों का गुप्त, व्यापक अवक्षय और निम्नीकरण बुद्धिहीन उपभोग द्वारा प्रकृति पर उसकी वहन क्षमता से कहीं अधिक दबाव डालने का परिणाम है। कुछ हद तक वन समुदाय ने और जनसाधारण ने प्राकृतिक संसाधनों का अति दोहन किया है। पहले के पास कोई दूसरा विकल्प ही नहीं है। किसी कारण से पारिस्थितिक निम्नीकरण को नियत ही माना जाता है और ईंधन, आश्रय अथवा आय के लिए पेड़ काटना, अति चराई अथवा अति कृषि नाजुक पारि-क्षेत्रों में निर्बाध अथवा बिना किसी चुनौती के चलता रहता है। संघर्षों के लिए आधार बहुत हैं।

हर्ष सेठी ने पर्यावरणीय प्रतिक्रियाओं के संघर्षों को तीन प्रकारों में बाँटा है। पहले प्रकार में संघर्ष, संसाधनों को प्रयोग करने पर विभिन्न सामाजिक स्तरों व समुदायों के अधिकारों के प्रश्न को संबोधित करता है। इस प्रकार का संघर्ष विकास प्रतिरूप अथवा मानव-प्रकृति संबंधों को पुनर्परिभाषित करने के कार्यों पर प्रश्न नहीं करता है। दूसरे प्रकार में, हम उस पर्यावरणीय प्रतिक्रिया को पाते हैं जो संसाधन प्रयोग में विधि-सुधारों व नीति-परिवर्तनों हेतु संघर्ष करती है। पुनर्नवनीय और गैर-पुनर्नवनीय संसाधनों के विनाश अथवा अवक्षय विषयक महत्त्व इसके केन्द्र में है। प्रबल विकास प्रतिरूप का नियामक आधार बिना किसी चुनौती के रहा है। प्रतिक्रिया की तीसरी किस्म इस विषय के प्रति तात्त्विक और मौलिक है। यह पर्यावरणीय आयाम का आह्वान करता है। यह प्रबल विकास प्रतिरूप को निरस्त करने और प्रकृति के साथ मानव के संबंध को पुनर्परिभाषित करने पर अभिलक्षित है। तथापि, कहना होगा कि पर्यावरण संघर्ष एक बार शुरू होने के बाद प्रतीकात्मक शुद्धता को कायम नहीं रखते हैं। ये संघर्ष वायु, अपशिष्ट, भूमि, वन व समुद्र जैसे विभिन्न प्राकृतिक संसाधनों के इर्द-गिर्द केन्द्रित होने में परिणत हुए हैं। इस प्रकार, उन्हें वनाधारित संघर्षों भू-प्रयोग संघर्षों, विशाल बाँध-विरोधी संघर्षों, प्रदूषण-विरोधी संघर्ष और समुद्रीय संसाधन-विनाश के खिलाफ़ संघर्षों के रूप में देखा जा सकता है।

हर्ष सेठी ने इन संघर्षों का एक विश्लेषण किया है – शिकायत-निवारण, प्रभावी नीति-परिवर्तन और अंत:प्रेरणा के संबंध में संघर्षों के भागीदारों अथवा कर्त्ताओं, हस्तक्षेप की रणनीतियों, उठाए गए व ध्यानाकर्षित किए गए मामलों और अन्ततः संघर्ष के प्रभाव या परिणाम पर ध्यान-संकेन्द्रण द्वारा। यह पाया गया है कि अन्य संघर्षों से भिन्न, पारिस्थितिक संघर्षों में समाज का औचित्यपूर्ण प्रतिनिधि वर्ग भागीदारों के रूप में शामिल किया जाता है। तथापि, सर्वाधिक प्रतिकूल रूप से प्रभावित लोग ही संघर्ष का आधार बनाते हैं। उदाहरण के लिए, वनोन्मूलन से ईंधन लकड़ी व जल एकत्रण में महिलाओं के कार्य के घण्टे बढ़ जाते हैं, जनजातीय लोग वनोत्पादन के लाभ से वंचित हो जाते हैं, गोवा व केरल में मछुआरों को अत्यधिक बड़े महाजाल से मछलियाँ पकड़नी पड़ती हैं। भुक्तभोगी इतने प्रकीर्ण और उपान्तकृत हैं कि प्रभावशाली ढंग से आवाज़ उठाने और शिकायतों को दूर करने के लिए उन्हें स्वयंसेवी संगठनों; संचार माध्यमों; वैज्ञानिकों, शोधकर्त्ताओं, डॉक्टरों, अभियन्ताओं, वकीलों, प्रौद्योगिकीविदों जैसे व्यवसायियों; मानवाधिकार समूहों; सहानुभूतिशील व गंभीर नीति-निर्माताओं व अधिकारी वर्गों के और अधिक मुखर व अनुभवी क्षेत्रों से आए कर्त्ताओं की एक शृंखला की आवश्यकता है। इन कर्त्ताओं में से प्रत्येक संघर्ष में शक्ति, प्रबलता, मार्गदर्शन व दिशा-निर्देशन का योग देता है।

संगठनात्मक व हस्तक्षेपवादी रणीनीति के रास्ते, पर्यावरण आन्दोलनों के लिए यह अत्यावश्यक हो गया है कि न सिर्फ़ हमदर्दी में भुक्तभोगियों को मज़बूती प्रदान करने व एकबद्ध करने के लिए बल्कि सामूहिक हानि इत्यादि द्वारा उनके वज़नी बनाए जा रहे संभावित लाभों के बारे में संशयों को दक्षतापूर्वक उठाकर प्रतिद्वंदी दलों को अधिकांशत: समाप्त कर डालने के लिए भी। अधिकांश संघर्ष विकास परियोजनाओं के विरुद्ध उठाए जा रहे हैं और इसी कारण, वे जन-विरुद्ध, राष्ट्र-विरुद्ध, विकास-विरुद्ध, प्रगति-विरुद्ध इत्यादि के रूप में लड़े जाने वाले हैं। इसका सामान्यत: दाँव पर लगे विषयों के सावधानीपूर्वक व सुव्यवस्थित विश्लेषण और वास्तविक संसाधन-प्रयोग में शुद्ध, आँकड़ों पर आधारित अभियान सामग्री के प्रवर्द्धन द्वारा प्रतिकार किया जाता है। इस रणनीति की सीमाबद्धता यह है कि जब मामला स्थानीय सीमा से परे चला जाता है, असली भुक्तभोगीकर्त्ता पीछे छोड़ दिए जाते हैं और या तो मध्यवर्गी व्यवयासी, संचार-माध्यम अथवा स्वयंसेवी अभिकर्त्ता नेतागण आगे जा जाते हैं। नेतृत्व भूमिका व सत्ता स्थानीय लोगों से मध्यस्थता करते कर्त्ताओं के हाथ चली जाती है। हर्ष सेठी ने ग़ौर किया है कि यह रणनीतिगत रूप से अच्छा है परन्तु नीतिशास्त्र की दृष्टि से बुरा। इस प्रक्रिया का एक अन्य पहलू है – रणनीति के रूप में स्थानीय अथवा राष्ट्रीय मामलों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण जो आन्दोलन का हानि पहुँचा सकता है। अधिकांश मामलों में पर्यावरण आन्दोलनों के केन्द्रीय विषय पर्यावरण की वहन क्षमता अथवा लागत-लाभ अनुपातों पर सह्य सीमा-निर्धारण के इर्द-गिर्द ही घूमते रहते हैं। अधिकतर संघर्ष सुधारवादी प्रकृति के होते हैं। इन विषयों ने पारिस्थितिकी और नारी-अधिकारवाद के साथ-साथ पारिस्थितिकी और मानवाधिकारों के बीच अनुषंगिक रूप से दिलचस्प अन्तर्सम्बंधों को उभारा है। इस आंदोलन द्वारा उठाया गया सबसे महत्त्वपूर्ण विषय हमारी समझ अथवा ज्ञान के सिद्धांत के बारे में है। वर्तमान विकास प्रतिरूप विज्ञान के सार्वभौमिक, यथार्थ तथा मूल्य-युक्त द्योतन के मिथक पर पोषित है। लम्बे समय से जो सत्य सार्वभौमिक ज्ञान समझा जाता है उसे आज चुनौती है। विज्ञान को उत्तरोत्तर रूप से पक्षावलंबी, संकुचित व सैद्धान्तिक के रूप में देखा जाता है। इन आन्दोलनों ने बाज़ार, समाज़, राज्य, विज्ञान व प्रकृति की हमारी समझ को पुनर्परिभाषित करने के विषय को भी उठाया है। पर्यावरण आंदोलनों द्वारा समाज व प्रकृति में विविधता और बहुत्व परिरक्षण का विषय भली-भाँति उठाया गया है।

आन्दोलन के प्रभाव का विश्लेषण करना व समझना ही इस अध्ययन के महत्त्वपूर्ण पक्ष का निर्माण करता है। ये पर्यावरण आन्दोलन सामान्यत: 'विविध व बिखरे' हुए हैं। उनका समस्त प्रभाव असमान है। असफलताओं के साथ-साथ सफलताएँ भी मिली हैं। मूक घाटी (साइलैण्ट वैली) आन्दोलन का प्रभाव सकारात्मक, सफलतापूर्वक व प्रवृत्तिमूलक था। दून घाटी पर्यावरण आन्दोलन अंशत: सफल था। परन्तु अन्य अनेक जगह, यद्यपि, आन्दोलन शुरू किए जाते हैं, बढ़ाए जाते हैं लेकिन सफल नहीं होते। भोपाल गैस त्रासदी ने सफलतापूर्वक राष्ट्र व विश्व का ध्यान खींचा परन्तु यह ख़तरनाक उत्पादों व प्रक्रियाओं को रोकने में सफल नहीं हुई है (*आई.पी.टी.*; 1999)। संघर्षों की निरन्तरता के बावज़ूद, हज़ारों लोग हर वर्ष विशाल विकास परियोजनाओं की वज़ह से विस्थापित कर दिए जाते हैं। दूसरी ओर, इस आन्दोलन ने पर्यावरण रक्षा के महत्त्व को केन्द्रिकता और लोकप्रियता प्रदान करने के लिए एक बड़ा योगदान दिया है। यह एक ऐतिहासिक उपलब्धि है क्योंकि इतनी गम्भीर दिलचस्पी, जागरूकता, अन्तर्भावितता और भागीदारी पहले कभी नहीं देखी गई। सरकार ने वनों, वन्य-जीवन, बंजर भूमि, जल, वायु व मृदा संरक्षण पर अनेक नीतियाँ बनाई हैं। लेकिन बढ़ते महत्त्व व राज्य द्वारा वास्तविक कार्यवाही के बीच काफी चौड़ी दरार है। मज़ेदार बात है कि किसी भी राजनीतिक दल, श्रमिक संघ अथवा कृषक संगठन ने इसे अपना मुद्दा नहीं बनाया है। ये पर्यावरण आन्दोलन गंभीर दिलचस्पी/विचार तथा कार्यवाही; सरकार द्वारा विखण्डित, सह-विकल्प परिचालन व विरूपण तथा निहित स्वार्थों के बीच दरारों के ख़तरों के प्रति अनावृत्त रहते हैं।

27.5 दो प्रकरणों का अध्ययन

पर्यावरण आन्दोलनों के संरचनात्मक व कार्यपरक पहलुओं को समझने के लिहाज से यहाँ दो केस अध्ययन प्रस्तुत हैं। ये केस अध्ययन भारत में पर्यावरण आन्दोलनों की उत्पत्ति, विषयों, संगठन, विचारधारा, नेतृत्व, संघटन, प्रभाव व परिणाम का एक संक्षिप्त लेखा-जोखा उपलब्ध कराएगा।

27.5.1 मूक घाटी (साइलैण्ट वैली) आन्दोलन

यह आन्दोलन केरल में जन्मा। भारत में लोगों के अपने संघर्ष व आंदोलन द्वारा पर्यावरण रक्षा की दिशा में पर्यावरण आन्दोलनों के ताज़ा इतिहास में सबसे पहली ऐतिहासिक घटनाओं में से यह एक है। इसकी उत्पत्ति हेतु कारण सत्तर के दशकारंभ में कुन्तीपुझा नदी पर एक बाँध के केरल सरकार के प्रस्ताव में निहित हैं। सरकार की दिलचस्पी बढ़े औद्योगीकरण के माध्यम से राज्य हेतु सम्पन्नता लाने में थी। राज्य में बिजली की कमी की वजह से यह नहीं हो पा रहा था। बाँध बनाने का मुख्य उद्देश्य था – उद्योगों के रूप में विद्युत शक्ति पैदा करना। बाँध-निर्माण को जलग्रहण के रूप में 77 वर्ग किमी. जगह घेरनी थी। परिणामस्वरूप, भारत के सर्वाधिक भरेपूरे उष्णकटिबंधीय वन, मूक घाटी (साइलैण्ट वैली) के नाम से प्रसिद्ध, को जलप्लावित व जलमग्न कर दिया जाना था। दिलचस्प बात यह है कि ऐसे अन्य अधिकांश मामलों से भिन्न, यहाँ लोगों के विस्थापन व पुनर्वास की कोई समस्या नहीं थी क्योंकि यह बाँध एक ऐसे स्थान पर बनाया जाना था जहाँ कोई आबादी नहीं थी। इस लिहाज से मूक घाटी आन्दोलन विशुद्ध व प्राथमिक रूप से चलाया गया प्रथम पर्यावरण आन्दोलन था। इस आन्दोलन के विरुद्ध संभाव्यता भारी थी। केरल सरकार इस मुद्दे के पूरे नियन्त्रण में थी क्योंकि सभी राजनीतिक दल व औद्योगिक समर्थक-वर्ग इस योजना के पूरे समर्थन में थे जिन्होंने सरकार की हिमायत की।

केरल शास्त्र साहित्य परिषद् (के.एस.एस.पी.), पहले से ही विद्यमान-सक्रिय, प्रगतिशील स्थानीय लोगों के एक विज्ञान आन्दोलन समूह, ने चुनौती स्वीकार की और आन्दोलन को शैशव से ही उसके एक युक्तियुक्त लोक शक्ति में विकसित होने तक परिचालित किया। के.एस.एस.पी. ने बाँध के विरुद्ध स्थानीय मत को सफलतापूर्वक लामबन्द किया और वनस्पतिज्ञों जैसे पर्यावरण विशेषज्ञों, सलीम अली जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त जन्तु वैज्ञानिकों, सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों व अभियंताओं को काम में हाथ बँटाने के लिए जुटाया। इस प्रयास ने के.पी.एस.एस. के तर्क और सरकार के तकनीकी दलों के सामने उसकी स्थिति को मजबूती प्रदान की। इसने योजना के विरुद्ध अपने तर्क को "एक दुर्लभ पारिस्थिति-तंत्र, जैविक व अनुवांशिक विविधता" पर प्रतिकूल पर्यावरणीय परिणामों के आधार पर प्रबल रूप से प्रस्तुत किया। एक रणनीति के रूप में के.एस.एस.पी. एक कदम आगे बढ़ी और तर्क दिया कि वांछित बिजली पर ताप-शक्ति केन्द्र स्थापित करने के साथ-साथ शक्ति-संचारण प्रणालियों को सुधार कर आसानी से पैदा की जा सकती है। के.एस.एस.पी. इस विवाद को राज्य से काफी परे एक प्रामाणिक जन-विवाद की स्थिति प्रदान कर सकता था। राष्ट्र का ध्यान खींचा गया। विश्व वन्य-जीवन कोष तथा प्रकृति एवं प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण हेतु अन्तर्राष्ट्रीय संघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय अखाड़े तक इसे खींचा गया। ये भूमण्डलीय निकाय मूक घाटी में पाए जाने वाले बंदर की दुर्लभ नस्ल – शेर-पूँछ बंदर (मकाक़ी), को बचाने के आधार पर आन्दोलन के मुद्दे पर जुटे थे। यह संघर्ष काफी लम्बा चला। क्रोधोन्मत्त तर्क-वितर्क, सतत् अभियान और संचार-माध्यमों, संसद व विशेषज्ञ समितियों के मार्फ़त निरन्तर निष्ठुर गोष्ठीकक्ष-प्रचार ने मूक घाटी ने बाँध के विचार को छोड़ देना संभव बना दिया। इसके अलावा, के.एस.एस.पी. ने इस क्षेत्र को "राष्ट्रीय जीव-मण्डल" की पद-स्थिति दिलाई। इस कामयाब आन्दोलन के परिणामस्वरूप, पर्यावरणीय रूप

से अव्यवहार्य विकास नीतियों, परियोजनाओं व योजनाओं को चुनौती देने हेतु सम्भावना बढ़ी। यह आन्दोलन स्वभावत: रक्षात्मक था, इस लिहाज से कि यह अन्य कई मुद्दों से भिन्न रूप में शुरू किया गया था, इस परियोजना से काफी पहले क्रियान्वित किया गया था और पर्यावरण पर इसका प्रभाव महसूस किया जा सकता था। इस परियोजना का भ्रूणावस्था में ही सफलतापूर्वक विरोध किया गया। यह के.एस.एस.पी. जैसे पहले से ही भली-भाँति विवेकशील और अभिज्ञ उन ग़ैर-राजनीतिक निकायों के अस्तित्व को दर्शाता है जो नुकसान पहुँचाए जाने से काफी पहले ही सक्रिय हो सकते थे। यह केस अध्ययन यह भी दर्शाता है कि पर्यावरण आन्दोलनों को विशेषज्ञ से लेकर सामान्य तथा स्थानीय से लेकर भूमण्डलीय तक लामबन्दी, आवेष्टन और कर्त्ताओं (वैयक्तिक व सांस्थानिक) के विविध घालमेल के वाद्यवृन्दकरण की आवश्यकता है।

27.5.2 चिपको आन्दोलन

यह आन्दोलन मूल रूप से वनों के संरक्षण व बचाव से संबंधित था। यह उत्तर-प्रदेश के उप-हिमालयी क्षेत्र में पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने के लिए एक पर्यावरणीय आन्दोलन था। उत्तरकाशी, चमोली, टिहरी और पौढ़ी के चार ज़िले गढ़वाल मण्डल का निर्माण करते हैं और कुल 27,000 वर्ग किमी. क्षेत्र तथा लगभग 14 लाख जनसंख्या वाले हैं। यह दिलचस्प बात है कि श्रमिकों की पलायनवादी प्रवृत्ति के कारण ही इस क्षेत्र में पुरुषों की संख्या स्त्रियों से अधिक है। इस क्षेत्र में रोज़गार बहुत कम हैं। यहाँ खेतिहरों के रूप में 97 प्रतिशत कामगार महिलाएँ हैं जबकि सिर्फ़ 72 प्रतिशत पुरुष खेतिहर किसान हैं। पुरुष फ़ौज में काम करते हैं और इस कारण महिलाएँ ही भूमि, पशुधन व घर-गृहस्थी संभालने के लिए रह जाती हैं। इसी वजह से 'चिपको' की नारी-अधिकारवादी आन्दोलन के रूप में भी व्याख्या की जाती है। यह आन्दोलन चमोली ज़िले के गोपेश्वर में दसोहली ग्राम स्वराज्य मण्डल में जन्मा। यह आन्दोलन गाँधीवादी सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं द्वारा चलाया गया। सर्वोदय कार्यकर्त्ता विभिन्न ग्रामीण पुनर्निर्माण कार्यों के माध्यम से लगभग 13 वर्षों से इस क्षेत्र में सक्रिय थे।

यह आन्दोलन 24 अप्रैल, 1973 को शुरू हुआ। एक ओर स्थानीय ग्रामवासियों तथा सर्वोदय कार्यकत्ताओं और दूसरी ओर इमारती लकड़ी के ठेकेदारों तथा वन-अधिकारी वर्ग के बीच इस क्षेत्र में वन व इमारती अधिकारों को लेकर हितों का एक ऐतिहासिक विवाद था। ये ठेकेदार वन-लाभों का एकाधिकार क्रय करने के लिए वन-अधिकारी वर्ग तथा स्थानीय राजनीतिज्ञों पर अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव का प्रयोग करने में समर्थ थे। 'चिपको' लामबन्दी से पूर्व, इस क्षेत्र में सरकार की वन-नीति व कार्यक्षेत्र के विरुद्ध भी आन्दोलन हो चुके थे। वन विभाग ने खादी ग्रामोद्योग कमीशन के समर्थन से स्थापित उसकी कृषि-यन्त्र कार्यशाला हेतु सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं की 10 ऐश वृक्ष प्रतिवर्ष की माँग ठुकरा दी। लेकिन उसने टेनिस-बल्ले आदि जैसी खेल-सामग्री के विनिर्माण हेतु सायमन कम्पनी को 300 ऐश वृक्ष स्वीकृत कर दिए। प्रमुखता इस प्रकार ग़रीब खेतिहर किसान के हलों वाली स्व-जीवन-निर्वहन आवश्यकताओं की बजाय टेनिस-बल्लों को दी गई। कम्पनी अभिकर्त्ता द्वारा इन 300 वृक्षों की कटाई मार्च 1973 में शुरू की गई। गोपेश्वर के आसपास के क्षेत्रों से सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं और 100 अन्य ग्रामवासियों ने प्रयाण किया। ग्रामवासियों द्वारा इस प्रतिरोध के परिणामस्वरूप, कम्पनी के आदमी वापस हो लिए। विरोधियों को शांत करने के लिए, वन विभाग ने सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं हेतु एक ऐश वृक्ष की बात मान लेने में तत्परता दिखाई, यदि वे सायमन कम्पनी को उसके मूल यथांश के पेड़ काट लेने दें। यह प्रलोभन दो, तीन, पाँच और पूरे यथांश के दस ऐश वृक्षों तक बढ़ा लेकिन यह निरस्त कर दिया गया। सायमन का यथांश रद्द करने की घोषणा तो कर दी गई परन्तु ज़िले के दूसरे हिस्से में फाता वन में यह पुनर्आबंटित कर दिया गया। जून 1973 में, एक अन्य स्थानीय नेता ने गुरिल्ला समूह को संगठित किया और चिपको

आन्दोलन शुरू कर दिया। जब अनुमति-पत्र की मियाद स्वत: ही समाप्त हो गई, दिसम्बर के अंत तक गाँव द्वारा वृक्षों की रक्षा की गई।

टिहरी गढ़वाल स्थित उत्तराखण्ड सर्वोदय मण्डल के सुन्दरलाल बहुगुणा ने पूरे हिमालय क्षेत्र में 'चिपको आन्दोलन' की विचारधारा के प्रचार-प्रसार हेतु 120 दिन का अपना लम्बा पैदल मार्च किया। जिसने इस आन्दोलन को एकाएक प्रसिद्ध कर दिया, वह इस क्षेत्र में आकस्मिक बाढ़ों का कोई दशक पुराना इतिहास था। पेड़ों को काटकर सफाया कर देने से पहाड़ी ढलानों से उनका वन-आवरण छिन गया था, जिससे पानी तेजी से बहने लगा था। इस क्षेत्र में सड़क-निर्माण कार्य ने भी भू-स्खलन पैदा किया था। 'चिपको' आरम्भ किए जाने से पूर्व कुछ लामबंदी गतिविधियाँ पहले ही शुरू की जा चुकी थीं। पर्यावरण निम्नीकरण, आपदाओं और परिरक्षण के सम्बन्ध में यह बाढ़-राहत कार्य सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं तथा बाढ़ में फँसे लोगों को एक ससंवाद संबंध के तहत ले आया। इससे आन्दोलन की पर्यावरण कार्य-सूची को मज़बूती मिली। 1974 में, सी.पी. भट्ट ने रेनी वन क्षेत्र में 'चिपको' संघर्ष को फिर से शुरू किया। उन्होंने महिलाओं का आह्वान किया कि यदि वे पेड़ों को काटने आएँ तो पेड़ों को आलिंगनबद्ध कर लो। अलकनंदा नदी के निकट रेनी वन में 2500 नीलाम हो चुके वृक्षों को काटने का एक प्रयास, ग्राम लता में महिला नेत्री गौरा देवी द्वारा विफल कर दिया गया। उनके नेतृत्व में लगभग 30 महिलाओं की एक टोली ने अपनी जान पर खेलकर पेड़ों को बचाया। 'चिपको' कार्यकर्त्ताओं के इस दुराग्रह के चलते, रेनी में दस वर्षों के लिए वृक्ष-कटाई पर सरकारी रोक लगा दी गई। जब भी आवश्यकता पड़ी, ये महिलाएँ समय-समय पर पेड़ों को बचाने आगे आयीं – 1975 में गोपेश्वर में, जनवरी 1978 में भिंडर घाटी में, 1979 में परसारी में और फरवरी 1980 में डोंगरी पैन्तोली में। इस प्रकार, चिपको-प्रदर्शन, विरोध-प्रदर्शन और प्रतिरोध इस क्षेत्र में आए दिन होने लगे।

इस प्रकार, 'चिपको आन्दोलन' निहित स्वार्थों द्वारा पर्यावरण विनाश एक प्रति लोगों के अहिंसात्मक विरोध का एक अच्छा उदाहरण बन गया। यह आन्दोलन स्वत: प्रसूत था चूँकि बिना किसी केन्द्रीकृत संगठनात्मक तन्त्र वाले प्रायिक नेतृत्व, समर्थन अथवा मार्गदर्शन के विशाल संख्या में आम पर्वतीय जनता सामने आ गई थी। इस आन्दोलन ने आम आश्रित जनता के जीवन के मृदा, जल और वृक्ष जैसे पुनर्नवनीय संसाधनों के मामले पर केन्द्रीय स्थिति के अनुरूप कार्य किया। 'चिपको' दूरस्थ, उपेक्षित पहाड़ियों से आती एक आवाज़ के रूप में उठा। इस क्षेत्र के पर्यावरण के साथ बड़ी निकटता से जुड़े जीवन व आजीविका हेतु गंभीर दिलचस्पी ने इस आन्दोलन की सतत् गति को दिशा प्रदान की। ठेकेदारों द्वारा वाणिज्यिक शोषण से स्थानीय वन संसाधनों को बचाने में 'चिपको' सफल रहा और उसने स्थानीय वन-सम्पदा को स्थानीय ग्राम समुदायों के नियंत्रण में लाने का प्रयास किया। यह संघर्ष, बहरलाल, इस क्षेत्र में उस "वन-आवरण के भयप्रद अवक्षय" रक्षा करने में पूर्णत: सफल नहीं हो सका जो कि बाढ़, भू-स्खलन, मृदा अपरदन, स्थानीय जलधाराओं व अन्य स्रोतों का सूख जाना तथा ईंधन व चारे की कमी आदि के लिए वस्तुत: उत्तरदायी है। इस आन्दोलन में पर्वतीय महिलाओं ने महती भूमिका निभायी और इसे जनता के सच्चे पर्यावरण आन्दोलन का लक्षण प्रदान किया।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) पर्यावरण के आन्दोलन के प्रकारों की पहचान करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) पर्यावरणीय विषयों के अन्तर्राष्ट्रीयकरण से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) पर्यावरण आन्दोलन के प्रभाव का विश्लेषण करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

27.6 सारांश

पर्यावरण आन्दोलन संसाधनों के बुद्धिहीन व अपव्ययुक्त प्रयोग के परिणामस्वरूप उद्‌गमित हुए हैं, राजनीतिक शासन-प्रणाली का चाहे कोई भी प्रकार रहा हो। पर्यावरण से लाभान्वितों व उससे अलाभान्वितों का एक नया वर्ग उद्‌गमित हुआ है। इसने भूमण्डलीय मानव समाज को आर्थिक विकास व पर्यावरणीय निरन्तरता की विषय-वस्तु पर बहस के लिए उन्मुख किया है। पर्यावरणीय निम्नीकरण के विरुद्ध जन-आंदोलन निहित स्वार्थों – नौकरशाह, पूँजीपति व राजनीतिज्ञ-तंत्र के विरोध का सामना करता है। तथापि, पर्यावरण आन्दोलन पर्यावरणीय विषयों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करने, पर्यावरण के बारे में जन-चेतना का स्तर उठाने, तथा नीति पहल-शक्तियों पर प्रभाव डालने में सक्षम रहा है।

27.7 शब्दावली

ओज़ोन : ऑक्सीजन से बनी, एक क्लोरीन जैसी गंध वाली रंगहीन गैस।

जैवमण्डल : पृथ्वी का वह भाग और उसका वायुमण्डल जिसमें जीवित वस्तुएँ/ प्राणी रहते हैं।

प्रदूषण : गंदगी अथवा हानिकारक पदार्थों को मिलाकर वायु, जल व मृदा जैसी वस्तु अथवा किसी चीज को अशुद्ध अथवा अप्राकृतिक बनाना।

मरुस्थलीकरण : अत्यधिक चराई, वनोन्मूलन, भूमि का दुष्प्रयोग, भू-जल की अत्यधिक निकासी अथा जलवायु-परिवर्तनों से शुष्क व अर्ध-शुष्क क्षेत्रों में मरुस्थल का बन जाना।

महाजाल से मछली पकड़ना : अमीर, ताक़तवर मुनाफ़ाख़ोरों के स्वामित्व में रहने वाले महाजाल जैसी बड़ी नावों के प्रयोग से मछली पकड़ना जिससे बहुत अधिक मात्रा में मछलियाँ पकड़ी जाती हैं तथा छोटे, स्थानीय, पारम्परिक रूप से मछली पकड़ने वाले समुदायों के लिए थोड़ी ही रह जाती हैं।

वनोन्मूलन : अनाच्छादन अथवा कटाई द्वारा वनों का विनाश अथवा सफाया।

हरित गृह प्रभाव : कोयला व तेल जैसे जीवाश्म ईंधनों के जलाने से उत्तरोत्तर बढ़ती मुक्त होने वाली कार्बन डाइऑक्साइड जो पृथ्वी के वायुमण्डल की रक्षा करती ओज़ोन परत में छिद्र उत्पन्न करती है। सूर्य से अनछनी सीधी ऊष्मा पृथ्वी पर तापमान बढ़ा सकती है जिससे ध्रुवों पर जमी बर्फ पिघल जाएगी और बाढ़ आ जाएगी, तथा कोलकाता, मुम्बई, लन्दन, न्यूयार्क आदि जैसे बड़े शहर जल-मग्न हो जाएँगे।

27.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें व लेख

द इण्डियन पीपल'स ट्रिब्यूनल ऑन इनवाइरनमॅण्ट एण्ड ह्यूमन राइट्स, *हू बियर्स दि कॉस्ट? : इण्डिस्ट्रिलाइज़ेशन एण्ड टॉक्सिक पॅलूशन इन् दि गोल्डन कॉरिडॉर ऑव गुजरात*, मुम्बई, फरवरी, 1999।

सेंठी, हर्ष, पोन्ना विग्नराजा (सं०), *न्यू सोशल मूवमेण्ट्स, इन् दि साउथ : इम्पाउरिंग द पीपल* में "सरवाइवल एण्ड डिमोक्रेसी : ईकॉलजिकल स्ट्रगल्स इन् इण्डिया", *विस्तार*, नई दिल्ली, 1993।

शाह, घनश्याम, *सोशल मूवमेण्ट्स इन् इण्डिया : ए रिव्यू ऑव लिट्रेचर*, सेज, नई दिल्ली, 1990।

27.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) पर्यावरण के रक्षार्थ वैधानिक निकायों, गंभीर दिलचस्पी लेते नागरिकों, ग़ैर-सरकारी संस्थाओं, न्यायपालिका, आदि द्वारा किए गए प्रयास पर्यावरण आन्दोलन के रूप में जाने जाते हैं।

2) वे विकास के विरुद्ध हैं। इसकी बजाय, वे पारि-मैत्रीपूर्ण (ईको-फ्रैंडली) विकास की वकालत करते हैं।

3) "अधिकारी-वर्ग – पूँजीपतियों – राजनीतिज्ञों" का अन्तर्सम्बन्ध "लौह-त्रिभुज" के रूप में जाना जाता है। यह सामान्यत: पर्यावरण के रक्षार्थ किसी भी आन्दोलन का विरोध करता है।

4) भारत में न्यायपालिका ने पर्यावरण के रक्षार्थ बड़ी सकारात्मक भूमिका निभायी है। न्यायिक सक्रियतावाद के माध्यम से हमारी न्यायपालिका पर्यावरणीय निम्नीकरण के विरुद्ध लड़ाई में योगदान देने में सक्षम रही है।

बोध प्रश्न 2

1) पर्यावरणीय आन्दोलन तीन प्रकार के हैं : प्रथम, यह प्राकृतिक संसाधनों के प्रयोग पर समाज के विभिन्न स्तरों के विषयों को सम्बोधित करता है; दूसरा, यह विकास प्रतिरूप पर प्रश्न करता है; और तीसरा, यह पारिस्थितिक आयाम पर ज़ोर देता है।

2) बाज़ार, समाज, राज्य, विज्ञान व प्रकृति के विस्तृत विषय के साथ पर्यावरण के स्थानीय मामलों के अनुबंध पर्यावरण मामलों के अन्तर्राष्ट्रीयकरण की ओर इंगित करते हैं।

3) पर्यावरण आन्दोलन पर्यावरण के बारे में जनचेतना लाने में सक्षम रहे हैं। इन्होंने पर्यावरण के निम्नीकरण पर लगाम लगाने तथा स्थानीय पर्यावरणीय मामलों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करने की ओर उन्मुख किया है।

इकाई 28 श्रमिक और कृषक

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य

28.1 प्रस्तावना

28.2 श्रमिक आन्दोलन

- 28.2.1 औपनिवेशिक काल में श्रमिक आन्दोलन
  - i) मुद्दे और सामूहिक कार्यवाहियों के प्रकार
- 28.2.2 उपनिवेशोपरांत काल में श्रमिक आंदोलन
  - i) राष्ट्रीय स्तर
  - ii) प्रान्तीय स्तर
  - iii) राजनीतिक संरक्षण के बिना श्रमिक संघ
  - iv) श्रमिक आन्दोलनों की सीमाएँ

28.3 कृषक आन्दोलन

- 28.3.1 छोटे व ग़रीब किसानों के आन्दोलन
- 28.3.2 धनी किसानों व खेतीहरों के आन्दोलन

28.4 श्रमिक व कृषक आन्दोलनों पर उदारीकरण का प्रभाव

28.5 सारांश

28.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें व लेख

28.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

28.0 उद्देश्य

भारत में श्रमिक और किसान उनसे संबंधित माँगों हेतु लड़ने के लिए सामूहिक कार्यवाहियों में लगे रहे हैं। उनकी सामूहिक कार्यवाहियाँ भी अन्य किसी सामाजिक समूह की ही भाँति, सामाजिक व राजनीतिक आन्दोलनों में शामिल की जा सकती हैं। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद, आप समझ सकेंगे :

- श्रमिक व कृषकों के आन्दोलनों की प्रकृति;
- उनकी माँगें, समस्याएँ और नेतृत्व;
- सामूहिक कार्यवाहियों में लामबंदी के प्रतिमान;
- राज्य पर इन आन्दोलनों का असर; और
- श्रमिकों व कृषकों पर उदारीकरण का प्रभाव।

28.1 प्रस्तावना

श्रमिक और कृषक एक साथ, भारतीय समाज के विशालतम समूहों का निर्माण करते हैं। जबकि श्रमिक बृहदतः शोषित वर्ग से संबंध रखते हैं, कृषकों में ग़रीब व धनी दोनों वर्ग आते हैं। ये समूह

अपनी माँगें मनवाने के लिए सामूहिक कार्यवाहियों अथवा सामाजिक व राजनीतिक आन्दोलनों में संलग्न रहे हैं। उनके द्वारा उठाये गए मुद्दों का मुख्य लक्षण अथवा उनका नेतृत्व उस स्थान पर निर्भर होता है जो वे अर्थव्यवस्था या समाज में रखते हैं। यह इस तथ्य पर भी निर्भर करता है कि श्रमिक संगठित, असंगठित, कृषिक अथवा औद्योगिक क्षेत्रों में लगे हैं या फिर कृषक एक ग़रीब किसान है अथवा यांत्रिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अथवा पिछड़ी – सामन्ती अर्थव्यवस्था में कार्य संपादन करता धनी किसान। इस इकाई में हम भारत में श्रमिक व कृषक आन्दोलनों के महत्त्वपूर्ण अभिलक्षणों पर चर्चा करेंगे।

28.2 श्रमिक आन्दोलन

भारत में श्रमिक आन्दोलन दो चरणों में बाँटा जा सकता है– औपनिवेशिक काल और उपनिवेशोपरांत काल।

28.2.1 औपनिवेशिक काल में श्रमिक आन्दोलन

भारत में आधुनिक श्रमिक वर्ग आधुनिक उद्योगों, रेलमार्गों, डाक-तार नेटवर्क, यंत्रीकरण व खनन के विकास के साथ 19वीं सदी के उत्तरार्ध में दृष्टिगोचर हुआ। लेकिन श्रमिक आन्दोलन एक संगठित रूप में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही शुरू हुआ। संगठित मज़दूरों के संघ श्रमिक संघ (ट्रेड यूनियन) के रूप में जाने जाते हैं। अखिल भारतीय श्रमिक संघ कांग्रेस ('ऐटक') 1920 में बनाई गई। इसका उद्देश्य था – भारत के सभी प्रान्तों में सभी संगठनों की गतिविधियों में समन्वय लाना, ताकि आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक मामलों में भारतीय श्रमिक के हितों को आगे बढ़ाया जा सके। बीस के ही दशक के उत्तरार्ध में, देश में वामपंथी विचारधारा वाली शक्तियों का समेकन हुआ। 1928 में, कम्यूनिस्टों समेत वाम स्कंध 'ऐटक' के भीतर प्रभावशाली स्थिति अर्जित करने में सफल हुआ। नरमपंथियों ने अखिल भारतीय श्रमिक संघ महासंघ ('ऐटक') नामक एक नया संगठन शुरू किया। तीस का दशक भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन के विकासार्थ कोई अनुकूल काल नहीं था। कम्यूनिस्टवादी 'मेरठ षड्यंत्र' केस में आलिप्त थे और 1929 की 'बॉम्बे टैक्सटाइल्स' की हड़ताल विफल रही थी। श्रमिक संघ के मोर्चे पर गतिविधियों में सन्नाटा छा गया। इस काल की गंभीर आर्थिक मंदी ने कामगारों के विषाद को अधिक बढ़ा दिया। इसने बृहद् स्तर पर छँटनी की ओर प्रवृत्त किया। इस काल में श्रमिक-संघ आन्दोलनों का मुख्य फ़ोकस वेतनों को कायम रखना और छँटनी को रोकना रहा।

द्वितीय विश्वयुद्ध ने श्रमिक-संघ नेताओं को विभाजित कर दिया। कम्यूनिस्टवादियों का तर्क था कि 1941 में सोवियत संघ पर नाज़ियों के हमले के साथ ही युद्ध का स्वरूप साम्राज्यवादी युद्ध से जनसाधारण के युद्ध में बदल चुका है। कम्यूनिस्टवादी 'रशियन कम्यूनिस्ट पार्टी' की विचारधारा पर चल रहे थे और उनका विचार था कि बदली परिस्थितियों में श्रमिकों का कर्त्तव्य है कि वे ब्रिटिश युद्ध-प्रयासों का समर्थन करें। लेकिन राष्ट्रवादी नेता ब्रिटिश शासन को भारत से उखाड़ फेंकने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन को मज़बूती प्रदान करना चाहते थे। वैचारिक मनमुटाव ने श्रमिक-संघ आन्दोलन में एक और दरार डाल दी। जीवनयापन के बढ़ते खर्चों ने राहत सुनिश्चित करने हेतु एक संगठित प्रयास की आवश्यकता का अहसास करा दिया। सरकार द्वारा भारतीय रक्षा अधिनियमों – जिन्होंने हड़ताल व तालाबन्दी पर प्रतिबन्ध लगा दिया, का आश्रय लिए जाने के बावजूद संघों व संगठित श्रमिकों, दोनों की संख्या में अवगम्य वृद्धि हुई।

i) मुद्दे और सामूहिक कार्यवाहियों के प्रकार

मुख्य मुद्दे जिनको लेकर श्रमिकों ने हड़तालें कीं, में शामिल थे : वेतन, बोनस, कार्मिक विभाग, अवकाश व कार्य के घण्टे, हिंसा व अनुशासनहीनता, औद्योगिक व श्रम-नीतियाँ, आदि। अपनी समस्याओं का समंजन कराने के लिए ये कामगार विभिन्न प्रकार की सामूहिक कार्यवाहियों का आश्रय लेते हैं। ये हैं : काम रोको, सत्याग्रह, भूख-हड़ताल, बंद व हड़ताल, घेराव, प्रदर्शन, सामूहिक आकस्मिक अवकाश, नियमानुसार कार्य-हड़ताल, विद्युत् आपूर्ति काट देना, आदि। श्रमिकों की सामूहिक कार्यवाहियों का सर्वाधिक सामान्य रूप हड़ताल ही है। स्वतंत्रतापूर्व काल में रेल, जूट, बाग़ान, खान व वस्त्रोद्योग कर्मचारियों की हड़तालों के उदाहरण मिलते हैं। इन हड़तालों के केन्द्र थे – नागपुर, अहमदाबाद, बम्बई, मद्रास, हावड़ा और कलकत्ता। 1920 में गाँधीजी ने अहमदाबाद के वस्त्रोद्योग की हड़ताल में हस्तक्षेप किया और कर्मचारियों को नेतृत्व प्रदान किया।

28.2.2 उपनिवेशोपरांत कालं में श्रमिक आंदोलन

i) राष्ट्रीय स्तर

स्वतंत्रता के बाद श्रमिकों की ऊँची आशाएँ चूर-चूर हो गईं। बेहतर मज़दूरी व अन्य सेवा शर्तों के सम्मुख शायद ही कोई सुधार हुआ हो। तीन केन्द्रीय श्रमिक-संघ संगठनों का जन्म हुआ। कांग्रेस पार्टी द्वारा आरम्भ की गई भारतीय राष्ट्रीय श्रमिक संघ कांग्रेस ('इंटक') का जन्म 1947 में हुआ। 1948 में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ने हिन्द मज़दूर सभा (एच.एम.एस.) की शुरुआत की। जो उनके पास पहले ही था उसे कायम रखने के लिए भी श्रमिकों को कड़ा संघर्ष करना पड़ा। हड़तालों के सिलसिले ने देश को हिलाकर रख दिया। 1947 में सबसे अधिक संख्या में हड़तालें हुईं, यथा, 1811 हड़तालें जिनमें 1840 हज़ार श्रमिक शामिल थे। हड़तालों और गँवाए गए श्रम-दिवसों की संख्या ने पिछले सब रेकार्ड तोड़ दिए। पचास के दशक में इसमें कमी आई, परन्तु साठ-सत्तर के दशक में हड़तालों व तालाबंदियों की संख्या फिर बढ़ गई। 1947 में कुछ उग्र उन्मूलनवादियों ने संयुक्त श्रमिक संघ कांग्रेस ('यूटक') बनाई। 1964 के बाद जब भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी में विभाजन हुआ और भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) का जन्म हुआ, इसी प्रकार 'ऐटक' नियंत्रित कम्यूनिस्टों में फूट पड़ी और 1970 में भारतीय श्रमिक संघ केन्द्र ('सीटू') का जन्म हुआ। वे 'भाकपा' और 'माकपा (मा.)' से सम्बद्ध हैं।

1994 में मुख्य श्रमायुक्त द्वारा ज़ारी किए गए अंतरिम आँकड़ों के अनुसार, 'भाजपा' से संबद्ध भारतीय मज़दूर संघ (बी.एम.एस.) ने कुल 31.17 लाख श्रमिकों की सदस्यता अर्जित कर सर्वोच्च स्थान सुनिश्चित किया है। कांग्रेस से सम्बद्ध एक निकाय 'इंटक' ने कुल सदस्य-संख्या 27.06 लाख के साथ दूसरा स्थान बनाया है। तीसरा स्थान है 'माकपा' से संबद्ध 'सीटू' के पास, कुल सदस्य संख्या 17.98 लाख के साथ। चौथा स्थान एच.एम.एस. के पास है। अंतरिम आँकड़ों के अनुसार, कांग्रेस से सम्बद्ध 'इंटक' का प्रभाव कमज़ोर हुआ लगता है। साथ ही, 'सीटू', एच.एम. एस. और 'ऐटक' जैसे संगठनों का प्रभाव बढ़ा है।

ii) प्रान्तीय स्तर

साठ के दशक की एक और उल्लेखनीय घटना थी मद्रास में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डी.एम.के.) और ऑल इण्डिया मुनेत्र कड़गम (ए.आई.डी.एम.के.) जैसे क्षेत्रीय दलों के श्रमिक संघों का उदय। शिव सेवा का जन्म 1967 में बम्बई में हुआ। इसने शीघ्र ही 'भारतीय कामगार सेना' के नाम से अपना श्रमिक स्कंध खड़ा कर लिया। सामान्यत: यह माना जाता था कि श्रमिक संघों में कम्यूनिस्टवादियों

और समाजवादियों के प्रबल प्रभाव का सामना करने के लिए बम्बई-पुणे कठिबन्ध में शिव सेना को औद्योगिक घरानों का समर्थन प्राप्त था। वह इस उद्देश्य की प्राप्ति में सफल हुई और उसके श्रमिक संघों ने सत्तर के दशक-मध्य तक बम्बई क्षेत्र में अपना वर्चस्व कायम कर लिया। सेना के नेतृत्व वाले संघ की पूर्व-सत्ता को एक प्रतिष्ठित इंटक-नेता, दत्ता सामन्त द्वारा सफलतापूर्वक चुनौती दी गई। 1975 में जब आपात्स्थिति लागू की गई, उसने अपनी युयुत्सा का जोश कम करने से इंकार कर दिया। उसको गिरफ़्तार कर जेल भेज दिया गया। तब वह एक कांग्रेस विधायक था। 1977 में जब आपात् स्थिति उठा ली गई, जेल से बाहर आने के बाद वह और भी मशहूर हो गया। सत्तर के दशकांत तक वह बम्बई-पुणे कटिबन्ध में सर्वाधिक सशक्त श्रमिक-संघ नेता बन गया। वर्ष 1978 में महाराष्ट्र गिरनी कामगार यूनियन (एम.जी.के.यू.) नामक एक स्वतंत्र संघ स्थापित करने के लिए उसने कांग्रेस व 'इंटक' दोनों को छोड़ दिया। अपनी हत्या किए जाने तक वह बम्बई में सर्वाधिक प्रभावशाली श्रमिक-संघ नेताओं में एक रहा।

iii) राजनीतिक संरक्षण के बिना श्रमिक संघ

साठ के दशक में भी स्वतंत्र अथवा "अराजनीतिक" संघों का उद्गमन देखा गया। वे इस अर्थ में स्वतंत्र थे कि वे किसी राजनीतिक दल अथवा महासंघ के संरक्षण में नहीं थे। "अराजनीतिक" श्रमिक संघों के ये स्वरूप राजनीतिक दलों से संरक्षणप्राप्त विद्यमान श्रमिक संघों के साथ श्रमिकों के असंतोष के फलस्वरूप उभरे। इन संघों का नेतृत्व बृहदत: शिक्षित मध्यवर्गों से निकलकर आया। अभियांत्रिकी, रासायन, मुद्रण व संबद्ध उद्योगों में इन स्वरूपों के तहत आने वाले पूर्ववर्ती संघों में एक है – आर.जे. मेहता के नेतृत्व वाली इंजीनियरिंग मज़दूर सभा। दत्ता सामंत ने अनेक संघों की शुरुआत की जैसे– एसोसिएशन ऑव इंजीनियरिंग वर्कर्स, मुम्बई जेनरल कामगार यूनियन, महाराष्ट्र गिरनी कामगार यूनियन। शंकर गुहा नियोगी और ए.के. रॉय भी स्वतंत्र संघों के नेताओं के रूप में लोकप्रसिद्ध हुए। एक प्रतापी संघ के अन्दर रहकर, नियोगी ने मध्यप्रदेश में भिलाई के नज़दीक दल्ली राजहरा की लौह-अयस्क खदानों में ठेका-मज़दूरों पर ध्यान केन्द्रित किया। जबकि 'ऐटक' और 'इंटक' भिलाई इस्पात संयंत्र के स्थायी व बेहतर वेतन वाले श्रमिकों की समस्याओं के प्रति गंभीर थे, उन्होंने क्षेत्र में लघु- व मध्यम-उद्योगों में नियोजित अनियत श्रमिकों पर ध्यान केन्द्रित किया। 1990 में नियोगी की हत्या कर दी गई। इस प्रकार का एक अन्य उदाहरण है – ए.के. रॉय, जिसने बिहार के धनबाद-झरिया कटिबंध में कोयला-खदान श्रमिकों को संगठित किया। रॉय का समर्थनाधार इन कोयला-खदानों में ठेके पर और अनियत श्रमिकों के बीच भी था। रॉय को स्थायी जनजातीय खदान-श्रमिकों की एक बड़ी संख्या से भी समर्थन मिला क्योंकि इन क्षेत्रों में संचलित श्रमिक संघों ने उन्हें संतुष्ट नहीं किया। इस प्रकार का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उदाहरण था – इला भट्ट द्वारा बनाया गया स्व-नियोजित महिला संघ ('सेवा' – SEWA)। इला ने 'सेवा' की स्थापना इसलिए की क्योंकि उन्हें लगता था कि संगठित क्षेत्रों में ये संघ महिला श्रमिकों के सामने आने वाली समस्याओं के प्रति संवेदनशील नहीं हैं। स्वतंत्र संघों के मात्र यही उदाहरण नहीं हैं।

राजनीतिक दलों से ग़ैर-संरक्षणप्राप्त संघ द्वारा शुरू किए गए आन्दोलन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरणों में से एक था – बम्बई में 1982 की वस्त्रोद्योग श्रमिकों की हड़ताल। 'इंटक' से सम्बद्ध राष्ट्रीय मिल मज़दूर संघ (आर.एम.एम.एस.) के साथ असंतुष्ट, बम्बई में वस्त्रोद्योग के श्रमिकों ने दत्ता सामन्त के नेतृत्व में एम.जी.के.यू. के पीछे एकजुट हुए। 18 जनवरी, 1982 को बम्बई के वस्त्रोद्योग श्रमिक अनिश्चितकालीन हड़ताल पर चले गए। श्रमिकों की माँगों में शामिल थे – बेहतर वेतन, बदली (अस्थायी) श्रमिकों को स्थायी करना, अवकाश- व मात्रा-भत्ते और घर-किराये का भुगतान। वस्त्रोद्योग के अलावा अन्य क्षेत्रों के श्रमिक भी दत्ता सामन्त के पीछे एकजुट हो गए। उद्योगपतियों ने हड़ताल के प्रति दुराग्रहपूर्ण प्रवृत्ति अपना ही। इस हड़ताल ने श्रमिकों को दरिद्रता के कगार पर ला खड़ा किया।

हड़ताल के उन ग्रामीण क्षेत्रों पर अपने अप्रत्यक्ष प्रभाव थे जहाँ से ये श्रमिक सम्बन्ध रखते थे। ये वस्त्रोद्योग श्रमिक ग़रीब किसान अथवा छोटे खेतिहर भी थे जिनके शहरों और गाँवों दोनों में संबंध थे। दत्ता सामन्त कृषिक श्रमिकों के वेतन जैसे ग्रामीण विषयों को वस्त्रोद्योग श्रमिकों के वेतनों से जोड़ने में सक्षम थे। यह हड़ताल, बहरहाल, श्रमिकों की मूल माँगों को मनवाने में सफल नहीं हुई। परन्तु इसने दत्ता सामन्त को बम्बई में सर्वाधिक प्रभावशाली श्रमिक-संघ नेता के रूप में उभरने में मदद की।

iv) श्रमिक आन्दोलनों की सीमाएँ

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन के सामने अनेक ख़ामियाँ हैं। कामगार वर्ग का मात्र एक छोटा-सा भाग ही संगठित है। संगठित क्षेत्र में भी श्रमिकों का बृहदाकार भाग श्रमिक संघ आन्दोलन में भाग नहीं लेता है। भारतीय अर्थव्यवस्था मुख्यत: कृषि आधारित है। छोटे किसान व कृषिक श्रमिक मौसमी बेरोज़गारी और कम आय की समस्याओं का सामना करते हैं। रोज़गार की तलाश में वे शहर जाने को बाध्य होते हैं। इनमें से अधिकांश श्रमिक निरक्षर और ज्ञानहीन होते हैं और अंधविश्वासों में जकड़े ये लोग पलायनवादी प्रवृत्ति रखते हैं। इन श्रमिकों का एक हिस्सा श्रमिक संघ आन्दोलन में अधिक रुचि नहीं दर्शाता है क्योंकि उनके लिए शहरी जीवन एक अस्थायी अवस्था है। इसलिए वे श्रमिकों के बीच एकता के महत्त्व को महसूस ही नहीं करते। यह सत्य है कि भारत में श्रमिक वर्ग जनसंख्या का एक बहुत छोटा-सा भाग है, परन्तु मुख्य समस्या है श्रमिक संघों का बाहुल्य। भारतीय श्रमिकों की चंदा-दर बहुत कम है। यह श्रमिक संघों को बाहरी वित्त और प्रभाव पर निर्भर बना देता है। तथापि श्रमिक संघ आन्दोलन की एक अन्य कमज़ोरी रही है – बाहर से नेतृत्व का प्रभुत्व। इसके लिए मुख्य कारण रहा है – श्रमिकों के बीच शिक्षा का अभाव। अधिकांशत: नेतृत्व व्यावसायिक राजनीतिज्ञों द्वारा प्रदान किया जाता है। यह उत्तरोत्तर तेजी से महसूस किया जा रहा है कि कामकाजी वर्ग आन्दोलन को श्रमिक-श्रेणियों के उन लोगों द्वारा नेतृत्व प्रदान किया जाए जो कामकाजी वर्ग के सामने आने वाली समस्याओं व मुश्किलों से भिज्ञ हों। राजनीतिक नेतृत्व श्रमिकों की आवश्यकताओं व कल्याण को अनदेखा करता है और संगठन का प्रयोग राजनीतिक दल के स्वार्थ हेतु करता है।

बोध प्रश्न 1

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारत में श्रमिक आन्दोलन के मुख्य विषय को पहचानें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) "अराजनीतिक" श्रमिक संघों के उदय हेतु क्या कारण थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन की मर्यादाओं की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

28.3 कृषक आन्दोलन

कृषक भूमि संबंधी वे वर्ग हैं जो कृषि से बतौर काश्तकार अथवा भू-स्वामी जुड़े हैं, और खेतीबाड़ी के कामों में भाग लेते हैं। वे एक पृथक्त समूह हैं। पिछड़ी और सामंती कृषि में, वे ज़मींदारों की ज़मीन को काश्तकारों के रूप में जोतते हैं। अधिक उन्नत कृषि में, जहाँ काश्तकार भूमि-सुधार लागू होने के बाद भू-स्वामी बन गए हैं, वे ज़मीन के मालिक हैं। वे किसान जिनके भू-संसाधन उनकी मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है, और जो अपने खेतों में काम करने के अलावा दूसरों के लिए भी बतौर श्रमिक काम करते हैं, ग़रीब व छोटे किसान हैं। वे किसान जो वेतन के लिए काम नहीं करते, बल्कि कृषि से संबंधित पर्याप्त संसाधन रखते हैं, धनी और मध्यम किसान अथवा खेतिहर हैं। वे या तो ज़मीन पर काम करने के लिए मुख्यत: परिवार के श्रम पर निर्भर करते हैं अथवा इस काम में परिवार के बाहर से भाड़े के मज़दूरों को भी शामिल कर सकते हैं। इस पाठांश में आप छोटे व ग़रीब किसानों और धनी किसानों अथवा खेतिहरों के आन्दोलनों का अध्ययन करेंगे।

28.3.1 छोटे व ग़रीब किसानों के आन्दोलन

स्वतंत्रतापूर्व काल और स्वतंत्रोत्तर काल, दोनों में अनेक किसान आन्दोलन हुए। पूर्ववर्ती के कुछ उदाहरण हैं – 1920 में अवध आन्दोलन (यू.पी.), खेड़ा व बारदोली (गुजरात) तथा चम्पारण (बिहार) आन्दोलन और मोपला विद्रोह। स्वतंत्रोत्तर काल के मुख्य उदाहरण हैं – तेलंगाना (आन्ध्र प्रदेश), और तिभागा तथा नक्सलवादी (पश्चिम बंगाल) आन्दोलन।

स्वतंत्रतापूर्व काल में किसान दयनीय सामाजिक व आर्थिक स्थितियों में रह रहे थे। वे एक जाति-समूह द्वारा शोषित किए जाते थे, यथा, ज़मींदार व उनके अभिकर्त्ता, साहूकार और औपनिवेशिक राज्य के अधिकारी। ये ज़मींदार किसानों पर लगान बढ़ाते ही रहते थे, बलात् उपहार लेते थे और उनसे बेगार वसूलते थे। यह सब चुकाने में किसानों की असमर्थता प्रायिक अकालों व सूखे से कई गुना बढ़ जाती थी जो उन्हें बुरी तरह प्रभावित करती थी। लगान चुकाने और अपने भरण-पोषण की आवश्यकताएँ पूरा करने के लिए वे साहूकारों के भारी कर्ज़ में डूबे रहते थे। जब ये किसान लगान, सेवाएँ अथवा बेगार नहीं चुका पाते थे, उन्हें उनकी भूमि से बेदख़ल कर दिया जाता था। उन्हें शारीरिक रूप से भी उत्पीड़ित किया जाता था। फसलों के वाणिज्यीकरण, और नए भू-नियमों के प्रचलितीकरण ने उनकी दशा को और अधिक बिगाड़ दिया। किसानों ने ज़मींदारों, साहूकारों और औपनिवेशिक राज्य के एजेण्टों के विरुद्ध क्रांति करके प्रतिक्रिया व्यक्त की। किसान आन्दोलनों में नेतृत्व या तो ग्रामीण बुद्धिजीवी-वर्ग अथवा शहरी बुद्धिजीवी-वर्ग द्वारा प्रदान किया गया। अवध किसान आन्दोलन के नेता, बाबा राम चन्द मूल रूप ग्रामीण बुद्धिजीवी थे।

ये किसान किसी न किसी संगठन द्वारा लामबन्द किए जाते थे। यदि कोई संगठन नहीं भी होता था, तो कृषकों का अनौपचारिक नेटवर्क जैसा कोई संगठन और उनका नेता ही संगठन बतौर काम करता था। यह विशेषत: स्थानीय विद्रोहों के लिए सत्य था। अनौपचारिक नेटवर्क अथवा संगठनात्मक ढाँचा लामबन्दी में, संदेशों के संचरण तथा रणनीतियों व कार्यक्रमों की योजना बनाने में काम करता था।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही विभिन्न राजनीतिक दल किसानों को विद्रोहों में लामबंद करने लगे। अपने समर्थनाधार को बृहदाकार देने का उद्देश्य लिए कांग्रेस ने किसानों की लामबंदी बीस के दशक से शुरू की। इसने उन किसान आन्दोलनों को परवर्ती के साथ विलय हो जाने में मदद की जो स्थानीय थे और राष्ट्रीय आन्दोलन के समानान्तर चल रहे थे। 1928 का बारदोली सत्याग्रह, लगान-नहीं अभियान ऐसे ही विलय के उदाहरण थे। लेकिन कांग्रेस ने ज़मींदारों और किसानों के बीच विवाद को तीखा होने देने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया। यह कांग्रेस जमींदारों, किसानों व अन्य वर्गों के बीच एक घालमेल पैदा करने में अधिक रुचि लेती थी।

नागरिक अवज्ञा आन्दोलन के बाद उग्र राष्ट्रवादी और किसान आन्दोलन के अनेक नेताओं ने यह धारणा रखनी शुरू कर दी कि कांग्रेस पूँजीपतियों और ज़मींदारों की हमदर्द है। उनके द्वारा किसानों के हित की रक्षा करने के लिए स्वतंत्र वर्ग संगठन और नेतृत्व विकसित करने की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। इन्हीं परिस्थितियों के चलते ही 1936 में बिहार प्रदेश किसान सभा के संस्थापक, स्वामी सहजानंद सरस्वती की अध्यक्षता में लखनऊ में प्रथम अखिल भारतीय कृषक संगठन, ऑल इण्डिया किसान सभा का निर्माण हुआ। आन्ध्र में किसान आन्दोलन के अग्रणी, एन. जी. रंगा इसके प्रथम महासचिव बने। आम माँगों की एक योजना के साथ और पूरे देश में किसानों की आकांक्षाओं को व्यक्त करते एक अखिल भारतीय संगठन का जन्म बड़े ही ऐतिहासिक महत्त्व की घटना थी। शीघ्र ही अनेक ज़िलों में ऑल इण्डिया किसान सभा की शाखाएँ स्थापित की गईं।

1937 के आरम्भ में बहुसंख्य प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के गठन ने किसान आन्दोलनों के विकास में एक नए चरण की शुरुआत को सूचित किया। चुनावों से पूर्व कांग्रेस ने किसानों की स्थिति में क्रांतिक सुधार लाने का वायदा किया था। प्रदत्त नागरिक अधिकारों में सुस्पष्ट वृद्धि हुई, जिसने किसानों की लामबंदी हेतु बेहतर अवसर प्रदान किए। अनेक कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने ऋण राहत हेतु, मंदी के दौरान गँवाई भूमियों का प्रत्यानयन, कार्यकाल की सुरक्षार्थ आदि कृषिक विधान लागू किए। परन्तु इन उपायों ने निचले स्तर के किसानों की दशा को कतई प्रभावित नहीं किया। किसानों का यह रोष अनेक विरोध सभाओं, सम्मेलनों और प्रदर्शनों में व्यक्त हुआ। उन्होंने सरकार द्वारा उठाये

गए अनेक किसान-विरोधी कदमों की आलोचना की, जैसे कृषक नेताओं की गिरफ़्तारी और किसान-सभाओं पर प्रतिबंध लगाना। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रादुर्भाव के साथ ही हुआ कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का इस्तीफ़ा और किसान सभा के नेताओं के विरुद्ध घारे दमन की शुरुआत। वर्ष 1939 में ऑल इण्डिया किसान सभा के राष्ट्रीय समागम की अध्यक्षता आचार्य नरेन्द्र देव ने की। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने किसान सभा को कांग्रेस से अलग किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया। उनके अनुसार, कांग्रेस पर दवाब बनाने के लिए एक पृथक् किसान सभा की आवश्यकता थी।

युद्ध की समाप्ति, जिसके बाद सत्ता-हस्तांतरण हेतु सौदेबाज़ी और स्वतंत्रता की आकांक्षा परिदृश्य पर उभरे, ने किसान आन्दोलनों के इतिहास में एक नई अवस्था को इंगित किया। आसन्न स्वतंत्रता ने किसान आन्दोलनों में अपने अधिकार माँगने हेतु नई उमंग भर दी थी। इनमें से कुछ आन्दोलनों का विश्लेषण हमें भारत में किसान आन्दोलनों की प्रकृति, सामाजिक आधार, उपलब्धियाँ और मर्यादाओं की पर्याप्त व पूर्ण जानकारी उपलब्ध कराता है।

बंगाल का तिभागा आंदोलन ऐसे ही आन्दोलनों में एक था। प्रान्तीय किसान सभा, बंगाल ने इस आन्दोलन को 1946 में शुरू किया। धीरे-धीरे आमतौर पर वामपंथियों का और खासतौर पर कम्यूनिस्टों का प्रभाव किसान सभा में बढ़ा। 1947 में ऑल इण्डिया किसान सभा का नेतृत्व कम्यूनिस्टों के हाथों में चला गया। कम्यूनिस्टों ने प्रांतीय किसान सभा, बंगाल का भी नेतृत्व सँभाला। इन आन्दोलनों ने जल्द ही बर्गारदारों (बटाई-काश्तकारों) और जोतेदारों (नियोक्ताओं) के बीच एक संघर्ष का रूप ले लिया। बटाई-काश्तकार दावे के साथ यह कहने लगे कि वे अपने जोतेदारों को अब अपनी फसल का आधा हिस्सा नहीं दिया करेंगे बल्कि एक-तिहाई दिया करेंगे। उन्होंने यह भी आग्रह किया कि बँटवारे से पूर्व फसल उनके खामारों (गोदामों) में जमा की जाए न कि जोतेदारों के में। ग़रीब किसानों, मध्यम किसानों और कुछ जोतेदारों के बेटों ने भी आन्दोलन का नेतृत्व किया। मध्यम किसानों ने अधिकांश नेता दिए और आन्दोलन को अंत तक समर्थन दिया। उन्हें उम्मीद थी कि ज़मींदारवाद पर भरपूर प्रहार को पराकाष्ठा पर यही ले जाएगा। धनी किसानों ने धीरे-धीरे कदम वापस खींच लिए। 1947 में जब सरकार दमन-चक्र सख्ती से चलाने लगी तो इस आन्दोलन का पटाक्षेप हो गया।

इसी प्रकार का एक अन्य आन्दोलन था तेलंगाना आन्दोलन। यह 1946 में निज़ाम शासित हैदराबाद के राजसी राज्य में शुरू किया गया। यह आन्दोलन युद्धोपरांत आर्थिक संकट के परिप्रेक्ष्य में विकसित हुआ। यह आन्दोलन जागीरदारों द्वारा बलात् वसूल किए जाने वाले अत्यधिक लगान के खिलाफ़ एक विरोध-प्रदर्शन के रूप में शुरू हुआ। आरम्भ में नेतृत्व धनी कृषकों के हाथ में था और यह आन्दोलन निज़ामशाही से संबद्ध बड़े अन्यत्रवासी ज़मींदारों के खिलाफ़ दिशानिर्देशित था। लेकिन जल्द ही यह पहल शक्ति उन ग़रीब किसानों और कृषिक श्रमिकों के हाथों में आ गई जिन्होंने ज़मींदारों की ज़मीनों, और बंजर भूमियों को घेरना और उसे अपने बीच बाँटना शुरू कर दिया। 1947 तक इस आन्दोलन ने उन ग़रीब कृषि वर्ग और कृषक श्रमिकों को लामबंद कर एक गुरिल्ला सेना गठित कर ली जिनमें अनेक लोग जनजातीय तथा अछूत थे। इस सेना ने ज़मींदारों से काफ़ी बड़ी संख्या में हथियार छीन लिए और स्थानीय सरकारी अधिकारियों को भगा दिया। उन्होंने 40,000 की जनसंख्या वाले 15,000 वर्ग मील क्षेत्र पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। इन क्षेत्रों में प्रशासन कृषक पंचायतें चलाती थीं। 1951 में स्वतंत्र भारत की सेना तेलंगाना आन्दोलन को कुचलने में सफल हो गई।

1967 में, पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग ज़िले में नक्सलबाड़ी पुकारे जाने वाले एक स्थान पर एक कृषक विरोध-प्रदर्शन शुरू हुआ। स्वाधीनता और कांग्रेस शासन से दो दशकों बाद एक बड़े स्तर

पर लोगों का मोहभंग हुआ, जो आठ राज्यों में कांग्रेस की चुनावी हार में व्यक्त हुआ। लेकिन कम्यूनिस्टों ने केरल व पश्चिम बंगाल में अच्छा काम किया। प्रति व्यक्ति आय घटने लगी और बेरोज़गारी बढ़ने लगी। 1964 में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के विभाजन से पैदा हुए सैद्धान्तिक विवादों के चलते युवा कम्यूनिस्टों के समूह ने 1967 के चुनावों में भाग लेने की 'माकपा' की नीति और बाद में अगुआ तत्त्व के रूप में कृषि-वर्ग के साथ सशस्त्र संघर्ष की आवश्यकता पर बल देने की बजाय सरकार में शामिल हो जाने के लिए उससे विरोध जताया। दार्जिलिंग ज़िले में 'माकपा' का कृषक संगठन ऐसे ही कम्यूनिस्ट नेताओं के हाथों में था। सरकार की भूमि-सुधार नीति ज़मींदारों व बड़े कृषकों से ज़मींनें लेने और ग़रीब किसानों व भूमिहीन श्रमिकों के बीच तकसीम करने में कोई खास सफल नहीं रही थी। खेतिहरों के बीच असंतोष व्याप्त था। ऐसी स्थिति में कृषक संगठन के नेताओं ने कृषक समितियों की सरकार स्थापित करने, भूमि पर जोतेदारों का स्वामित्व समाप्त करने के लिए सशस्त्र संघर्ष आयोजित करने और ज़मीन को ग़रीब किसानों और भूमिहीन श्रमिकों के बीच बाँट देने का आह्वान किया। उन्होंने प्रेरणा तेलंगाना आन्दोलन से ली थी। नक्सलबाड़ी आन्दोलन मई 1967 के तीसरे सप्ताह में अपनी पराकाष्ठा पर था। एक बड़े पैमाने पर हिंसा हुई। नक्सलबाड़ी को अपार लोकप्रियता हासिल हुई क्योंकि वह उस राज्य सरकार से लड़ रहा था जिसमें 'मापका' एक प्रमुख बहुदलीय साझेदार था और इसलिए भी कि चीन मानता था कि नक्सलवादी सही दिशा में जा रहे हैं।

यह सिर्फ़ बावन दिन चला। जुलाई 1967 में, राज्य के तत्कालीन मुख्यमंत्री, अजय मुखर्जी द्वारा भेजी गई पुलिस और परासैन्य-बल वाहिनियों ने पूरे क्षेत्र को छान मारा और विद्रोह को कुचल दिया गया। अपनी अवधि, प्रतिरोध की प्रबलता, नियंत्रित क्षेत्र अथवा दूसरे पक्ष के घायल या मृत अथवा पीड़ितों की संख्या के लिहाज से नक्सलबाड़ी एक छोटी-मोटी घटना ही थी। इन संकेतों के हिसाब से तेलंगाना एक अधिक बड़ी घटना थी। लेकिन नक्सलबाड़ी सशस्त्र किसान विद्रोह का एक प्रतीक बन गया। इसकी गूँज पूरे देश में फैल गई। इसके बाद, वे क्रांतिकारी जो उत्तरप्रदेश, बिहार, पंजाब, कश्मीर, केरल और आंध्रप्रदेश में सक्रिय हो गए, नक्सलवादियों के नाम से जाने जाने लगे। केरल, आंध्रप्रदेश और बिहार में यह एक अधिक शक्तिशाली ताकत के रूप में उभरा। नक्सलवाद के उद्‌गमन ने 'भाकपा-माले (मार्क्सवादी-लेनिनवादी)' – तीसरी कम्यूनिस्ट पार्टी, के गठन की ओर उन्मुख किया। इस पार्टी का मानना था कि समाजवाद की लक्ष्यप्राप्ति सशस्त्र संघर्ष, ज़मींदारों की ज़मींनों पर कब्ज़ा करने के लिए हिंसा के यथोचित प्रयोग और इन जमींनों को ग़रीब किसानों के बीच तकसीम करने से ही होगी। नक्सलवादी आन्दोलन उन ग़रीब किसानों और भूमिहीन मज़दूरों के लिए एक संदर्भ बिन्दु बन गया जिनको सरकार से वायदों के सिवा कुछ न मिला और जिनकी स्थिति में किसी सुधार से आसार नहीं दिखाई पड़ते थे और जो ग्रामीण प्रभुत्वसम्पन्न वर्गों के हाथों में रह उत्पीड़न झेल रहे थे। उन्हें इस लड़ाका फ़लसफ़े में आशा की किरण नज़र आयी। यह फ़लसफ़ा ग्रामीण आबादी के उस भाग को निरन्तर प्रेरणा देता रहता है जो प्राप्ति छोर पर रही थी। अनेक स्थानों पर वे रोज़गार सुरक्षा, न्यूनतम मज़दूरी, उपज के एक भाग पर अधिकार हेतु और अपनी स्त्रियों के यौन-उत्पीड़न के खिलाफ़ लड़ रहे हैं। जब वे अपने मताधिकार का प्रयोग करने जाते हैं, हिंसा की घटनाएँ होती हैं। बहुधा उन्हें अपने अधिकारों और मन-मर्यादा की रक्षार्थ हिंसा का सहारा लेना पड़ता है, जिन पर समाज में भू-स्वामित्व और प्रभुत्व रखने वाले वर्गों से ख़तरा बना रहता है। हिंसा में उनकी आस्था को बल इस बात से मिलता है कि वे राज्य और पुलिस को हमेशा समाज के भू-स्वामित्व वाले प्रबल वर्गों का साथ देते पाते हैं।

भूमिहीनों के बीच भूमि बाँटने के कथित उद्देश्य को लेकर चला, भूमि सीमन अधिनियम के नाम से जाना जाने वाला भूमि-सुधारों का द्वितीय चरण 1961 से शुरू हुआ। 1967 के नक्सलबाड़ी आन्दोलन और 1970 में अनेक राज्यों में शुरू किए गए 'भूमि हथियाओ' आन्दोलनों के पश्चात्

कठोर भूमि सीमन लागू करने की आवश्यकता महसूस की गई। 1969 के आते-पाते गृहमंत्री ने चेतावनी दी कि यदि राज्य व केन्द्र, दोनों सरकारों द्वारा कृषिक तनाव को कम करने के कदम न उठाये गए, स्थिति नियंत्रण से बाहर हो जाएगी। आपात्काल के दौरान भूमि-सुधार श्रीमती इंदिरा गाँधी के बीस-सूत्रीय कार्यक्रम का एक अनिवार्य भाग था। परन्तु इस सबके बावजूद 1977 तक केवल 40.4 लाख एकड़ भूमि ही फ़ालतू घोषित की गई, इसमें से 21 लाख सरकार द्वारा अधिगृहीत कर ली गई और मात्र 12.9 लाख एकड़ ही वास्तव में वितरित की गई। हरित क्रांति जिसका काफ़ी अभिनन्दन हुआ, ने भी उनकी दशा में कोई खास परिवर्तन नहीं किया। ग्रामीण क्षेत्रों में ग़रीबी की रेखा से नीचे आने वाले परिवारों की प्रतिशतता 1960-61 में 38.11% से 1977-78 में 48% तक चली गई है। कृषिक श्रम अब भी उनकी आय है और अधिकांश अध्ययन दशति हैं कि वास्तविक मज़दूरी और कार्यदिवसों, दोनों में उल्लेखनीय ह्रास हुआ है।

नक्सलवादी उपकरण आन्ध्रप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश और और नव-गठित झारखण्ड व छत्तीसगढ़ में भी, सक्रिय हैं। बहुधा वे बुद्धिहीन युयुत्सा में उलझ जाते हैं परन्तु वे ग्रामीण समाज के विजित लड़ाकुओं को निरन्तर प्रेरणा देते रहते हैं क्योंकि वे अधिकतर इन्हीं वर्गों द्वारा सामना की जाने वाली समस्याओं को उठाते हैं। सरकार उनके सशस्त्र संघर्ष को कानून-और-व्यवस्था की समस्या बतौर लेती है और उनके दमन के लिए पुलिस और परासैन्य बलों को अपनाती है। सरकार ने गाँवों के ग़रीबों के सामने आने वाली समस्याओं पर काम करने के लिए दृढ़ निश्चय नहीं दर्शाया है। सरकार द्वारा किए गए भूमि-सुधार किसी उल्लेखनीय तरीके से ग़रीब किसानों और भूमिहीन श्रमिकों के बीच भूमि-वितरण में सफल नहीं हुए हैं। ज़िलों को केन्द्रीय सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली निधि से ग्रामीण क्षेत्रों में ग़रीब किसानों, कृषिक श्रमिकों और शिल्पकारों की वित्तीय दशा को सुधारने के लिए श्रमिकों और शिल्पकारों की वित्तीय दशा को सुधारने के लिए प्रयास किए गए हैं। लेकिन इन निधियों के एक बड़े हिस्से का स्थानीय निहित स्वार्थों द्वारा एकाधिकार क्रय कर लिया जाता है।

कृषिक मज़दूर, ग़रीब किसान, ठेका-मज़दूर चाहे दलित हों, जनजातीय अथवा जातीय हिन्दू, अपने अधिकारों का दावा करने को संघर्ष करते रहे हैं। वे वेतन, ज़मीन, और विभिन्न प्रकार के दमन के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। उनके आन्दोलन कमज़ोर और विभाजित हैं। परन्तु इनमें निश्चित रूप से एक प्रबल शक्ति के रूप में उभरने की आंतरिक शक्ति है और उससे वे न्याय पा सकते हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) औपनिवेशिक काल में कृषकों का किस प्रकार शोषण किया गया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) तेलंगाना आन्दोलन क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) नक्सलवादी आन्दोलन पर टिप्पणी करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

28.3.2 धनी किसानों व खेतीहरों के आन्दोलन

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में ग्रामीण इलाकों में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सामाजिक समूह के आन्दोलन देखे गए जो भारत के अनेक क्षेत्रों में धनी किसान, खेतिहर, कुलक अथवा पूँजीवादी खेतिहर आदि के रूप में प्रसिद्ध थे। वे अपने-अपने क्षेत्रों में किसान संगठनों के पीछे एकजुट हुए। ये संगठन हैं – पंजाब व उत्तर प्रदेश की दो भारतीय किसान यूनियनें (भा.कि.यू.), महाराष्ट्र का शेतकारी संगठन, गुजरात का खाद्युत समाज, कर्नाटक का कर्नाटक राज्य रैथ संघ और तमिलनाडु का विवसायीगल संगम। इन संघों के सर्वाधिक प्रमुख नेता हैं – पंजाब में भूपेन्दर सिंह मान, उत्तर प्रदेश में महेन्द्र सिंह टिकैत, महाराष्ट्र में शरद जोशी और कर्नाटक में नन्दुन्जप्पा स्वामी। ये किसान अपने-अपने क्षेत्रों में ग्रामीण समाज के सर्वाधिक प्रभावशाली और संसाधनसम्पन्न वर्ग हैं। वे अधिकतर मध्यवर्ती जांतियों से ताल्लुक रखते हैं। वे सबसे ज़्यादा राज्य की नीतियों से लाभान्वित हुए हैं, खासकर भूमि-सुधार और हरित क्रांति से। वे भाड़े के मज़दूरों की मदद से परिवार के श्रमदान से भूमि जोतते हैं। वे ग्रामीण समाज में अधिकांश संसाधनों पर नियंत्रण रखते हैं, यथा भूमि, जल-संसाधन, पशुधन, ट्रैक्टर जैसी आधुनिक प्रौद्योगिकी आदि।

ग़रीब किसानों के आन्दोलनों से भिन्न धनी किसानों के आन्दोलन किन्हीं ग्रामीण शोषकों के खिलाफ़ दिशानिर्देशित नहीं हैं। वास्तव में, उनमें से एक बड़ा समूह परवर्ती से ही संबंध रखता है। ये राज्य और व्यापार की असमान शर्तों के विरुद्ध दिशानिर्देशित हैं।

उनकी मुख्य माँगें रही हैं – लाभपरक मूल्य, मूल्यपूरित निवेश, ऋणों की माफ़ी, बिजली का बिल घटाना, नहर-शुल्क में वास्तविक कमी, कृषि मूल्य आयोग में किसानों का प्रतिनिधित्व। महाराष्ट्र के अपवाद के साथ, उन आन्दोलनों ने छोटे उत्पादकों की समस्याएँ नहीं उठाईं। बल्कि, टिकैत ने भूमि अधिसीमन कानून और न्यूनतम वेतन अधिनियम को निरस्त किए जाने की माँग उठाई है।

कृषकों अथवा धनी किसानों के आन्दोलनों में लामबन्दी के सबसे आम तरीकों में शामिल हैं – रैली, सत्याग्रह, रास्ता रोको, गाँव बन्दी (गाँवों में बाहरी व्यक्तियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध) और सार्वजनिक सम्पत्ति पर हमला। कभी-कभी ये हिंसा में परिणत होते हैं। उनका "अराजनीतिक" स्वभाव, जिसका अर्थ है उनकी राजनीतिक दलों से असम्बद्धता, लामबंदी का सर्वाधिक प्रभावशाली तरीका रहा है, खासकर आन्दोलनों के आरम्भिक चरण में।

जबकि भारत में किसान आन्दोलनों के बीच अनेक सामान्य लक्षण थे, यथा, उन्होंने बाज़ारोन्मुखी माँगें उठायीं, उनकी "अराजनीतिक" प्रकृति, राज्य के विरुद्ध उनकी दिशा, लामबन्दी का प्रतिमान, उत्तर प्रदेश का भा.कि.यू. आन्दोलन नेतृत्व और पारम्परिक प्रथा की अन्तर्भाविता के लिहाज से भिन्न था। उत्तर प्रदेश भा.कि.यू. प्रमुख, महेन्द्र सिंह टिकैत खेतिहर जाटों के 'सर्व खप' के रूप में प्रसिद्ध पारम्परिक जाति संगठन के वंशागत मुखिया भी हैं। उनकी सामाजिक स्थिति ने उस समय भा.कि.यू. का नेता बनने के लिए उन्हें समर्थ बनाया जब 1987 में चरण सिंह की मृत्यु के उपरांत उत्तर प्रदेश के किसानों के पास उस क़द का कोई नेता न था। टिकैत अनेक खेतिहर जातियों के पारम्परिक नेतृत्वों अथवा खप-प्रमुखों को भा.कि.यू. के झण्डे तले लाने में सक्षम थे। इसके अलावा, भा.कि.यू. ने अपने आन्दोलन के आरंभिक चरण में दहेज़ जैसे सामाजिक मुद्दे भी उठाए।

महेन्द्र सिंह टिकैत की 'भारतीय किसान यूनियन' उस भाषा का इस्तेमाल करती है जो कृषि पर चरणसिंह के कथनांशों का आह्वान करती है। चरण सिंह तर्क दिया करते थे कि भारतीय योजना में एक शहरी पूर्वाग्रह है और वे इसे ही कृषि से संसाधनों के विपथन हेतु उत्तरदायी मानते थे। यह, बहरहाल, शरद जोशी के शेतकारी संगठन से भिन्न, औद्योगिक और शहरी भारत को ग्रामीण भारत के विरुद्ध समझने की हद तक नहीं जाता। धनी किसान संगठन धनी किसानों और ग़रीब कृषि वर्गों के हितों के बीच कोई विरोध नहीं मानते हैं। उनका तर्क है कि अलाभकारी मूल्य धनी व ग़रीब, दोनों ही को प्रभावित करते हैं। जबकि शेतकारी संगठन कृषि में वर्ग-विभाजन को छुपाने के लिए 'इण्डिया' और 'भारत' विभाजन का दिखावा करता है, भा.कि.यू. इसे पश्चिमी उत्तर प्रदेश में विद्यमान भाईचारा (भ्रातृत्व) और कृषक-स्वामित्व के आवरण में छुपाती है।

धनी किसानों का आन्दोलन आज की भारतीय वास्तविकता का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य बन चुका है। कोई भी राजनीतिक दल उन्हें नाराज़ कर ख़ामियाजा नहीं भुगतना चाहता। किसानों के लिए बिजली की दरें बढ़ाने, उर्वरकों के दाम बढ़ाने आदि पर सरकार के निर्णय पर कड़ा विरोध होता है। कई बार अपनी माँगें मनवाने के लिए वे प्याज, चीनी अथवा दूध जैसी रोज़मर्रा की वस्तुओं की आपूर्ति रोक देने का रास्ता अख़्तियार कर लेते हैं। एक बात ज़ाहिर है कि इस वर्ग की शक्ति में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। वे न सिर्फ़ श्रमिक बल का शोषण करते और अधिकांश भूमि पर नियंत्रण रखते हैं, वे अधिक से अधिक लाभ कमाने के लिए और ग्रामीण क्षेत्र में अपनी प्रभुत्वशाली स्थिति बनाये रखने के लिए भी, ग्राम पंचायत, ज़िला परिषद् सहकारियों और शैक्षणिक संस्थानों व बैंकों जैसी उत्तोलक शक्तियों पर भी नियंत्रण रखते हैं।

धनी किसान आय के अपने साधनों में विविधता ला रहे हैं। उनकी कुछ आमदनी कृषि-क्षेत्र के बाहर से भी होती है, जैसे शहरों में रोज़गार, किराया व्यापार, साहूकारी अथवा यातायात से। वे चीनी और चावल मिलों, साथ ही खाद्य प्रसंस्करण जैसे छोटे उद्योगों में भी निवेश करते हैं।

28.4 श्रमिक व कृषक आन्दोलनों पर उदारीकरण का प्रभाव

देश में आर्थिक सुधार जिन्हें उदारीकरण के रूप में जाना गया, को मुख्यत: '1990 घटनाक्रम' कहा जा सकता है। इन सुधारों का दौर पी.वी. नरसिंहा राव की सरकार के साथ शुरू हुआ। तब से आनुक्रमिक सरकारें उदारीकरण कार्यसूची के साथ ही चल रही हैं। अटल बिहारी वाजपेयी की वर्तमान सरकार भी इसी कार्यसूची के प्रति वचनबद्ध है। इस नई आर्थिक नीति के मुख्य मोरचों में हैं – रुग्ण व घाटे में चल रहे सार्वजनिक उद्यमों को बंद करना, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों से विनिवेश और उनका निजीकरण अस्सी के दशक के मुकाबले नब्बे के दशक में संगठित क्षेत्र में कुल रोज़गार की वृद्धि दर में एक उल्लेखनीय ह्रास हुआ है। वास्तव में, इस अवधि को 'रोज़गार-रहित वृद्धि का काल' कहा जाता है। रोज़गार सुरक्षा से संबंधित श्रम-कानून बदले जा रहे हैं। 'स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति योजना' के तहत अनेक कर्मचारी नौकरियों से हटाये जा चुके हैं। नियमित कर्मचारियों के स्थान पर ठेके पर और नैमित्तिक श्रमिकों को लगाने की प्रथा व्यापक हो चुकी है। राज्य बिजली बोर्डों, आई.टी.डी.सी. होटलों, बैंकों, आदि में कर्मचारियों के हितों के रक्षार्थ श्रमिक संघों ने हड़तालें की हैं। रोज़गार रहित कर दिए गए श्रमिक बल को एक सामाजिक सुरक्षा जाल प्रदान करने के लिए 1992 के आते-आते एक 'राष्ट्रीय पुनर्नवीकरण कोष' बना दिया गया।

1994 में, भारत सरकार ने मैराकस (मोरक्को) में शुल्क-व्यापार आम सहमति ('गैट') के उरुग्वे दौर पर हस्ताक्षर किए और वह विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.) का सदस्य बन गया। सरकार का यह कदम नई आर्थिक नीति के हिस्से के रूप में देखा जा सकता है। 'गैट' की पूर्व-शर्तों के अनुसार, भारत समेत विकासशील देश अर्धसाहाय्य-अनुशासन लागू करने को बाध्य हैं। उनको कहा जा रहा है कि वे किसानों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता उनके उत्पादन-मूल्य के 10% तक ही रखें। लेकिन परिदानों पर कटौती एक मुश्किल प्रस्ताव है क्योंकि कोई भी सरकार धनी किसानों को नाराज़ नहीं करना चाहती। सिंचाई जल और बिजली जैसी चीजें मुफ़्त अथवा नाममात्र मूल्यों पर मिलना ज़ारी है। किसानों के सामने आने वाली एक अन्य ग़ैर-संबंधित समस्या है – कृषि में एकस्वीकरण (पैटण्ट) का प्रवेश। किसान को स्वत: ही अगली फसल बोने के लिए संरक्षित किस्मों के खेत-संचित बीजों को प्रयोग करने की अनुमति नहीं है। उसको अपने संचित बीजों के प्रयोग हेतु हर्ज़ाना देना पड़ेगा अथवा उसके प्रजनक की स्वीकृति लेनी होगी। चूँकि अधिकांश पादप प्रजनक बहु-राष्ट्रीय कम्पनियाँ (एम.एन.सी.) हैं, उनका मूल्य उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना ही है। बीजों को पुन: खरीदने के सिवा किसानों के कोई चारा नहीं रहता। कर्नाटक में किसानों ने अपने गुस्से को व्यक्त करने के लिए कारगिल सीड्स के फार्म पर हमला किया। महाराष्ट्र और गुजरात में कपास के टर्मिनेटर सीड्स के खिलाफ़ विरोध-प्रदर्शन हुए। नई आर्थिक नीति जैसे नए घटनाक्रमों के प्रति धनी किसानों के आन्दोलनों के प्रतिक्रियास्वरूप विश्व व्यापार संगठन में शामिल भारत भी कोई अभिन्न नहीं रहा है। जबकि देश के पश्चिमी भाग में शरद जोशी ने नए घटनाक्रमों का समर्थन किया है, उत्तर में महेन्द्र सिंह टिकैत और दक्षिण में नंजुन्दास्वामी इसके आलोचक रहे हैं।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) मुख्य किसान संगठनों की उनके मुख्य नेताओं व उनके संचलन क्षेत्रों के साथ पहचान करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) धनी कृषक आन्दोलनों की मुख्य माँगें क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) कर्मचारियों पर 'नई आर्थिक नीति' का क्या प्रभाव पड़ा है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

28.5 सारांश

इस इकाई में अपने भारत में कामगारों व किसानों की सामूहिक कार्यवाहियों अथवा सामाजिक व राजनीतिक आन्दोलनों के बारे में पढ़ा। ये समूह अपनी शिकायतों के निवारणार्थ उपनिवेश काल से आन्दोलन करते रहे हैं। उन्होंने अपने संगठन बनाए और अपने नेतृत्व के आह्वान का प्रत्युत्तर दिया। कामगारों की समस्याओं में मुख्यत: शामिल थीं – वेतन, बोनस, कार्मिक (विभाग), अवकाश तथा कार्य के घण्टे, हिंसा व अनुशासनहीनता, औद्योगिक तथा श्रम नीतियाँ, आदि किसान कोई सजातीय वर्ग नहीं हैं। ग़रीब और छोटे किसान अपनी नाजुक सामाजिक व आर्थिक दशाओं से ताल्लुक़ रखते हैं। वे कृषक जिनको धनी किसान, कुलक अथवा पूँजीपति कृषक भी कहा जाता है, विकसित व वाणिज्यीकृत कृषि से संबंधित विषयों के इर्दगिर्द लामबन्द हैं। सत्तर के दशकोपरांत उन कामगारों व किसानों के संगठनों का उदय देखा गया जो किसी राजनीतिक दल से सम्बद्ध नहीं थे। ये कृषक और किसान आन्दोलन एक महत्त्वपूर्ण सीमा तक भारत में राजनीतिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं।

28.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ओम्वेद्ट, गेल, *री-इन्वेंटिंग रिवॅलूशन : न्यू सोशल मूवमेण्ट्स एण्ड द सोशलिस्ट ट्रेडीशन इन् इण्डिया,* एम.ई. शप्रे, आर्मोंक, 1993।

बर्च, बरबरो (सं.), *क्लास, स्टेट एण्ड डिवेलपमेण्ट इन् इण्डिया,* सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1992।

वर्धन, प्रणव (सं.), *पॅलिटिकल इकॉनमी ऑव डिवेलपमेण्ट इन् इण्डिया,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998।

सिंह, जगपाल, *कैपिटलिज़्म एण्ड डिपेण्डेन्स : एग्रेरियन पॉलिटिक्स इन् वेस्टर्न उत्तर प्रदेश (1951-1991),* अध्याय-V, मनोहर, नई दिल्ली, 1992।

शाह, घनश्याम (सं०), *सोशल मूवमेण्ट्स इन् इण्डिया : ए रिव्यू ऑव लिटरेचर,* सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1990।

हसन, ज़ोया (सं.), *पॉलिटिक्स एण्ड स्टेट इन् इण्डिया,* सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2000।

28.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) कामगार आन्दोलनों के मुख्य मुद्दों में शामिल हैं – वेतन, बोनस, कार्मिक (विभाग), अवकाश तथा कार्य के घण्टे, हिंसा तथा अनुशासनहीनता, औद्योगिक तथा श्रम नीतियाँ, आदि।

2) "अराजनीतिक" श्रमिक संघों का उदय इसलिए हुआ कि श्रमिक उन विद्यमान श्रमिक संघों से असंतुष्ट थे जो राजनीतिक दलों से संबद्ध थे।

3) श्रमिक संघों की निम्नलिखित मर्यादाएँ हैं : भारत में संगठित कामगार वर्ग कामगार आबादी का छोटा-सा हिस्सा है, अपर्याप्त वित्त, बाह्य नेतृत्व का प्रभुत्व; दलवाद, आदि।

बोध प्रश्न 2

1) वे एक वर्ग-समूह द्वारा शोषित किए गए, उदाहरणार्थ, ज़मींदारों व उनके एजेण्टों, साहूकारों और औपनिवेशिक राज्य के अधिकारियों द्वारा। ज़मींदार किसानों पर लगान बढ़ाते ही रहते थे, बलात् उपहार लेते थे और उनसे बेगार वसूलते थे। लगान चुकाने और अपने भरण-पोषण की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वे साहूकारों के भारी कर्ज़ से दबे रहते थे। जब किसान लगान, सेवाएँ अथवा बेगार नहीं चुका पाते थे, उनको ज़मीन से बेदख़ल कर दिया जाता था। उनको शारीरिक रूप से भी उत्पीड़ित किया जाता था।

2) 1946 में, निज़ाम शासित हैदराबाद के राजसी राज्य में तेलंगाना आन्दोलन शुरू हुआ। यह आन्दोलन जागीरदारों द्वारा बलात् अत्यधिक लगान वसूली के खिलाफ़ एक विरोध-प्रदर्शन के रूप में शुरू हुआ। आरम्भ में नेतृत्व धनी किसानों के हाथों में था और निज़ामशाही से सम्बद्ध

बड़े दूरवासी ज़मींदारों के विरुद्ध दिशानिर्देशित था। लेकिन बहुत जल्दी ही पहल शक्ति ग़रीब किसानों व कृषिक मज़दूरों के हाथों में चली गई जिन्होंने ज़मींदारों की ज़मीनें, बंजर भूमियों घेरना और उसे अपने बीच बाँट लेना शुरू कर दिया। 1947 आते-आते इस आन्दोलन ने उन ग़रीब किसानों और कृषिक मज़दूरों को लामबंद कर एक गुरिल्ला सेना गठित की जिनमें अनेक लोग जनजातीय और अछूत थे। इस सेना ने ज़मींदारों से भारी मात्रा में हथियार छीन लिए और स्थानीय सरकारी अधिकारियों को भगा दिया। उन्होंने 40,000 की आबादी वाले एक 15,000 वर्ग मील क्षेत्र पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। इन क्षेत्रों में प्रशासन कृषक सोवियतों द्वारा चलाया जाता था। 1951 में स्वतंत्र भारत की सेना तेलंगाना आन्दोलन को कुचलने में कामयाब हो गई।

3) नक्सलबाड़ी आन्दोलन उत्तरी बंगाल के नक्सलबाड़ी क्षेत्र में जन्मा। यह ज़मींदारों और राज्य-अभिकर्त्ताओं के विरुद्ध दिशानिर्देशित था। यह आन्दोलन हिंसा के सिद्धांतों पर आधारित था। यह आन्ध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश और बिहार जैसे अन्य राज्यों में फैला हुआ था।

बोध प्रश्न **3**

1) ये हैं – पंजाब और उत्तरप्रदेश में दो भारतीय किसान यूनियनें (बी.के.यू.) क्रमश: भूपेन्दर सिंह मान और महेन्द्रसिंह टिकैत के नेतृत्व में; शरद जोशी के नेतृत्व में महाराष्ट्र में शेतकारी संगठन; प्रो. नन्दुंज्जप्पा स्वामी के नेतृत्व में कर्नाटक में कर्नाटक राज्य रैथ संघ; गुजरात में खाद्युत समाज; और तमिलनाडु में विवसायिगल संगम।

2) उनकी मुख्य माँगें रही हैं – लाभपरक मूल्य, मूल्यपूरित निवेश, ऋणों को माफ़ करना, बिज़ली का बिल घटाना, नहर-शुल्क में वास्तविक कमी, कृषि मूल्य आयोग में किसानों का प्रतिनिधित्व। महाराष्ट्र के अपवाद के साथ, इन आन्दोलनों ने छोटे उत्पादकों की समस्याएँ नहीं उठाईं। बल्कि, टिकैत ने भूमि अधिसीमन कानूनों और न्यूनतम वेतन अधिनियम को निरस्त कर देने की माँग की।

3) श्रमिकों पर 'नई आर्थिक नीति' का प्रभाव इस प्रकार से प्रतिबिम्बित होता है – उनकी भौतिक दशाओं में गिरावट, निजीकरण, छँटनी और स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति योजना, आदि।

इकाई 29 भूमण्डलीकरण और उदारीकरण

इकाई की रूपरेखा

29.0 उद्देश्य
29.1 प्रस्तावना
29.2 भूमण्डलीकरण : अर्थ और उपगमन
  29.2.1 अर्थ
  29.2.2 लक्षण
  29.2.3 उपगमन
29.3 भूमण्डलीकरण और विश्व-प्रणालियाँ
  29.3.1 विश्व-प्रणालियाँ : पूँजीवादी, समाजवादी और मिश्रित अर्थव्यवस्था
  29.3.2 भूमण्डलीकरण के अन्तर्गत विश्व-प्रणालियों का रूपान्तरण
  29.3.3 व्यापार का क्षेत्रीकरण और निवेश प्रवाह
29.4 उदारीकरण
  29.4.1 अर्थ
  29.4.2 राज्य से विपणन की ओर विचलन
  29.4.3 उदारीकरण के पक्ष
29.5 भूमण्डलीकरण, राष्ट्र-राज्य और सम्प्रभुता
  29.5.1 राष्ट्र-राज्य और सम्प्रभुता की बदलती-संकल्पना
29.6 भूमण्डलीकरण का प्रभाव
  29.6.1 आर्थिक
  29.6.2 राजनीतिक
  29.6.3 सांस्कृतिक
29.7 भारतीय राज्य की प्रतिक्रिया
  29.7.1 भूमण्डलीकरण के मानदण्ड
29.8 भारत में उदारीकरण और भूमण्डलीकरण पर तर्क-वितर्क
  29.8.1 अर्थव्यवस्था का विकास
  29.8.2 बाह्य नियंत्रण
  29.8.3 बेरोज़गारी और ग़रीबी पर प्रभाव
  29.8.4 सम्पन्न व विपन्न राज्यों के बीच असमानता
  29.8.5 मूल उद्योग और आधारिक संरचना
  29.8.6 सामाजिक क्षेत्रों में निवेश
29.9 सारांश
29.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
29.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

29.0 उद्देश्य

इस इकाई का अभिप्राय आपको हमारे समय की एक महत्त्वपूर्ण घटना से परिचित कराना है जिसे भूमण्डलीकरण कहते हैं और यह भी कि उदारीकरण की नीति इसके साथ अभिन्न रूप से कैसे जुड़ी है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- भूमण्डलीकरण की ओर रुझान को समझ सकें और उसका मूल्यांकन कर सकें;
- भूमण्डलीकरण का विश्व-प्रणालियों से भेद कर सकें;
- आधिपत्य के समसामयिक रूपों को समझ सकें;
- विपणन की बढ़ी महत्ता के लिए कारणों व उसके रूपों को समझ पाएँ;
- भूमण्डलीकरण के तहत राष्ट्र-राज्य की भूमिका को सुस्पष्ट कर सकें;
- भूमण्डलीकरण के प्रभाव का निर्धारण कर सकें; और
- भूमण्डलीकरण के प्रति भारत की अनुक्रिया को ध्यान में रख सकें और उसका अनुमान लगा सकें।

29.1 प्रस्तावना

आधुनिक सभ्यता पुरुषों और महिलाओं की उत्पादन क्षमताओं में, उनके सामाजिक संबंधों और संस्थाओं में और उनके अपने और अपने आस-पास की दुनिया के बारे में सोचने के तरीके में गहरे परिवर्तन लायी है। यद्यपि, ये रूपांतरण मूल रूप से उससे आबद्ध थे जिसे राष्ट्र-राज्य के रूप में पुकारा जाने लगा। कुछ ऐसी प्रक्रियाएँ थीं जो राष्ट्र-राज्य की सीमा से परे थीं जैसे कि व्यापार; पूँजी का विस्तारण; ज्ञान की वृद्धि; विचारधाराओं का प्रसार; धर्म व मतों से सम्बद्धीकरण, संस्कृति, कलाओं, खेलों का प्रसार और कुछ अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं का उदय थी, लेकिन राष्ट्र-राज्य आकर्षण का क्रीड़ा-क्षेत्र आखिर रहा ही। यद्यपि, पिछले तीन दशकों ने इस विन्यास में कुछ मौलिक परिवर्तन देखे हैं जो विनिमय के नए व वृहद्तर जाल; लोगों, वस्तुओं व सूचना का अत्यधिक हलचल; परादेशीय सामाजिक व आर्थिक अंतर्सम्बन्ध और व्यापार, निवेश व संस्कृति के बढ़ते प्रवाहों के रूप में फलित हुए।

नए आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संस्थान उभरे हैं। इन परिवर्तनों ने गहन रूप से राष्ट्र-राज्य स्थान और भूमिका को सीमित किया है। उत्तरोत्तर रूप से आज हमारा जीवन उन घटनाओं द्वारा घनिष्ठ रूप से प्रभावित हो रहा है जो राष्ट्र-राज्य की सीमा से परे हैं। प्रौद्योगिकी और सूचना में परिवर्तनों ने अब तक सुपरिचित दूरी व समय की धारणाओं को मूलतः ही बदल डाला है। संस्कृति, अर्थशास्त्र व राजनीति के बीच संबंध को सूचना, विचारों और ज्ञान के द्रुत विनिमय द्वारा पुनर्परिभाषित किये जा रहा है। इन व्यापक परिवर्तनों को, 'भूमण्डलीकरण' शब्द द्वारा प्रग्रहित किए जाने का प्रयास किया जाता है।

29.2 भूमण्डलीकरण : अर्थ व उपगमन

गत दो दशकों के दौरान भूमण्डलीकरण को सबसे अधिक चर्चित तथ्य-घटना के रूप में जाना गया है। हालाँकि जो 'भूमण्डलीकरण' शब्द के तहत सटीक रूप से शामिल किया जाना है उस पर गहरी बहस छिड़ी है। यह एक बहु-आयामी तथ्य-घटना है जिसमें आर्थिक, राजनीतिक, प्रौद्योगिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय समेत विविध संक्रियाएँ और अंतःक्रियाएँ शामिल हैं।

29.2.1 अर्थ

एन्थोनी गिड्डन्स भूमण्डलीकरण को इस रूप में देखते हैं "विश्व-व्यापी सामाजिक संबंधों का

तीव्रीकरण जो दूरस्थ स्थानों को इस प्रकार जोड़ता है कि स्थानीय घटनाएँ मीलों दूर की घटनाओं से प्रभावित होती हैं और यही शब्दों के उल्टे क्रम में भी सत्य हैं।'' यह शब्द समकालीन जीवन के अभिलक्षणों की एक बड़ी शृंखला को शामिल कर विस्तृत रूप से प्रयोग किया जाता है। इसको समझने के लिए निर्णायक के रूप में इनमें से पाँच पर विचार किया जा सकता है :

1) विस्तृत सामाजिक संबंध

भूमण्डलीकरण में विश्व भर में फैले संबंधों के सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक जाल शामिल हैं, जो पहले से कहीं अधिक गहरे हैं। इसके अलावा वे मात्र विशिष्ट क्षेत्रों में सीमित नहीं हैं। वे पूरे विश्व को आवृत्त करते हैं, यद्यपि असमान रूप से।

2) प्रवाहों का तीव्रीकरण

भूमण्डलीकरण को सूचना, पूँजी व वस्तुओं के द्रुत प्रवाह में व्यक्त किया जाता है। ये उन जालों व अंत:क्रियाओं में फलित होते हैं जो राष्ट्र-राज्यों द्वारा किसी भी प्रभावी प्रबोधन व नियंत्रण से परे होते हैं। ये ऐसी सामाजिक अंत:क्रियाओं को जन्म देते हैं जिनको भौगोलिक व सांस्कृतिक समीपता की शायद ही आवश्यकता पड़ती है। मोबाइल फ़ोन, सेटेलाइट टेलीविज़न और इंटरनेट, जो इन प्रवाहों पर आधारित हैं, आकाशीय प्राधारों की ओर नहीं देखते जो कि अब तक संचार को जोड़ते थे।

3) वर्धमान निर्वचन

भूमण्डलीकरण के अन्तर्गत अब तक भिन्न संस्कृतियाँ व समाज एक-दूसरे के आमने-सामने आते हैं और दूसरों के सामाजिक जीवन के तरीकों में गुँथ जाते हैं। भाषा, भोजन, पोशाक व मतों के भेद सामाजिक रूप-सज्जा के संघटक बन जाते हैं।

4) भूमण्डलीय आधारिक संरचना

आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में ये औपचारिक व अनौपचारिक संस्थानिक प्रबंध ही हैं जो जाल बिछाने और प्रवाहों में मददगार हैं। उनका उपगमन राष्ट्र-राज्य के बंधनों से परे हैं। ये एक भूमण्डलीय बाज़ार में काम करने में मददगार हैं। ये क्रिया-स्थल पर परादेशीय अंत:क्रियाएँ करने की संहिताओं व नियमों को व्यक्त करते हैं। ये भूमण्डलीय शासन के तंत्र-प्रबंध प्रदान करते हैं।

5) सामाजिक संबंधों का पुनर्सूत्रीकरण

भूमण्डलीकरण के तहत सामाजिक वर्गों के बीच संबंधों को एक भूमण्डलीय पैमाने पर पैने रूप से केन्द्रित करने के लिए लाया जाता है। पूँजीवाद के पूर्व चरणों में, वर्ग संबंधों की मूल रूप से राष्ट्र-राज्य के भँवर के बीच व्याख्या की जाती थी। भूमण्डलीकरण ने प्रबल वर्गों और देशीय दरारों से निकलकर आगे बढ़ते क्षेत्रों के बीच गहरे अंतर्सम्बंध कायम किए हैं। यह राष्ट्रीय और भूमण्डलीय दोनों ही स्तरों पर नए सामाजिक स्तरों और गुटों को जन्म देता है। यह आर्थिक और सत्ता सम्बन्धों में असमानता और वर्तमान विरूपता को पुनर्सूत्रीकृत करता है।

29.2.2 लक्षण

उपर्युक्त पाँचों अभिलक्षण भूमण्डलीकृत होते विश्व के निम्नलिखित लक्षण दर्शाते हैं :

क) यह एक अन्तर्सम्बद्ध विश्व है : यह विश्व के किसी भी भाग से तत्काल संचार के तरीकों के कारण जुड़ा हुआ है। यह उन समस्याओं के कारण भी सहयोजित है जो पूरी मानवता के सामने

आती हैं। समस्याएँ जैसे कि भूमण्डलीय जलवायु परिवर्तन, आज़ोन परत का अवक्षय, नशीली दवाएँ, आतंकवाद, महासागरों का प्रदूषण आदि किसी भी राष्ट्र-राज्य की परिधि से परे हैं।

ख) भूमण्डल के एक कोने में दूरस्थ क्रियाओं की अन्य भागों में द्रुत व महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रियाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए, 1997-1998 की पूर्व एशियाई समस्या; न्यूयार्क स्टॉक मार्केट अथवा बम्बई स्टॉक मार्केट पर नास्दाक का प्रभाव आदि।

ग) कुछ समान सांस्कृतिक अभिलक्षणों में सहभागी भूमण्डलीय सामाजिक स्तर उभरे हैं। उदाहरण के लिए : अंग्रेज़ी भाषा, नीली जीन्स, स्वेट शर्ट्स आदि। ये अभिलक्षण उत्तरोत्तर रूप से राष्ट्रीय संस्कृति में पैठ करते हैं और जीवन के तरीकों, विचार व अंत:क्रियाओं की समरूपता के स्तरों को जन्म देने का प्रयास कर सकते हैं।

घ) भूमण्डलीकरण सामाजिक सम्बन्धों की सम्पूर्ण शृंखला को सुसंबद्ध रूप देता है। यह अपना प्रभाव जीवन के प्रत्येक पर डालता है। हालाँकि, इन संबंधों का ज़ोर एकसमान गति से नहीं मिल सकता। यह अत्यधिक विरूपता में फलित हो सकता है।

ङ) भूमण्डलीकरण के तहत सत्ता संबंध भूमण्डलीय स्तर पर उत्तरोत्तर रूप से सुस्पष्ट होते जाते हैं। इस उद्देश्य से नए संस्थान स्थापित हो जाते हैं।

च) संचार प्रौद्योगिकी का विकास राष्ट्र-राज्य के प्राधिकरण को गुप्त रूप से हानि पहुँचाता है और उसकी संप्रभुता को ख़तरा पैदा करता है।

छ) यह देशीय सीमाओं को लांघकर बस्तियों को विश्व से जोड़ता है।

ज) कभी-कभी एक सीमा-रेखा प्रौद्योगिकी के नियंत्रण में व्यक्तिजन और छोटे संस्थान गठबंधन करके भूमण्डलीय संगठनों की शक्ति को चुनौती दे सकते हैं। ऐसे ज्ञानाधारित उद्योग के आसपास एक नया उद्यम पनपता है।

झ) भूमण्डलीकरण के प्रचलित प्रतिमान ने आर्थिक असमानताओं को बढ़ाया है और ग़रीबों की हालत बदतर की है। इसने स्थानीय संस्कृतियों के लिए ख़तरा पैदा किया है।

ञ) भूमण्डलीकरण नए अवसर भी लाता है। यह लोगों को उपलब्ध विकल्पों की श्रेणी को उल्लेखनीय रूप से विस्तार देता है। यह कस्बा व देहात और महानगर जैसे भौगोलिक अवरोधों और संसाधनों व सूचना तक पहुँचने की परिधि तोड़ डालता है। कोई भूमण्डलीय प्रसंग के साथ सामंजस्य रखकर स्थानीय रूप से भी रह सकता है।

ट) यह भूमण्डलीय वित्त बाज़ारों का एकीकरण ही है जो अक्सर भूमण्डलीकरण का प्रमाणचिह्न रहता है। इसमें संचार के नए तरीकों की मदद से होने वाले वित्तीय लेन-देन के नए रूप शामिल हैं। इसने राष्ट्रीय स्टॉक मार्केट को कमज़ोर करने और शेयर मूल्यों, अन्तरराष्ट्रीय बैंक ऋणद, अंतरराष्ट्रीय बांड मार्केट आदि में सीमा-पार के विनियमों में भीषण वृद्धि की ओर अभिमुख किया है।

ठ) इसमें भूमण्डलीय बाज़ारों पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए संघर्ष और कुछ संगठनों में सत्ता का केन्द्रीकरण शामिल है। बहु-राष्ट्रीय निगमों (एम.एन.पी.) का उदय और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एफ.), विश्व बैंक व विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.) की नई भूमिका इसके साक्षी के रूप में आए हैं।

भ) अब तक भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया अमरीकीकरण की एक सशक्त खुराक के साथ 'कोका-कोला' और 'मैक्डोनाल्ड' जैसे प्रतीकों में व्यक्त हुई है और इसने अपना प्रभाव विश्व के अन्य क्षेत्रों पर पुख़्ता किया है।

29.2.3 उपगमन

भूमण्डलवादियों के दो प्रकार हैं सकारात्मक/आशावादी तथा नकारात्मक/निराशावादी। प्रथम् भूमण्डलीकरण के लाभों की ओर उन्मुख हैं। निराशावादी इसे दूरियाँ पाटने और समरूपता को प्रेरित करने वाले के रूप में देखते हैं। वे इसे उन्नत पूँजीवादी देशों के आधिपत्य के रूप में भी देख सकते हैं, ख़ासकर शेष विश्व पर संयुक्त राज्य अमेरिका के। उन्हें लगता है कि भूमण्डलीकरण विशाल जनसंख्या को अभावग्रस्त करेगा और विवादों को तीख़ा करेगा। इसके लाभ मूल रूप से उन्हें ही प्रोद्भूत करेंगे जो पहले से ही प्रचलित संबंधों में लाभान्वित हैं।

अ) परम्परावादी यह मानते हैं कि भूमण्डलीय स्तर पर प्रवाहों व सामाजिक संक्रियाओं में तीव्रीकरण हुआ है लेकिन भूमण्डलीकरण के तहत सामाजिक संबंधों में वे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं देखते। यह कोई नई बात नहीं है। वे यह बात दावे के साथ कहते हैं कि इतिहास में महान् दृश्य-परिवर्तनों के ऐसे अवसर आए हैं जिन्होंने विश्व को सहयोजित किया है। वे अभी तक राष्ट्र-राज्य की सतत् प्रासंगिकता को देखते हैं। राज्य सामने आने वाली नई माँगों और आवश्यकताओं का मुकाबला करने के लिए नई संस्थाएँ बना रहे हैं। यह और कुछ नहीं, पहले से ही चल रही रीतियों और प्रक्रियाओं को ज़ारी रखना है। परम्परावादी भूमण्डलीकरण और इसके प्रत्याशित लाभों के नाम पर भूमण्डलीय व्यापार के अतिक्रमण का विरोध करते हैं। वे कहते हैं इसके कारण संस्कृतियों और विशिष्टताओं को गंभीर ख़तरा है।

ब) विवर्तनवादियों का विश्वास है कि भूमण्डलीकरण ने उन आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियों को जन्म दिया है जिसमें राज्य परिचालन के लिए आमंत्रित किए जाते हैं। इसने राज्य सत्ताओं के रूपांतरण की ओर अभिमुख किया है। यह पूर्व-स्थिति से एक महत्त्वपूर्ण बदलाव है। बहरहाल, वे उभरते प्रसंग में राष्ट्र-राज्यों की एक बड़ी भूमिका मानते हैं।

उनके विचार से भूमण्डलीकरण कोई स्वरूप और विधेयात्मक प्रवृत्ति नहीं है। इसकी गति पूर्व-निर्धारित नहीं है। वे, हालाँकि, मानते हैं कि इस प्रक्रिया में बहुराष्ट्रीय निगमों (एम.एन.सी.) और अन्तर-राष्ट्रीय निगमों (टी.एन.सी.) की उपस्थिति तथा कुछ राष्ट्र-राज्यों के आधिपत्य के कारण राष्ट्र-राज्यों की स्वायत्तता सीमित है। वे विभिन्न स्तरों पर लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व विकसित करने हेतु एक अनवरत प्रयास के लिए आह्वान करते हैं और भूमण्डलीय शासन के प्रबंध-तंत्रों की योजना का अन्वेषण करते हैं।

29.3 भूमण्डलीकरण और विश्व-प्रणालियाँ

29.3.1 विश्व-प्रणालियाँ : पूँजीवादी, समाजवादी और मिश्रित अर्थव्यवस्था

आज तक लोग विश्व में प्रचलित विविध प्रणालियों के बारे में बात करते आए थे : पूँजीवादी प्रणाली, समाजवादी प्रणाली और तीसरी एक असंगत जो अनेक नामों से चलती थी जैसे मिश्रित अर्थव्यवस्था, लोकतांत्रिक समाजवाद आदि। पूँजीवादी प्रणाली में क्रय-विक्रय की स्वतंत्रता और चुनाव की स्वतंत्रता की सुविधा प्राप्त थी; समाजवादी प्रणाली राज्य स्वामित्व और उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण तथा संसाधनों के नियतन और वस्तुओं के वितरण में नियोजन पर बल देती थी; मिश्रित अर्थव्यवस्था में

निजी क्षेत्र के साथ-साथ एक राज्य क्षेत्र था। जबकि कोई भी समाज इन प्रणालियों में से किसी को भी पूरी तरह प्रतिबिम्बित नहीं करता था, विद्यमान समाजों को एक ओर अथवा दूसरी ओर अभिनत के रूप में सीमांकित किया जाता था।

29.3.2 भूमण्डलीकरण के अन्तर्गत विश्व प्रणालियों का रूपान्तरण

भूमण्डलीकरण के उदय से राज्य नियंत्रित व समाजवादी प्रणालियों ने कुछ अपवादों के साथ, विपणन शक्तियों की ओर मार्ग प्रशस्त किया है। यह सम्पूर्ण भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था में उत्तरोत्तर अन्योन्याश्रिता और एकीकरण लाया है। जबकि व्यापार अन्योन्याश्रिता की ओर जा रहा है, पूँजी प्रवाह और निवेश ने एकीकरण की ओर अभिमुख किया है। लेकिन, जबकि सामाजिक व आर्थिक जीवन के अनेक पहलुओं में बढ़ती अन्योन्याश्रिता और एकीकरण पर आम सहमति है, इसके विस्तार और दिशा पर गहरी बहस छिड़ी है।

भूमण्डलवादियों का तर्क है कि भूमण्डलीय बंधन तेज़ी से जुड़े हैं जो अन्तरराष्ट्रीय व्यापार और निवेश में व्यक्त होते हैं और उन्होंने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का स्थान लिया है और हथियाया है। परम्परावादी, हालाँकि, यह नहीं मानते कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की श्रेणी भूमण्डलीकरण द्वारा हथियाई गई है। विवर्तनवादी यह तर्क देते हैं कि यद्यपि तीव्र अन्योन्याश्रिता और एकीकरण की नई शक्तियाँ विश्व को सूचित करती हैं कि हम अभी किसी एकल प्रणाली में नहीं है। उन्हें लगता है कि स्थानीय व राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं का विग्रह और पहले से अधिक मिश्रित, अन्योन्याश्रित व असमान अर्थव्यवस्था का उभरना ऐसी बाते हैं जिनको किसी एकल प्रणाली के आवृत्त में नहीं घेरा जा सकता।

भूमण्डलीकरण के रास्ते पर चलते विश्व में पूँजीवाद का निश्चित रूप से अपना प्रभाव है। इस बात में भी शक नहीं है कि भूमण्डलीकरण का वर्तमान स्वरूप विश्वव्यापी पूर्व पूँजीवादी प्रणाली पर एक जीत है। विश्लेषक, हालाँकि, इस पर सहमत नहीं हैं :

- कि हम भूमण्डलीय प्रणाली को पूँजीवाद के नए चरण के रूप में किस हद तक अभिलक्षित कर सकते हैं;
- भूमण्डलीकरण व उसके अनुवर्ती वर्ग गुटों के तहत् वर्ग सम्बन्धों का विशिष्ट स्वभाव; और
- बाज़ार से वर्ग-संघर्ष का संबंध।

29.3.3 व्यापार का क्षेत्रीकरण और निवेश प्रवाह

अभी हाल के अध्ययन यह संकेत देते हैं कि प्रथम विश्व युद्ध से, जबकि व्यापार और समुद्रपार निवेश बढ़ा है, सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) हेतु व्यापार का अनुपात स्थिर रहा है। उत्पाद के घरेलू उपभोग के प्रतिमान में, जहाँ तक सम्भव था, कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। इसके अलावा, यद्यपि 1980 से विदेशी सीधा-निवेश (एफ.डी.आई.) में वृद्धि हुई है, उसने विश्व के पूँजी निर्माण में केवल 5.2 प्रतिशत ही योगदान किया। वित्त निवेश के संसाधन मूल रूप से घरेलू ही हैं।

आज भी, अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का लक्षण-वर्णन क्षेत्रीय व्यापार के विकास और निवेश गुटों से किया जाता है। सबसे प्रमुख समाकृतियाँ हैं – संयुक्त राज्य अमेरिका यानि उत्तर अमेरिकी मुक्त व्यापार सहमति (नाफ़टा), यूरोपीयन संघ के देश तथा जापान। नब्बे के दशकांत में उन्होंने विश्व के सकल घरेलू उत्पाद के तीन-चौथाई का हिसाब दिया और 1996 में, विश्व व्यापार प्रवाहों के 66

प्रतिशत का, यद्यपि वे विश्व जनसंख्या का 15 प्रतिशत हैं। अविकसित विश्व का एक बड़ा हिस्सा इस प्रक्रिया के बाहर है। इसके अलावा, ये तीन विशाल अर्थव्यवस्थाएँ नब्बे के दशक में व्यापार अन्योन्याश्रिता और निवेश एकीकरण के नाम पर पूर्णत: एकमत थीं। जब हम इन गुटों से परे देखते हैं तो उत्तर-दक्षिण व्यापार अभी थोड़ा ही है। 1992 में आर्थिक सहयोग व विकास संगठन (ओ.ई.सी.डी.) के देशों का विनिर्मित आयात इस देशों के सकल घरेलू उत्पाद के 2.3 प्रतिशत से अधिक नहीं था।

वास्तव में, यदि कोई प्रवृत्ति नज़र आती है वो है अभ्यन्तर, सर्वाधिक विकसित देशों में व्यापार भागीदारी के नेटवर्क का सघन होना। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएँ परिदृश्य पर निरंतर प्रमुख खिलाड़ी हैं। 1991 व 1996 के बीच संयुक्त राज्य अमेरिका, यूरोपीयन यूनियन तथा जापान ने विदेशी सीधा-निवेश के विश्व प्रवाहों के 60 प्रतिशत का हिसाब दिया।

अक्सर विदेशी सीधा-निवेश प्रवाह प्रणाली के अभ्यन्तर की परिधि से दूर होते हैं। भूमण्डलीकरण विकसित विश्व में अपने निवेश करने वालों की परिधि में अभिकर्त्ताओं के लिए यंत्र-प्रबंध और तर्काधार मुहैया कराता है। जबकि अर्थव्यवस्था का क्षेत्रीय केन्द्र-बिन्दु अक्षुण्ण है, इसी समय आर्थिक विनिमय के एक वृहद्तर पहलू पर समझौते किए जाने के प्रयास हो रहे हैं। ये इन विनिमयों को नियंत्रित करने के लिए संहिता बनाते हैं और विवादों को नियंत्रण में रखने का प्रयास करते हैं। इन समझौतों में सबसे महत्त्वपूर्ण था–1995 में विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.) गठन करना, जो अब भूमण्डलीकरण का एक मुख्य स्तंभ बन चुका है। उन वस्तुओं की एक पूरी श्रेणी जो पहले राष्ट्रीय निर्णय का हिस्सा थीं, विश्व व्यापार संगठन के सामने लाई गई हैं, जैसे कि कृषि व संबंधित संक्रियाएँ, व्यापार संबंधित निवेश मापदण्ड (ट्रिम्स), व्यापार संबंधित बौद्धिक सम्पदा अधिकार (ट्रिप्स), व्यक्तियों की सेवाओं व गतिविधियों में व्यापार, शुल्क तथा कोटा, विनिमय नियंत्रण व अधिनियम जैसे मात्रात्मक प्रतिबंधों द्वारा विदेशी प्रतिस्पर्धा की रोकथाम। ये समझौते आर्थिक सहायताओं के पक्ष में नहीं है। विपणन यंत्र-प्रबंधों से सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य निर्धारित करने की अपेक्षा की जाती है। विश्व-प्रणालियों को समझने के लिए, हम भूमण्डलीकरण की परिस्थितियों के अन्तर्गत निम्नलिखित परिवर्तनों पर ग़ौर कर सकते हैं :

क) विकसित विश्व में क्षेत्रीय स्तर पर अर्थव्यवस्था का तीव्रतर एकीकरण स्पष्ट रूप से है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था अब भी अपने धरातल पर है।

ख) विकसित विश्व ने संपूर्ण भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था के लिए संहिता, नियम व अधिनियम निर्धारित किए हैं। यद्यपि उच्चतम दमनकारी शक्ति अभी तक राष्ट्र-राज्य से संबद्ध है संयुक्त राज्य के नेतृत्व करने विकसित विश्व की इच्छाओं के विरुद्ध इसे मुश्किल से ही प्रयोग किया जा सकता है।

ग) संचार में क्रांति ने द्रुत प्रतिफलों और प्रतिशोधों के लिए एक यंत्र-प्रबंध प्रदान किया है।

घ) विकसित विश्व में दरारें हैं और विकासशील विश्व में ऐसे समाज हैं जो पूरी तरह मुख्यधारा भूमण्डलीय-प्रवृत्तियों में एकीकृत हैं लेकिन सामाजिक संबंध बहुत कुछ तरलता और असमानता द्वारा अभिलक्षित होते हैं। भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था में नए क्षेत्र स्थानीय बाज़ारों की मध्यस्थता के बिना एकीकृत किए जा सकते हैं। भूमण्डलीकृत होते विश्व का मूल विवाद जन-साधारण से है जो इसके संबंध से आकृष्ट हुए लेकिन विभिन्न वर्गों, संस्कृतियों और समुदायों में विखण्डित हो गए।

ड.) भूमण्डलीकरण की अवस्थाओं के अंतर्गत संस्कृति उद्योग विपणन के साथ विश्व को एकरूप करने का एक प्रभावशाली शस्त्र बन चुका है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भूमण्डलीकरण के मूल अभिलक्षणों को रूपांकित करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) अर्थव्यवस्था के क्षेत्रीकरण द्वारा आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

29.4 उदारीकरण

29.4.1 अर्थ

भूमण्डलीकरण के संदर्भ में, उदारीकरण का मौलिक अर्थ है–अर्थव्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर नियन्त्रणों और अधिनियमों का हटाया जाना, ताकि विपणन शक्तियाँ इसकी अग्रगति और दिशा निर्धारित कर सकें। यह आर्थिक मामलों के एक प्रतिस्पर्धात्मक विपणन समाधान और आर्थिक

प्रबंधन में राज्य की एक सीमित भूमिका के पक्ष में है। अधिक विस्तृत संदर्भ में यह शब्द नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों के प्रचलन, कानून के शासन, सत्ता को जवाबदेही, आवधिक चुनाव, बहुदलीय प्रणाली और निष्पक्ष न्यायपालिका हेतु शर्तें तैयार करने के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है। ये शर्तें जन प्राधिकरण को पारदर्शी बनाने एवं जाँच के अन्तर्गत रखने के रूप में देखी जाती हैं।

इसके मौलिक और अधिक सुपरिभाषित अर्थ में उदारीकरण व्यापार और निवेश की स्वतन्त्रता मुक्त व्यापार क्षेत्रों के सृजन; घरेलू अर्थव्यवस्था में संसाधनों के आबंटन पर से सरकारी नियंत्रण को हटाने; विदेश व्यापार एवं भुगतानों पर से प्रतिबन्धों के क्रमिक हटाव; विदेशी निवेश, ऋण एवं सहायता के विस्तरण तथा द्रुत प्रौद्योगिक प्रगति की घोषणा करता है।

उदारीकरण एक संतुलित बजट; उत्तरोत्तर कराधान में कमी, सामाजिक सुरक्षा और कल्याण तथा आर्थिक प्रबंधन में राज्य की घटती भूमिका की भी वकालत करता है। यह आर्थिक मुद्दों और राज्य संरक्षण तथा प्रशासनिक साधनों के माध्यम से संसाधन आबंटनों के पक्ष में नहीं है। इसका तर्क है कि अत्यधिक राज्य नियंत्रण से अक्षमता, भ्रष्टाचार और कुप्रबंधन शासन-प्रणाली में उतर आते हैं।

29.4.2 राज्य से विपणन की ओर विचलन

सत्तर के दशक में इस तर्क ने बहुत जोर पकड़ा कि समाजों के सामने आने वाली आर्थिक समस्याएँ सार्वजनिक क्षेत्र के पैर पसारने, पूर्ण रोज़गार की नीतियों, कराधान की उच्च दरों, उदात्त सामाजिक कल्याण लाभों और बढ़ते राज्य हस्तक्षेप के कारण हैं। यह भी तर्क दिया जाता था कि इन नीतियों ने अत्यधिक वेतन माँगों की ओर अभिमुख किया, विपणन में दृढ़ता का प्रवेश कराया, परजीविता को प्रोत्साहित किया और बचत, कार्य-निवेश करने एवं जोखिम लेने के प्रोत्साहनों को कुंद किया। वे राजनीतिक शक्तियाँ इस तर्क के पीछे एकजुट थीं जो ब्रिटेन में कन्जर्वेटिव पार्टी जैसे कल्याणकारी राज्य एवं समाजवाद की ओर अनुकूल रूप से अभिमुख थीं।

अस्सी के दशक में विश्व के बड़े हिस्सों में संसाधनों के आबंटन में राज्य से विपणन की ओर एक प्रबल विचलन हुआ। इसी के साथ आई सूचना और संचार क्रांति जो विपणन की पक्षधर थी। यह विचलन अर्थव्यवस्था के व्यापक कुनियंत्रण और कर एवं सरकारी खर्च घटाने की कार्रवाई की ओर ले गया।

उदारीकरण समर्थित विपणन की प्राथमिकता को भूमण्डलीकरण पूँजी द्वारा भरपूर खुला समर्थन दिया गया। परादेशीय उद्यम और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक जैसे बहुपक्षीय अभिकरणों ने भी उदारीकरण की नीति का अनुसरण के लिए राज्यों पर अत्यधिक दवाब डाला। 1989 में पूर्वी यूरोप में समाजवादी शासनों के विध्वंस और 1991 में सोवियत संघ के विलय को विपणन की विजय के रूप में पुकारा गया और विपणन शक्तियों को और अधिक प्रोत्साहन मिला।

29.4.3 उदारीकरण के पक्ष

उदारीकरण भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से घनिष्ट रूप से गुंथी एक वैश्विक घटना है। वास्तव में, अपने वर्तमान स्वरूप में, उदरीकरण किसी समाज में भूमण्डलीकरण के तीव्र प्रवेश के लिए स्वीकृति देने वाली स्थिति है। लेकिन प्रसंग जिनमें उदारीकरण का पालन किया गया और तरीके जो इसने अपनाये, क्षेत्रों और राज्यों के अनुसार भिन्न रहे हैं।

अ) यूरोप में उदारीकरण सार्वजनिक व्यय को घटाने, सामाजिक सुरक्षा एवं कल्याण कार्यक्रमों में कटौतियों, उत्तरोत्तर कराधानों कमी; पूर्ण रोज़गार नीतियों का त्याग, व्यापार संघों पर नियन्त्रण, लचीले श्रम बाजार तथा राज्य उद्यमों के निजीकरण की ओर ले गया है। हालाँकि उदारीकरण ने उच्च रूप से संरक्षित कृषि उत्पादन, आप्रवास नीति एवं अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की कुछ श्रेणियों, खासकर जिनमें अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी शामिल है, को प्रभावित नहीं किया।

ब) विकासशील देशों में, अब तक, आयात-निर्यात, विदेशी निवेश, प्रौद्योगिकी, श्रम बाजार और सामूहिक सौदाकारी को राज्य नियंत्रित करता था। राज्य उद्योग, कृषि, विपणन एवं वित्तीय उद्यमों की एक बड़ी शृंखला का स्वामी होता था और उन्हें नियन्त्रित करता था। सत्तर के दशक के मध्य तक इन देशों में से अधिकतर कर्ज में डूबे थे। उनमें उदारीकरण ने राज्य निर्देशित आधुनिकीकरण और औद्योगिकीकरण और औद्योगिकीकरण के पूर्व नीतियों की दिशा उलट दी।

उदारीकरण के आरम्भिक चरण में इन माध्यमों से अर्थव्यवस्था के स्थिरीकरण में सफलता मिली सार्वजनिक एवं कर उगाही में वृद्धि पर नियन्त्रण; औद्योगिक-नीति सुधार; मूल्य उदारीकरण; राज्य-व्यय पर नियंत्रण; मुद्रा अवमूल्यन; आर्थिक सहायताओं को घटाना एवं हटाना तथा भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था में अर्थव्यवस्था का एकीकरण।

29.5 भूमण्डलीकरण, राष्ट्र-राज्य और सम्प्रभुता

29.5.1 राष्ट्र-राज्य और सम्प्रभुता की बदलती संकल्पना

आधुनिक विश्व मौलिक रूप से राष्ट्र-राज्यों के इर्द-गिर्द इसकी प्राथमिक इकाइयों के रूप में संगठित था। राष्ट्र-राज्य एक निर्धारित सीमा-क्षेत्र पर सर्वोच्च क्षेत्राधिकार और संप्रभुता का दावा करते थे। संप्रभुता नियत सीमाओं एवं सीमा-क्षेत्रों से जुड़े एक राजनीतिक समुदाय से संबद्ध थी। भूमण्डलीकरण के तहत् इन सब संकल्पनाओं में गहरा परिवर्तन आया : अन्तरराष्ट्रीय अखाड़े में अन्य खिलाड़ी भी हैं; राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता शक्ति कड़े मुकाबले के कगार पर है; राजनीतिक समुदाय की धारणा बहुत ही अस्थिर है तथा सीमा-क्षेत्र और सीमाओं के अभिप्राय संचार में क्रांति के प्रसंग में आमूल परिवर्तित हो गए हैं और राज्यों के पास उनको वश में करने की क्षमता, जैसी कि पहले हुआ करती थी, अब बहुत कम है।

हर व्यक्ति, हालाँकि, इस पर सहमत अथवा राज्य की बदलती भूमिका को स्वीकार करने को तैयार नहीं है। भूमण्डलीवादी मानते हैं कि राष्ट्र-राज्य आज एक कालदोष हो गया है और अनेक अन्य संस्थाएँ हैं जिन्होंने प्रभावशाली ढंग से इसका स्थान ले लिया है और उस भूमिका को निभाने के लिए तत्पर हैं जो यह अब तक निभाता आया था। परम्परावादी राष्ट्र-राज्य का निरन्तर औचित्य मानते हैं और होने वाले उन बड़े परिवर्तनों की अपेक्षा करते हैं जो कि राज्य द्वारा प्राधिकृत हैं अथवा राज्य की सहमति-प्राप्त हैं अथवा ऐसे मामले जिन पर, अगर वे ऐसा चाहें, अपने अधिकार का प्रयोग करने में सक्षम हो सकते हैं। विवर्तनवादी इस बात से सहमत हैं संप्रभुता को अपने लक्षण के रूप में रखने वाले राष्ट्र-राज्य आज धुँधले पड़ गए हैं लेकिन वे प्रत्युत्तर में तर्क देते हैं कि राष्ट्र-राज्य स्वयं ही एक आमूल-चूल परिवर्तन की प्रक्रिया में है।

राष्ट्र-राज्य की परिवर्तित भूमिका पर असहमतियों से अलग, इस बात पर असहमति नहीं है कि वे आज उच्च रूप से बदली परिस्थितियों में कार्यशील हैं। राष्ट्र-राज्य उत्तरोत्तर रूप से उन

संसाधनों के रूप में देखे जाते हैं जो परादेशीय एवं अन्तरराष्ट्रीय अभिकरणों के साथ बातचीत करने और उप-राज्य कर्ताओं को नियन्त्रण में रखने में प्रयोग किए जाते हैं। इस प्रकार के करार में संप्रभुता बहुपक्षीय एव परादेशीय वार्ताओं **if** एक सौदाकारी चिप्पी (bargaining chip) बन जाती है। सत्ता के क्षेत्रीय और भूमण्डलीय प्रशासन की प्रणालियों की ओर आमूल विचलन के बावजूद राज्य भूमि की यह पुनर्संकल्पना लगातार अपनी चुप्पी साधे है।

आज ऐसे मामलों का जमघट है जहाँ राज्य की सहज प्रशासन और नियन्त्रण करने की क्षमता कारगर नहीं है। परादेशीय निगमों को आसानी से किसी राष्ट्र-राज्य के न्यायक्षेत्र में नहीं बाँधा जा सकता। पर्यावरणीय प्रदूषण, ओज़ोन परत का अपक्षय जैसे समस्याएँ जाहिर तौर पर किसी भी राज्य के नियन्त्रण से परे हैं। कोई भी राज्य आज सीमापार संचार का हमेशा और प्रभावी रूप से अनुश्रवण नहीं कर सकता। इसके अलावा भूण्डलीकरण ने नशीली दवाओं के व्यापार जैसे धन्धों को वृहद रूप से मजबूत किया है। नब्बे के दशक में अनुमानित वार्षिक अवैध मादक-द्रव्य व्यापार 400 अरब अमेरिकी डॉलर था जोकि 1998 में भारत के सकल राष्ट्रीय उत्पाद के बराबर था।

29.6 भूमण्डलीकरण का प्रभाव

भूमण्डलीकरण के प्रभाव को हम तीन मुख्य श्रेणियों में निर्धारित कर सकते हैं : आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक। ऐसे निर्धारण उस उपगमन से गहरे प्रभावत होते हैं जो कोई व्यक्ति भूमण्डलीकरण के लिए अपनाता है। यह उसको कुछ ही लक्षण प्रकाश में लाने की अनुमति देता है और शेष को नकार देने की। इस प्रभाव के कुछ सबसे प्रमुख लक्षणों पर नीचे प्रकाश डाला गया है :

29.6.1 आर्थिक

अ) वे जिन्होंने भूमण्डलीकरण के पक्ष में मन बनाया है, निम्नलिखित बातों पर जोर देते हैं :

i) यह उपभोक्ताओं के लिए लाभकारी है। भूमण्डलीकरण के उदय से वस्तुओं और पूँजी के मापक्रम और आबंटन क्षमता में बढ़ोत्तरी हुई है।

ii) यह माना जाता है कि इसने विशाल अप्रयुक्त संसाधनों को उजागर किया है और विश्वभर में आर्थिक उगाही की ओर अभिमुख किया है।

iii) परिणामत: इसने राज्य को पीछे खदेड़ दिया है; परजीविता और नौकरशाही को अन्दर-ही-अन्दर दुर्बल कर दिया है और उद्यमवृत्ति और ज्ञानाधारित उद्योग में एक लहर जगाई है।

iv) यह बहुतायत से ऐसा लचीलापन लेकर आया है जो उस प्रकार की दृढ़ता के सापेक्ष है जो कल्याणकारी शासन और राज्य-नियंत्रित व्यवस्था के अन्तर्गत हुआ करती थी। इसके तत्त्वाधान में उत्पादन के एक लचीले ढंग, कार्य प्रणालियों, श्रम बाजारों, उत्पादन, शिक्षा, उपभोग के प्रतिमानों, बचतों आदि का उत्थान हुआ है।

v) इसने मापदण्ड और गुणवत्ता, दोनों के एक भूमण्डलीय आथिक दर्जे के वायदे के साथ, घोलमेलों की प्रक्रिया और उद्यमों के अधिग्रहण को उच्च रूप से तीव्र गति प्रदान की है।

vi) भूमण्डलीकरण ने इस खेल के नियमों को (only of the game) कसा है जबकि साथ ही लचीलापन भी लाया है। जब राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएँ इस शब्द के अधिदिष्ट करती थीं

तो बड़ी अराजकता फैली हुई थी। राष्ट्र-राज्यों में उदारीकरण ने वित्तीय कर सम्बन्धी अनुशासन को बढ़ावा दिया है।

vii) भूमण्डलीकरण ने पूँजी को चलायमान बनाने में बड़ी मदद की है तथा विश्व मुद्रा कोष और विश्व बैंक जैसे द्विपक्षीय व बहुपक्षीय अभिकरणों पर विकासशील देशों की निर्भरता को कम किया है। आज वे विदेशी सीधा निवेश के लिए अपने विकल्प चुन सकते हैं और भूमण्डलीकरण पूँजी बाजारों तक सुगमता से पहुँच सकते हैं।

viii) अनेक देशों के लिए भूमण्डलीकरण अपनी प्रौद्योगिकी को विकसित करने का एक महत्त्वपूर्ण यंत्र-प्रबंध और भूमण्डलीय बाजारों तक पहुँचने का मार्ग रहा है।

ix) भूमण्डलीकरण ने ऐसे अनेक प्रौद्योगिक नवप्रवर्तनों को महत्त्व दिए जाने की ओर अभिमुख किया है जिन्हें संकीर्ण समाजों द्वारा प्रोत्साहित नहीं किया जाता। परिणामत: इन प्रौद्योगिकियों ने भूमण्डलीय प्रवाहों को अधिक तीव्र और द्रुत बना दिया है।

x) भूमण्डलीकरण ने समुदायों और संस्कृतियों को आपस में जोड़ा है और उनके सामने विकल्पों को बढ़ाया है।

ब) दूसरे ऐसे हैं जो इसी प्रकार के वैध कारण देते हैं कि क्यों भूमण्डलीकरण मामलों की एक वांछित स्थिति नहीं है :

i) भूमण्डलीकरण ने वर्तमान असमानताओं को विशाल रूप से बढ़ाया है। तीस वर्ष पूर्व विश्व के लोगों में पाँचवें सबसे धनी व्यक्ति और पाँचवें सबसे गरीब व्यक्ति के बीच अन्तर 30:1 था। 1990 तक यह 60:1 तक बढ़ गया और 2000 में यह 74:1 है। उपभोग के शब्दों में, विश्व का पाँचवाँ सम्पन्नतम आज भूमण्डलीय उत्पाद के 86% का हिसाब करता है और निम्नतम पाँचवाँ मात्र 1% का। इसके अलावा यह असमानता निम्नतम के अहित को बढ़ाते हुए विभिन्न स्तरों पर संचालित होती है।

ii) इस आमधारणा का तर्क देने के साक्ष्य बहुतायत से दिखाई पड़ते हैं कि उदारीकरण और भूमण्डलीकरण की प्रक्रियाओं तथा नीतियों ने राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय, दोनों ही रूप से गरीब से अमीर को आय और धन के एक महत्त्वपूर्ण पुनर्वितरण में योगदान किया है। 1975 और 1985 के बीच अनुमानित कोई 165-200 अरब अमेरिकी डॉलर 'तीसरी दुनिया' के व्यैक्तिक निवेशकों द्वारा अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय बाजारों में लगाए गए।

विकसित राष्ट्रों के अन्दर, विकसित राष्ट्रों एवं विकासशील राष्ट्रों के बीच, स्वयं विकासशील राष्ट्रों और विश्व में गरीब के बीच तटस्थता बढ़ रही है।

iii) रोज़गार के अस्थायी, अंश-कालीन व अनौपचारिक क्षेत्रों का प्रचलन बढ़ रहा है। भूमण्डलीकरण के उदय से बेरोज़गार में एक विश्वव्यापी वास्तविक बढ़ोत्तरी और श्रम बल का 'स्त्रीकरण' हुआ है। राष्ट्र-राज्यों के भीतर एवं बाहर लोगों का बड़े पैमाने पर देशान्तरण हुआ है। लेकिन बेरोज़गारों के बीच यह प्रवृत्ति बढ़ रही है कि वे अपने पलायन के लिए उत्तरदायी के रूप में प्रवासियों को लक्ष्य करते हैं।

iv) सार्वजनिक व्यय, खासकर समाज सेवाओं एवं कल्याण पर, में गिरावट, व्यापक उपभोग की वस्तुओं की आर्थिक सहायताओं में कमी और वास्तविक मजदूरी में ह्रास के कारण कल्याणकारी कार्यक्रमों में कटौती हुई है।

v) विदेशी निवेशकों एवं लेनदारों, विदेशी पूँजी एवं प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित घरेलू व्यापार समूहों की शक्ति में बढ़ोत्तरी हुई है। अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में लगी पूँजी के पक्ष में आय का विचलन हुआ है।

vi) जबकि अधिक से अधिक ध्यान भूमण्डलीकरण बाजारों और पूँजी प्रवाहों के विस्तार के लिए नियम बनाने पर दिया जाता है, श्रम मानदण्ड, गरीबी घटाने और मानवाधिकार जैसे उद्देश्यों पर कम ध्यान दिया जाता है।

vii) सीमा-शुल्क अवरोधों के टूटने, वस्तुओं एवं पूँजी के मुक्त प्रवाह और हकदारी की सुरक्षा करने के नाम पर अपने हस्तक्षेप की विश्व व्यापार संगठन रक्षा करता है। लेकिन कई लोग इसे विपणन रूढ़िवाद मानते हैं जो लोगों के विशाल जनसमूह के सामने विकल्पों को बढाने की बजाय उन्हें घटाते जा रहे हैं।

viii) पूँजी प्रवाह एवं व्यापार विश्व के कुछ खास विकसित क्षेत्रों की मजबूत गिरफ्त में ही रहे हैं। शेष विश्व तो इन खास अर्थव्यवस्थाओं के हितों की रक्षा हेतु एक अनुशासन के अधीन है।

ix) विकसित विश्व ने मात्रात्मक प्रतिबन्धों को नरम करने में अधिक रुचि नहीं दिखाई है खासकर इस सम्बन्ध में विश्व व्यापार संगठन की शर्तों के बावजूद विकासशील देशों से कृषि आयातों के विरुद्ध। दूसरी ओर, बड़े व्यापारगृह जल्दी से विकासशील विश्व पर अपने दावे और अधिकार निश्चित कर देते हैं।

x) भूमण्डलीकरण से सबसे अधिक लाभान्वितों में से एक हैं अपराधी। वर्तमान में, छह बड़े अन्तरराष्ट्रीय अपराध अभिषद, ऐसा विश्वास है, अपराध का मार्ग अपनाकर हर वर्ष लगभग 1.5 करोड़ खरब अमेरिकी डॉलर पैदा करते हैं।

xi) निरन्तर रेंगती भूमण्डलीकरण व्यवस्था के विरुद्ध उन लोगों के द्वारा व्यापक विरोध हुए हैं जो भूमण्डलीकरण विताड़न के नुकसान वाले छोर पर हैं। अप्रैल 2000 में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष – विश्व बैंक वसन्त सभा के मिलन-स्थल पर हजारों विरोधियों द्वारा कड़े विरोध व्यक्त किए गए।

29.6.2 राजनीतिक

क) यह तर्क दिया जाता है कि विश्व-व्यापी उदारवादी लोकतन्त्र का विस्तृत फैलाव भूमण्डलीकरण के वायदों के बिना सम्भव नहीं होगा।

ख) भूमण्डलीकरण ने सत्ता की जवाबदेही और पारदर्शिता को मजबूत किया है और सुप्रशासन की ओर अभिमुख किया है।

ग) इसने राष्ट्र-राज्य की शक्ति का परिसीमन किया है। शासक सम्भ्रान्तों के विरोधियों एवं अलाभान्वित समूहों की आज कहीं अधिक व्यापक विश्व में पहुँच है। वास्तव में अनेक असहमत विचारों एवं पक्षसमर्थक समूहों ने अपने प्रतिष्ठानों को आगे बढ़ाने के लिए भूमण्डलीकरण का प्रभावी रूप से प्रयोग किया है।

घ) विभिन्न स्तरों पर आज प्रशासन की नई संस्थाएँ हैं। विभिन्न स्तरों पर शक्ति के पुनर्संगठन और निर्धारित लक्ष्यों की ओर इसके दिशा-निर्देशन द्वारा वे एक प्रभावशाली निर्वात को भरते हैं।

ङ) भूमण्डलीकरण ने वर्ग सम्बन्धों को बहुत प्रभावित किया है। सत्ता का पूँजी और विकसित विश्व की ओर विचलन तथा निर्णय लेने का अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संगठनों एवं सामूहिक पूँजी के एक गठजोड़ की ओर स्थानांतरण हुआ है। संगठित कामगार वर्ग की शक्ति का ह्रास हुआ है।

च) भूमण्डलीकरण प्रवसन के प्रतिमानों के माध्यम से नए अनुबन्धनों की ओर ले गया है और विश्व के प्रत्येक बड़े शहर में एक उसी के प्रकार की जीवन-शैली वाले नए सम्भ्रान्त वर्ग को जन्म दिया है। साथ ही प्रवासियों और श्रम बाजारों की तलहटी में स्थानीय श्रम के एक निकाय को जन्म दिया है।

छ) भूमण्डलीकरण ने सत्ता की स्थानिक और क्षेत्रीय पकड़ को अन्दर-ही-अन्दर खोखला कर दिया है। इसके उदय से न जाति एवं समुदाय-पहचानों में क्रांति और मूलतत्त्ववाद की स्वीकारोक्ति हुई है।

ज) इसने नाना प्रकार के भूमण्डलीय इलैक्ट्रॉनिक समुदायों को जन्म दिया है। ये विविध वैकल्पिक अथवा मूलभूत विचारों तक पहुँचने और जानने का अवसर देते हैं क्योंकि यहाँ प्रबल हितों का समूहीकरण होता है।

झ) सूचना और जानकारी तक पहुँच के लिहाज से भूमण्डलीकरण ने राष्ट्रों के भीतर और उनके बीच असमानताओं को बढ़ाया है। इन्होंने 'सूचना सम्पन्न' और 'सूचना विपन्न' की नई सामाजिक श्रेणियाँ पैदा कर दी हैं।

ञ) भूमण्डलीकरण के अन्तर्गत नवउदारवादी विचारधारा अपनी विपणन स्वतन्त्रता, निजी सम्पत्ति और संचय पर जोर के साथ एक प्रबल विचारधारा के रूप में उभरी है। हमेशा के लिए वैकल्पिक और पवित्र धारणाओं के प्रति इसमें आदर की भावना कम रही है। यह खुल्लमखुल्ला राजनीति को तुच्छ नजर से देखता है जबकि प्रत्येक उद्यम का यह समर्थन करता है। साथ ही भूमण्डलीकरण ने एक क्रम-परम्परावादी विश्व के निर्माण की ओर अभिमुख किया है जो कि संयुक्त राज्य और भूमण्डलीय पूँजी द्वारा संचालित है।

ट) भूमण्डलीकरण नैगम पूँजी के विरुद्ध, परम्परावादी 'वाम' और राष्ट्रीय संस्कृति की रक्षा करते 'दाहिने' का एक दिलचस्प गठबन्धन उभरा है।

ठ) भूमण्डलीकरण ने नए सामाजिक आन्दोलनों के उदय की ओर अभिमुख किया है जो, परम्परावादी वर्ग आन्दोलनों के भँवर से बाहर हैं, जैसे कि महिलाओं, खेतीहरों, न जातीय समुदायों, विस्थापित लोगों आदि के आन्दोलन।

29.6.3 सांस्कृतिक

क) भूमण्डलीकरण ने सांस्कृतिक वस्तुओं के भूमण्डलीय प्रसार में आश्चर्यजनक वृद्धि की है। इनमें शामिल हैं–मुद्रित सामग्री, संगीत, दृश्य कलाएँ, सिनेमा एवं फोटोग्राफी, रेडियो एवं टेलीविजन। इनके माध्यम से न जातीय संस्कृतियों के तत्त्व गुँथे हैं। हालाँकि इन वस्तुओं का स्वामित्व मीडिया निगमों के एक सेट में निहित है। मीडिया के प्रचरोद्भव के बावजूद कुछ ही स्वरों की सुनवाई है। राष्ट्र-राज्यों का उन पर नियंत्रण कम हीं है क्योंकि वे परादेशीय निगमों द्वारा शासित हैं जैसे कि टाइम वारनर, डिज़्नी, वायकॉम, टेलीकम्यूनीकेशन्स इनकॉ., न्यू कॉर्पोरेशन, सोनी, सीग्राम, जेनरल इलैक्ट्रॉनिक, डच फिलिप्स आदि।

ख) भूमण्डलीकरण के तहत् पाश्चात्य और खासकर अमेरिकी संस्कृति का वृहत् विस्तार हुआ है। सांस्कृतिक प्रवाहों के बीच बहुत अधिक असंतुलन है। संस्कृति को थोपे जाने और प्रभुत्व जमाने के दोषारोपण व्यापक रूप से सुनने में आते हैं। संस्कृतियाँ असुरक्षित हो गई हैं, उदाहरणत: भारत में गैर-साहित्यिक भाषाएँ। बहरहाल, ऐसे प्रभुत्व के विस्तरण और स्थानीय संस्कृतियों की इससे मुकाबला करने की क्षमता, यह एक बहस का मुद्दा रहा है।

ग) अँगरेज़ी भाषा एक पूर्वप्रबल स्थिति में उभरी है जो कि भूमण्डलीय संगठनों और संस्थानों के भीतर और उनके बीच संचार की भाषा है। यह पाश्चात्य वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए संचारण पट्टिका बन चुकी है।

घ) यह गौर दिलचस्प होगा कि भूमण्डलीकरण के बावजूद प्रैस, टेलीविजन, राष्ट्रीय प्रसारण जैसे कुछ संस्थान राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परिवेशों में अभी तक जकड़े हुए हैं।

ङ) भूमण्डलीकरण में लोगों का बढ़ता प्रवसन शामिल है, राज्यों के भीतर भी और उनसे बाहर भी। संचार नेटवर्क अन्य संस्कृतियों को किसी और के जीने के ढंग में तुरन्त ही ढाल देते हैं। वे सांस्कृतिक बहुवाद के उस तन्तु को मजबूत करते हैं जो उत्तरोत्तर रूप से सांस्कृतिक प्रभुत्व हेतु प्रवृत्तियों का सामना करता है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इस इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भूमण्डलीकरण के कोई तीन कल्पित आर्थिक लाभ स्पष्ट करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भूमण्डलीकरण के राजनीतिक प्रभावों की गणना करें।

.....

.....

.....

.....

.....

29.7 भारतीय राज्य की प्रतिक्रिया

29.7.1 भूमण्डलीकरण के मानदण्ड

1980 के बाद भारत ने उदारीकरण के कुछ थोड़े-थोड़े मानदण्डों का सहारा लिया और भूमण्डलीकरण के प्रौद्योगिक आधार का गर्मजोशी से प्रत्युत्तर दिया। आरम्भ में इसकी उदारीकरण के अधिकतर मानदण्डों के प्रति अनुक्रिया उत्साहहीन और संकोचभरी रही। 1991 के बाह्य पुनर्भुगतान उत्तरदायित्व संकर-काल के चलते तत्कालीन सरकार ने उदारीकरण की ओर एक गुणात्मक मोड़ लिया। इसमें निम्नलिखित नीतिगत मुख्य परिवर्तन थे :

क) **व्यापार नीति सुधार** : यह सुधार पहले की आयात लाइसेंसिंग प्रणाली को खत्म करने के लिए लाया गया। इसने सीमा-शुल्क में भारी कटौती अथवा इसे हटाने और आयातों पर मात्रात्मक प्रतिबन्ध पर सुधारों का सुझाव दिया। उपभोक्ता वस्तुओं पर छोड़कर गैर-सीमा-शुल्क अवरोध धीरे-धीरे समाप्त कर दिए गए।

ख) **औद्योगिक नीति सुधार** : कुछ विशिष्ट उद्योगों के लिए छोड़कर इसने औद्योगिक लाइसेंसिंग को समाप्त कर दिया; सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित मदें एकदम प्रतिबन्धित हो गईं और इसने विदेशी सीधा-निवेश के अनुकूल व्यवहार को बढ़ाया। बड़े औद्योगिक घरानों द्वारा निवेश पर प्रतिबन्धों को समाप्त कर दिया गया और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में जन स्वामित्व के विनिवेश वाला एक चरणबद्ध कार्यक्रम शुरू किया गया। अनिवासी भारतीयों (एन.आर.आई) के निवेश के लिए अतिरिक्त प्रोत्साहन दिया गया और भारतीय उद्यमों द्वारा बाह्य निवेश को उदार बनाया गया।

ग) **विनिमय दर सुधार** : 1991 में रुपए का अवमूल्यन हुआ। 1992-93 में रुपए की अंशत: परिवर्तनीयता और 1994 में चालू खाते पर पूरी परिवर्तनीयता की गई। भारतीय प्रतिभूति एवं विनिमय बोर्ड (सेबी) की स्थापना द्वारा पूँजी बाजार सुधार शुरू किए गए।

घ) **वित्तीय सुधार** : निजी क्षेत्र के बैंक जिनमें विदेशी साझा-व्यापार बैंक शामिल हैं, को अपना कारोबार चलाने एवं बढ़ाने की अनुमति दे दी गई। निजी गैर-बैंकीय वित्त कम्पनियों के लिए एक नीत शासन स्थापित हो गया। उस दिशा में कोई नीति समझौता नहीं है जिसमें 'द्वितीय पीढ़ी सुधार' नामक सुधार और किए जाने हैं। इसकी अनुपस्थिति में, सरकार ने उन क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा पैदा करने का प्रयास किया है जहाँ अभी तक सार्वजनिक क्षेत्र का एकाधिकार था; विपणन प्रतिस्पर्धा के लिए बीमा क्षेत्र के दरवाजे खोले; विनिवेश के लिए दिशा-निर्देश निर्धारित करने का प्रयास किया और विश्व व्यापार संघ से अपने समझौते के मुताबिक अनेक मदों से सीमा-शुल्क हटाए।

29.8 भारत में उदारीकरण और भूमण्डलीकरण पर तर्क-वितर्क

उन अधिकतर अन्य देशों से भिन्न जिन्होंने सुधार काफी पहले कर लिए थे, भारतीय उदारीकरण को अभी एक दशक से कम ही हुआ है। यह प्रकृतियों और प्रवृत्तियों का निर्धारण कम यथार्थ रूप में करता है। भारत में उदारीकरण पर तर्क-वितर्क में उन मुद्दों को उभारा गया जो देश की राष्ट्रीय कार्यसूची में केन्द्रीय रहे हैं। यह उस प्रकार की नीतिशास्त्रीय बहस में नहीं उलझा है जिसने पश्चिम में उदारीकरण की नीतियों को प्रभावित किया, विशेषत: ग्रेट ब्रिटेन में। भारत में उदारीकरण को,

अभी तक, राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी संदर्शों ने चुनौती दी है, न कि पश्चिम की भाँति वैकल्पिक उदारवादी-लोकतान्त्रिक संदर्शों ने।

इस वास्तविकता के साथ कि राजनीतिक केन्द्र ने, दाएँ से लेकर बाएँ तक, उदारीकरण का विरोध नहीं किया है, आज यह भारत में व्यापक राजनीतिक सर्वसम्मति का लाभ ले रहा है। कम्यूनिस्ट दलों और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आर.एस.एस.) एवं इसके कुछ सम्बद्धों को छोड़कर, भारत में अन्य सभी राजनीतिक दलों ने उदारीकरण के कदमों को अपना समर्थ दिया है। वैसे इनमें से अधिकतर कदमों का सक्रिय रूप से विरोध भी नहीं हुआ है। यह मतैक्य, हालाँकि, बहुत संदिग्ध है। निम्नलिखित मुद्दों पर बहस यह दर्शाती है कि यह नहीं समझा जाना चाहिए कि मतैक्य इसी हालत में लम्बे समय तक रहेगा।

29.8.1 अर्थव्यवस्था का विकास

यद्यपि अर्थव्यवस्था का विकास, मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों, ही मात्र उदारीकरण के लिए तर्काधार नहीं हो सकता, भारत जैसे एक विकासशील समाज में यह केन्द्रीय महत्त्व के सिवा कुछ नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, यद्यपि विकास अपने आप अन्य वांछित उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकता, उनका अनुसरण करने के लिए विकास नितान्त केन्द्रीय है। आगे, हम यह लब्धिकथन नहीं कर सकते कि उदारीकरण की अनुपस्थिति में, अर्थव्यवस्था में इसको अपनाए जाने से पूर्व की प्रवृत्तियाँ बनी रहतीं :

i) अस्सी के दूसरे अर्ध-दशक में भारत की संयुक्त वृद्धि दर 5.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। 1992-98 में औसत दर 6.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष हो गई। इस अवधि में औद्योगिक विकास 81.1 प्रतिशत रहा और यह 7.94 प्रतिशत से कुछ अधिक है जो अस्सी के दूसरे अर्ध-दशक में था। उद्योग में विकास, हालाँकि, बहुत अस्थिर रहा। 1995-1996 में औद्योगिक विकास दर 12.8 प्रतिशत की ऊँचाई तक गई लेकिन 1996-1999 के दौरान यह कम और अस्थिर रही।

ii) अस्सी के दूसरे अर्ध-दशक में सकल घरेलू उत्पाद के 8.8 प्रतिशत के मुकाबले सुधार अवधि में वित्तीय घाटा 5.7 प्रतिशत रहा।

iii) सुधार अवधि के दौरान मुद्रास्फीति घटी। हालाँकि, थोकबिक्री के सापेक्ष उपभोक्ता सूचकांक का बढ़ना यह दर्शाता है कि खाद्य के दाम और व्यापक उपभोग की वस्तुएँ तेज गति से बढ़ रही हैं जिससे कमजोर तबके प्रभावित हो रहे हैं।

iv) अनुसंधान एवं विकास प्रयास में भारत सामान्यतः पीछे रहा है। हालाँकि, जब से भी भारत ने उदारीकरण और भूमण्डलीकरण का रास्ता अपनाया है इसका अनुसंधान एवं विकास में खर्च कम हुआ है। 1998 में भारत ने अनुसंधान एवं विकास पर अपने सकल घरेलू उत्पाद का 0.96 प्रतिशत खर्च किया जो 1999 में नीचे 0-8% पर आ गया। यह राशि विकसित देशों के सकल घरेलू उत्पाद का 2-3% है।

v) उदारीकरण के बारे में भारतीय निगम क्षेत्र में निमज्जन और अधिग्रहणों में बेमिसाल बढ़ोत्तरी हुई है।

vi) उदारीकरण के बारे में अपने निवेश-निर्णय करने के लिए और संयंत्र क्षमताओं को चुनने में समवायों के लिए अधिक लचीलापन आया है। पिछले एक दशक के दौरान भूमण्डलीय बाजारों की चुनौतियों का सामना करने के लिए भारतीय उद्योग में बेमिसाल पुनर्संरचना हुई है। एम. आर.टी.पी. अधिनियम के तनूकरण ने नैगम निवेशों एवं विकास पर से अनेक प्रतिबन्ध हटाए हैं।

29.8.2 बाह्य नियंत्रण

अर्थव्यवस्था का विकास अभी तक निश्चित रूप से सकारात्मक रहा है। साथ ही भारतीय अर्थव्यवस्था एकाधिकारों की ओर और भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण की ओर स्पष्टत: अग्रसर हुई है। इस संदर्भ में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं :

i) सकल घरेलू उत्पाद एवं व्यापार का अनुपात 1990-91 में 14.1 प्रतिशत से 1998-1999 में सीधे 18.2 प्रतिशत पर चला गया। भारत की अर्थव्यवस्था उत्तरोत्तर रूप से भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था पर अन्तर्निर्भर हो गई है।

ii) अस्सी के दशकांत में मात्र एक प्रतिशत के मुकाबले उदारीकरण-दशक के दौरान बाहर रह रहे भारतीयों के धन-प्रेषण सकल घरेलू उत्पाद के 2.5 प्रतिशत के आसपास रहे हैं, वास्तव में, उदारीकरण से थोड़ा ही पहले ये प्रेषण घट रहे थे। आज भारतीय भूमण्डलीय श्रम प्रवाहों में खास प्रतिस्पर्द्धियों में एक हैं।

iii) 1991 में भारत की ओर विदेशी सीधा-निवेश प्रवाह 20 करोड़ डॉलर था जबकि 1997 में 14.6 अरब अमेरिकी डॉलर मूल्य के विदेशी सीधा-निवेश को स्वीकृत मिली यद्यपि वास्तविक अन्तर्वाह मात्र 3.2 अरब डॉलर था। यह राशि भी उदारीकरण से पूर्व की स्थिति के मुकाबले एक बड़ी प्रगति थी। हालाँकि, 1994 में अनुमानित 684 अरब डॉलर विश्वव्यापी विदेशी सीधा-निवेश प्रवाह में भारत का अंश अपर्याप्त था। इसके अतिरिक्त, अभी तक भारत में विदेशी सीधा-निवेश प्रवाह गैर-उत्पादक क्षेत्र की ओर और पहले से विद्यमान इकाइयों के अधिग्रहण हेतु दिशा-निर्देशित रहा है।

iv) उदारीकरण ने भारतीय कम्पनियों को पश्चिमी स्टाक विनिमयों में संसाधनों की उगाही की सुविधा दी है। यह 1996-97 से 1998-1999 की अवधि में सकल घरेलू उत्पाद का 2.5 प्रतिशत था।

v) बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने भारत में अपने विद्यमान संबद्धों में अपना दाँव ज्यादा-से-ज्यादा लगाने के नए नियमों का लाभ लिया है। हालाँकि, दबाव अभी तक 'भारतीय बाजार' के लिए उत्पादन करने पर है।

vi) उदारीकरण के कदम उठाने के बाद विदेशी ऋण और अधिक नियन्त्रणीय हो गया है। 2000

गया है।

vii) भारत ने दक्षिण एशिया के साथ अपने व्यापार को तेज गति से उदारीकृत किया है। 'सार्क' देशों से 2300 मदों के आयात पर सभी मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटा लिए गए हैं। बहरहाल, दक्षिण एशियाई देशों के व्यापार प्रवाहों के परिमाण के साथ, यह क्षेत्रीय उदारीकरण निकट भविष्य में अभिन्न नहीं रहेगा।

viii) विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम में किए गए परिवर्तनों ने शेयरधारण और व्यापार प्रतिबन्धों को हटा दिया है। आय प्रत्यावर्तन पर प्रतिबन्ध हटा लिए गए हैं। इसी प्रकार, विदेशी प्रौद्योगिकी की खरीद और लाइसेंसिंग से सम्बन्धित नीतियाँ उदार बना दी गई हैं।

उदारीकरण का अनुसरण कर भारतीय व्यापार ने एक ठोस बढ़ोत्तरी दर्ज की है और अपने विदेशी विनिमय की स्थिति को निश्चित रूप से सुधारा है। भारत में उत्पादन आधार में, हालाँकि, कोई खास

विस्तार नहीं हुआ है। परादेशीय पूँजी के लिहाज से भारतीय अर्थव्यवस्था आज भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था में एकीकृत है। बाहर रह रहे भारतीयों का धन-प्रेषण कुछ राहत अवश्य देता है लेकिन इसकी निश्चितता काफी कुछ उदारीकरण मापदण्डों के सतत् अनुसरण पर निर्भर करती है।

29.8.3 बेरोज़गारी और गरीबी पर प्रभाव

भारत में विद्वजनों में इस मुद्दे पर दो विरोधी गुटों में गहरा विभाजन है। एक गुट मानता है कि बेरोज़गारी और गरीबी उदारीकरण के बाद बदतर हुई हैं और दूसरे गुट का कहना है कि ऐसा नहीं है। दूसरे वालों का तर्क है कि या तो उदारीकरण ने पैंतरा बदला है या फिर इसने बेरोज़गारी एवं गरीबी घटाने के लिए ढाँचा और शर्तें और कड़ी की हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ नीचे कुछ रुझान हैं:

i) उदारीकरण के प्रथम दशक में कर्मचारियों की सभी श्रेणियों के लिए गरीबी की व्यापकता में कमी आई। हालाँकि, गरीबी अनुपात में ह्रास की दर अस्थायी कर्मचारियों के लिए सबसे कम और स्थायी कर्मचारियों के लिए यह उच्चतम थी। एन.एस.एस., 1997 के आँकड़ों के अनुसार, भारत में गरीबी 37 (ग्रामीण 38 और शहरी 34) प्रतिशत थी। हालाँकि, अस्सी के दशक में ग्रामीण विपन्नता में तेजी से ह्रास दर्ज किया गया और सुधारों के बाद यह ह्रास बहुत ही नीचे आ गया। स्व-रोज़गार कर्मचारियों का अंशदान 1972-73 में 61.4 प्रतिशत से 1993-94 में 54.8 प्रतिशत पर आ गया। अस्थायी श्रमिकों के अनुपात में 23.2 प्रतिशत से 32 प्रतिशत तक वृद्धि हुई। ग्रामीण गैर-कृषि रोज़गार में ह्रास हुआ है। श्रम के अस्थायीकरण को बढ़ावा मिला। रोज़गार की गुणवत्ता इस कारण घट गई। नब्बे के दशक में अस्थायी श्रमिकों का वास्तविक वेतन बढ़ा लेकिन विकास बहुत धीमा रहा।

ii) यद्यपि ग्रामीण विपन्नता **1987-88** के मुकाबले **1993-94** में अधिकतर राज्यों (असम, बिहार, हरियाणा एवं पंजाब तथा उत्तरप्रदेश को छोड़कर) में घटी, यह ह्रास **1983** से **1987-88** तथा 1977-78 से **1983** की अवधि की अपेक्षा कम था। शहरी विपन्नता में **1987-88** से **1993-94** के दौरान **17** में से नौ राज्यों में पूर्वावधियों के मुकाबले अधिक ह्रास देखा गया।

iii) भारत में बाल-श्रम की कमी आ रही है। यह 1980 में 23 प्रतिशत से घटकर 1997 में 16 प्रतिशत रह गई।

iv) समय के साथ शिक्षित बेरोज़गारी घटती रही और उदारीकरण के बाद इसकी वृद्धि का कोई संकेत नहीं मिला। हालाँकि, उदारीकरण के दशक में स्नातकों, दोनों लड़के एवं लड़कियाँ, के बीच ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोज़गारी बढ़ी। यद्यपि, उदारीकरण ने भारत में बेरोज़गारी और गरीबी को इतना नहीं बढ़ाया है जितना अन्य कई देशों में, झुकाव स्पष्टतया उसी ओर है। इसके अलावा, भारत में उदारीकरण शहरी-ग्रामीण दरार को मुँह चिढ़ाता है।

29.8.4 संपन्न और विपन्न राज्यों के बीच असमानता

उदारीकरण के वर्षों में संपन्न और विपन्न राज्यों के बीच असमानता बढ़ी है। हालाँकि, सभी संकेतकों के सन्दर्भ में किसी एक राज्य को सम्पन्न अथवा विपन्न के रूप में कोष्ठबद्ध करना मुश्किल है। बहरहाल, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, एवं तमिलनाडु जैसे कुछ राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा उदारीकरण और भूमण्डलीकरण के मापदण्डों की ओर खुद को अनुग्रहपूर्वक ले जाने में अधिक सफल हुए हैं। कुछ राज्य जैसे कि बिहार, उत्तरप्रदेश और उड़ीसा संगतिपूर्वक इससे वंचित ही रहे।

i) उदारीकरण के अन्तर्गत आन्ध्रप्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल एवं पंजाब में गरीबी एक प्रशंसनीय सीमा तक घटती गई जबकि बिहार, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान एवं उत्तरप्रदेश में इस प्रकार की कोई कमी नहीं आई।

ii) नब्बे के दशक में प्रति व्यक्ति आय में अन्तरराज्यीय असमानताएँ महत्त्वपूर्ण रूप से बढ़ीं जबकि 1965-85 की अवधि में अभिसरण और अपसरण के कोई प्रमाण नहीं मिलते।

iii) 1985-96 के दौरान सम्पन्न राज्यों में अधिक विकास देखा जबकि विपन्न राज्यों में कम विकास दर्ज किया गया।

29.8.5 मूल उद्योग एवं आधारिक संरचना

i) 1990-91 से 1998-99 तक सकल घरेलू उत्पाद के 5.5 प्रतिशत से 3.6 प्रतिशत सरकारी पूँजी निवेश में एक तीव्र ह्रास हुआ। इसने आधारिक-संरचना क्षेत्रों की सापेक्ष उपेक्षा की ओर अभिमुख किया है।

ii) सरकार मूल उद्योग एवं आधारिक-संरचना क्षेत्र में विदेशी सीधा-निवेशों की उगाही में किसी सार्थक बिन्दु तक सफल नहीं हुई है।

iii) द्वितीय-पीढ़ी सुधारों के दौरान विनिवेश का पूर्ववर्तीकरण भी निर्माण-आधार को विस्तार देने वाला नहीं लगता।

iv) भारत में निजी क्षेत्र ने मूल उद्योगों और आधारिक संरचनाओं में निवेश करने में अधिक रुचि नहीं दिखाई है।

भारत उस प्रकार के लाभ को निरन्तर बनाए रखने में, सुधार करने की बात छोड़ें, सक्षम नहीं हो सकता जो वह लम्बे समय से मूल उद्योगों से प्राप्त करता आया है।

29.8.6 सामाजिक क्षेत्रों में निवेश

भारत में उदारीकरण दशक में शिक्षा, स्वास्थ्य एवं गरीबी घटाने जैसे सामाजिक क्षे[illegible] व्यय घटता रहा है।

i) सकल घरेलू उत्पाद की प्रतिशतता पर शिक्षा पर केन्द्रीय एवं राज्य सरका[illegible] में 3.6 प्रतिशत से 1996-1997 में 3.4 प्रतिशत घटा हुआ पाया गया जो [illegible] की प्रवृत्ति दर्शाता है। सबसे अधिक कुप्रभावित उच्चतर शिक्षा का क्षेत्र रहा है। [illegible] के अग्रताप्राप्त क्षेत्र को भी, लगता है, इस सुधार अवधि में कोई सार्थक रूप से [illegible] नहीं प्राप्त हुआ।

ii) राज्यों में भी, कुल मिलाकर, विकास खर्च घटा है।

iii) स्वास्थ्य क्षेत्र हेतु आबंटन सातवीं योजना में 1.7 प्रतिशत से 1997-98 के दौरान एक प्रतिशत तक घटा।

iv) जबकि केन्द्रीय सरकार ने कई वर्षों से सामाजिक क्षेत्र के बड़े हिस्से को काम में लगाए रखा है, इन क्षेत्रों में राज्यों को केन्द्रीय सहायता घटी है। उदाहरण के लिए, 1991 से केन्द्र

समर्थित योजनाओं में शिक्षा का अंशदान 12.1 प्रतिशत था। यह 1997-98 में घटकर 8 प्रतिशत रह गया।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इस इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारत द्वारा अपनाए गए उदारीकरण के मुख्य मानदण्डों की गणना करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में कामगार साधारण जनता पर भूमण्डलीकरण और उदारीकरण का प्रभाव बताएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

29.9 सारांश

भूमण्डलीकरण संसार को इतना करीब ले आया है जितना यह पहले कभी नहीं था। संचार क्रांति ने इस प्रक्रिया को महान् सुगमता प्रदान की है। हालाँकि, भूमण्डलवादी, परम्परावादी और विवर्तनवादी इसे बहुत अलग नजरिए से देखते हैं। भूमण्डलीकरण का वर्तमान स्वरूप यद्यपि पूँजीवादी प्रणाली की विजय की उद्घोषणा करता है, यह उसके विकास में एक महत्त्वपूर्ण चरण भी है। इसके द्वारा उत्पन्न की गई सम्पूर्ण संयोजकता और अन्तर्निर्भरता के लिए, विश्व में व्यापार और पूँजी प्रवाह अभी तक विश्व के तीन क्षेत्रों में एकीकृत हैं– संयुक्त राज्य, जापान और यूरोपीयन संघ के देश। इसके अलावा भूमण्डलीकरण ने शेष विश्व पर विकसित विश्व की पकड़ की पुष्टि की है। उदारीकरण के माध्यम से राज्यों ने अपने समाजों को भूमण्डलीकृत विश्व से जोड़ा है। जबकि राष्ट्र-राज्य इस विकास के साथ अपने तरीके से निभा रहा है, उसके नीचे, बगल में और ऊपर नई संस्थाएँ हैं जो सामने आई हैं।

कुल मिलाकर भूमण्डलीकरण ने आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों पर गहरा प्रभाव डाला है। यद्यपि भूमण्डलीकरण को अपनाने में भारत ने देर की, आज यह भूमण्डलीकरण विश्व में भली प्रकार अंगभूत है। जबकि भारत ने उदारीकरण की नीति को अपनाकर प्रशंसनीय आर्थिक एवं व्यापार वृद्धि दर्ज की है, विद्यमान विचारधाराओं का तर्क है कि इस काल में अलाभान्वित एवं श्रमशील आम जनता का भाग्य दुर्भाग्य में बदल गया है।

29.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आहलूवालिया, ईशर जज एवं लिटिल आई.एम.डी. (सं.), *इण्डियाज इकॉनोमिक रिफोर्म्स एण्ड डिवेलपमेण्ट, एस्सेज़ फॉर मनमोहन सिंह,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड, 1998.

गिड्डन एन्थोनी, *दि कॅन्सीक्वेन्सिज़ ऑव मॉडर्निटी,* कैम्ब्रिज, पॉलिटी, 1990.

हैल्ड, डैविड (सं.), *ए ग्लोबलाइजिंग वर्ल्ड? कल्चर, कइनोमिक्स, पॉलिटिक्स,* लन्दन, ओपन यूनिवर्सिटी, 2000.

हिर्स्ट, पी.क्यू., एवं थोम्पसन, सी.ई., *ग्लोबलाइज़ेशन इन क्वेस्चन : दि इण्टरनेशनल इकोन्मी एण्ड दि पॉसिबिलिटीज़ ऑव गवर्नेंस,* कैम्ब्रिज, पॉलिटी, दूसरा संस्करण, 1997.

साच्स, जैफ्री डी., वार्ष्णेय आशुतोष एवं बाजपेयी निरुपम (सं.), *इण्डिया इन दि ईरा ऑव इकनॉमिक रिफोर्म्स,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड, 2000.

29.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) विश्व-स्तर पर सामाजिक सम्बंधों में तेजी, सूचना एवं पूंजी का तेज प्रसारण, भूमण्डलीय ढ़ांचा एवं विश्व में उपस्थित असमानता का पुनर्निर्माण।

2) क्षेत्रीय व्यापार एवं निवेश ब्लॉकों का विकास।

बोध प्रश्न 2

1) वस्तुओं के बाज़ार के पैमाने और बांटने की कार्यकुशलता में बढ़ोतरी हुई, नौकरशाही की निर्भरता में कमी हुई और उपभोक्ताओं के सामने विकल्प बढ़े।

2) उदारवादी प्रजातन्त्र का विस्तार उत्तम, अभिशासन एवं नये सामाजिक आन्दोलनों का उदय।

बोध प्रश्न 3

1) भारतीय अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण, व्यापार का उदारीकरण, सामाजिक क्षेत्र में खर्चे की कमी।

2) इसने उनकी स्थिति को और बिगाड़ दिया।

इकाई 30 धर्मनिरपेक्षता और साम्प्रदायिक चुनौती

इकाई की रूपरेखा

30.0 उद्देश्य
30.1 प्रस्तावना
30.2 धर्मनिरपेक्षता : अर्थ एवं परिभाषा
30.3 भारतीय संविधान और धर्मनिरपेक्षता
30.4 धर्मनिरपेक्षता को साम्प्रदायिक चुनौतियाँ
30.4.1 राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वभाव
30.4.2 चुनावीय राजनीति और लोकतंत्रीय संस्थाओं का पतन
30.4.3 पूँजीपति विकास का स्वभाव और भारतीय शासक वर्ग का चरित्र
30.5 धर्मनिरपेक्षता को प्रति(anti)-आधुनिकतावादी चुनौती
30.6 बचाव क्या है?
30.7 सारांश
30.8 शब्दावली
30.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
30.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

30.0 उद्देश्य

भारत में हाल की राजनीतिक चर्चा में काफी कुछ धर्मनिरपेक्षता के विषय में कहा गया है, जीवन और राजनीति के एक धर्मनिरपेक्ष तरीके के तीव्र समर्थन से लेकर, ये दलीलें धर्मनिरपेक्ष आदर्शों व राजनीति की पूर्ण भर्त्सना तक गई हैं। एक प्रकार से आज यह चर्चा भारतीय राजनीति की धड़कन है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- धर्मनिरपेक्षता का अर्थ एवं ऐतिहासिक महत्त्व समझें;
- धर्मनिरपेक्षता की चुनौतियों को पहचानें; और
- इन धमकियों से निबटने के लिए कोई रणनीति तैयार कर सकें।

30.1 प्रस्तावना

धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र, समानता और स्वतंत्रता के आदर्शों के प्रति वचनबद्धता के साथ अँग्रेज़ी उपनिवेशवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए हमारी जनता के एक बड़े हिस्से को प्रेरणा देने वाले कुछ मूलभूत सिद्धांतों में से एक रहा है। आज़ादी के बाद, ये मूल्य हमारे संविधान द्वारा पोषित हुए, अत: राज्य को इन सिद्धांतों को कायम रखने का आदेश मिला। जब हम अपने समाज को करीब से देखते हैं तो पाते हैं इन आदर्शों का निरन्तर अवमूल्यन, जैसा कि इन्हें विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक विकासों की चुनौती है। हमारे विषमांगी समाज के लिए धर्मनिरपेक्षता नि:शंक सबसे अधिक प्रिय सिद्धांत है। यद्यपि, यह भी है कि इसको साम्प्रदायिक ताकतों द्वारा बुरी तरह ललकारा जा रहा हैं युद्ध-रेखाएँ स्पष्टत: उनके बीच खिंची हैं जो एक लोकतान्त्रिक समाज के लिए खड़े हैं और वे जिनके लिए लोकतंत्र अनावश्यक है। धर्मनिरपेक्षता लोकतंत्र के प्रति वचनबद्धता का एक हिस्सा है और इसलिए वह रक्षा किए जाने और उसके लिए लड़े जाने योग्य है।

30.2 धर्मनिरपेक्षता : अर्थ एवं परिभाषा

हम इस इकाई का आरंभ धर्मनिरपेक्षता का अर्थ समझने के प्रयास से करेंगे। पश्चिम में, धर्मनिरपेक्षता नए विचारों व संस्थाओं की एक पूरी श्रृंखला का हिस्सा था जिसने सामन्ती व्यवस्था के अंत तथा आर्थिक संगठन के नए स्वरूपों वाले एक प्रभुसत्तासम्पन्न आधुनिक राष्ट्र-राज्य के उदय को प्रद्भूत किया। इसके स्पष्टत: पाश्चात्य, और अधिक निश्चित रूप से ईसाई मूल, को यद्यपि अन्य संस्कृतियों में लागू करने से रोकने की आवश्यकता नहीं थी। आधुनिक पाश्चात्य धर्मनिरपेक्षता धार्मिक युद्धों (अक्सर विभिन्न धारणाओं वाले ईसाइयों के बीच) से बचाव की खोज का तथा राज्य और चर्च के अधिकार-क्षेत्रों को अलग-अलग करने की आवश्यकता का परिणाम थी। धर्मनिरपेक्ष पहचान के एक सामान्य भाव पर आधारित राज्य-व्यवस्था के साथ एकरूपता के सशक्त भाव को सुनिश्चित करने हेतु आधुनिक लोकतान्त्रिक राष्ट्र-राज्यों के लिए आवश्यक हो गई है, जहाँ कि एक नागरिक होना अन्य सभी पहचानों जैसे परिवार, प्रजाति, वर्ग एवं धर्म, से ऊपर है।

'धर्मनिरपेक्षता' शब्द उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जॉर्ज जैकब हाल्योक द्वारा गढ़ा गया जो लैटिन शब्द सैक्यूलम (Seculum) पर आधारित था। राज्य से चर्च के अलगाव को इंगित करने के अलावा, यह वैयक्तिक स्वतंत्रता का भी सुझाव देता है। यूरोप में 'ज्ञानोदय' ने एक नए युग का उद्घोष किया जहाँ धर्म की बजाय 'तर्क', मानव जीवन के सभी पहलुओं के लिए निर्देशक कारक बन गया। यह तर्क दिया जाने लगा कि धर्मनिरपेक्ष विषय इस संसार के हैं, और धर्म जो अज्ञात संसार से संबंधित है, इससे दूर रखा जाना था। हालाँकि, यह आवश्यक रूप से दोनों के बीच किसी शत्रुतापूर्ण संबंध को इंगित नहीं करता था, सिर्फ़ यह कि दोनों अनन्य है। इस स्थिति के साथ एक कठोर विषमता यह है कि लोग धर्म और धर्मनिरपेक्षता को मूलत: एक-दूसरे के विरोधी के रूप में देखते हैं, वो इस संदर्भ में कि किसी समाज में धर्म की निरंतर उपस्थिति इसके पिछड़ेपन को दर्शाती है, और यह कि अन्ततागत्वा, मानव प्रगति और सम्पन्नता, तथा एक सच्चे समतावादी समाज की रचना सिर्फ धर्म की अनुपस्थिति में हो सम्भव है। भारत में, प्रचलित रूप में इसे ही सर्वोत्तम दर्शन समझा जाता है जो विविध धार्मिक पृष्ठभूमियों से संबंध रखनेवाले लोगों को एक सामान्जस्यपूर्ण ढंग से एक साथ रहने में मदद करेगा, और एक ऐसे राज्य की रचना करेगा जो सभी धर्मों को एक समान आदर और स्वतंत्रता प्रदान करेगा।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य के लिए धर्मनिरपेक्षता क्यों आवश्यक है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द किसने दिया और यह सामान्यत: क्या इंगित करता है ?

.....

.....

.....

.....

.....

30.3 भारतीय संविधान और धर्मनिरपेक्षता

भारत में धर्मनिरपेक्षता के व्यवहार की इस आधार पर अक्सर निन्दा की जाती है कि धार्मिक और अधार्मिक व्यवहारों का कोई यथातथ्य पृथक्करण सम्भव नहीं है। यद्यपि, ऐसी अतर्कसंगत स्थिति के लिए बहस करने की बजाय, यह अच्छा होगा कि धर्मनिरपेक्षता को कुछ धार्मिक और ग़ैर-धार्मिक संस्थाओं के विभाजन के रूप में परिभाषित कर लिया जाए, जैसा कि राजीव भार्गव तर्क देते हैं। भारतीय धर्मनिरपेक्षता पर अपनी चर्चा में, वह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जब सामाजिक-लोकतंत्र के सिद्धांतों के प्रति पूर्ण वचनबद्धता ने भारतीय संविधान-निर्माताओं को धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांतों को अपनाने के लिए मार्गनिर्देशित किया, बिगड़ते हुए हिन्दू-मुस्लिम संबंध और (भारत-पाक) विभाजन के तत्कालीन प्रसंग ही वे प्रमुख कारक थे जिन्होंने हमारे धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों के अंगीकरण को प्रभावित किया। भार्गव यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि भारत में बोस्निया जैसा नरक बनने से बचाने के लिए धर्मनिरपेक्ष संस्थाएँ आवश्यक हैं, यानि ये न सिर्फ धर्मान्धता पर नियन्त्रण रखने के लिए आवश्यक हैं वरन् यह भी सुनिश्चित करने के लिए हैं कि धार्मिक सम्प्रदायों के बीच विवाद, जो आवश्यक नहीं कि धर्म को लेकर ही हो, एक निश्चित सीमा को पार न करें जिससे कि यह विकृति आज यूरोप के कुछ भागों में देखे जा सकने वाले भवावह दृश्यों के रूप में न उभरें।

यह ऐसी घोर विपत्तियों से बचने के लिए ही था कि भारतीय राज्य ने धर्म पर आधारित पृथक् निर्वाचन क्षेत्र बनाना, धार्मिक समुदायों के लिए चुनाव क्षेत्र एवं काम आरक्षित करना, धर्म के आधार पर नौकरियाँ आरक्षित करना और धर्म के आधार पर ही भारतीय संघ के राज्यों का संघटन करना आदि प्रक्रियाएँ बड़ी सफाई से परिचालित कीं। इस प्रकार साम्प्रदायिक विवाद से बचने एवं (भारत-पाक) विभाजन जैसी स्थिति की पुनरावृत्ति रोकने के लिए राज्य-संस्थाओं से धर्म वर्जित हो गया।

इन्हीं निर्देश-सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए, धर्म को सांस्कृतिक आयात के मामलों में एक दिशा-निर्देश के रूप में शामिल कर लिया गया। इन उदाहरणों में से, वास्तव में, सर्वाधिक उल्लेखनीय है– अल्पसंख्यक धार्मिक समुदायों को पृथक् अधिकारों का दिया जाना, ताकि वे गरिमापूर्ण तरीके से रह सकें। यह बात उभरकर आई कि अधिकारों के बिल्कुल एकसमान घोषणा-पत्र पर जोर देना न तो वांछित था, न ही राष्ट्रीय अखण्डता के लिए आवश्यक। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता भारत में न सिर्फ सम्प्रदायों के बीच भाई-चारा बढ़ाने के लिए, बल्कि भारत में आम जीवन की संरचना की रक्षा करने के लिए भी, अंगीकृत की गई। बहु-विवाह अथवा बाल-विवाह को ग़ैर-कानूनी बनाने अथवा दलितों को हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश करने के अधिकार दिलाने के भारतीय राज्य के प्रयासों को हमें इसी आलोक में देखना चाहिए। भारत की धर्मनिरपेक्षता के आलोचक

अक्सर हिन्दूवाद में हस्तक्षेप को अनुमति देने एवं इसके कुछ दमनकारी सामाजिक कृत्यों के लिए भारतीय व्यवस्था की निन्दा इस आधार पर करते हैं कि राज्य के ऐसे कदम एक सच्चे धर्मनिरपेक्ष राज्य की नीतियों के विरुद्ध जाएँगे, अथवा इस आधार पर कि हिन्दू सामाजिक प्रथाओं में ऐसे हस्तक्षेप की तुलना अन्य समुदायों की सामाजिक प्रथाओं में इसी प्रकार के हस्तक्षेपों से की जानी चाहिए। सामाजिक-धार्मिक समूहों के अधिकारों की रक्षा भी सच्ची धर्मनिरपेक्ष पद्धति से विचलन के रूप में व्याख्या की जाती है, जो कि आलोचकों के अनुसार, व्यष्टि में अधिष्ठापित है।

पूर्ववर्ती चर्चा के आधार पर यह आभास हो सकता है कि जैसे धर्मनिरपेक्षता न्यायसंगत है, और कुछ परिस्थितियों विशेष में पृथक् की गई नागरिकता की प्रतिरक्षा और धार्मिक समूहों के अधिकारों को भी यह अभिप्रेरित करती है। इसके अलावा, यह स्पष्ट है कि राज्य की धर्मनिरपेक्षता को हमेशा बीच-बचाव, अहस्तक्षेप अथवा धार्मिक समूहों से समान-दूरी की नीतियों से दूर रखने की आवश्यकता नहीं होती, जैसा कि हुआ करता है। अन्य शब्दों में, एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की व्याख्या ऐसे राज्य के रूप में की जा सकती है जो धर्म से एक सैद्धान्तिक दूरी रखता है। भारतीय धर्मनिरपेक्षता इस धारणा पर आधारित है कि राज्य धर्म से एक सैद्धांतिक दूरी तो बना कर रखेगा, मगर जब आवश्यकता होगी तो धार्मिक मामलों से उठने वाले विषयों पर स्वयं ही सम्बोधन देगा। बहरहाल, मौलिक नियम यह रहेगा कि दूर रहने और हस्तक्षेप करने, दोनों ही के लिए तर्क हमेशा असम्प्रदायिक होंगे। भारतीय राज्य को धर्मनिरपेक्षता के व्यवहार में यह समस्या है कि वह उत्तरोत्तर रूप से साम्प्रदायिक हितों के लिए दिखावा करता रहा है।

स्वतंत्रताप्राप्ति के समय भारत एक आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर लोकतंत्र के निर्माण के लिए नए एवं चुनौतीपूर्ण प्रयास की ओर बढ़ता हुआ एक ऐसा देश था जो अपने सभी नागरिकों को एक नज़र से देखता था। इस उद्यम के एक भाग के रूप में, भारत ने धर्मनिरपेक्षता का प्रण लिया, जिसको धर्म के आधार पर द्वि-शहर सिद्धांत तथा पाकिस्तान का जन्म के परिप्रेक्ष्य में कहीं अधिक महत्त्व मिल गया। सन्देश यही था कि भारत अपनी नागरिकता और राष्ट्रीयता का निर्माण धार्मिक पहचान के आधार पर नहीं करेगा। एक भारतीय होने का अर्थ था राष्ट्रीय आन्दोलन के आदर्शों और संविधान निर्माताओं की लोकतान्त्रिक परिकल्पना के प्रति वचनबद्ध होना।

डोनाल्ड यूजीन स्मिथ "इण्डिया एज़ ए सैक्यूलर स्टेट" शीर्षक से अपने उत्कृष्ट विश्लेषण में धर्मनिरपेक्ष राज्य की एक ऐसे रूप में परिभाषित करते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति व समष्टि को धार्मिक स्वतंत्रता की सुनिश्चितता प्रदान करता है, हर व्यक्ति को नागरिक मानता है चाहे उसका धर्म जो भी हो, किसी धर्म विशेष से संवैधानिक रूप से सम्बद्ध नहीं होता है, न ही धर्म को प्रोत्साहन देने अथवा उसमें हस्तक्षेप करने की चेष्टा करता है। विशेषत: यह बात दिलचस्प है कि "धर्मनिरपेक्ष" शब्द का भारतीय संविधान में मौलिक रूप से स्थान ही नहीं था, यद्यपि संविधान सभा के एक सदस्य के.टी. शाह ने दो अवसरों पर इस शब्द को पेश करने का प्रयास किया। काफी बाद में, 1976 में बयालिसवें संशोधन के एक अंग के रूप में यह हुआ कि 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द भारतीय संविधान की प्रस्तावना में शामिल कर लिया गया।

'धर्मनिरपेक्ष' शब्द को समाविष्ट करने की संविधान सभा की अनिच्छा के बावजूद, संविधान के प्रावधानों के एक सर्वेक्षण के अनुसार, राज्य धर्म से अलग रहेगा और सभी मतों के मानने वाले नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता सुनिश्चत करेगा, जबकि धर्म के आधार पर किसी नागरिक के साथ भेदभाव नहीं बरता जाएगा। इस प्रकार भारतीय संविधान, मौलिक अधिकारों के अध्याय में, अनुच्छेद 25-28 के माध्यम से धर्म की व्यक्तिगत व सामूहिक, दोनों, स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है। इसी अध्याय में, अनुच्छेद 15 व्यवस्था देता है कि राज्य किसी के प्रति भेदभाव नहीं करेगा, चाहे वह किसी भी धर्म, जाति, लिंग, प्रजाति और जन्म-स्थान का हो। अनुच्छेद 16 यह सुनिश्चित करता

है कि किसी भी भारतीय नागरिक से धर्म के आधार पर सार्वजनिक रोज़गार के मामलों में भेदभाव नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 25, धर्मज्ञान की स्वतंत्रता और किसी भी धर्म का मुक्त रूप से प्रचार करने, उसकी दीक्षा लेने और आचरण करने के अधिकार को सुनिश्चित करता है। आपको विदित होगा कि अभी हाल ही में धार्मिक मिशनरियों पर हिंसात्मक हमलों ने इस अधिकार का आधार ही बदल दिया है। इस हिंसा के दुर्भाग्यशाली शिकार अल्पसंख्यक थे, विशेषत: ईसाई। आशय यह लगता है कि हिन्दूवाद ही भारतीय कौम का सबसे प्रामाणिक धर्म है, और अन्य सभी धर्मों की उपस्थिति, खासकर जो विदेशी मूल के हैं, से भारत की राष्ट्रीयता को ख़तरा है। ऐसा तर्क, ज़ाहिर है, एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की मौलिक अवधारणाओं के विरुद्ध है जो कि हमारा संविधान भारत में स्थापित करना चाहता है।

अनुच्छेद 27 एवं 28, इसके आगे, धर्म की वैयक्तिक स्वतंत्रता को मजबूती प्रदान करते हैं– किसी धर्म विशेष को समर्थन देने के उद्देश्य से करारोपण पर रोक लगाकर और मान्यताप्राप्त अथवा राज्य द्वारा सहायताप्राप्त संस्थानों में धार्मिक शिक्षा पर रोक लगाकर। अनुच्छेद 28 सभी धर्मों को न्यास व संस्थान, खोलने और सम्पत्ति अर्जित करने व अपने निजी मामलों को निबटाने की स्वतंत्रता देता है।

अनुच्छेद 325 एवं 326, धर्म, प्रजाति व लिंग के आधार पर निर्वाचन व प्रतिनिधित्व क्षेत्र में नागरिकों के बीच भेदभावहीनता का सिद्धांत प्रदान करता है। भारत में कोई राज्य-धर्म नहीं है, न ही यह बहुसंख्यकों के धर्म को कोई संवैधानिक मान्यता प्रदान करता है, जबकि वास्तव में तथ्य यही है कि भारत सरकार के पास कोई पुरोहितीय विभाग है ही नहीं। ये सभी तथ्य मिलकर मोटे तौर पर यही प्रदर्शित करते हैं कि भारतीय संविधान ने कांग्रेस पार्टी और उसके 1931 में कराची सत्र में किए गए संकल्प "कि राज्य सभी धर्मों के विषय में तटस्थता अपनाएगा", का काफी हद तक पालन किया है। संवैधानिक प्रावधानों का एक सर्वेक्षण बहुत स्पष्ट रूप से एक धर्मनिरपेक्ष राज्य (कुछ असंगतियों के बावजूद) की संरचना का सुझाव देता है, यद्यपि, राजनीति, भारतीय राज्य का स्वभाव और कार्यप्रणाली इस संरचना से दूरी कायम रखने का सुझाव देते लगते हैं। एक आम-सहमति कि जवाहरलाल नेहरू इसका, और आर्थिक स्वावलम्बन, समतावाद और गुटनिरपेक्षता (विदेश-नीति के क्षेत्र में) जैसे अन्य सिद्धांतों का रास्ता गढ़ सकते थे, टूट गई लगती है। तब भारतीय अनुभव के साथ ऐसी क्या बात हो गई और यह क्यों हुआ, यह अगला प्रश्न है जो हम अब देखेंगे।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) अनुच्छेद 25-28 के प्रावधानों की चर्चा करें और दर्शाएँ कि कैसे वे भारतीय राज्य के धर्मनिरपेक्ष चरित्र को सुनिश्चित करते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) अनुच्छेद 325 व 326 के प्रावधानों की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

30.4 धर्मनिरपेक्षता को साम्प्रदायिक चुनौतियाँ

ऐसी आशा थी कि पूँजीवादी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के साथ एक हेतुवादी संलाप चल पड़ेगा और धर्म लोगों के जीवन के ऊपर नियंत्रण खो देगा। भारत में बहरहाल, पूँजीवाद का द्रुतगति से बढ़ना सम्प्रदायवाद के तीव्रीकरण के साथ ही हुआ। यह घातक रूप से हुआ है बावजूद इसके कि एक धर्मनिरपेक्ष संरचना के लिए प्रावधान और धर्मनिरपेक्ष ताकतों का सम्पूर्ण सांस्थानिक समर्थन हासिल हैं। इसके लिए निम्नलिखित कारक उत्तरदायी माने जा सकते हैं :

30.4.1 राष्ट्रीय आंदोलन का स्वभाव

संगठित साम्प्रदायिक चुनौतियों के रूप में धर्मनिरपेक्षता की इस हार का अन्वेषण करने के लिए हमें विभिन्न कारकों की जाँच करनी होगी। सुदीप्त कविराज ने धर्मनिरपेक्षता पर अपनी अनेक चर्चाओं में यह जताया है कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग की भयंकर भूलों में से एक थी इसका पूँजीवादी आधुनिकतावाद के लिए वांछित सांस्कृतिक पूर्वशर्तों के निर्माण की उपेक्षा किया जाना। स्वतंत्रता से पूर्व, राष्ट्रवादी संलाप ने यह स्पष्टता अनुभव किया कि धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद पर आधारित नई पहचान की भंगुरता जाति अथवा धर्म की अधिक सुपरिचित पहचानों के विरुद्ध है। स्वतंत्रता के बाद, बहरहाल, एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के निर्माण की इस राष्ट्रवादी परियोजना ने अपने लोकप्रिय गुण और वैचारिक उत्साह को खो दिया और मात्र राज्य की विचारधारा बनकर रह गई। शासक वर्ग यह स्पष्टतया अनुभव करने में असफल रहा कि भारतीय राष्ट्रवाद एक भंजनशील सृजन था और सतत् सांस्कृतिक व राजनीतिक पोषण चाहता था। इतिहास का राष्ट्रवादी लेखाजोखा जो भारत के बीते काल को एक 'मिश्रित संस्कृति' मानता है, विकृत रूप में सामने आया, तात्पर्य यह था कि इस सामंजस्य को भंग करने वाले उपनिवेशवाद के बुरे मनसूबे ही थे।

इतिहास के इस वर्णन में इस तथ्य को पूरी तरह से झुठलाया गया है कि भारतीय राष्ट्रवाद को अधिकतर शक्ति एक धर्मनिरपेक्ष मुहावरे से स्वयं नहीं मिली बल्कि धर्म, विशेषत: हिन्दूवाद के दवाबों, भाषा-पद्धतियों व प्रतीकों से मिली। हम यहाँ यह तथ्य भी रखेंगे कि कांग्रेस पार्टी स्वतंत्रतापूर्व अपनी राजनीति इस सिद्धांत के आधार पर चलाती थी भारत दो भिन्न संप्रदायों हिन्दू और मुसलमान से मिलकर बना है।

अकील बिलग्रामी ने भारतीय धर्मनिरपेक्षता की चुनौती को इसके बे-मोलतोल, आर्कमिडीयन लक्षण के परिणाम के रूप में पहचाना है। उनका तर्क यह है कि राष्ट्रीय आंदोलन ने समुदायों के बीच किसी रचनात्मक वार्तालाप को सुसाध्य नहीं बनाया जिसने सम्प्रदायवाद की एक मोलभाव की गई शर्त के आविर्भाव को सुनिश्चित किया होता। कांग्रेस पार्टी ने, उदाहरण के लिए, ऐसी किसी चर्चा को कभी भी गंभीरता से नहीं लिया। बिलग्रामी का मत है कि धर्मनिरपेक्षता को धार्मिक राजनीति की सीमा से अन्तर्मन से बाहर आना होगा, और इससे पहले कि एक खदबदाहटपूर्ण स्थिरबुद्धि सत्ता कायम हो जो धार्मिक और राजनीतिक वचनों से मुक्त होती है। ऐसी एक मोलभाव की गई धर्मनिरपेक्षता ने, उदाहरण के लिए, अल्पसंख्यकों के प्रति नाराज़गी को टाल दिया होता क्योंकि उनका विशेष दर्ज़ा एक ग़ैर-मोलतोल की धर्मनिरपेक्षता के परिणामस्वरूप है।

बिना करार की इस धर्मनिरपेक्षता की रक्षा करना उत्तरोत्तर रूप से मुश्किल होता जा रहा है। इस प्रकार, यह टिप्पणी वास्तव में आश्चर्यजनक नहीं है कि संप्रदायवाद आज कोई विपथगमन नहीं रहा है जो भारत राष्ट्र के हाशियों पर है, लेकिन जैसा कि रजनी कोठारी उल्लेख करती हैं, यह राजनीतिक व्यवस्था का एक अंग बन गया है। ऐसा नहीं कि राज्य साम्प्रदायिक ताकतों का शिकार बन गया है, बल्कि सम्प्रदायवाद भारतीय राज्य की तर्क-संगति का सीधा-सीधा परिणाम दिखाई पड़ता है। यद्यपि भारतीय समाज ने इसे धर्मनिरपेक्ष कार्यसूची की एक औपचारिक स्वीकृति प्रदान की थी, वास्तविकता यह है कि धर्मनिरपेक्षता को समझने में गांधीवादियों और नेहरूवादियों के बीच मतभेदों से परे, राजनीतिक वर्ग का एक पूरा भाग ऐसा था जो संशयवादी और इन धर्मनिरपेक्ष आदर्शों को स्वीकार करने का अनिच्छुक भी था।

30.4.2 चुनावीय राजनीति और लोकतंत्रीय संस्थाओं का पतन

धर्मनिरपेक्षता के आदर्शों के प्रति अनिश्चित वचन के चरमोत्कर्ष का अर्थ है उन सभी बड़े राजनीतिक दलों द्वारा साम्प्रदायिक आशंकाओं और संवेदनशीलताओं का एक असैद्धांतिक शोषण, जिनमें शामिल मुख्य दलों में एक दल कांग्रेस पार्टी है। धर्म का यह विषादयुक्त उपयोग अस्सी के दशक में एक चुनावीय रणनीति के रूप में परिष्कृत हुआ जिसके विनाशकारी परिणाम हुए। कांग्रेस जो अपना लोकप्रिय आंदोलन-लक्षण काफी पहले से छोड़ चुकी थी, अब चुनाव जीतने की एक मशीन मात्र हो गई थी। पार्टी का बहुधर्मी समाज का वायदा जल्द ही वोट-बैंक की राजनीति में अध:पतित हो गया जहाँ चुनावीय उद्देश्यों के लिए बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदाय की केवल सांख्यकीय शक्ति का ही महत्त्व था।

तीक्ष्ण होते सामाजिक व आर्थिक विवाद और प्रचण्ड पर्यावरणीय ह्रास जिसके कारण जनसाधारण से उनकी आजीविकाएँ छिन गईं, ने आम असंतोष को एक दूर-दूर तक व्याप्त वास्तविकता बना दिया। सत्तर के दशकांत तक कांग्रेस को यह स्पष्ट होने लगा था कि उसके पहले वाले समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता के नारे पारम्परिक समर्थकों के बीच अपना प्रभाव खोने लगे थे क्योंकि ये नारे मात्र नारे ही रहे, और समाज के ग़रीब और हाशिए के तबकों, जिनमें कई पारम्परिक कांग्रेस समर्थक थे, के जीवन में ये कोई महत्त्वपूर्ण बदलाव नहीं लाए। ये तबके धीरे-धीरे कांग्रेस से दूर हो गए। पार्टी ने पलटकर एक नए निर्वाचन क्षेत्र की ओर रुख़ कर लिया और अस्सी के दशक में परिश्रमपूर्वक हिन्दू मध्यम और निम्नतर वर्गों को तैयार किया जो कि उत्तरोत्तर रूप से विभिन्न पिछड़ी जाति और निचले दर्ज़े आंदोलनों से अपने को भयग्रस्त महसूस कर रहे थे। ये आंदोलनकारी इस तथ्य को लेकर काफी शक्ति और लोकप्रियता हासिल कर रहे थे कि राष्ट्रीय विकास परियोजना बिल्कुल उनके पास से होकर गुजर चुकी है। कांग्रेस पार्टी द्वारा एक मुक्तरूप से बहुमतवादी राजनीति का अपनाया जाना उसकी स्वायत्त शासन के बुर्जुआ सलाहकारी सिद्धांत वाली ऐतिहासिक

भूमिका के बिल्कुल विपरीत था। कांग्रेस ने इस प्रकार और अधिक विस्तृत सामाजिक मामलों की छद्म-क्रीड़ा की रणनीति अपनाई और बहुमत समुदाय से सीधे-सीधे समर्थन माँगने का निर्णय लिया। यह रणनीति थी भारत देश को उत्तरोत्तर रूप से बहुसंख्यक समुदाय के शब्दों में परिभाषित करना, इस प्रकार साम्प्रदायिक राजनीति के लिए आधार बनाना जिसने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का रूप ले लिया।

इस प्रकार, आम असंतोष ओर माँगों के प्रत्युत्तर की बजाय साम्प्रदायिक तेवर उत्पन्न करने वाली भावनाओं व अनुभूतियों को शामिल करके मामलों का एक और सेट थोपने का प्रयास किया गया। सामान्यत: साम्प्रदायिक राजनीति, और विशेषत: भारतीय जनता पार्टी जैसे दलों, को सर्वसम्मति के ढेर हो जाने से लाभ मिला जो भारतीय राजनीतिक संभ्रान्त वर्ग को धर्मनिरपेक्षता, आर्थिक स्वाबलम्बन और गुटनिरपेक्षता से प्राप्त था।

चुनावीय मज़बूरियों के चलते कांग्रेस ने एक बहुमतवादी मार्ग को छोड़कर एक तकनीकी-नौकरशाही-सैन्य मार्ग पकड़ा जहाँ राज्य नीचे से मिलने वाली किसी भी चुनौती को कुचलने का हथियार था बजाय इसके कि वह परिवर्तन और रूपांतरण का मुख्य अभिकर्ता हो।

साम्प्रदायिक हिंसा की बढ़ती घटनाओं से परे, अब तक अछूते ग्रामीण क्षेत्रों में साम्प्रदायिक राजनीति व हिंसा का फैलाव उस धर्मनिरपेक्ष संरचना पर अभी एक और बड़ा ख़तरा है जिसे बुनने का भारतीय राज्य प्रयास कर रहा था। इस घटनाक्रम ने विभिन्न "हिन्दू सांस्कृतिक गुटों" के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ प्रदान कीं, जैसे विश्व हिन्दू परिषद् व अन्य के लिए जो 'हिन्दू' समुदाय के विकास के लिए पुनर्निर्माण और एकीकरण में संलिप्त होने का दावा करते थे। उन्होंने भारतीय डाइस्पर (Diaspora) के एक तबके से काफी समर्थन जुटा भी लिया। ये संगठन उस मध्यम वर्ग के कुछ खास डरों का जवाब दे सकने में समर्थ थे जो चाहता था कि सत्ता की पारम्परिक संरचनाओं और अनुक्रम को कोई चुनौती न दे जबकि साथ ही वे आधुनिक विपणन स्थान व अर्थव्यवस्था के उदारदानों की इच्छा भी रखते थे।

इस चरण ने, इस प्रकार, लोकतांत्रिक राजनीति और दल-पद्धति व राजनीतिक संस्थाओं का पूरी तरह अपयश होते देखा। परिणामी रिक्तता को, रजनी कोठारी के मतानुसार, साम्प्रदायिक ताकतों द्वारा भरा गया है। यह भारतीय राज्य की धर्मनिरपेक्ष संरचना को निश्चित रूप से एक बड़ी चुनौती है।

30.4.3 पूँजीपति विकास का स्वभाव और भारतीय शासक वर्ग का चरित्र

शासकवर्गीय राजनीति की अपनी प्रकृति ही, रणधीर सिंह के अनुसार, भारत में समुदायवाद का मुख्य कारण है। सम्प्रदायवाद का बढ़ता कद और धार्मिक पुनर्जागरणवाद आदि, जैसे संबंधित प्रपंच, उनका तर्क है, एक और भारतीय राज्य-व्यवस्था और शासक वर्ग की राजनीति में संकट-काल की तह तक समानुपात में हैं, और दूसरी ओर जनता की वाम व वर्ग-आधारित राजनीति के अस्तित्व व शक्ति के व्युत्क्रमानुपात में। अतैव, उन्होंने भारत में धर्मनिरपेक्षता को साम्प्रदायिक चुनौती को अपनी ऐतिहासिक रूप से पूँजीवादी विकास वाली विशिष्ट शैली के अधीन एक ऐसे समाज में भारतीय शासक-वर्गों की राजनीतिक विचारधारा व व्यवहार के रूप में परिभाषित किया है जो बृहत् सामंती-औपनिवेशिक विरासत, गहरे धार्मिक विभाजनों वाला है।

तर्क यह है कि विकास के चार दशकों ने भारतीय समाज की गहरी असमान प्रकृति को परिवर्तित नहीं किया है, वास्तव में पूँजीवादी विकास ने सामाजिक तनावों को बढ़ाया है। चूँकि उपलब्ध अवसर

स्वभावत: सीमित हुआ करते हैं, संकीर्ण और अनन्यतावादी स्वार्थों को प्रोत्साहित करने वाली राजनीति और विचारधारा ही अल्पसंख्यकों के विरुद्ध इस सामाजिक तनाव को दिशा देती हैं। वास्तव में, यह सत्य है कि जीवन की परिस्थितियाँ बदतर हुई हैं और पृथक्करण बढ़ा है। यह असन्तोष जो कि लोग अमीर व गरीब के बीच लोकतांत्रिक संघर्षों के माध्यम से पाटने की बजाय गहरी की जा रही खाई के कारण मानते हैं, एक पुनर्जागरणवादी और भड़कीली धार्मिकता के माध्यम से व्यक्त किया जा रहा है जिसको कई मायनों में मीडिया ने भी समर्थन दिया है। मुख्य दूरदर्शन चैनलों पर देखा जा सकता है किस प्रकार धार्मिक अतिरंजिकाओं को पेश करने की होड़-सी लगी है। अस्सी के दशक में धार्मिक आग्रह के बृहत् आधार को चौड़ा करने का सभिप्राय प्रयास देखा गया – बड़े पैमाने पर और लगभग पूरी तरह लाभ कमाने के उद्देश्य से किए जाने वाली कुछ चुनींदा त्योहारों का आयोजन उस वृहद्तर रणनीति का हिस्सा है जो स्थानीय त्योहारों व अनुष्ठानों के महत्त्व को प्रतिस्थापित कर और धार्मिक 'सार्वभौमिक हिन्दूवाद' उत्पन्न करने के लिए है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारतीय धर्मनिरपेक्षता का बे-मोल तोल अथवा आर्कमिडीयन जैसा चरित्र-चित्रण करने से क्या तात्पर्य है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) अस्सी के दशक में कांग्रेस पार्टी की चुनावीय रणनीति के परिणामों के कारण संक्षेप में स्पष्ट करें।

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारत में धर्मनिरपेक्षता को साम्प्रदायिक चुनौती को रणधीर सिंह ने कैसे परिभाषित किया है?

.....

.....

30.5 धर्मनिरपेक्षता को प्रति-आधुनिकतावादी चुनौती

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर यह स्पष्ट है धर्मनिरपेक्ष राज्य, इसकी संरचना और स्वयं धर्मनिरपेक्ष राजनीति को आज उस सम्प्रदायवाद की बढ़ती ताकतों द्वारा गंभीर चुनौती दी जा रही है जिसकी जड़ें विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक व चुनावीय कारकों में हैं। बौद्धिक रूप से भी, शैक्षिक और पत्रकारिता साहित्य, दोनों में एक-के-बाद-एक ऐसी रचनाएँ हुई हैं जो आज मुक्त रूप से भारत में धर्मनिरपेक्ष राज्य और इसकी संस्थाओं के विरुद्ध तर्क देती हैं। इन तर्कों के परे जो कि एक विशुद्ध साम्प्रदायिक प्रकृति के हैं और इस कारण वाग्मितापूर्ण हैं, बौद्धिक रूप से परिष्कृत ऐसे तर्क भी हैं जो भारत में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य और राजनीति के अर्थ और उद्देश्य पर प्रतिवाद की फ़िराक में रहते हैं।

ऐसे भी पर्यवेक्षक हैं जो कहते हैं कि धर्मनिरपेक्षता की पाश्चात्य अवधारणा भारतीय समाज के उपयुक्त नहीं है। इसका तात्पर्य है उस धर्मनिरपेक्षता की विफलता। अशीष नन्दी, उदाहरण के लिए, तर्क देते हैं कि धर्मनिरपेक्षता की विचारधारा और राजनीति, जैसा कि पाश्चात्य अर्थ में समझा गया है, न्यूनाधिक अपनी संभावनाएँ समाप्त कर चुके हैं। धर्मनिरपेक्षता का पाश्चात्य अर्थ, उनका कहना है, अवश्य ही धर्म के विरुद्ध है और मानता है कि केवल सार्वभौमिक श्रेणियाँ ही सार्वजनिक क्षेत्र को नियंत्रित कर सकती हैं। धर्म, इस प्रकार, किसी भी आधुनिक राज्य-व्यवस्था के लिए ख़तरा माना जाता है क्योंकि यह सार्वभौमिक नहीं होता। नन्दी के अनुसार, धर्मनिरपेक्षता एक विचाधारा के रूप में विफल रही है क्योंकि इसको आज एक बड़े पैकेज के हिस्से के रूप में देखा जा रहा है जिसमें मानकीकृत विचारधारागत उत्पादों और विकास, महाविज्ञान और राष्ट्रीय सुरक्षा जैसी सामाजिक प्रक्रियाओं का एक सेट शामिल है। राज्य के बल से समर्पित ये तत्त्वत: उग्र विचारों के रूप में दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि धर्मनिरपेक्षता समेत इन विचारों में से किसी को समर्थन देने के लिए, राज्य तर्कसंगत रूप से हिंसा का प्रयोग कर सकता है। नन्दी इस बात की आलोचना करते हैं कि जब आधुनिक राष्ट्र-राज्य आस्तिकों को अपनी निजी आस्थाएँ सार्वजनिक जीवन से दूर रखने का आग्रह करता है तो यह सुनिश्चित करना असंभव होता है कि धर्मनिरपेक्षवाद, विकास और राष्ट्रवाद की विचारधाराएँ स्वयं ही अन्यों के प्रति असहिष्णुता वाली आस्थाओं के रूप में व्यवहार न शुरू कर दें। ऐसी परिस्थितियों में राज्य की भूमिका की तुलना नन्दी द्वारा धार्मिक विचारधाराओं की धर्मयुद्ध वाली और अनुसंधानात्मक भूमिका से की गई है।

इसके अलावा, यह कथन तथ्याधारित नहीं है कि एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की धर्मनिरपेक्ष विचारधारा से व्युत्पन्न मान्यताएँ राजनीतिक क्रियातंत्र के लिए और धार्मिक सिद्धांतों पर आधारित मूल्यों व राजनीति की अपेक्षा कम उग्र और समृद्धतर राजनीतिक जीवन के लिए किसी भी प्रकार से एक बेहतर मार्गदर्शक हो सकती हैं। नन्दी का दावा है कि एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य के सार-सिद्धांत विषयीकरण, वैज्ञानिकीकरण, और नौकरशाही-समझदारी केवल हिंसा ही फैला सकते हैं। ऐसे राज्यों में संभ्रान्त वर्ग शासनकला को विशुद्ध 'धर्मनिरपेक्ष' ओर 'नीतिनिरपेक्ष' शब्दों से तौलते हैं, इस प्रकार धर्म और जातीयता को राष्ट्र-निर्माण व राज्य के गठन की बृहत् परियोजना के रास्ते की अड़चनें मानते हैं। इस प्रकार, नंदी तर्क देते हैं, धर्म-निरपेक्षता की पाश्चात्य संकल्पना वैधता प्रदान

करती सार-संकल्पनाओं के एक सेट के लिए सुचालनीय सहायक बन जाती है, इस विचारधारा को स्वीकार करना, उनका दावा है, सत्ता के औचित्य और स्वीकृति को तथा प्रगति व आधुनिकता के नाम पर कर बैठी गई हिंसा को प्रेरित करता है। यह उन अनुनायियों के बीच घृणा ओर हिंसा भी उत्पन्न करता है जो एक ऐसी दुनिया का सामना कर रहे हैं जो उनके चंगुल से तेज़ी से निकलती जा रही है।

इस प्रकार की धर्मनिरपेक्षता उन लोगों पर थोपी गई है जो राजनीति से धर्म को कभी अलग नहीं करना चाहते थे, इस अधिरोपण को एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य का सृजन पूरा करने के लिए आवश्यक वांछनीयताओं के अंग के रूप में रखना पड़ा, इसने यद्यपि भारत की आम जनता को बहुत मायूस किया, जिनके पास आधुनिकता के नाम पर देश की नृशंसताओं के विरुद्ध लड़ाई के सिवा कोई रास्ता न रहा, एकमात्र धार्मिक राजनीति की ओर मुड़े जो अनुमति आधुनिकता ही देती, नामत: साम्प्रदायिक राजनीति। इस प्रकार, व्यावहारिक रूप में धर्मनिरपेक्षता ही है जो संप्रदायवाद को जन्म देती है। असहिष्णुता दोनों ही से संबद्ध है, जिसने कि उस सहनशीलता के गुण का स्थान ले लिया है जो धर्म के आधार पर संगठित परम्परागत समाज की विशेषीकृत करती रही है।

30.6 बचाव क्या है?

इस तरह की चर्चा अधूरी रहेगी यदि हम धर्मनिरपेक्षता को मिल रही साम्प्रदायिक चुनौतियों का जवाब देने के तरीकों पर एक नज़र न डालें। साम्प्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष को एक ऐसा संघर्ष बनाना होगा जो मात्र साम्प्रदायिक के विरुद्ध होने से कहीं अधिक हो, यह अपेक्षाकृत अधिक भागीदारी के लिए एक वृहद्तर संघर्ष का अंग और समाज का समतावादी आदर्श हो। इसको आवश्यक रूप से उन सभी आंदोलनों को साथ लेकर चलना होगा जो अन्याय, क्रम-परंपरा और उत्पीड़न के प्रश्नों के उत्तर पाने की चेष्टा में हैं। इस प्रकार, नारी-आंदोलन, दलित-आंदोलन और हमारे समाज के पददलित और हाशिये पर के तबकों के अन्य आंदोलनों को साम्प्रदायिक चुनौती का एक धर्मनिरपेक्ष जवाब देने के लिए एक साथ सामने आना होगा।

मनोरंजन मोहन्ती का तर्क है कि धर्मनिरपेक्षता तभी अर्थपूर्ण हो सकती है जब यह लोकतांत्रिक रूपान्तरीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया का एक अंग बन जाए। अब तक हमने भारत में जो देखा है वो है एक राज्य द्वारा थोपी गई धर्मनिरपेक्षता जो उत्तरोत्तर रूप से सत्तावादी बन चुकी है, इसके विपरीत धर्मनिरपेक्षता को सामाजिक-राजनीतिक प्रभुत्व के विरुद्ध कहीं अधिक विस्तृत संघर्ष का एक अंग बनना होगा।

इस संघर्ष का एक बहुत महत्त्वपूर्ण पहलू होना चाहिए हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं का ध्यानपूर्वक पुनर्परीक्षण, और परम्परा और संस्कृति के प्रश्नों के साथ एक सक्रिय आबन्ध, ताकि इस बात में संशय न रहे कि संस्कृति एक बहुत महत्त्वपूर्ण धुरी है जिसके इर्द-गिर्द आजकल खूब साम्प्रदायिक लामबन्दी चल रही है। इस प्रकार, धर्मनिरपेक्षता को भारत की आम जनता के उस संघर्ष का हिस्सा बनना होगा जो कि वे अपने ऐसे जीवन के अधिकार के लिए कर रहे हैं जो गौरवपूर्ण हो और राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक रूप से स्वतंत्र हो।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) भारत में धर्मनिरपेक्षता की असफ़लता को आशीष नन्दी ने किस पर आरोपित किया है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) आज हमारे देश को डराने वाली साम्प्रदायिक चुनौतियों के विरुद्ध लड़ने की रणनीति पर संक्षेप में चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

30.7 सारांश

भारतीय धर्मनिरपेक्षता इस धारणा पर आधारित थी कि राज्य धर्म से एक सैद्धांतिक दूरी बनाकर रखेगा लेकिन आवश्यकता पड़ने पर उठने वाले धर्म-संबंधी मामलों पर स्वयं ही सम्बोधन देगा। बहरहाल, मौलिक नियम यह रखेगा कि तटस्थता रखने और हस्तक्षेप करने, दोनों, के लिए तर्क हमेशा असम्प्रदायिक होगा। धर्मनिरपेक्षता के भारतीय राज्य के व्यवहार में यह दिक्कत रही है कि यह उत्तरोत्तर रूप से साम्प्रदायिक हितों के लिए काम करती रही है। संवैधानिक प्रावधानों के एक सर्वेक्षण ने बहुत स्पष्ट तौर पर एक धर्मनिरपेक्ष राज्य (कुछ असंगतियों के बावजूद) के ढाँचे का सुझाव दिया है, यद्यपि भारतीय राज्य की राजनीति, प्रकृति और कार्यात्मकता इस ढाँचे से दूर ही एक अभिप्राय सुझाते लगते हैं। लोकतांत्रिक राजनीति, दल-व्यवस्था और राजनीतिक संस्थाओं की घटती प्रतिष्ठा ने एक शून्य-स्थान बना दिया है जो सांप्रदायिक ताकतों द्वारा घेर लिया गया है। यह निश्चित रूप से भारत राज्य के धर्मनिरपेक्ष ढाँचे के लिए एक बड़ी चुनौती है। इस चुनौती से लड़ने के लिए, धर्मनिरपेक्षता के लिए संघर्ष को भारत की आम जनता के उस संघर्ष का हिस्सा बनना होगा, जो कि वे अपने ऐसे जीवन के अधिकार के लिए कर रहे हैं जो गौरवपूर्ण हो और राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक रूप से स्वतंत्र हो।

30.8 शब्दावली

आर्कमिडीयन धर्मनिरपेक्षता : भारतीय धर्मनिरपेक्षता अपने आर्कमिडीयन अथवा बे-मोलतोल स्वभाव का होने के कारण साम्प्रदायिक चुनौतियों से निबटने में पर्याप्त शक्तिशाली नहीं है, यह विभिन्न संप्रदायों के बीच बहस और बातचीत का परिणाम नहीं है।

30.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

राजीव भार्गव (सं०), *सैक्यूलरिज़्म एण्ड इट्स क्रिटिक्स*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली, 1998.

30.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

आपके उत्तर में निम्नलिखित बिन्दु आने चाहिए :

1) राज्य-व्यवस्था के साथ पहचान का एक सशक्त भाव उत्पन्न करना आवश्यक है।

2) जॉर्ज जैकब होल्योक, और इसका अर्थ है
   - राज्य से धर्म का विलगन
   - हर किसी को ऐसा जीवन जीने की आज़ादी जिसमें तर्क, न कि धर्म, पथ-प्रदर्शक कारक हो।
   - भारतीय संदर्भ में लोग सामान्यत: इसे एक फलसफे के अर्थ में स्वीकारते हैं जो हमारे जैसे बहु-धर्मी समाज को सद्भावना के साथ अस्तित्व में रहने योग्य बनाता है।

बोध प्रश्न 2

आपके उत्तर में निम्नलिखित बिन्दु आने चाहिए :

1) अनुच्छेदों के प्रावधानों की चर्चा और इन अधिकारों पर वर्तमान विवाद का संदर्भ।

2) अनुच्छेदों के प्रावधानों की चर्चा, दोनों ही उत्तरों में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य-व्यवस्था में ऐसे अधिकारों को रखने की आवश्यकता पर चर्चा हो।

बोध प्रश्न 3

आपके उत्तर में निम्नलिखित बिन्दु आने चाहिए :

1) भारतीय धर्मनिरपेक्षता साम्प्रदायिक चुनौतियों से निबटने के लिए पर्याप्त सबल नहीं है क्योंकि यह आर्कमीडियन अथवा बे-मोलतोल स्वभाव का है, यह विभिन्न संप्रदायों के बीच बहसों व बातचीतों का परिणाम नहीं है।

2) सत्तर के दशक के अंत तक कांग्रेस को यह स्पष्ट हो गया कि उसके समाजवाद व धर्मनिरपेक्षता के पूर्व-प्रयुक्त नारे परम्परावादी समर्थकों के बीच तेज़ी से असर खोते जा रहे हैं क्योंकि ये नारे मात्र नारे रहे और समाज के ग़रीब और हाशिये पर रख छोड़े तबकों जिनमें अनेक परम्परावादी कांग्रेस समर्थक थे, के जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं लाए। ये तबके धीरे-धीरे कांग्रेस से अलग हो गए। पार्टी ने अब एक नए चुनाव-क्षेत्र की ओर रुख किया और,

अस्सी के दशक में परिश्रम से हिन्दू मध्यम व निम्न वर्गों को उपजाया जो विभिन्न पिछड़ी जातियों व निचले दर्जे के आंदोलनों के दवाब द्वारा निरंतर डरा हुआ महसूस कर रहे थे। इस प्रकार, उसने साम्प्रदायिक राजनीति की भूमिका तैयार की जिसने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का रूप ले लिया।

3) उसने भारत में धर्मनिरपेक्षता को सांप्रदायिक चुनौती को ऐसे परिभाषित किया है – एक सामूहिक सामन्ती-औपनिवेशिक उत्तराधिकारिता वाले, अपने ही गहरे धार्मिक विभाजनों को झेलते, ऐतिहासिक रूप से पूँजीवादी विकास के आकार वाले एक समाज में भारतीय शासक वर्गों की विचारधारा और राजनीति का अभ्यास।

बोध प्रश्न 4

आपके उत्तर में निम्नलिखित बिन्दु आने चाहिए :

1) यह असफल रहा क्योंकि इसको आज एक बड़े पैकेज से हिस्से के रूप में देखा जा रहा है जिसमें मानकीकृत वैचारिक उत्पाद तथा विकास, महा विज्ञान व राष्ट्रीय सुरक्षा जैसी सामाजिक प्रक्रियाओं का एक सेट शामिल है। राज्य के कृपा-बल से इसके अन्दर कहीं 'हिंसा' लिखा गया है।

2) आपके उत्तर में निम्नलिखित बिंदु आने चाहिए :

- धर्म-निरपेक्षता के लिए संघर्ष, भारत के जन सामान्य का उनके ऐसे जीवन के अधिकार के लिए संघर्ष का हिस्सा हो जो कि गौरवपूर्ण और राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक रूप से मुक्त हो।
- सांस्कृतिक प्रश्नों से जूझना भी इस संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण भाग है।

इकाई 31 समानता की खोज में लोकतंत्र

इकाई की रूपरेखा

31.0 उद्देश्य
31.1 प्रस्तावना
31.2 लोकतंत्र और समानता
31.3 संविधान में समानता की अवधारणा
  31.3.1 संविधान की प्रस्तावना
  31.3.2 मौलिक अधिकार और नीति-निर्देशक सिद्धान्त
  31.3.3 अन्य प्रावधान
  31.3.4 अल्पसंख्यकों के अधिकार
31.4 संरक्षात्मक भेद : आरक्षण की नीति
31.5 पिछड़ी जातियों का अभिकथन
31.6 महिलाओं के लिए समानता
  31.6.1 निर्णय लेने वाले संकायों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व
31.7 सारांश
31.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
31.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

31.0 उद्देश्य

भारतीय समाज पर जाति, पंथ, लिंग, आर्थिक स्थिति, आदि के आधारों पर असमानता की छाप है। भारत ने लोकतान्त्रिक व्यवस्था को इसलिए अपनाया ताकि ऐसे समाज का निर्माण हो सके जो न्याय और समानता के सिद्धांतों पर आधारित हो। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद, आप इस योग्य होंगे कि ये बातें समझ सकें:

- लोकतंत्र और समानता के बीच संबंध; और
- भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के बीच समानता लाने से सम्बन्धित संविधान में प्रावधान।

31.1 प्रस्तावना

सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार के सिद्धांत पर आधारित एक लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना ही भारत में उत्तर-औपनिवेशिक राज्य के लिए एक बड़ी उपलब्धि थी जिसने, कम-से-कम सिद्धांततः ही, देश के सामाजिक-आर्थिक व रणनीतिक जीवन में सभी व्यक्तियों की समान भागीदारी सुनिश्चित की, चाहे वे किसी भी जाति, पंथ, लिंग व सामाजिक मूल के हों। राजनीतिक लोकतंत्र के प्रवेश की कल्पना सामाजिक एवं आर्थिक लोकतंत्र के एक साधन के रूप में की गई। यह राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा में सभी समूहों एवं सम्प्रदायों को शामिल करने पर अभिलक्षित था। एक उपसिद्धान्त के रूप में, भारत के संविधान ने न केवल एक लोकतान्त्रिक गणतंत्र का सृजन किया बल्कि इसके सभी नागरिकों के लिए समानता, स्वतंत्रता और न्याय सुनिश्चित करने का वचन भी दिया। राज्य को इस लोकतंत्रीय प्रबन्ध में सामाजिक-आर्थिक कायान्तरण के एक अभिकारक के रूप

में देखा गया। इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठते हैं जिनका भारत में लोकतान्त्रिक अनुभव के गत पाँच दशकों के अनुभवों के आधार पर उत्तर दिए जाने की आवश्यकता है। क्या भारत में राज्य संविधान के संस्थापक-जनकों के आदर्शों को पूरा कर पाया है? क्या राजनीतिक लोकतंत्र उसको मिली असमान सामाजिक और आर्थिक अवस्था के अनुरूप है? क्या राजनीतिक लोकतंत्र सामाजिक व आर्थिक प्रजातंत्र के आदर्शों को आगे बढ़ाने और लोकार्पित करने में सहायक रहा है? क्या लोकतंत्र को चुनावीय प्रक्रिया में अधिकतर नागरिकों की राजनीतिक भागीदारी के शब्दों में सहज ही प्रसंगाधीन किया जा सकता है? क्या सत्तावाचक लोकतंत्र का आदर्श प्रक्रियात्मक लोकतंत्र के साथ आगे बढ़ा है? ये कुछ प्रश्न हैं जो हमारा ध्यान आमने-सामने डटे भारत तथा लोकतंत्र की समस्यात्मकता और उसकी क्रियात्मकता के विश्लेषण की ओर आकर्षित करते हैं। आगे के पाठांश भारत में लोकतंत्र की गत्यात्मकता का विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं, विशेषत: समानता और न्याय के सिद्धान्त पर आधारित एक व्यवस्था को स्थापित करने की इसकी तलाश के शब्दों में।

31.2 लोकतंत्र और समानता

लोकतंत्र का विचार और सिद्धान्त समानता के सिद्धान्त से विलग नहीं किया जा सकता। इसके अलावा, राजनीतिक लोकतंत्र पद का प्रतिष्ठा की सुस्पष्ट असमानता की स्थिति में सामाजिक व आर्थिक समानता सुनिश्चित किए जाने का पर्याप्त आधार नहीं हो सकता। सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र की अवधारणा विश्व के उन लोगों के बीच अधिक आकर्षण पैदा कर रही है जो सामाजिक अवस्थिति और आर्थिक स्थिति की वजह से बहिष्कृत और वंचित किए गए हैं। इसीलिए, लोकतंत्र के व्यवहार्य अवलोकन का प्रश्न खड़ा है। यह तर्क दिया जाता है कि सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार की गारण्टी लोकतंत्र की सफलता का कोई पर्याप्त आधार नहीं है। निर्वाचन प्रक्रिया में औपचारिक भागीदारी चुनाव में भाग लेने के समान अवसर का एक संकेतक मात्र है। इस भागीदारी का महत्त्व अनेक सामाजिक और आर्थिक अवरोधों से घट सकता है। भारत में, राजनीतिक भागीदारी के अवसर, काफी हद तक, व्यक्ति विशेष की सामाजिक-आर्थिक स्थिति से निर्धारित होते हैं। उदाहरण के लिए, दलितों, अन्य पिछड़े वर्गों, अल्पसंख्यकों एवं महिलाओं के वोटों का प्रतिशत गत वर्षों में बढ़ा है लेकिन उनमें से अधिकतर अभी तक इस प्रक्रिया में भाग नहीं लेते। उनकी प्रभावी भागीदारी भावनात्मकता की स्थिति बनाए बगैर सुनिश्चित नहीं की जा सकती। यह भावनात्मकता वास्तविक समानता सुनिश्चित करके ही विकसित की जा सकती है। अवसर की समानता के शब्दों में मात्र राजनीतिक समानता समाजिक और आर्थिक असमानता के मामले में वियोजन का सामना करेगी। इसी प्रकार, राजनीतिक लोकतंत्र के आदर्श को सामाजिक एवं आर्थिक लोकतंत्र का समर्थन देना होगा। यही वह स्थिति है जिसके तहत व्यवहार्य लोकतंत्र एवं वास्तविक लोकतंत्र के बीच द्वैदाश्य का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। लोग अपने नागरिकता के राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग प्रभावशाली ढंग से करने योग्य होंगे और यही बात सच्चे अर्थों में लोकतंत्र के आदर्शों को आगे बढ़ाएगी।

31.3 संविधान में समानता की अवधारणा

भारतीय संविधान के जनक राजनीतिक लोकतंत्र की मर्यादाओं से पूरी तरह भिज्ञ थे। यह 25 नवम्बर, 1949 को भारतीय संविधान सभा को दिए गए डॉ० भीमराव अम्बेडकर के अन्तिम संबोधन से काफी कुछ स्पष्ट है :

> " सामाजिक धरातल पर, भारत में हमारा समाज ऐसा है जो श्रेणीकृत असमानता के सिद्धान्तों पर आधारित है जिसका अर्थ कुछ का उत्थापन और अन्य का निम्नीकरण।

आर्थिक धरातल पर, यह समाज ऐसा है जिसमें कुछ ऐसे हैं जिनके पास अपार धन-दौलत है जबकि दूसरी ओर अनेक दयनीय विपन्नता में रहते हैं। 26 जनवरी, 1950 को हम अन्तर्विरोधों के जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीति में यहाँ समानता होगी और सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में यहाँ असमानता होगी। राजनीति में 'एक व्यक्ति एक वोट' और एक वोट एक मूल्य' का सिद्धान्त जाना जाएगा। हमारे सामाजिक और आर्थिक जीवन में हम, अपनी सामाजिक एवं आर्थिक संरचना के कारण, 'एक व्यक्ति एक मूल्य' के सिद्धान्त को नकारते रहेंगे। हम अन्तर्विरोधों के इस जीवन को कब तक जीते रहेंगे? कब तक हम अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में समानता को नकारते रहेंगे? यदि हम इसको लम्बे समय तक नकारते ही रहे तो हम ऐसा करके सिर्फ हमारे राजनीतिक लोकतंत्र को जोख़िम में डालेंगे। हमें इस अन्तर्विरोध को यथाशीघ्र समाप्त कर देना चाहिए अन्यथा वे जो असमानता को भुगत रहे हैं राजनीतिक लोकतंत्र की संरचना को छिन्न-भिन्न कर डालेंगे

इसलिए उन्होंने तर्क रखा,

"हमें यह करना है कि मात्र राजनीतिक लोकतंत्र से ही न संतोष कर लें। हमें अपना राजनीतिक लोकतंत्र एक सामाजिक लोकतंत्र भी बनाना होगा। राजनीतिक लोकतंत्र सामाजिक लोकतंत्र की नींव के बिना नहीं चल सकता। सामाजिक लोकतंत्र का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है जीवन का वह मार्ग जो उदारता, समानता और भाईचारे को जीवन के सिद्धांतों के रूप में पहचानता है। उदारता, समानता और बन्धुत्व के ये सिद्धान्त एक त्रय में भिन्न बातें न मानकर चला जाए। ये तिकड़ी का एक संघ इस अर्थ में बनाती हैं कि एक को दूसरे से जुदा करना लोकतंत्र के मुख्य उद्देश्य को विफल करना है। उदारता को समानता से विलग नहीं किया जा सकता, समानता को उदारता से विलग नहीं किया जा सकता। न ही उदारता और समानता को भाईचारे से विलग किया जा सकता है। समानता के बिना उदारता अनेक पर कुछ के आधिपत्य को जन्म देगी। उदारता के बिना समानता व्यष्टिक पहल को खत्म कर देगी। बन्धुत्व के बिना उदारता और समानता को सहज सतत् गति नहीं मिल सकती। इनको लागू करने के लिए एक सिपाही की जरूरत होगी''

राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्य नेताओं और भारतीय संविधान के शिल्पकारों के साथ अम्बेडकर को अच्छी तरह मालूम था कि समानता, उदारता और बन्धुत्व के लोकतान्त्रिक आदर्शों का कार्यान्वयन एक सशक्त संवैधानिक समर्थन के बिना सम्भव नहीं था। वंचितों और बहिष्कृतों के हितों एवं अधिकारों की रक्षा संवैधानिक यंत्र-प्रबंध के बिना नहीं की जा सकती। समानता और समान अवसर का सरल-सा सिद्धान्त राजनीतिक लोकतंत्र और सामाजिक एवं आर्थिक लोकतंत्र में विसन्धि को जन्म देगा। इसलिए, दोनों के बीच सामंजस्य भारत में लोकतान्त्रिक राज्य और राष्ट्र-निर्माण की वांछनीयता के रूप में नज़र आई।

भारतीय सामाजिक-आर्थिक संरचना की उनकी अपनी समझ में, वे इस बात से सहमत थे कि पश्च-औपनिवेशिक भारत में राष्ट्र-निर्माण की परियोजना तब तक आगे नहीं बढ़ सकती जब तक समानता, उदारता और बन्धुत्व को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन के अनिवार्य सिद्धान्तों के रूप में नहीं स्थापित किया जाता। उनके लिए, यह प्रयास भारत में सच्चे लोकतंत्र के लिए अनिवार्य था। लोकतान्त्रिक आदर्शों को सार्वजनिक करने के लिए यह आवश्यक माना गया कि सशक्त संवैधानिक समर्थन भी हो। इसलिए संविधान में विस्तृत प्रावधान रखे गए ताकि समानता और लोकतंत्र का लक्ष्य आकार और वास्तविक अर्थ, दोनों में प्राप्त हो सके।

31.3.1 संविधान की प्रस्तावना

हमारे संविधान की प्रस्तावना इसके जनकों के अवलोकन और आशय को सबसे अच्छी तरह व्यक्त करती है क्योंकि यह भारत में समाज और राज्य को नियन्त्रित करने और राज्य की एकता और अखण्डता को बनाए रखने में समानता, न्याय और उदारता को आधारभूत सिद्धान्तों के रूप में स्थापित करती है। यह समानता और न्याय के दो आधारभूत मूल्यों को विवेकपूर्ण रूप से जोड़ती है। मौलिक अधिकारों की श्रेणी में शामिल नागरिकता अधिकारों का अभेदभावपरक सिद्धान्त कानून के समक्ष समानता और कानून का समान संरक्षण, अवसर की समानता एवं समान स्वातंत्र्य को सुनिश्चित करता है। संरक्षणात्मक भेदभाव का प्रावधान जो समूह-अधिकारों, सकारात्मक कार्यवाही और अधिमान्य उपचार के अनुच्छेदों से जुड़ा है, वंचित समूहों और सम्प्रदायों के पक्ष में सामाजिक न्याय के मूल्यों को स्थापित करता है।

हमारे संविधान ने अवसर की समानता को सभी के लिए सुनिश्चित किया चाहे कोई किसी भी जाति, लिंग, धर्म और सामाजिक स्थिति का हो। इसने जनाधिकार क्षेत्र में समान सुगमता का अवसर प्रदान किया है। यह स्वतंत्र भारत में लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था प्रदान करने की एक बड़ी उपलब्धि थी। बहरहाल, सार्वजनिक राजनीतिक अधिकार क्षेत्र में किसी की सामाजिक स्थिति और अवसर संरचना के आरम्भ होने के बीच औपचारिक वियोजन ने समाज के वंचित समूहों को समनिर्णायकता और सामाजिक न्याय की गारण्टी नहीं दी। भारतीय समाज के मामले में, जो संरचित असमानता द्वारा परिभाषित है, व्यक्तियों और व्यष्टियों की सामाजिक स्थिति उसकी अपनी परिस्थितियों और जनाधिकार क्षेत्र की अवसर संरचना के परिणामित असमान आधिक्य पर काफी कुछ निर्भर है। चूँकि भारत में सुविधाओं और अभावों तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों के निर्धारकों का एक मुख्य स्रोत व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति रही है, सामाजिक और आर्थिक न्याय की सुपुर्दगी केवल योग्यता के सिद्धान्त और जनाधिकार क्षेत्र में अवसर की समानता पर आधारित नहीं की जा सकती।

31.3.2 मौलिक अधिकार और नीति-निर्देशक सिद्धान्त

भारतीय संविधान के निर्माताओं द्वारा सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन का यह तर्क भली प्रकार ध्यान में रखा गया। और इसीलिए, भारतीय संविधान में प्रत्येक भारतीय नागरिक को समानता एवं स्वतंत्रता के सामान्य अनुच्छेदों के साथ समाज के सामाजिक और आर्थिक रूप से वंचित तबकों के लिए विशेष प्रावधान रखे गए। जहाँ संविधान की धाराएँ 14, 15(1) और 16(1) विशिष्ट रूप से समानता सिद्धान्त स्थापित करती हैं, धाराएँ 15(4) और 16(4) सामाजिक न्याय का सिद्धान्त समाविष्ट करती हैं। यदि धारा 14 कानून के समक्ष समानता और कानून की समान रक्षा की घोषणा करती है, धारा 15(1) प्रजाति, जाति, लिंग, धर्म और जन्म-स्थान के आधार पर भेदभाव को निषेध करती है। धारा 16(1) इसके अतिरिक्त सभी के लिए अवसर की समानता प्रदान करती है। धारा 15(4) और 16(4) के संरक्षात्मक-भेद अनुच्छेद अधिक्रमिक व्यवस्था के सामाजिक एवं आर्थिक रूप से वंचित समूहों के अधिकारों की रक्षा के सम्बन्ध में निर्णायक हैं। ये धाराएँ सामाजिक न्याय की दिशा वाले विभिन्न सिद्धान्तों का अनुसरण करती हैं।

धारा 15(4) के अनुसार, "इस धारा में कुछ भी ऐसा नहीं है जो राज्य को नागरिकों के किसी भी सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग के विकास के लिए अथवा अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई भी विशेष प्रावधान बनाने से रोकेगा।" धारा 16(4) में प्रावधान है कि "इस धारा में कुछ भी ऐसा नहीं है जो राज्य को ऐसे नागरिकों के किसी पिछड़े वर्ग के पक्ष में नियुक्तियों अथवा रिक्तियों के आरक्षण के लिए कोई विशेष प्रावधान बनाने से रोकेगा जिसको, राज्य

की नज़र में, राज्य के तहत सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिला है।'' हमारे संविधान में दोनों ही प्रावधान, यद्यपि कार्यक्षेत्र में सीमित, सामाजिक एवं आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों और समाज के वंचित तबकों के अधिकारों की संवैधानिक रक्षा के लिए शर्त रखते हैं।

संविधान में इन संरक्षात्मक-भेद अनुच्छेदों से अलग, राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों को न्यायसंगत समाज की दिशा में सामाजिक न्याय और सामाजिक कायांतरण के लक्ष्य को पाने के यंत्र-प्रबंध के रूप में देखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त धाराएँ 38 एवं 46, विशेषत: जनता के वंचित तबकों के लिए सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने को लक्ष्य मानती हैं। धारा 38 के अनुसार, (i) "राज्य यथासम्भव प्रभावी तरीके से एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा एवं संरक्षण द्वारा लोगों के कल्याण को प्रोत्साहित करने का प्रयास करेगा जिसमें न्याय सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को सुविज्ञ करेगा'', (ii) "राज्य, विशेषतौर पर, आय में असमानताओं को कम करने के लिए संघर्ष करेगा, और सामाजिक स्थिति, सुविधाओं और अवसरों में असमानताओं को दूर करने का प्रयास करेगा, न सिर्फ व्यक्तियों के बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले अथवा विभिन्न व्यवसायों में रत लोगों के समूहों के बीच भी''। धारा 46 राज्य को स्पष्ट निर्देश देती है कि "राज्य विशेष सावधानी के साथ प्रजा के कमजोर तबकों के, और विशेषतया अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के, शैक्षिक एवं आर्थिक हितों को प्रोत्साहन देगा, और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनको संरक्षण प्रदान करेगा''।

31.3.3 अन्य प्रावधान

राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों की इन दो धाराओं से परे, संविधान की अन्य धाराएँ जिनमें धाराएँ 330, 332, 335, 338, 340, 341 और 342 शामिल हैं, विशिष्टत: स्वतन्त्र भारत में सामाजिक न्याय लाने के लक्ष्य की ओर ले जाती हैं। ये संवैधानिक प्रावधान संविधान सभा के उन सदस्यों द्वारा एक विवेकपूर्ण तर्क के बाद बनाए गए जो भारतीय समाज की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की परिवर्तनशीलता के विषय में पूरी तरह सचेत और जागरूक थे। चूँकि जाति मुख्य पहचान-संकेतक और असमानता का एक स्रोत रही है, सामाजिक न्याय का संवैधानिक लक्ष्य जातियों की श्रेणी से होकर निर्धारित किया गया है (संरक्षात्मक भेद के लिए पहचानी जाने वाली जनजातियों एवं अन्य समूहों के अतिरिक्त)। संविधान ने जनता के उन बड़े तबकों की संचित वंचित दशा की पहचान की है जो जाति-भेद के आधार पर नियमित रूप से पृथक् किए गए हैं। संरक्षात्मक-भेद कवच, इस प्रकार, उन वंचित समूहों को प्रदान किया गया है जो या तो वर्ण-व्यवस्था के जाति-अधिक्रम से बहिष्कृत हैं अथवा उन्हें नीचे स्थान दिया गया है। उनकी निम्न संचित असमानता में फलित हुई है। संरक्षात्मक-भेद नीति का लक्ष्य है सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था और जन-जीवन में अवसरों की असमानता को कम करना।

31.3.4 अल्पसंख्यकों के अधिकार

अल्पसंख्यकों की विभिन्न श्रेणियों की विशिष्टता और अधिकार के संरक्षण के साधन के रूप में, भारतीय संविधान में अल्पसंख्यकों के अधिकारों का विशेष प्रावधान है। ये अधिकार भारत में सभी नागरिकों को प्राप्त नागरिकता अधिकारों के मौलिक अनुच्छेदों के विरुद्ध नहीं जाते। एक तरह से ये अधिकार उन्नत होते स्वायत्त लोकतंत्र के तंत्रप्रबन्ध के रूप ये दिखाई पड़ते हैं।

धाराएँ 25 से 30 अल्पसंख्यकों का विशेष ध्यान रखती हैं जबकि धाराएँ 25, 26, 27 एवं 28 धार्मिक स्वतंत्रता सुनिश्चित करती हैं, धाराएँ 29 एवं 28 उनके सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अधिकारों को संरक्षण एवं प्रोत्साहन प्रदान करती हैं। लोकतान्त्रिक वितरण के एक साधन के रूप में

अल्पसंख्यक अधिकारों का अनन्य अन्तर्वेशन समरूप राष्ट्र-राज्य निर्माण के चिरसम्मत मामलों से दूर भागना है, लेकिन यह एक शक्ति के रूप में नज़र आता है न कि एक कमज़ोरी के। संसार भर का घटना-चक्र व्यावहारिक प्रजातंत्र की लोकतान्त्रिक समानता की सीमा का गवाह है, क्योंकि कई मामलों में बहुमतवादी लोकतंत्र अल्पसंख्यकों की समस्याओं के प्रति संवेदनहीन दिखाई पड़ता है। अल्पसंख्यकों की आशाएँ, उनकी विशिष्ट पहचान और अधिकार बहुसंख्यक निर्णय के छलावे से दबाए गए हैं। ऐसी परिस्थिति में अल्पसंख्यकों का विशेष ध्यान रखना लोकतंत्र की एक पूर्व-वांछनीयता है। बहरहाल, लोकतंत्रीय प्रक्रिया में अल्पसंख्यकों की अनेक समस्याएँ या तो नकार दी जाती हैं या फिर उनके पक्ष में मत नहीं होता। और इसीलिए अल्पसंख्यक समुदाय के एक तबके में यह तर्क बढ़ रहा है कि कुछ यंत्र-प्रबंध विकसित किए जाएँ ताकि लोकतंत्रीय राजनीति-प्रक्रिया में अल्पसंख्यक समुदायों की भागीदारी सुनिश्चित हो सके। ये यंत्र-प्रबंध लोकतंत्रीय व्यवस्था के संवैधानिक वितरण के संगत होने चाहिए। यदि अल्पसंख्यकों के संवैधानिक अधिकारों की व्यवहारिक परिवर्तनशीलता की सीमा को विशिष्टतः ध्यान में न रखा गया तो अन्य हस्तान्तरण का भाव उत्पन्न होने लगेगा। यह, बदले में, अल्पसंख्यक समुदाय में निवर्तन संरक्षण के रूप में फलित होगा। यह समानता, उदारता और बन्धुत्व के मूल्य पर आधारित लोकतान्त्रिक व्यवस्था के निर्माण में एक बड़ा अवरोध साबित होगा।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) संविधान के अनुच्छेद 15 और 16 की तुलना करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) अनुच्छेद 38 किस पर अभिलक्षित है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) अल्पसंख्यकों के सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा एवं संवर्धन के लिए कौन-से अनुच्छेद हैं? चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

31.4 संरक्षात्मक भेद : आरक्षण की नीति

जैसा कि ऊपर कहा गया है, भारतीय संविधान सकारात्मक कार्यवाही अथवा संख्यात्मक भेद के लिए भी प्रावधान रखता है। सिद्धान्ततः यह संरक्षात्मक-भेद नीति सामाजिक न्याय को प्रोत्साहित करने वाले सबसे महत्त्पूर्ण साधनों में से एक है। यद्यपि, गत पचास वर्षों के दौरान इस नीति का परिणाम संविधान-संस्थापकों के अवलोकन और अभिप्राय तथा संविधान के भाव के संगत नहीं रहा है। इसी कारण यह तर्क जोर पकड़ रहा है कि यह नीति और आगे न बढ़ाई जाए। हमारी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था वाली वर्तमान परिस्थिति और राजनीतिक औचित्य में इस नीति और इसके परिचालन में यदि कोई विसंगति है तो क्या इस प्रक्रिया को ही बंद कर देना वांछित है? इसका उत्तर तब तक सकारात्मक नहीं हो सकता जब तक जाति पर आधारित असमानता और आधिपत्य की संरचना जारी रहेगी। इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति यदि नहीं भी होती है, इस नीति की प्रभावकारिता तब तक वर्जित नहीं की जा सकती जब तक हम विद्यमान अवसरों और परिस्थितियों को सच्चे अर्थों में समान नहीं बना देते। यह तथ्य नहीं ठुकराया जा सकता है कि इन नीतियों ने निर्णय लेने की प्रक्रिया में भागीदारी करने और प्रशासन की संरचना का अभिन्न अंग बनने में समाज के एक बड़े तबके को अवसर प्रदान किया है। अन्य पिछड़ी जातियों के और कुछ हद तक अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के बीच एक सबल मध्यम वर्ग का उभरना स्वातंत्र्योत्तर काल की एक प्रमुख घटना है। संरक्षात्मक-भेद नीति, अन्य कारकों के साथ, इस संबंध में कारगर रहीं है। यद्यपि अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित सीटें इन वर्षों के दौरान पूरी तरह नहीं भर पाईं, सरकारी नौकरियों, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों, बैंकों एवं वित्तीय संस्थाओं में उनका प्रतिनिधित्व, यदि हम गत पचास वर्षों के आंकड़ों से मिलाएँ, पर्याप्त रूप से बढ़ा है। नौकरियों में आरक्षण के अलावा, शैक्षणिक संस्थाओं में आरक्षणों ने भी इन समूहों से संबद्ध उम्मीदवारों के लिए अवसर प्रदान किए हैं।

गत वर्षों के दौरान आरक्षण नीति की कारगुजारी ने यह प्रदर्शित किया है लाभों का प्रसार विभिन्न समूहों के बीच एकसमान नहीं हुआ है। इसीलिए, आरक्षण नीति की विभिन्न श्रेणियाँ एक ही धरातल पर नहीं रखी जा सकतीं। यदि हम अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जातियों पर विचार करते हैं तो यह सत्य सामने आता है कि हमारे गणतंत्र की प्रक्रिया के गत पचास वर्षों के दौरान, सामाजिक न्याय का संवैधानिक लक्ष्य वास्तविक में नहीं बदल पाया है। सामाजिक-आर्थिक रूपांतरण एवं संरक्षात्मक-भेद नीति के नाम पर उनके बीच एक बहुत छोटे अल्पसंख्यक दल/जाति का उभरना समर्थन देने का प्रतीक मात्र है। सामाजिक-आर्थिक जीवन की वास्तविक परिस्थिति में, ये जनता के

अन्य समूहों से काफी पीछे हैं। अस्पर्शयता का चलन और विधिवादी दूरियों को बनाए रखना सार्वजनिक जीवन, विशेषत: ग्रामीण क्षेत्र से, अभी गए नहीं हैं, उनसे संबद्ध अधिकतर मामलों की रिपोर्ट दर्ज ही नहीं है, लेकिन यह बात इन समूहों द्वारा नागरिक अधिकार प्राप्त करने को सुनिश्चित नहीं करती। आवासी प्रतिमान में पार्थक्य, पूर्व-प्रबल व्यावसायिक प्रतिमान, गरीबी के अच्च प्रसंग और भूमि की ग़ैर-मलकियत/हाशिए की मलकियत उनके चिर-स्थायी पिछड़ेपन के कुछ संकेत हैं। देश के विभिन्न हिस्सों में दलितों के विरुद्ध न शंसता अब भी भयावह है। यहाँ यह गौर करना प्रासंगिक होगा कि अत्याचार बिहार, जो अनायास ही लोकप्रचलित कल्पना और लोगों के सामान्य बोध में आता है, जैसे राज्यों ही में नहीं, बल्कि भारत के अपेक्षाकृत विकसित और शांत राज्यों में कहीं अधिक किए जाते हैं। जहाँ तक कि साक्षरता की उनकी दर का संबंध है यह आम जनता से काफी पीछे है। साक्षरता दर का एक तुलनात्मक आँकड़ा मामले की स्थिति को सूचित कर सकता है :

1971-91 की जनसंख्या के विभिन्न समूहों के लिए साक्षरता की प्रतिशतता

जनसंख्या समूह	1971			1981			1991		
	कुल	पुरुष	स्त्री	कुल	पुरुष	स्त्री	कुल	पुरुष	स्त्री
अनु. जातियाँ	14.7	22.36	6.4	21.38	31.12	10.93	37.41	49.91	23.76
अनु. जन-जातियाँ	11.3	17.6	4.9	16.35	24.52	8.04	29.6	40.65	18.19
गै.-अनु. जन.	33.8	44.5	22.3	41.3	52.34	29.42	57.69	69.55	44.81
सामान्य	29.5	39.52	18.7	36.23	46.89	24.82	52.21	64.13	39.29

टिप्पणियाँ : 1) 'गै.-अनु.जन.', ग़ैर-अनुसूचित जनसंख्या के लिए है और 'सामान्य' में पूरी जनसंख्या शामिल हैं।

2) जबकि वर्ष 1971 और 1981 के लिए साक्षरता का प्रतिशत साक्षरों को कुल जनसंख्या से भाग देकर आकलित किया गया है, जिसमें वर्ष 1991 में 0-4 की आयु-वर्ग के बच्चे शामिल हैं, यह 0-6 आयु-वर्ग के बच्चों को छोड़कर आकलित किया गया है।

स्रोत : बी.एल. भार्गव और अविनाश सामल "प्रोटेक्टिव डिस्क्रिमिनेशन एण्ड डिवेलपमेण्ट ऑव शिड्यूल्ड कास्ट्स : एन एल्टरनेटिव मॉडेल फॉर गुड गॅवर्नेन्स", *इण्डिया जर्नल ऑव पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन*, भाग-XLIV, सं. 3, वार्षिक अंक, 1998।

इसी प्रकार, अनुसूचित जातियों के छात्रों के बीच स्कूलों में नाम लिखवाने का अनुपात और नाम कटने की दर, सामान्य जनसंख्या के मुकाबले बिल्कुल नकारात्मक रहे हैं। उनके पिछड़ेपन के सभी संकेतक बताते हैं कि सकारात्मक-कार्यवाही कार्यक्रम समुचित रूप से लागू नहीं किए गए हैं। संरक्षात्मक-भेद नीति के साथ इन समूहों की 'क्षमता प्रतिभा' के उपागम ने परिस्थिति को मुश्किल से ही बदला है। संरक्षात्मक-भेद नीति के संवैधानिक मापदण्ड के कार्यान्वयन के पचास वर्षों के

बाद, इच्छित लक्ष्य और वास्तविक उपलब्धि के बीच अभी तक एक दूरी है। केन्द्रीय राजकीय सेवाओं में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों का प्रतिनिधित्व यह सच बयान करता है।

केन्द्रीय सरकारी सेवाओं में अनु.जाति/अनु.जन-जातियों का प्रतिनिधित्व

(1 जनवरी, 1998 को)

समूह	कुल	अनु.जातियाँ	प्रतिशत	अनु.जन-जातियाँ	प्रतिशत
अ	63,466	6,608	10.41	2,047	3.23
ब	11,05,679	12,510	11.84	2,868	2.71
स	21,35,640	3,48,309	16.31	1,28,776	6.03
द					
(सफाई कर्मचारी छोड़कर)	9,98,672	2,14,784	21.51	69,168	6.93
(सफाई कर्मचारी)	1,71,994	93,430	54.32	6,916	4.02
कुल					
(सफाई कर्मचारी छोड़कर)	33,03,457	5,82,211	17.62	2,02,859	6.14
(सफाई कर्मचारी मिलाकर)	34,75,451	6,75,641	19.44	2,09,775	6.04

टिप्पणी : पाँच केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों के बारे में सूचना शामिल नहीं है।

स्रोत : *इण्डिया 2001 : ए रेफरेन्स एनुअल*, प्रकाशन विभाग, सूचना व प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2001.

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वे मुख्यत: समूह 'स' और समूह 'द' नौकरियों में सेवारत हैं। पचास, प्रतिशत से अधिक सफाई कर्मचारी (झाड़ूवाला) इस समूह से आते हैं, जो इस प्रकार की व्यावसायिक निरन्तरता का संकेत करते हैं। जाति हिन्दुओं के बीच ऐसे कामों से जुड़ी अशुद्धता और अध:पतन की धारणा ही अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों तथा उच्च जातियों के बीच निम्न के उच्च प्रतिनिधित्व का कारक प्रतीत होती है।

संरक्षात्मक-भेद नीति के मापदण्ड के कारण अनुसूचित जातियों के बीच एक मध्यम वर्ग उभरा है फिर भी वे अपनी सामाजिक स्थिति से जुड़े उस प्रकार के आदर और सम्मान से वंचित हैं जैसा कि अन्य उच्च जातियों के सदस्यों को प्राप्त है। इसके अलावा, उनकी जातिगत प्रतिष्ठा और अर्जित प्रतिष्ठा के बीच प्रतिष्ठा की विषमता अभी विद्यमान है।

31.5 पिछड़ी जातियों का अभिकथन

पिछले पचास वर्षों के दौरान सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों ने भारतीय समाज में अनेक नए आयामों और विवादों को जन्म दिया है। लोकतांत्रिक व्यवस्था के नए वितरण के अंतर्गत रूढ़िगत पिछड़ी जातियों ने न सिर्फ़ ऊँची जातियों के सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक आधिपत्य को चुनौती दी

बल्कि वे ग्रामीण क्षेत्रों में प्रबल जातियों और राज्य की राजनीति में प्रमुख शक्ति के रूप में भी उतरीं। ज़मींदारी का उन्मूलन और नई कृषि प्रौद्योगिकी के प्रवेश ने ग्रामीण क्षेत्रों में वर्ग-जाति संरचना को बदल दिया जहाँ कि मध्यम जातियों/पिछड़ी जातियों ने अपने पक्ष में परिवर्तनों के लाभों का संवर्धन किया। परिणामस्वरूप वे ग्रामीण सत्ता संरचना में दृश्य शक्ति के रूप में उभरीं, जिन्होंने राज्य के राजनीतिक अखाड़े में अपने महत्त्व को मज़बूत किया। देश के अनेक भागों में पिछड़ी जातियाँ राजनीति में प्रबल खिलाड़ी के रूप में उभरीं। साठ के दशक के मध्य तक राजनीति में प्रबल सामाजिक गठबंधन उच्च जातियों के पक्ष में था। वास्तव में, यह परिवर्तन अनेक कारकों का उत्पाद था, लेकिन मूल रूप से संसदीय लोकतंत्र और व्यस्क मताधिकार के आरंभ का परिणाम था। दरअसल, "व्यस्क मताधिकार के साथ संसदीय लोकतंत्र ने राजनीति में पिछड़ी जातियों की मान्य स्थिति बदल दी है। सिद्धान्ततः, उन्होंने न सिर्फ़ निर्णय लेने की प्रक्रिया में दूसरों के साथ समानता हासिल की है बल्कि जहाँ तक उनकी सांख्यिकी शक्ति का संबंध है इस अखाड़े में उनका पलड़ा भी भारी हुआ है। उनकी संख्या विधि-निर्माताओं की सभाओं, स्थानीय निकायों और संसद में बढ़ी है।" गत दो दशकों के दौरान राजनीति का बदलता सामाजिक परिदृश्य इस तथ्य का साक्षी है। पिछड़ी जातियों की बढ़ती आर्थिक शक्ति से जुड़ा यह राजनीति अभिकथन सामाजिक न्याय और आरक्षण की राजनीति की कार्यावली से सीधा संबंध रखता है। उत्तर प्रदेश में जाट, यादव, कुर्मी, लोध व गुज्जर, बिहार में कोएरी, आंध्र प्रदेश में कम्मा व रेड्डी, कर्नाटक में कोक्कालिग व लिंगयात और अन्य राज्यों में अन्य जातियों का प्रबल शक्ति के रूप में उभरना सामाजिक न्याय की परिचालन गतिशीलता में निर्णायक कारक रहा है। राजनीतिक पैबन्द और संख्यात्मक बल जितने अधिक होंगे उतना ही जाति कोटा के एकाधिकार का दावा अधिक होगा पिछड़े वर्गों के लिए बनी नीति की यही परिभाषा करती एक आकृति नज़र आती है।

इस संदर्भ में, यह ग़ौर करना रुचिकर है कि पिछले पचास वर्षों के दौरान घटनाचक्र ने भी अन्य पिछड़ी जातियों के बीच अंतर्क्षेत्रीय मतभेद पैदा किए हैं। दक्षिण भारतीय राज्यों में अन्य पिछड़ी जातियों ने जहाँ अपने शैक्षणिक विकास-सरकारी तंत्रों में प्रतिनिधित्व और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के अर्थ में तेज़ी से वृद्धि की, उत्तर भारतीय राज्यों की अन्य पिछड़ी जातियों के बीच इस प्रकार का विकास नहीं देखा गया। एक सशक्त ब्राह्मण-विरोधी आन्दोलन और राजनीतिक लामबन्दी पिछड़े वर्गों के बीच राजनीतिक रूप से सचेत और आर्थिक रूप से सक्रिय समूहों के जन्म के रूप में फलित हुए। ये समूह नए वितरण के लाभों को लेने के लागू होने से पूर्व, मैसूर, मद्रास प्रेज़ीडेन्सी और ट्रावनकोर के राज्य में आरक्षण नीति का विद्यमान होना अन्य पिछड़े वर्गों के समूह के बीच अंतर्क्षेत्रीय पार्थक्यसूचकों में से एक कारक हो सकता है। आरक्षण कोटा का यह अंतर्क्षेत्रीय पार्थक्यसूचक प्रवेश-मार्ग अंतर्जातीय व अंतर्वर्गीय अन्य पार्थक्यसूचकों के साथ भविष्य में एक बड़ा मुद्दा हो सकता है।

अन्य पिछड़ी जातियों की श्रेणी के बीच उभरता विवाद घटना का एक और संकेत है। कम्मा व रेड्डी, लिंगयात व वोक्कालिग, यादव व कुर्मी के बीच, अधिक उन्नत अन्य-पिछड़ी जातियों व सबसे अधिक पिछड़ी अन्य-पिछड़ी जातियों के बीच प्रतिद्वंद्विता देश के विभिन्न भागों में परिवर्तित हो रहे सत्ता संतुलन को परिभाषित करती है। आरोही क्रम से गतिशील अन्य-पिछड़ी जातियों और दलितों के बीच विवाद गत दो दशकों की बीच तीखा हुआ है। भूमि-सम्पन्न व प्रबल अन्य-पिछड़ी जातियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में दलितों के दमन और शोषण की मुख्य शक्ति के रूप में दिखाई दी हैं। उन्होंने वही दाँव-पेंच व चालें अपनाईं जो प्रबल उच्च जातियाँ प्रयोग में लाती थीं। स्वतंत्रोत्तर भारत की उभरती स्थिति इन जातियों के लिए कोटा की वैधता के बारे में अनेक प्रश्न उठाती है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) नए वर्गों के उदय में आरक्षण का क्या योगदान रहा है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) पिछड़ी जातियों के संबंध में संसदीय लोकतंत्र और व्यस्क मताधिकार की क्या भूमिका रही है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) पिछड़े वर्गों के उदय और अंतर-क्षेत्रीय विषमताओं में क्या संबंध है?

.....

.....

.....

.....

.....

31.6 महिलाओं के लिए समानता

लिंगीय समानता एक अन्य गंभीर और दुर्जेय चुनौती है जिसको समुचित रूप से नहीं संबोधित किया गया है। महिलाएँ हमारे विशिष्ट समाजसूचक प्रसंग में अनेक अड़चनों और भेदभाव का विषय रही हैं। पुरुष-प्रधान समाज और लिंग विभेदीकरण जाति, वर्ग, धर्म और न जातीय सीमाओं से परे ध्यान

ले जाते हैं। वास्तव में, ''महिलाओं की श्रेणी'' उन प्रसंगों, जिनमें वे अपने को पाती हैं, पर निर्भर करते हुए भूमिका और पहचान की विभिन्न व्याख्याओं की ओर इंगित करती, अपने आप में एक सामाजिक रचना है। इसलिए, पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं के अपने हित हो सकते हैं और पुरुष आवश्यक नहीं कि महिलाओं के हितों को प्रस्तुत कर भी सकें। महिलाएँ राजनीतिक निर्णय लेने वाले संकायों से काफ़ी हद तक बहिष्कृत हैं। पुरुष-प्रधान समाज को बहुमूल्य समझने वाले पुरुषों द्वारा उनके हित व पहचान का स्पष्ट उच्चारण असंभव ही लगता है। लिंग-आधारित भेदभाव में राजनीतिक निर्णय लेने वाले संकायों और सरकारी तंत्र से महिलाओं का बहिष्कार प्रबलित कारक है। ऐसे मामलों में राजनीतिक यंत्र-प्रबंध सामाजिक रूपांतरण की वांछनीयता दिखाई पड़ते हैं। इसीलिए, यदि महिलाएँ अपने विशिष्ट राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग महिलाओं के रूप में करें तो यह स्त्रित्व की सामाजिक स्थिति की शक्ल बदल सकता है। इस लिहाज से, राजनीतिक निर्णय लेने वाले संकायों में महिलाओं की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

31.6.1 निर्णय लेनेवाले संकायों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व

यद्यपि, संविधान को क्रियान्वित हुए पचास वर्ष हो चुके हैं पर महिलाएँ एक श्रेणी के रूप में बहिष्कृत, उत्पीड़ित और विभेदीकृत रहीं हैं। उनकी अपने विशिष्टता में महिलाओं की समस्या को संबोधित करने के लिए कोई ठोस प्रयास नहीं किया गया, न सत्तासीन सरकारों द्वारा और न ही राजनीतिक दलों द्वारा। राजनीतिक संकायों और सरकारी तंत्रों में उनकी उपस्थिति मात्र नागरिकता अधिकारों के मौलिक आधार पर स्पष्ट की गई है। परिणामस्वरूप संसद और राज्य सभाओं में उनका बहुत कम प्रतिनिधित्व है। संसद और राज्य विधानसभाओं में उनके प्रतिनिधित्व से संबंधित संलग्न तालिकाएँ राष्ट्र के निर्णय लेने वाले संकायों से उनके बहिष्कार की स्थिति को दर्शाती हैं।

संसद 1952-1999 में महिलाओं का प्रतिनिधित्व

वर्ष	सीटें	लोक सभा महिला सांसद	महिला सांसदों का %	सीटें	राज्य सभा* महिला	महिला सांसद सांसदों का %
1952	499	22	4.4	219	16	07.31
1957	500	27	5.4	237	18	07.59
1962	503	34	6.8	238	18	07.56
1967	523	31	5.9	240	20	08.33
1971	521	22	4.2	243	17	07.00
1977	544	19	3.4	244	25	10.25
1980	544	28	7.9	244	24	09.84
1984	544	44	8.1	244	28	11.48
1989	517	27	5.3	245	24	09.80
1991	544	39	7.2	245	38	15.51
1996	543	39	7.2	223	20	08.52
1998	543	43	7.92	245	15	06.12
1999	543	49	9.02	245	19	07.76
औसत	528	33	6.15	238	22	09.00

राज्य सभा का प्रत्येक दो वर्षों में पुनर्गठन होता है। राज्यसभा के आँकड़े केवल उन वर्षों से लिए गए हैं जो लोकसभा से तुल्य हैं। राज्यसभा के लिए औसत केवल इन्हीं वर्षों पर आधारित है।

स्रोत : सी.एस.डी.एस. डाटा यूनिट, दिल्ली।

1952-1999 राज्य विधान सभाओं में महिलाओं का प्रतिनिधित्व (महिला विधानसभा सदस्यों का %)

राज्य	1952 **	1957	1960 -65	1967 -69	1970 -75	1977 -78	1979 -83	1984 -88	1989 -92	1993 -97	1998 -99	राज्य औसत
आंध्र प्रदेश	2.9	3.7	3.3	3.8	9.1	3.4	4.1	3.4	3.7	2.7	9.5	4.6
अरुणाचल प्रदेश	-					*0.0*	3.3	6.7	3.3	3.3	1.7	3.0
आसाम	0.5	4.6	3.8	4.0	7.0	0.8	0.8	4.0	4.0	4.8	-	3.2
बिहार	3.6	9.4	7.9	2.2*	3.8	4.0	3.7	4.6	2.8	3.4	-	4.3
गोवा			-	6.7	3.3	3.3	*0.0*	*0.0*	5.0	0 0	. 0	4.4
गुजरात			8.4	4.8	3.2	NE	2.7	8.8	2.2	1.1	2.2	4.0
हरियाणा			-	7.4*	6 2	4.4	7.8	5.6	6.7	4.4	-	6.2
हिमाचल प्रदेश	*0.0*	-	-	*0.0*	5.9	1.5	4.4	4.4	5.9	4.4	8.8	4.2
जम्मू-कश्मीर	-	NE	*0.0*	*0.0*	5.3	1.3	*0.0*	1.3	NE	2.3	-	1.5
कर्नाटक	2.0	8.7	8.7	3.2	5.1	4.0	0	3.6	4.5	3.1	2.3	4.3
केरल	0.0	4.8	3.9*	0.8	1.5	0.7	3.2	5.7	5.7	9.3	-	3.6
मध्य प्रदेश	2.1	10.8	4.9	3.4	5.4	3.1	5	9.7	3.4	3.8	4.2	4.6
महाराष्ट्र	1.9	6 3	4 9	3.3	9.3	2.8	6.6	5.6	2.1	3.8	4.2	4.6
मणिपुर	-	NE	NE	0 0	0.0*	NE	0.0	0.0	1.7	0.0	-	0.3
मेघालय				-	1.7	1.7	0.0	3.3	NE	1.7	3.0	2.2
मिजोरम					0.0	3.3	3.3	2.5	0.0	0.0	0 0	1.2
नागालैण्ड			0.0	0.0	NE	0.0	0.0	1.7	0.0	0.0	-	0.5
उड़ीसा	9.6	3.6	1.4	3.6	1	4.8	3.4	6.1	4.8	5.4	-	4.0
पंजाब	2.2	*5.8*	5.2	1.0*	5.8	2	5.1	3.4	5.1	6.0	-	4.0
राजस्थान	**0.0**	**5.1**	4.5	3.3	7.1	0	5.0	8.0	5.5	4.5	7.0	5.0
सिक्किम		-		-		-	0.0	0.0	6.3	3.1	3.1	2.5
तमिलनाडु	0.3	5.9	3.9	1.7	2.1	0 9	2.1	3.4	9.0	3.8	-	3.6
त्रिपुरा	-	NE	NE	0.0	3,3	1.7	6.7	3.3	NE	1.7	-	3.0
उत्तर प्रदेश	1.2	5.8	4.4	2.8*	5.9	2 6	5.6	7.3	3.3*	4.0*	-	4.1

पं. बंगाल	0.8	3.6	4.8	2.9*	1.6*	1.4	2.4	4.4	7.1	6.8	-	3.4
दिल्ली	4.2	-	NE	NE	7.1	7.1	7.1	NE	NE	4.3	12.9	7.3
पांडिचेरी	-	-	6.7	3.3	0.0	0.0	3.3	3.3	1.7	3.3	-	2.6
अवधि औसत	1.8	6.3	4.9	2.9	4.4	2.8	3.8	5.3	4.5	4.0	6.0	4.1

टिप्पणियाँ : तालिका प्रविष्टि का अर्थ है समुचित चुनावों में राज्य विधानसभाओं के लिए चुनी गई महिला विधायकों का %.

राज्य अस्तित्व में नहीं; NE : उस वर्ष/अवधि में चुनाव नहीं हुए, * : इस अवधि के दौरान दो चुनाव हुए। यहाँ दिया गया आँकड़ा इन दोनों का औसत है; ** : 1952 में चुनाव आयोग ने महिलाओं को किसी अलग वर्ग के रूप में नहीं माना। यहाँ आँकड़े नाम-पहचान के आधार पर दिए गए हैं और इसलिए महिला-प्रतिनिधियों के अल्प-संवाद के अधीन है।

स्रोत : सी.एस.डी.एस. डाटा यूनिट, दिल्ली।

लेकिन संसद और राज्य विधानसभाओं में महिलाओं के कम प्रतिनिधित्व की ऐसी स्थिति, चारों ओर व्याप्त लिंग भेद और नारी के विरुद्ध हिंसा के बावजूद ये तर्क ज़ोर पकड़ रहे हैं कि महिलाओं के लिए कोई अलग कोटा वांछित नहीं है। इस तर्क के अनुसार, महिलाओं के हित इस प्रकार समाज में समूहों, स्तरों और वर्गों के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक हितों से विलग नहीं किए जा सकते। यद्यपि उनकी अपनी कुछ वास्तविक समस्याएँ हैं, वे पुरुषों के साथ उनके समूहों, क्षेत्र और समुदाय की समस्या में भागीदारी करती हैं। इस प्रकार का तर्क एक ओर सशक्त पुरुष-प्रधान समान की गिरफ़्त से उद्‌भूत होता है, दूसरी ओर नारी विषय के समाजवादी बोध की भ्रामकता से।

दरअसल, दूसरा वाला विचार-बिन्दु मानता है कि राजनीतिक व्यवस्था के लोकतांत्रिक वितरण में महिलाओं के साथ उचित व्यवहार होना चाहिए। इस वितरण में उनकी उपस्थिति सुनिश्चित नहीं की जा सकती जहाँ कि आधुनिक राजनीति के क्षेत्र में भी पुरुष-शासित परिदृश्य ज़ारी हो। इस संबंध में महिलाओं के लिए विशेष कोटा एक ठोस विकल्प सुझाता है। वास्तव में महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था महिलाओं के साथ-साथ राजनीतिक दलों को भी प्रेरणा प्रदान करेगी ताकि वे सरकार की विभिन्न इकाइयों में जनसंख्या के लगभग आधे भाग के साथ और उचित व्यवहार कर सकें। पिछड़े वर्गों की उभरती प्रबल शक्ति के पक्ष में राजनीतिक सत्ता और चुनावीय आकलनों ने उत्तरोत्तर सरकारों को उनके पक्ष में संरक्षात्मक-भेद की नीति की ओर लक्ष्य करने को बाध्य किया है। लेकिन इस श्रेणी में, महिला विषय ने राजनीतिक विशिष्ट वर्ग का गंभीरतापूर्वक ध्यान आकर्षित नहीं किया है। संविधान (इक्यासीवाँ संशोधन) प्रस्ताव, 1996 अभी तक विचाराधीन है। इस प्रस्ताव का पारित होना राजनीतिक दलों द्वारा कभी इस बहाने से कभी उस बहाने से टाल दिया जाता है। मुख्य मुद्दा, बहरहाल, असम्बोधित ही रहता है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) महिलाओं के लिए आरक्षण के पक्ष और विपक्ष में संक्षिप्त तर्क दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

31.7 सारांश

उपर्युक्त व्याख्या के सारांशत: हम कह सकते हैं कि गत पाँच दशकों के दौरान भारत में लोकतान्त्रिक अनुभव सफलता और विफलता का मिश्रण रहा। जहाँ व्यावहारिक लोकतंत्र ने आवधिक चुनावों, मतदाता उपस्थिति और चुनावीय प्रक्रिया में लोगों की बड़े पैमाने पर भागीदारी के मायनों में जड़ें गहरी जमाई हैं, हम अवसर और एक लोकतान्त्रिक संरचना की हालत के बराबर करने के लायक नहीं हुए हैं। अन्तर्समूह समानता स्थापित नहीं हुई है और राजनीतिक लोकतंत्र और सामाजिक व आर्थिक लोकतंत्र के बीच अब भी लम्बी दूरी है। वंचित समूहों और समुदायों के पक्ष में राज्य की सकारात्मक कार्यवाही ने लोगों के बीच एक लोकतान्त्रिक सचेतना लाने की दिशा में एक लम्बा सफ़र तय किया है। भारत के वर्तमान दशक अब 'लोकतान्त्रिक लहर' के दशकों के रूप में देखे जाते हैं। इसीलिए, यद्यपि लोकतंत्र भारत में समानता की खोज में अब भी है इसने लोकतान्त्रिक दावे के लिए रास्ता नीचे से तैयार किया है। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता कि स्वंतत्रता के समय लोगों को ऊपर से प्रदत्त लोकतंत्र अपने आप को नीचे से मिले एक ऐसे लोकतंत्र के रूप में ढाल रहा है जिसका कि भारत के लोकतान्त्रिक गणतंत्र के पचास से भी अधिक वर्षों के बाद लोगों द्वारा दावा किया जाता है।

31.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चंधोक, नीरा, *बियोण्ड सेक्यूलरिज़्म : दि राइट्स ऑव रिलीजन्स माइनॉरिटी,* नई दिल्ली ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999.

चटर्जी, पार्थ (सं.), *वेजिज़ ऑव फ्रीडम : फिफ्टी इयर्स ऑव दि इण्डियन नेशन-स्टेट,* नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998.

ड़ि सूज़ा, पीटर रोनाल्ड, *कॉण्टैंपॅरेरी इण्डिया ट्रांज़ीशन्स,* नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स, 2000.

हसन, ज़ोया (सं.), *पॉलिटिक्स एण्ड दि स्टेट इन इंडिया,* नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स, 2000.

जायल, नीरजा गोपाल, *डिमोक्रेसी एण्ड दि स्टेट वैलफ़ेयर सैक्यूलरिज़्म एंड डिवेलपमेंट इन कॉण्टैम्पॅरेरी इण्डिया,* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999.

_____(सं.), *डिमोक्रेसी इन इण्डिया,* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001.

कोठारी, रजनी, *स्टेट अगेन्स्ट डिमोक्रेसी,* दिल्ली : अजन्ता, 1988.

महाजन, गुरप्रीत, *आइडेण्टिटी एण्ड राइट्स : एस्पैक्ट्स ऑव लिबरल डिमोक्रेसी इन इंडिया*, नई दिल्ली ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998.

मज़ीद, अख़्तर (सं.) *कोलीशन पॉलिटिक्स एण्ड पावर शेयरिंग*, नई दिल्ली : मानक पब्लिकेशन्स, 2000.

ऊमन, टी.के. *स्टेट एंड सोसाइटी इन इण्डिया : स्टडीज़ इन नेशन बिल्डिंग*, नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स, 1990.

सत्यमूर्ति, टी.वी. (सं.) *रीजन, रिलीजन, कास्ट, जैण्डर्स एण्ड कल्चर इन कॉण्टैम्पॅरेरी इण्डिया*, दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, *1996.*

31.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अनुच्छेद 15 प्रजाति, जाति, लिंग, धर्म अथवा जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव पर रोक लगाता है। अनुच्छेद 16 सभी को अवसर की समानता देता है।

2) यह राज्य को असमानता समाप्त करने के लिए सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के निर्देश देता है।

3) अनुच्छेद 29 एवं 28.

बोध प्रश्न 2

1) उनमें नए मध्य वर्ग को जन्म दिया।

2) इसके कारण उनकी देश की राजनीतिक प्रक्रिया से भागीदारी बढ़ी।

3) आरक्षणनीति का विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग समय पर लागू होना।

बोध प्रश्न 3

1) पक्ष में तर्क : यह समाज के आधे हिस्से को प्रोत्साहन देगा। विरोध में तर्क : महिलाओं की समस्याएं समाज के अन्य वर्ग से अलग रख कर नहीं देखी जा सकती।

इकाई 32 भारतीय राजनीति में अपराध, दमन और आतंक

इकाई की रूपरेखा

32.0 उद्देश्य
32.1 प्रस्तावना
  32.1.1 'राजनीति' के अर्थ
  32.1.2 भारतीय राजनीति में संक्रमण काल
32.2 अपराध और राजनीति
32.3 दमन क्या है?
32.4 आतंक : एक विवादग्रस्त विषय
32.5 सारांश
32.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
32.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

32.0 उद्देश्य

अपराध, दमन और आतंक भारतीय राजनीति की व्याख्या करने के लिए सामान्यत: प्रयुक्त विशेषण हो चुके हैं। इनमें से प्रत्येक पक्ष, यद्यपि लोकतंत्रीय परिकल्पना के ढाँचे में एक विशेष अर्थ रखता है। उनको अक्सर लोकतंत्र में विकृतियों, और लोकतंत्रीय प्रक्रियाओं में एक दरार के अविर्भाव की नज़र से देखा जाता है। इस इकाई का अध्ययन के बाद यह समझने योग्य होंगे कि:

- अपराध, दमन और आतंक भारतीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण प्रसंग कैसे बनते हैं; और
- किस तरह से ये भारतीय राजनीति की अन्तर्वस्तु को निर्धारित करते हैं।

32.1 प्रस्तावना

32.1.1 'राजनीति' के अर्थ

भारतीय राजनीति में अपराध, दमन और आतंक के बारे में बात शुरू करने से पूर्व अच्छा होगा कि हम पहले 'राजनीति' के अर्थ के बारे में बात करें। राजनीति का अर्थ समझने के बाद ही हम समझ सकते हैं कि अपराध, दमन और आतंक किस प्रकार राजनीति को 'भ्रष्ट' अथवा 'विकृत' कर देते हैं और पूरा अर्थ बदल देते हैं।

सामान्यत: बोलचाल में शब्द 'राजनीति' का तात्पर्य होता है एक विशिष्ट *अंतराल से*, साथ ही *गतिविधियों* व *संबंधों से*, जो अंतराल का लक्षण-वर्णन करते हैं। इस प्रकार हम इस शब्द के अपने साधारण प्रयोग में 'राजनीति' को मानव गतिविधि के अन्य पक्षों से जो व्यक्तियों व समूहों के निजी संस्थान, नामत:, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, आदि बनाते हैं, भिन्न मानने लगते हैं। राजनीति को सामान्यत: तीन मुख्य तरीकों से समझा गया है :

अ) राजनीति को *सरकारी गतिविधियों से* संबद्ध माना जाता है। राजनीति की व्याख्या शायद राजनीति के बोध का वह उदाहरण देकर की जा सकती है जो कि प्राचीन यूनान में कायम

थी। यूनान में राजनीति का प्रयोग निर्णय लेने और प्राधिकार को व्यवहार में लाने से संबद्ध था। साठ के दशक में, डैविड ईस्टन ने राजनीति की परिकल्पना 'मूल्यों के प्राधिकारपूर्ण आबंटन' के रूप में की। अन्य जैसे बर्नॉर्ड क्रिक के लिए राजनीति प्राधिकारपूर्वक निर्णय लेने से इतना ताल्लुक नहीं रखती, जबकि उस प्रक्रिया से रखती है जिसके द्वारा निर्णय शान्तिपूर्वक लिए जा सकते हैं।

ब) राजनीति को *जनाधिकार क्षेत्र*, एक अंतराल जो निजी और व्यक्तिगत से भिन्न है, के संदर्भ में भी लिया जाता है। यह अधिकार क्षेत्र, निजी अंतराल से भिन्न, उन गतिविधियों से संबंध रखता है जहाँ कि मानक व नियम जो पूरे समाज को नियंत्रित करते हैं, गुप्त रूप से तथा/अथवा खुल्लमखुल्ला दमनकारी ताकत के प्रयोग से निर्धारित किए व लागू किए जाते हैं।

स) राजनीति की तथापि एक और व्याख्या भी है जो राजनीति की उपर्युक्त व्याख्याओं को आमूल बदलने वाली हैं। इस व्याख्या के अनुसार, राजनीति न सिर्फ निर्णय देने को इंगित करती है बल्कि उस कार्य-प्रणाली से भी संबंध रखती है जिसमें शक्ति, धन-दौलत और संसाधन समाज में वितरित हैं। राजनीति को जनाधिकार क्षेत्र में सीमित भी नहीं माना जाता, बल्कि यह ऐसा कुछ है जो सभी संस्थाओं में व्याप्त है और सामाजिक सत्ता में प्रत्येक स्तर पर फैला है। हम यहाँ जिक्र कर सकते हैं, कि स्त्री-अधिकारों के समर्थक राजनीति की इस पुनर्परिभाषा में सबसे अधिक विश्वासोत्पादक थे जिन्होंने इस बात पर बल दिया कि निजी पक्ष भी जिसमें परिवार शामिल है, शक्ति-संरचनाओं में व्याप्त है। अतएव इस परिभाषा में इसका कार्यक्षेत्र भी शामिल है, इस प्रकार, जनसंघर्ष और प्रतिरोध के आन्दोलन जिनका लक्ष्य है कार्य-प्रणाली को बदलना, जिसमें कि संसाधनों को समाज में वितरित किया जाता है ताकि समाज अधिक समतावादी बन सके।

32.1.2 भारतीय राजनीति में संक्रमण-काल

आस्था की राजनीति से संशय की राजनीति तक

स्वतंत्रता के तुरंत बाद के दो दशकों का लक्षण-वर्णन रजनी कोठारी द्वारा 'आस्था के दशकों' के रूप में किया गया है। इन दशकों में राजनीति लोगों के बीच एक आस्था के भाव द्वारा निर्धारित होती थी जोकि आपसी संबंध और जो भी 'सर्वमान्य योग्य' है की व्याख्या द्वारा सुस्पष्ट होती थी। राजनीति को एक 'नैतिक अंतराल' रूप में देखा जाता था जहाँ विवाद शान्तिपूर्वक और सम्मानपूर्वक हल किए जाते थे। सत्तर के दशक को, यद्यपि, रजनी कोठारी के अनुसार, पूर्ववर्ती दशकों की आस्था की राजनीति की 'मृत्युतालिका' के रूप में अंकित किया गया। राजनीति के 'नैतिक अंतराल को हिंसा, अपराध, भ्रष्टाचार व दमन ने नष्ट कर दिया, जिसको कि कोठारी ने 'राजनीति का वास्तविक बहिष्कार' कहा है :

आज जो हमारे सम्मुख है राजनीति का संकल-काल नहीं है बल्कि इसका वास्तविक बहिष्कार है। पिछले दशक ने भारतीय राज्य के आरंभ को निर्दिष्ट किया है जिसने समाज को न केवल एक आधारभूत सर्वसम्मति से वंचित किया है, बल्कि बातचीत के सभी अवसरों से भी इसको दूर किया है। हिंसा, भय, दमन, छल और दोगलेपन की वक्तृता ये संकट काल के नहीं, बल्कि *राजनीति के अन्त* के लक्षण हैं। (रजनी कोठारी, *पॉलिटिक्स एण्ड द पीपल : इन सर्च ऑव ए ह्यूमेन इण्डिया*, अजंता प्रकाशन, दिल्ली, 1989, पृष्ठ 439. बलाघात जोड़ा गया है)

भारतीय राजनीति अधिक समय तक लोकतांत्रिक अंतराल नहीं रही, जहाँ बातचीत परस्पर क्रिया द्वारा, जनता की आशाओं व आवश्यकताओं की पुष्टि व समाधान किया जाता। 'राजनीति का अंत'

उस काल के रूप में देखा जाता है जिसमें लोगों के बीच साथ ही प्रजा और राज्य के बीच, बातचीत का संबंध संघर्ष समाधान के रूप में अपराध, दमन और आतंक द्वारा तोड़ा गया है। अपराध, दमन और आतंक स्वयं ही अनेक रूपों में व्याप्त हैं। आगे के पाठांशों में हम अपराध, दमन और आतंक का बारी-बारी से निरीक्षण करेंगे, जिस रूप में वे अपने लक्षण दिखाते हैं, और संदर्भ देंगे, जिसमें कि भारत में राजनीति प्रकट होती है।

32.2 अपराध और राजनीति

अपराध और राजनीति के बीच संबंध सामान्यत: प्रयुक्त वाक्यांश 'राजनीति का अपराधीकरण' की मदद से ठीक-ठाक दर्शाया जा सकता है। शायद इस संबंध, इसके मूल और निहितार्थों का सर्वोत्तम और सर्वाधिक प्राधिकृत निरूपण रजनी कोठारी की ओर से हुआ है। 1984 के मध्य में 'आतंकवादी राज्य' के उदय के बारे में लिखते हुए रजनी कोठारी भारतीय राज्य के 'अपराधीकरण की ओर विशेष ध्यान देती हैं। कोठारी के विचार से यह अपराधीकरण भारतीय राजनीति में एक 'व्यवस्थित' और गुंजायमान सत्ता रूपान्तरण की प्रक्रिया में व्याप्त है, यानि कि मात्र 'यांत्रिक' 'चुनावीय तंत्र' में कोई वस्तु स्वास्थ्यकर और सक्रिय संख्या अथवा गिनती द्वारा निर्धारित चुनावीय राजनीति के तर्क ने अनेक मुद्दे सामने रखे और यह अनेक प्रथाएँ प्रयोग में लाया जो कि मात्र आलंकारिक थी और चुनावीय में साथ पर लक्षित थीं; उदाहरणार्थ, जाति और साम्प्रदायिक राजनीति। एक व्यवस्थित राज्य-व्यवस्था का चुनावीय तंत्र में यह रूपांतरण जिसका अपकर्ष गिनती के खेल और खोखली आलंकारिता में हुआ, एक और भी भयावह घटनाचक्र के साथ आया; नामत:, अपराधी तत्त्वों द्वारा भारतीय राज्य और राजनीति का प्रसार। राजनीति के अपराधीकरण को इस बार प्रमाणित दो प्रक्रियाओं के सम्मिश्रण में प्रकट किया गया : (i) पार्टी संगठन के लिए एक विकल्प के रूप में अपराधी गिरोह वृत्ति का प्रयोग और (ii) धन बल द्वारा राज्य का संपूर्ण विस्तार। ये दोनों प्रक्रियाएँ सत्ता में बने रहने और साथ ही, राजनीति बल का प्रयोग प्रजा की भलाई की बजाय अपना उल्लू सीधा करने में प्रयुक्त साधनों का प्रकटीकरण थीं। (देखें रजनी कोठारी, *पॉलिटिक्स एण्ड द पीपल*, भाग II, 1989 में 'दि स्टेट, दि पीपल, दि इंटिलेक्चुअल्स' और '1984 : राइज़ ऑव टेररिस्ट स्टेट'।)

सत्तर और अस्सी के दशक में राजनीति की उभरती आधारिक संरचना भारतीय राजनीति के अध:पतन का प्रतिबिम्बन था। राजनीति में अब ऐसे लोग नहीं रहे थे जो जन-साधारण ओर स्थानीय स्तर पर, जनता की आवश्यकताओं और आशाओं के प्रति संवेदनशील हों, बल्कि मुस्टंडे और कानून-विरोधी बदमाशों के स्थानीय गिरोह थे जो भारतीय अर्थव्यवस्था के एक नए उच्च-विकसित क्षेत्र द्वारा समर्थित व पोषित थे, 'शराबों के बादशाह, तस्करों और पक्के-छैला राजनीतिज्ञों का सम्मिश्रण'। गैंग्स्टरों की आवश्यकता थी बूथों पर कब्ज़ा करने के लिए तस्करों की चुनाव वित्त जुटाने के लिए।

समय बीतने के साथ स्वत: ही सत्ता के खेल में उनकी दखलंदाजी बढ़ने लगी। यह उल्लेखनीय है कि जुलाई 1993 में भारत सरकार ने तत्कालीन गृहसचिव एन.एन. बोहरा की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया जिसका काम था, उन अपराध सिंडीकेट/माफिया संगठनों की गतिविधियों के बारे में सभी उपलब्ध सूचनाओं का अध्ययन करना जिन्होंने सरकारी अधिकारियों से संबंध बना रखे थे और उन्हें उनका संरक्षण भी प्राप्त था (*वोहरा कमेटी रिपोर्ट*, गृह मंत्रालय, नई दिल्ली, 1993, पृष्ठ 1)। समिति ने अपनी रिपोर्ट अक्टूबर 1993 में पेश की। इसने इस तथ्य को संज्ञान में लिया कि अन्य एजेन्सियों के अलावा केन्द्रीय जाँच ब्यूरो (सी.बी.आई.) ने भी रिपोर्ट दी थी कि अपराध

सिंडीकेट पूरे भारत में अस्तित्व में हैं, और उनके संबंध पुलिस, अधिकारी-वर्ग और राजनीतिज्ञों से हैं। समिति ने महसूस किया कि विद्यमान अपराधिक न्याय व्यवस्था माफिया की गतिविधियों से निबटने के लिए उपयुक्त नहीं थी क्योंकि कानून के प्रावधान आर्थिक अपराधों के मामले में खासकर कमज़ोर हैं। (वोहरा रिपोर्ट, पृष्ठ 2)

चुनाव आयोग ने इस ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि विधानसभा सदस्यों (आगे विधायकों) की एक बड़ी संख्या आपराधिक रिकार्ड वालों की है, और राजनीति से आपराधिक तत्त्वों को निकाल बाहर करने की आवश्यकता है। लोकसभा चुनाव, 1998 के दौरान, न्यायविद् कुलदीप सिंह, माधव गोडबोले, सी. सुब्राह्मण्यम् तथा स्वामी अग्निवेश वाली एक प्रतिष्ठित खण्डपीठ ने ऐसे कम-से-कम 72 लोकसभा प्रत्याशियों की पहचान की जिन पर गंभीर आपराधिक मामले चल रहे थे। यह कहा जा सकता है कि अपराधीजन बहुतायत से राष्ट्रीय व प्रांतीय दलों के माध्यम से चुनाव मैदान में उतर जाते हैं, इनमें दो अखिल-भारतीय सबसे बड़े दल भी शामिल हैं। एक अन्य तथ्य यह उजागर हुआ कि आपराधिक प्रत्याशियों में से अधिकांश गंभीर अपराधों के अभियुक्तों की श्रेणी में आते थे। इनमें शामिल हैं – किसी न्यायालय अथवा जाँच एजेन्सी द्वारा अभियुक्त करार व्यक्ति और वे जो लम्बा अपराध-इतिहास रखते हैं। (*आउटलुक*, 23 फरवरी, 1998, 10-11)

भारतीय राजनीति का घटनाक्रम, इसके सामाजिक आधार के संकरा होने और स्वायत्तता खोने, दोनों में परिणत हुआ जिसका कारण था अपराधीकरण व गिरोहवाद का राजनीतिज्ञों के राज में घुलमिल जाना। यह घटनाक्रम राज्यों का आन्तरिक दमन के हथियार के रूप में रूपान्तरित हो जाने में सीधे-सीधे उत्तरदायी था। इसी का लक्षणात्मक है पुलिस व परासैन्य वालों का न शंसीकरण, जिस पर दमन और आतंक पर पाठांशों में चर्चा की जाएगी। सत्ता का दुरुपयोग, और बलों का इस प्रकार प्रयोग किया जाना कि लोगों के अधिकारों की उपेक्षा हो, के अलावा राजनीति में अपराध एक और प्रकार से व्याप्त है जिसे सरकारी भ्रटाचार कहा जा सकता है। सरकारी भ्रष्टाचार का संबंध है जन-संसाधनों की चोरी और कुनियंत्रण से। राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में भ्रष्टाचार, बहुत प्रतीकात्मक ढंग से, भौतिक लाभ के लिए राजनीतिक पद के दुरुपयोग को इंगित करता है। रिश्वतखोरी शायद राजनीतिक भ्रष्टाचार से सर्वाधिक घनिष्ठता से जुड़ी गतिविधि है, और प्रभावत: एक ऐसा अनुचित उत्प्रेरक है जो किसी सार्वजनिक कार्य-निष्पादन को इस प्रकार प्रभावित करता है कि यह जन सामान्य की बजाय कुछ खास लोगों को ही लाभ देता है। गत पन्द्रह वर्षों में, 'घोटाले' और 'स्कैण्डल' भी भारतीय राजनीति के अभिन्न अंग हो चुके हैं। अस्सी के दशक में 'बोफोर्स' घोटाले से 'हवाला' होते हुए 'चारा' घोटाले तक, इन घोटालों में प्रवंचित धनराशि कई गुना बढ़ चुकी है। 'तहलका' स्कैण्डल जिसने राजनीति में निर्णय लेने और सौदे पटाने के तरीकों को उजागर किया जो कि कई लोग पहले ही सत्य मानते थे। ऐसे स्कैण्डल अचल रूप से सरकार और विपक्ष के बीच एक-दूसरे पर हावी होने की प्रतियोगिता का हिस्सा बन गए। दुर्भाग्यवश, राजनीति, नीतिशास्त्र, नैतिकता, और पारदर्शिता के आधारभूत सिद्धांत शायद ही कभी पुनजीर्वित करने के प्रयास किए गए।

भ्रष्टाचार, आर्थिक व चुनावी अनाचार के अपराधों से परे, यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय राजनीति का लक्षण-वर्णन एक बढ़ती संवेदनशीलता से भी किया जाता है जो जनता की आधारभूत आवश्यकताओं के प्रति है। ऐसे देश में जहाँ के एक बड़े हिस्से को जीवन-यापन के लिए प्रतिदिन संघर्ष करना पड़ता है, राजनीतिज्ञों और अधिकारी-वर्ग की लोगों की मौलिक आवश्यकताओं, जैसे भोजन, आश्रय, स्व-निर्णय व जीवन, के प्रति लापरवाही सार्वभौमिक रूप से परिभाषित मानवाधिकारों का उल्लंघन करती है जो भोजन, आश्रय, स्व-निर्णय, व जीवन के संबंध में हैं। जुलाई-अगस्त 2001 में उड़ीसा के काशीपुर जिले में भुखमरी से हुई मौतें बड़ी संख्या में लोगों की उपेक्षा और परिणामस्वरूप दुगर्ति का ताज़ा उदाहरण है।

बोध प्रश्न 1

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) 'आस्था के दशकों' में राजनीति द्वारा क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) राजनीति के आपराधीकरण से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

32.3 दमन क्या है?

'दमन' का शाब्दिक अर्थ है 'निरोध करना', 'नियंत्रित करना', 'दबाना', आदि। 'दमन' और 'दमनकारी' शब्द राजनीतिक शासन-व्यवस्था और सरकारों से अपेक्षाकृत अधिकतर जुड़े पाए जाते हैं जो उसके लक्षण और प्रकार्यों की व्याख्या करते हैं। 'आपराधीकरण' की तरह दमन भी राजनीति के राज्यक्षेत्र में लोकतांत्रिक संबंध भंग होने को दर्शाता है। यह एक नैतिक अंतराल के रूप में राज्यनीति के अध:पतन को भी इंगित करता है जहाँ कि लोकतांत्रिक भागदारी होती है। हमने पिछले पाठांश में चर्चा की थी कि रजनी कोठारी ने सत्तर के दशक का चरित्र-चित्रण राजनीति की मृत्यु अथवा बहिष्कार के काल के आरंभ के रूप में किया था जो राजनीति के बढ़ते अपराधीकरण की देन था। इसी मनोदशा में, ए.आर. देसाई ने इसी काल का चरित्र-चित्रण राज्य की कानून-व्यवस्था मशीनरी द्वारा जनता के लोकतांत्रिक अधिकारों पर बढ़ते 'हमले' के रूप में किया। इस काल के अभिलक्षणों पर देसाई ध्यान आकृष्ट करते हैं, जो हैं : 'आर्थिक रूप से शोषित' वर्ग की बड़ी संख्या में आम जनता, और सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक रूप से उत्पीड़ित तबके जो अपने मौलिक अधिकारों की प्राथमिक अपेक्षाएँ और माँगें लिए हैं। अगर हम यहाँ राजनीति की तीसरी परिभाषा को ध्यान में लाएँ, यानि संसाधनों को वितरित करने के माध्यम के रूप में, हम देख सकेंगे उत्पीड़ित

और बहिष्कृत लोगों के बड़े जनसमूह को जो समाज में संसाधन-वितरण के तरीके में प्रभावी परिवर्तन के लिए प्रयास कर रहे हैं। अन्य शब्दों में, वे असमतावादी राजनीतिक संस्थागत व सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना को रूपान्तरित करने का प्रयास कर रहे थे, जिसके माध्यम से 'मूल्यों के प्राधिकृत आबंटन' किए जा रहे थे। संघर्षों ने उनको स्वयं ही विभिन्न रूपों में व्यक्त कर दिया, नामत: संवैधानिक अदालती लड़ाइयाँ, जुलूस, हड़तालें, धरने, सत्याग्रह, और उग्रवादी कृत्य। विरोध की इन आवाज़ों को बारंबार शांत करने में सरकार की प्रतिक्रिया न्यायिक व इतर न्यायिक दोनों प्रकार के विभिन्न उपायों में होती थी। सत्ता और निर्णय लेने की संरचना में मूलभूत परिवर्तन के लिए लोगों के ये संघर्ष आने वाली सरकारों द्वारा 'समाज-विरोधी' और समाज में न्याय-व्यवस्था को एक चुनौती के रूप में देखी जाती थीं। उन्होंने 'न्याय-व्यवस्था' को बनाये रखने, 'समाज-विरोधी' तत्त्वों को दबाने, और प्राधिकार की वर्तमान संरचनाओं में परिवर्तन की प्रक्रियाओं को रोकने के लिए अनेक 'कानूनी' और 'प्रशासनिक' उपायों का सहारा लिया। अनेक ऐसे लेख और रिपोर्टें हैं जो अनेक हाशिये के तबकों के अधिकारों के उल्लंघन का तारीख बार लेखा-जोखा देती हैं जिनमें शामिल हैं– दलित, अनुसूचित जातियाँ व जनजातियाँ, कामकाजी वर्ग, महिलाएँ, धार्मिक अल्पसंख्यक आदि। ये विभिन्न उपायों को भी सूचिबद्ध करती हैं– न्यायिक (निवारक नज़रबंदी कानूनी, अशांत क्षेत्र कानून आदि शामिल करके), और इतर-न्यायिक (लोप, मुठभेड़ मृत्यु आदि) जिनके माध्यम से परिवर्तन की उच्चाकांक्षाओं के साथ आने वाली शासन-व्यवस्थाओं द्वारा निबटा गया।

यह उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान में दिए गए 'मौलिक अधिकार' लोगों के मूलभूत अधिकारों को सुनिश्चित करते हैं, उनके जन्म की परिस्थितियाँ, यानि जाति, वर्ग, प्रजाति, धर्म, लिंग, आदि, चाहे जो भी हों। बहरहाल, यह महत्त्वपूर्ण है कि संविधान-निर्माताओं के दिमाग में राजनीतिक स्थिरता की बात ने ही उन परिस्थितियों को संविधान में शामिल करने को उकसाया जिनके तहत् ये आधारभूत अधिकार आहरित किए जा सकते थे। इस प्रकार, भारतीय संविधान (अनुच्छेद 22) स्वयं ही शान्ति काल में भी निवारक नज़रबंदी अथवा मुकदमा चले बग़ैर कैद की अनुमति देता है। इसमें आपात्काल प्रावधान (अनुच्छेद 352-360) भी हैं जो उस स्थिति में लोगों के मौलिक अधिकारों को निलम्बित किए जाने की अनुमति देते हैं जब भारत अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा को युद्ध, बाह्य आक्रमण और आंतरिक उथल-पुथल से खतरा हो। ऐसी परिस्थितियों में, निलंबित किए गए अधिकारों को लौटाने के लिए न्याय की शरण में जाना भी निलंबित रहेगा। स्वतंत्र भारत के सम्पूर्ण इतिहास में, विभिन्न सरकारों द्वारा अनेक कानून पास किए गए हैं जिनसे बिना मुकदमा चले लोगों को कैद करने के कानून की सामान्य प्रक्रियाओं को निलंबित किया गया है। कई वर्षों, विशेषकर आपात्काल (1975-77) और उससे पहले चीन और पाकिस्तान के साथ भारत के युद्धों के दौरान, पूरे देश में आपात्स्थिति लगा दी गई थी ताकि न्याय की सामान्य प्रक्रियाओं और लोगों के आधारभूत अधिकारों को निलंबित करने में सुविधा हो। भारत का सम्पूर्ण उत्तर-पूर्वी भाग अनेक वर्षों *सशस्त्र बल (विशेषाधिकार) कानून, 1958* जैसे असाधारण कानूनों के तहत् रहा जिनसे सशस्त्र बलों को उस क्षेत्र में संबंध रखने वाले लोगों के कुछ तबकों द्वारा चलाए जा रहे आंदोलनों को कुचलने के कहीं अधिक अधिकार मिल गए। कानूनों की एक शृंखला, *निवारक नज़रबंदी कानून, 1950* से *आंतरिक सुरक्षा रखरखाव कानून, 1971* होते हुए, अनेक *जन रक्षा कानून* जो समय-समय पर भिन्न-भिन्न राज्य सरकारों द्वारा बनाए गए, *राष्ट्रीय सुरक्षा कानून, 1980* से लेकर सर्वाधिक विवादाग्रस्त व दमनकारी *आतंकवाद व विघटनकारी गतिविधियाँ (निवारक) कानून, 1985* तक, सभी विभिन्न आंदोलनों के विरुद्ध प्रयोग किए गए। इस प्रकार, राजनीतिक विपक्ष, आज की सरकार के साथ वैचारिक वैमनस्य वाले राजनीतिक दल, और सांस्कृतिक पहचान और स्व-निर्णय के अपने अधिकारों का दावा करने वाले जनप्रिय संघर्ष इन कानूनों के कार्यक्षेत्र में लाए गए। नवम्बर के माह में *आतंकवाद निरोधक अध्यादेश, 2001* के प्रवर्तन ने इस तथ्य को

फिर उजागर किया कि ऐसे असाधारण कानून शायद भारत में शासन का अभिन्न अंग बन गए हैं। ऐसे असाधारण कानूनों का विद्यमान होना इस बात का द्योतक है कि लोकतांत्रिक राजनीति असफल है और समाज में लोकतांत्रिक चर्चा का अभाव है।

32.4 आतंक : एक विवादग्रस्त वर्ग

बहुधा प्रयुक्त अभिव्यक्तियों जैसे *टैररा़इज़* (आतंकित करना) और *टेररिज़्म* (आतंकवाद) के साथ, टेरॅर (Terror– आतंक) शब्द लैटिन क्रियापदों *टेरॅर* (*Terrere*), जिसका अर्थ है 'थरथराना अथवा थरथराहट पैदा करना'. और डिटर (Deter) यानि '(उससे) आतंकित करना' से निकला है। चूँकि ये *अर्थ परिणामों*, अथवा प्रभावों के संदर्भ में हैं, *आतंक* शब्द उन *कृत्यों*, जो भय पैदा करने की क्षमता रखते हैं, अथवा विकल्पतः, *व्यक्तियों, वस्तुओं अथवा बल*, जो भय को प्रेरित करते हैं, को भी इंगित करता है। एक सामान्य भाव में, 'आतंक' शब्द का तात्पर्य होगा व्यक्तियों, कृत्यों, वस्तुओं, प्रभावों आदि से गठित उन परिस्थितियों का एक समुच्चय जो महाभय अथवा डर की मनःस्थिति पैदा करती हैं। (पॉल विल्किन्सन, *पॉलिटिकल टैररिज़्म*, मैकमिलन, 1974.)

जबकि 'आतंक' को शब्द न्यूनाधिक ठीक-ठीक परिभाषित किया जा सकता है, आतंकवाद की अवधारणा कम यथार्थपरक है। इसके इतिहास, इसके आधुनिक प्रसंग, और परिप्रेक्ष्य अथवा लोगों की दृष्टि में उसके श्रेष्ठता-बिन्दु से निकले इस संकल्पना से विवादग्रस्त अर्थ जोड़े गए हैं। इसके ऐतिहासिक उद्भव में यह शब्द सरकारों द्वारा आतंक, खासकर फ्रांसिसी क्रांतिकारी सरकार द्वारा इसके प्रतिद्वंद्वियों के विरुद्ध, और 1917 के बाद रूप में बोल्शेविक्स द्वारा, से जुड़ा रहा है। इसके तत्कालीन प्रयोजन में, बहरहाल, संदर्भ के प्राधार सरकारों के प्रतिद्वंद्वियों द्वारा आतंक के कृत्यों के तहत् चले गए लगते हैं और उनमें बमबारी, हत्याएँ, बंधक बनाना और विमान अपहरण शामिल हो गए हैं। सत्तर के दशक तक आते-आते *अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद* और *प्रान्तीय आतंकवाद* जैसे शब्द-पदों ने खासी लोकप्रियता हासिल कर ली। पहला आतंक के उन कृत्यों को इंगित करता था जो उस देश जिसमें वे प्राथमिक रूप से सक्रिय थे, के बाहर राजनीतिक समूहों द्वारा किए जाते थे जबकि दूसरा, आतंकवाद के ऐसे कृत्यों का राज्यों द्वारा (अभिकथित) प्रोत्साहन और समर्थन को इंगित करता था। इसके वर्तमान प्रयोजन में, आतंक और आतंकवाद के तीन भिन्न-भिन्न अर्थ सह-अस्तित्व में हैं : (अ) आतंक के कृत्य जो संघर्ष भरी परिस्थितियों में देश की सीमाओं के अन्दर ही किए जाते हैं। उदाहरण के लिए, सजातीय रूप से मिश्रित अथवा एकाधिक समाजों में सामुदायिक/सांप्रदायिक और नृजातिविषयक हिंसा; जैसे लेबनान में ईसाइयों और मुसलमानों के बीच, श्रीलंका में तमिलों और सिंहलियों के बीच, उत्तरी आयरलैण्ड में कैथोलिक और प्रोटैस्टैंट्स के बीच, आदि। (ब) बहुधा, यद्यपि, आतंक के अधिकतर कृत्य जैसा कि देखने में आया है, राज्य द्वारा स्वयं ही कराए जाते हैं। जबकि नाज़ीवाद और स्टालिनवाद को अक्सर प्रासंगिक उदाहरणों के रूप में लिया जाता है, इस शताब्दी में भी दमनकारी शासन हैं और अस्तित्व रखते हैं (जैसे, पिनोशेट का चिली)। यह तर्क दिया जाता है कि आतंक और अवपीड़न अक्सर राज्य प्रभुत्व और सत्ता को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाते हैं। (स) आतंक के कृत्य जो मौलिक सामाजिक व राजनीतिक परिवर्तन अथवा राष्ट्रीय स्वतंत्रता की वृहदतर कार्यसूची का हिस्सा हैं। इन मामलों में यह तर्क दिया जाता है कि 'आतंकवादी' के 'परित्याग' की युक्ति का संघर्ष के वृहदतर लक्ष्यों की 'वैधता' के प्रश्नों से कोई संबंध नहीं है। (देखें फ्रेड हैलीडे, जोयल क्रीजर सं० *दि ऑक्सफोर्ड कम्पैनियन टु पॉलिटिक्स ऑव दि वर्ल्ड* में 'टेरॅरिज़्म', न्यूयार्क, 1993, 902-904.)

भारतीय राजनीति के प्ररिप्रेक्ष्य में 'आतंक' द्वारा जो अंगभूत है, उसकी परिभाषा मुख्यत: सरकार के उन कानूनों प्रतिपादनों से निकली है जिसमें 'आतंकवादी' और 'विघटनकारी' गतिविधियाँ शामिल हैं। ये कानूनी परिभाषाएँ, जो *आतंकवाद व विघटनकारी गतिविधियाँ (निरोधक) अधिनियम, 1985* और अभी हाल ही में, *आतंकवाद निरोधक अधिनियम (पोटा), 2001* जैसे कानूनों में निहित हैं, भारत के विभिन्न भागों मूलरूप से अस्सी के दशक में पंजाब और नब्बे के दशक में काश्मीर में, अक्सर स्व-निर्णय के लिए हिंसात्मक स्वभाव के विभिन्न संघर्षों के परिप्रेक्ष्य आईं। साधारणत:, आतंकवाद को एक ऐसा तरीका समझा गया है जिसमें वास्तविक कार्य से कहीं अधिक विस्तृत प्रभाव डालने के उद्देश्य से किए गए हिंसा के सांकेतिक कृत्य आते हैं। 'आतंकवादी' तरीका भारत में कुछ ही गुटों द्वारा प्रयोग किया जाता है, जिनमें परिवर्तन की एक क्रांतिकारी विचारधारा को अंगीकार करने वाले गुट शामिल हैं, जैसे कि आंध्रप्रदेश और बिहार में 'नक्सलवादी गुट'। राजनीतिक स्वायत्तता अथवा स्व-निर्णय के लिए लड़ रहे गुट जैसे आसाम का यूनाइटिड लिबरेशन फ्रंट (ULFA), मिज़ो नेशनल फ्रंट (MNF), जम्मू एण्ड काश्मीर लिबरेशन फ्रंट (JKLF), पंजाब में खालिस्तानी कमांडो फोर्स (KLF) और, जम्मू-काश्मीर में हिज़्बुल-मुजाहिदीन आदि ने भी आतंकवाद का तरीका अपनाया है। स्व-निर्णय के लिए संघर्षरत अन्य गुटों ने आर्थिक विचारधाराओं में अपनी आतंकवादी गतिविधियों के लिए वैधता तलाश की, उदाहरणार्थ, जम्मू-काश्मीर में हरकत-उल-अंसार और पंजाब में भिण्डरावाले टाइगर फोर्स जैसे गुटों ने।

आतंकवाद की कानूनी परिभाषाएँ समय-समय पर परिष्कृत की जाती रही है और वे परिभाषाएँ भारत के 'सुरक्षा अभियान' के संबंध का लगातार हवाला देती रही हैं। अप्रैल 2000 में, एक नया विधेयक आतंकवाद निरोधक विधेयक लाने के लिए न्याय आयोग की सिफारिशों में यह उल्लेख किया गया है कि 'टाडा' की समाप्ति के बाद पैदा हुए खाली स्थान को भरने के लिए एक 'व्यापक आतंकवाद विरोधी कानून' का अभाव है। इसने जम्मू-काश्मीर और उत्तर-पूर्व में 'आतंकवादी हिंसा' से पैदा हुए सुरक्षा मामलों और ऐसी ही हिंसा के प्रति पंजाब की सतत् भेद्यता के उद्धरण दिए। इस प्रस्तावित विधेयक ने कानून का रूप नहीं लिया। 11 सितम्बर, 2001 को न्यूयार्क शहर में विश्व व्यापार केन्द्र की इमारतों, और वाशिंगटन डी.सी. में पेंटागन पर बमबारी के बाद आतंकवादी हिंसा की विश्वव्यापी निंदा के संदर्भ में, सरकार आतंकवाद से निबटने के लिए पहला अध्यादेश ला सकी, नामत: *आतंकवाद निरोधक अध्यादेश, 2001* (पोटो) और तदोपरांत 'आतंकवाद विरोधी अधिनियम' (पोटा) कानून।

बहुधा, यद्यपि, सरकार जिन्हें आतंकवाद का सामना करने के उपाय समझती है, नागरिक उद्धार समूह उन्हें असाधारण, लोकतंत्रीय मूल्यों का भंजक, और खासकर, समस्या-निदान की दिशा में गलत मार्ग के रूप में देखते हैं। भारत में नागरिक उद्धार और लोकतांत्रिक अधिकार समूहों ने यह मुद्दा उठाया है कि 'टाडा' और 'पोटो' जैसे कानूनों द्वारा आतंकवाद कही जाने वाली गतिविधियों में से कुछ वास्तव में *राजनीतिक उग्रवाद* हैं। के. बालगोपाल, उदाहरण के लिए, राजनीतिक उग्रवाद को किसी राजनीति उद्देश्य से (स्वायत्तता, स्व-निर्णय, शासन की सामंतवादी और पूँजीवादी संरचनाओं को बदलने हेतु) समूहों द्वारा प्रयुक्त आतंक का एक तरीके और वो जिसे वह गुण्डों, असला रखने वाले जमींदारों, माफियाओं, आदि का सीधा-सीधा आतंक कहते हैं, के बीच भेद करते हैं। वह इस बात पर बल देते हैं कि बेशक कोई राजनीतिक उग्रवाद को पसंद न करे, और किसी भी प्रकार के उग्रवाद को नकार दे, फिर भी, यह उल्लेखनीय है कि सरकारें राजनीतिक उग्रवाद के विरुद्ध असाधारण कानूनों से अपने आपको बड़ी फुर्ती से कवचबद्ध कर लेती हैं। गुण्डा गिरोहों, माफियाओं और असला रखने वाले जमींदार का आतंक जो खालिस्तानी कमाण्डो फोर्स, हिज़्ब-उल-मुजाहिदीन, उल्फा, और पीपल्स वार से भी काफी पहले ज़ारी था, कभी भी आतंकवाद नहीं कहा गया, न ही इससे निबटने के लिए कभी विशेष कठोर कानूनों पर ग़ौर किया गया।

बालगोपाल, यह तथ्य रखते हैं कि सरकारों द्वारा राजनीतिक उग्रवाद का भिन्न उपचार 'इतना इसलिए नहीं है कि यह उग्रवाद है' बल्कि इसलिए 'क्योंकि यह राजनीति है, और तो और, एक भिन्न प्रकार की राजनीति'। यह ग़ौर करना भी महत्त्वपूर्ण है कि तथाकथित आतंकवादी गुटों की एक राजनीति है जो 'मात्र आतंक' से नहीं चलती। बहुधा, उनकी राजनीति, 'सही या ग़लत', एक विस्तृत सामाजिक आधार लिए होती है, जिसका अर्थ है कि यह और इसकी सशस्त्र गतिविधियाँ खासी संख्या में लोगों द्वारा समर्थित होती हैं। यह समर्थन इस काम को बहुत कठिन बना देता है कि उनसे नीतिपूर्ण तरीकों से निबटा जाए अथवा उन तरीकों से जो इन्हें कठोर कानूनों द्वारा दबाई जाने वाली मात्र कानून-व्यवस्था समस्या के रूप में देखते हैं।

बोध प्रश्न 2

नोट :i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तरों से करें।

1) संविधान के अनुच्छेद 22 और 352-360 क्या इंगित करते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) *अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद* और *प्रांतीय आतंकवाद* शब्द-पदों का क्या अर्थ है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) 'नागरिक उद्धार अधिकार समूह' क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

32.5 सारांश

राजनीति की धारणा सरकार के संस्थानों की औपचारिक गतिविधियों का आभास कराने वाले प्रभावक्षेत्र व गतिविधियों, साथ ही उस तरीके, जिससे समाज में संसाधन वितरित किए जाते हैं, की इंगित करती हैं। लोकतंत्र में राजनीति को एक अधिकार क्षेत्र के रूप में देखा जाता है जो हर व्यक्ति को समान रूप से सुगम है, चाहे उसकी जन्म की परिस्थितियाँ जो भी हों। यह एक क्रियाकलाप के रूप में देखी जाती है जो लोगों को शक्ति देती है। स्वतंत्रोत्तर भारत में आरंभ के कुछ वर्ष आशा और उत्साह से भरे थे। स्वतंत्रता यह विश्वास लेकर आई थी कि सच्ची मुक्ति, समानता और आज़ादी स्व-शासन की प्रक्रिया में प्राप्त किए जा सकते हैं। राजनीति नीतिक अंतराल के रूप में देखी गई जहाँ ऐसे वाद-विवाद हो सकते थे, और निर्णय लिए जा सकते थे जो सर्वजन हित में हों। महत्त्वपूर्ण घटनाचक्रों, खासकर नब्बे के दशक से लेकर, ने भारत राजनीति के उस तरीके को प्रभावित किया जिसमें कि उसका प्रसार हुआ। प्रमुख राजनीति-वैज्ञानिक, रजनी कोठारी, ने इस दशकों की व्याख्या आस्था की राजनीति के अंत का सूत्रपात, और एक नीतिक अंतराल जैसी राजनीति का यथार्थपूर्ण विलोपन के रूप में की है। आस्था की राजनीति का ह्रास और एक ऐसे अंतराल से इसका अध:पतन जिसमें सम्मानीय वार्तालाप हुए, हिंसा, भय और दमन के कारण था। राजनीति अपराध में निहित थी जो पार्टी संगठन और धन-बल के प्रयोग के विकल्प के रूप में गिरोहवाद के बढ़ते इस्तेमाल में व्याप्त थी। ऐसे घटनाक्रमों ने लोगों की भागीदारी को दर किनार कर राजनीति के प्रभाव क्षेत्र की संकीर्ण किया और इसे धन-बल और स्थानीय गुण्डों पर निर्भर कर इसकी स्वायत्तता को घटाया। ऐसे परिदृश्य में जहाँ राजनीति को एक संकीर्ण सामाजिक आधार प्राप्त था, और लोगों के प्रतिनिधि अपने को कायम रखने के लिए माफिया और धन-बल पर निर्भर थे, शायद यह तर्कपूर्ण ही था कि राजनीतिक प्रक्रिया से स्वयं को बाहर महसूस करने वाले लोगों का असंतोष आंदोलनों और संघर्षों के रूप में अपने को व्यक्त करता। राज्य ने प्रत्युत्तर में उन उपायों का सहारा लिया जो दमन अथवा ऐसे आंदोलनों अथवा प्रत्याशाओं को दबाने के लिए ही निकाले गए थे। अपनी कृतियों में ए.आर. देसाई ने ऐसे लेखों का एक समुच्चय प्रस्तुत किया है जो उस तरीके पर दृष्टिपात करते हैं जिससे राज्य ने दमन किया अथवा जन-आंदोलनों को नियंत्रित किया।

पंजाब में, उत्तर-पूर्व में और जम्मू-काश्मीर में स्व-निर्णय के लिए आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में अस्सी के दशक से अब तक, आतंक भारतीय राजनीति का महत्त्वपूर्ण संदर्भ बन गया है। सामान्यत: आतंकवाद एक राजनीतिक उद्देश्य के अनुकरण में किए गए कृत्यों अथवा सामान्य, नि:शस्त्र नागरिकों के विरुद्ध हिंसा की धमकियों के रूप में समझा गया है। बहुधा, इन आंदोलनों के प्रति राज्य की प्रतिक्रिया भारत की एकता और अखण्डता से सम्बन्धित 'सुरक्षा मामलों' को स्वर देने के शब्दों में होती है। अनेक असाधारण कानून जिनमें *आतंकवाद व विघटन गतिविधियाँ (निरोधक) अधिनियम, 1985 (टाडा) और अब आतंकवाद निरोधक अधिनियम, 2001 (पोटा)* शामिल हैं, उत्तरोत्तर सरकारों द्वारा आतंकवाद के खतरों से निबटने के लिए लाए गए हैं। नागरिक उद्धार समूह, बहरहाल, उस तरीके को देखते हैं जिसमें ये असाधारण कानून अक्सर जन-साधारण के अधिकारों का हनन् करते हैं। इसके अतिरिक्त, वे प्रतिक्रिया को उन कानूनी उपायों के रूप में देखते हैं जो किसी समस्या के लिए विभागीय उपचार हैं और स्वभावत: राजनीतिक हैं। उनका कहना है कि अक्सर जिसको 'आतंकवाद' का जामा पहना दिया जाता है, हमेशा 'बुद्धिहीन हिंसा' नहीं होती। ऐसे आंदोलन बहुधा सशक्त सामाजिक-राजनीतिक जड़ें और विशिष्ट विचारधाराएँ लिए होते हैं। इसीलिए वे असाधारण कानूनों से संबंधित नहीं किए जा सकते, क्योंकि ये राजनीतिक प्रश्न हैं और इन्हें उसी स्तर पर संबोधित किए जाने की आवश्यकता है, न कि कानून-व्यवस्था की समस्या के रूप में। भारतीय राजनीति में अपराध, दमन और आतंक के विस्तार का अर्थ यह है कि भारत में

राजनीति में लोकप्रिय भागीदारी के लिए प्रेरक संरचनाओं का अभाव है। ऐसे परिदृश्य में यह वांछनीय है कि लोगों को संवैधानिक प्रतिज्ञाओं के संप्रभु परिरक्षकों के रूप में एक लोकतांत्रिक समाज और राज-व्यवस्था के मूल्यों को पूर्वावस्था में लाने की दिशा में अपने अधिकारों व कर्त्तव्यों तथा कार्य के प्रति सतर्क होना चाहिए।

32.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

देसाई, ए.आर., *वॉयलेशन ऑव डेमोक्रैटिक राइट्स इन इण्डिया,* भाग-1, पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1986.

——— *रिप्रैशन एण्ड रिजिस्टैंस,* पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई 1986.

रजनी कोठारी, *पॉलिटिक्स एण्ड द पीपल : इन सर्च ऑव ह्यूमेन इण्डिया,* भाग-II अजन्ता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1989 (अध्याय 22 : 'दि स्टेट, द पीपल, द इंटेलैक्चुअल्स' तथा अध्याय 26: '1984 : राइज़ ऑव दि टेरॅरिस्ट स्टेट')

सिंह, रणधीर, रणधीर सिंह के *फ़ाइव लैक्चर्स इन मार्क्सिस्ट मोड* में 'टेरॅरिज़्म, स्टेट टेरॅरिज़्म एण्ड डेमोक्रेटिक राइट्स', अजंता, दिल्ली 1993.

32.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् दो दशकों की राजनीति जो आपसी विश्वास पर आधारित थी।

2) राजनीति में अपराध की बढ़ती हुई भूमिका।

बोध प्रश्न 2

1) अनुच्छेद 22 में निरोधक कारावास अथवा शांति के समय भी बिना मुकदमें कारावास का प्रावधान है। अनुच्छेद 352-56 में आपातकाल समय मौलिक अधिकारों को स्थगित करने का प्रावधान है।

2) पहला राजनीतिक गुटों द्वारा देश के बाहर आतंकवादी गतिविधियों से सम्बंधित है। दूसरे का अर्थ है राज्य द्वारा आतंकवादी गतिविधियों को प्रोत्साहन देना।

3) वे संगठन जो लोगों के अधिकारों के हनन का विरोध करते हैं।